भागवतामृतम्

प्रथम खण्ड

(प्रथम स्कन्ध से सप्तम स्कन्ध)

प्रथम संस्करण – २,००० प्रतियाँ

प्रकाशित :२३ सितम्बर २०२३

भाद्रपद, शुक्लपक्ष, राधाष्टमी, २०७९ विक्रमी सम्वत्

प्राप्ति-स्थान

मान मन्दिर, बरसाना

फोन – ९९२७३३८६६६

एवं

श्रीराधा खंडेलवाल ग्रन्थालय

अठखम्बा बाजार, वृन्दावन

फोन – ९९९७९७७५५१

श्री मानमन्दिर सेवा संस्थान

गह्वरवन, बरसाना, मथुरा (उ.प्र.)

http://www.maanmandir.org

info@maanmandir.org

'सरल व निष्किञ्चनजन' ही वास्तविक भागवत-वक्ता

'विद्यावतां भागवते परीक्षा' इस उक्ति से स्पष्ट होता है कि बड़े-बड़े विद्वानों के लिए भी श्रीमद्भागवत को समझना कितना कठिन है और उसी ग्रन्थ को महापुरुषजन कितना सरल बना देते हैं, इसकी कल्पना नहीं की जासकती । वैदुष्य की पराकाष्ठा पर आरूढ़ एक सरलतम महापुरुष जो ब्रज में समस्त ब्रजवासियों के हृदयाभरण होकर गत् ७० वर्षों से मानिनी के मानभवन 'गह्वरवन-बरसाना' में अखण्ड ब्रजवास करते हुए ब्रजरजोपासना में अनुरक्त होकर सतत् ब्रजवासियों की सेवा में विविध प्रकार से लगे हुए हैं । विद्वत्ता एवं सरलता का बेजोड़ नमूना हैं – पद्मश्री पूज्यश्री रमेशबाबाजी महाराज ।

एक छोटे-से गाँव मानपुर में एक भक्त श्रीप्रकाशजी के घर में भागवतजी के एक श्लोक – 'बर्हापीडं नटवरवपुः ..... ।' की व्याख्या षड्मास पर्यन्त सरस रसप्रवाह के साथ आज से ५० वर्ष पहले कही थी, जहाँ कई सौ ब्रजवासी तन्मयता के साथ कथामृत-पान करते थे । इन्हीं महापुरुष ने चालीस हजार गाँवों में 'भगवन्नाम-प्रभातफेरी' प्रारम्भ कराकर तथा दैनिक 'सत्संग' से जीवमात्र की अद्भुत सेवा की है । 'श्रीभागवतजी' में श्रोता-वक्ता के जो लक्षण बताए हैं, उसका भी अद्भुत नमूना 'श्रीबाबामहाराज' ने रखा; जैसे -'श्रीशुकदेवजी' राजा परीक्षित को कथा-श्रवण कराने आये और बिना कुछ लिए वापिस चले गये । 'कथा को व्यापार नहीं बनाना चाहिए...' यह सन्देश 'बाबाश्री' ने सन् १९७७ में गह्वरवन के एक महान संत 'श्रीमौनीबाबा' के नित्य लीला में लीन होने के अवसर पर श्रीभागवत-कथा के माध्यम से दिया था । सन् १९८५ में पूज्य 'श्रीबाबामहाराज' द्वारा कथित श्रीभक्तिपूर्ण सिद्धान्त व सरस लीलामय 'भागवत-सप्ताह-कथा' का संकलन प्रस्तुत सद्ग्रन्थ 'भागवतामृतम्' में किया गया है ।

प्रबन्धक - राधाकान्त शास्त्री,
श्रीमानमंदिर सेवा संस्थान ट्रस्ट

श्रीभागवत-भूमिका

सनातन धर्म के आर्ष-ग्रन्थों एवं संस्कृत-साहित्य में 'श्रीमद्भागवत' का अद्वितीय स्थान है । भगवान् वेदव्यासजी ने सर्वप्रथम एक वेद का चार भागों में विभाजन किया, किन्तु स्त्रियों और शूद्रों को वेदों का अनधिकारी समझकर उन्होंने उन सभी के कल्याण हेतु सत्तरह पुराणों व महाभारत इत्यादि की रचना की ('श्रीमद्भगवद्गीता' कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर 'महाभारत' के ही अन्तर्गत है) । इस तरह सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए भगवान् व्यास ने अथक परिश्रम करके एक से एक विलक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया, परन्तु उनके चित्त को सन्तोष नहीं प्राप्त हो सका, उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि अभी भी बहुत कमी रह गयी है । अपने मन में अत्यधिक खिन्नता का अनुभव करते हुए जब श्रीव्यासजी किंकर्त्तव्यविमूढ हो रहे थे, उसी समय भगवान् की प्रेरणा से उनके समक्ष देवर्षि नारदजी प्रकट हुए और उनके इस महान कार्य में जो अत्यन्त महत्वपूर्ण त्रुटि रह गयी थी, उसका बोध कराकर भगवान् की प्रसन्नता एवं समस्त मानव जाति के कल्याण हेतु आद्योपान्त श्रीभगवद्-यश से भरपूर ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' के प्रणयन का उन्हें दिशा-निर्देश किया । देवर्षि की सत्प्रेरणा से ऊर्जावान् होकर भगवान् व्यासदेव ने अठारह हजार श्लोकों से समन्वित श्रीकृष्णभक्तिप्रदायक पुराणशिरोमणि 'श्रीमद्भागवत' की रचना की । परमहंससंहिता 'श्रीमद्भागवत' के निर्माण से व्यासदेव की आन्तरिक व्यथा और उनके असन्तोष का पूर्ण शमन हुआ और उनके चित्त को परम सन्तोष का अनुभव हुआ; इस ग्रन्थ की संरचना के उपरान्त ही

उन्होंने अपने को पूर्ण कृतार्थ समझकर अपनी लेखनी को विराम दे दिया। सूरदासजी ने भी एक पद में व्यासजी के जीवन की इस घटना के बारे में वर्णन किया है –

अन्तर दाह जू मिट्यो व्यास को,
इकचित ह्वै भागवत किये ।

श्रीभगवद्-यश से परिपूर्ण सद्ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' की रचना के पश्चात् ही व्यासमुनि के हृदय की वेदना शान्त हो सकी और उन्होंने अपने को कृतकृत्य समझा।

संस्कृत भाषा का ग्रन्थ होने के कारण 'श्रीमद्भागवत' का सन्देश साधारण जनता को किस प्रकार सुलभ हो सके, इसके लिए भारत की विभिन्न धार्मिक प्रकाशन संस्थाओं के द्वारा देश की विभिन्न भाषाओं में विद्वान् महानुभावों के द्वारा इसका अनुवाद भी किया जा चुका है और सम्पूर्ण भारत में विद्वान् कथावाचकों द्वारा श्रीमद्भागवत-सप्ताह-कथा के माध्यम से इसका व्यापक प्रचार-प्रसार हो रहा है किन्तु अभी भी ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत कमी रह गई है, श्रीमद्भागवत के जटिल एवं गूढ़ सिद्धान्त अभी भी साधारण जन-समुदाय की समझ के परे हैं। देश की जनता का एक बहुत बड़ा भाग अभी भी 'श्रीमद्भागवत के रहस्य' से अनभिज्ञ है।

श्रीप्रयागराज में जन्मे और वर्तमानकाल में सत्तर वर्षों से अखण्ड ब्रजवास कर रहे मानमन्दिर-बरसाना-निवासी परम श्रद्धेय अति निःस्पृह सन्त 'श्रीरमेशबाबाजीमहाराज' ने ब्रज-वसुन्धरा की लोकोत्तर महिमा से अखिल विश्व को अवगत कराया है; उनके द्वारा श्रीराधामाधव के चरणचिह्नों से चिह्नित परमपावनकारी 'ब्रजभूमि' की सेवा से सम्बन्धित अनेक विलक्षण कार्य किये गये हैं। इसके

साथ ही जनकल्याण हेतु भी श्रीबाबामहाराज द्वारा बहुत-से सराहनीय सेवा-कार्य किये गये हैं व निरन्तर हो रहे हैं । श्रीबाबामहाराज ने बरसानावास के आरम्भिक काल से ही जन सामान्य के कल्याण हेतु मानमन्दिर में दैनिक सत्संग का शुभारम्भ कर दिया था । गाँव की अशिक्षित जनता को भी सहजता से ही समझ में आने योग्य सनातन धर्म के विभिन्न भक्तिमय शास्त्रों का श्रीबाबा ने बहुत ही सरल भाषा में व्याख्यान दिया । समय-समय पर पूज्यबाबाश्री ने 'श्रीमद्भागवत-सप्ताह-कथा' के माध्यम से गाँवों की साधारण जनता के समक्ष भी भागवत के अत्यधिक जटिल सिद्धान्तों को अत्यधिक सरल व रोचक भाषा में प्रचार-प्रसार किया है । श्रीमद्भागवत पर अष्टाचार्यों (आठ प्रमुख वैष्णव आचार्यों) ने अलग-अलग अत्यन्त विस्तृत और सारगर्भित टीकाएँ लिखी हैं, जो कि संस्कृत में होने के कारण अतिशय कठिन और दुर्लभ हैं । श्रीबाबामहाराज ने उनका गहन अध्ययन करके अपनी 'भागवत-सप्ताह-कथा' में गाँवों की अशिक्षित जनता को भी सरल-सहज-सरस भाषा में इन जटिल टीकाओं के रहस्य से परिचित करा दिया । जिस समय बाबाश्री गह्वरवन की अपनी कुटिया में गाँव की लगभग अशिक्षित जनता को अष्टाचार्यों की टीका के माध्यम से अत्यन्त सरल भाषा में श्रीमद्भागवत का अध्ययन कराते थे, उन्हीं दिनों वृन्दावन से कोई संस्कृत व श्रीमद्भागवत के प्रसिद्ध विद्वान् पधारे, उन्हें यह देखकर बहुत अधिक आश्चर्य हुआ कि 'श्रीबाबामहाराज' गाँव के अनपढ़ लोगों को अष्टाचार्यों की टीका के माध्यम से सहज-सरल भाषा में 'श्रीमद्भागवत' का अध्ययन करा रहे थे ।

श्रीबाबा महाराज के द्वारा सन् १९८५ में गह्वरवन में जो श्रीमद्भागवत की साप्ताहिक कथा की रसधारा प्रवाहित की गई थी, उसी का संकलन करके श्रीमद्भागवत के दो खण्डों का प्रकाशन किया जा रहा है। हालाँकि श्रीबाबा ने उस समय ब्रजवासी जनता के समक्ष उनके लाभ हेतु यह कथा सरल ब्रजभाषा में कही थी, किन्तु ब्रजभाषा से अनभिज्ञ लोगों को भी श्रीबाबा के मुख से निःसृत 'श्रीभागवत-कथामृत' का सम्यक् लाभ प्राप्त हो सके, इसलिए ब्रजभाषा से इसको खड़ी बोली की हिन्दी में रूपान्तरित कर दिया गया है। श्रीबाबामहाराज ने ब्रजभाषा में जो शब्द कहे थे, उनके भावों को बिना किसी परिवर्तन के 'ज्यों का त्यों ही' खड़ी बोली की हिन्दी में परिवर्तित कर दिया गया है। पूज्य महाराजजी द्वारा कथित भाव में थोड़ा भी परिवर्तन नहीं किया गया है।

पूज्य श्रीबाबा के द्वारा इस 'साप्ताहिक-कथा-कार्यक्रम' का सुयोग भी बड़े ही आश्चर्यजनक ढंग से घटित हुआ। गह्वरवन में उन दिनों एक प्रसिद्ध सन्त 'श्रीगोवर्धनदासजीमहाराज' रहा करते थे। एक बार धन के लोभ से कुछ चोरों ने अर्द्ध रात्रि के समय उनकी कुटिया में प्रवेशकर 'एक छोटे व पैने हथियार से' उनके गले की नस काटकर उनकी हत्या कर दी थी; इस अकाल मृत्यु के कारण उन सन्त की सद्गति न हो सकी और बड़े ही आश्चर्य की बात है कि श्रीबाबामहाराज के सत्संगियों में प्रमुख ब्रजवासी 'श्रीप्रकाशजी' के स्वप्न में ये दिवंगत सन्त प्रकट हुए और उनसे कहा कि मेरी सद्गति न होने के कारण मैं बहुत कष्ट पा रहा हूँ, अतः 'श्रीबाबामहाराज' से आप कह दो कि मेरे उद्धार हेतु वे 'श्रीमद्भागवत-सप्ताह-कथा' करें। 'बाबाश्री' को जब श्रीप्रकाशजी के द्वारा इस परम विस्मयकारक बात

की सूचना मिली तो उन्होंने सन्त श्रीगोवर्धनदासजी के निमित्त सन् १९८५, फरवरी माह में गह्वरवन-स्थित अपनी कुटिया में 'श्रीमद्भागवत-सप्ताह-कथा' का आयोजन किया । यह भी अत्यधिक चमत्कारिक घटना घटी कि सप्त दिवसीय कथा के समापन के एक दिन पूर्व ही वे सन्तजी पुनः 'श्रीप्रकाशजी' के स्वप्न में प्रकट हुए और अत्यन्त हर्ष के साथ उन्होंने कहा कि श्रीबाबामहाराज ने मेरे उद्धार के लिए जो भागवत-कथा का वाचन किया, उससे मेरी सद्गति हो गई है और मैं अब कष्ट से मुक्त होकर पूर्ण आनन्द की स्थिति में हूँ; मैं 'श्रीबाबा' का बहुत अधिक आभारी हूँ कि उन्होंने भयंकर परिस्थिति से उबारकर मेरा कल्याण कर दिया ।

'श्रीमद्भागवत' की कथा के दो पक्ष हैं – लीला-पक्ष और सिद्धान्त-पक्ष । 'लीला-पक्ष' सरल होता है क्योंकि उसमें भगवान् एवं उनके भक्तों के चरित्रों का वर्णन होता है, वह लोगों को सरलता से समझ में आ जाता है, किन्तु 'सिद्धान्त-पक्ष' के अन्तर्गत भागवत में गूढ़, जटिल सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, वह लोगों की समझ में प्रायः नहीं आता है । अब तक 'श्रीमद्भागवत' के जो भी भाषानुवाद प्रकाशित किये गये हैं, उनमें भी भागवत के 'सिद्धान्त-पक्ष' को सरलता के साथ समझाने का प्रयास नहीं किया गया है, इसका परिणाम यह होता है कि भागवत को पढ़ते समय लोग अधिकतर 'लीला-पक्ष' की कथाओं को तो अत्यन्त रुचिपूर्वक पढ़ लेते हैं, किन्तु जहाँ भी 'सिद्धान्त-पक्ष' का उल्लेख किया गया है, उसे दुरूह होने के कारण पाठकजन उस प्रसंग को छोड़ देते हैं । श्रीबाबामहाराज द्वारा कथित 'भागवत-सप्ताह-कथा' की यह विशेषता है कि उन्होंने भागवत के 'लीला एवं सिद्धान्त' दोनों पक्षों

को बहुत ही सरल भाषा में इस प्रकार विवेचन किया है कि अनपढ़ व्यक्ति भी उसे आसानी से समझ सकता है । बहुधा सात दिन की कथाओं में 'वक्तागण' केवल 'लीलापक्ष' के सरल होने के कारण उसी की कथा को कह देते हैं किन्तु 'सिद्धान्तपक्ष' के कठिन होने के कारण उसकी उपेक्षा कर देते हैं, इसका परिणाम यह होता है कि श्रीमद्भागवत के अत्यधिक महत्वपूर्ण इस सिद्धान्त-पक्ष के ज्ञान से जनसाधारण वंचित ही रहता है । श्रीबाबामहाराज ने जो सप्ताह-कथा कही थी, उसमें सात दिनों में ही श्रीबाबा ने भागवत के लीला-पक्ष के साथ ही उसके सिद्धान्त-पक्ष के अत्यधिक जटिल प्रसंगों को अष्टाचार्यों की टीकाओं के माध्यम से जनता के लिए आसानी से समझ सकने योग्य अत्यधिक सरल भाषा शैली में व्याख्या की, जिसके कारण भागवत के अत्यन्त जटिल एवं महत्वपूर्ण प्रसंगों को निरक्षर श्रोता भी सहजतापूर्वक समझकर उससे लाभान्वित हो सके । पूज्यश्री की उसी कथा को जनसाधारण के लाभ के लिए सरल भाषा में लिपिबद्ध कर दिया गया है, जिससे कि अत्यन्त कम पढ़े-लिखे लोग भी उसको बहुत ही सुगमतापूर्वक समझ सकते हैं ।

'श्रीमद्भागवत' का प्रणयन विशेषकर कलियुग के मनुष्यों के कल्याण के ही लिए भगवान् व्यास के द्वारा किया गया था किन्तु धन्य है 'कलियुग की लीला' । कलियुग ने देखा कि भागवत-सप्ताह-कथा के श्रवण से मनुष्य बड़ी सरलता के साथ श्रीभगवद्धाम जा सकते हैं, अतः वह कलिकाल के भागवतकथा-व्यासों की बुद्धि पर चढ़ बैठा, जिसका परिणाम यह हुआ कि कथावाचकों ने भागवत कथा को अपनी जीविका का, धनोपार्जन का साधन बना लिया और देखते ही देखते वर्तमानकाल में तो भागवत-सप्ताह-कथा का

व्यापारीकरण हो गया है । आज लाखों रुपये का शुल्क लेकर भागवत-कथायें होने लगी हैं, क्या इस प्रकार की कथाओं से कल्याण होगा ? बिलकुल नहीं, धन लेकर कथा करने वाले व्यास स्वयं अपना ही कल्याण नहीं कर सकते परन्तु इनके द्वारा समाज की बहुत अधिक क्षति होगी और जैसा कि भागवत-माहात्म्य में नारदजी ने इस बात को बहुत पहले ही देखकर भविष्यवाणी कर दी थी –

विप्रैर्भागवती वार्ता गेहे गेहे जने जने ।
कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गतः ॥

(श्रीभागवतमाहात्म्य - १/७१)

'ब्राह्मण' केवल अन्न व धन के लोभवश घर-घर में एवं जन-जन को भागवत की कथा सुनाने लगे हैं, अतः कथा का सार चला गया है । इसलिए आजकल जितनी भी भागवत कथायें समाज में हो रही हैं, धन के लोभ से होने के कारण ये सारहीन हो चुकी हैं, इनसे समाज का उपकार नहीं हो सकता ।

परम पूज्य श्रीबाबा महाराज ने भागवत-कथा के द्वारा देश और समाज के वास्तविक लाभ के लिए 'श्रीमद्भागवत के निष्काम वक्ता' तैयार किये, जिनमें सर्वप्रथम वक्ता हैं – डॉ. श्रीरामजीलाल शास्त्री; इन्हें बाबाश्री ने भागवत का अध्ययन कराकर निष्काम भाव से कथावाचन के द्वारा समाज के कल्याण का उत्तरदायित्व सौंपा; इन्होंने श्रीबाबा की आज्ञा का अक्षरशः पालन करते हुए निष्काम भाव से देश ही नहीं, विदेशों तक में 'श्रीमद्भागवत' की कथायें कीं । आपने दस साल तक अमेरिका में भी अपनी निष्काम भागवत-कथा द्वारा अमेरिकानिवासी भारतियों पर अपने त्याग एवं भक्ति की अनुपम छाप छोड़ी; इन्हीं के परिवार में उनकी भतीजी साध्वी 'श्रीमुरलिकाजी' भी भारत की अति निःस्पृह भागवत वक्री हैं, इन्होंने

भी श्रीबाबामहाराज की आज्ञा का पूर्णरूपेण पालन करते हुए देश और विदेश में निष्काम भाव से भागवत-कथा के द्वारा भारत की भक्तिमयी कीर्ति-पताका को चतुर्दिक फहराया है । आपने अमेरिका, कनाडा, इंगलैंड आदि देशों में भी कथायें की हैं, इनकी विद्वत्ता और विलक्षण त्यागयुक्त कथा ने विश्व के कोने-कोने के जनमानस को निष्काम भक्तिभाव से ओतप्रोत कर दिया है ।

श्रीमानमंदिर के कथाकारों में अनेक संत व साध्वियों द्वारा भी निष्काम भक्ति का प्रचार-प्रसार हो रहा है, जो विशेष प्रशंसनीय व स्मरणीय है ।

श्रीबाबामहाराज के द्वारा कथित 'श्रीमद्भागवत-सप्ताह-कथा' का सभी श्रद्धालु पाठक अधिक से अधिक लाभ उठायें । प्रस्तुत 'भागवतामृतम्' में जो भी त्रुटियाँ रह गयी हैं, वह मेरी ही अल्पज्ञता के कारण हैं । त्रुटियों के लिए उदार पाठकों से करबद्ध क्षमा-प्रार्थना है । ॥ जय श्री राधे ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ के संकलनकर्त्ता
भामिनीशरण

श्री रमेश बाबा जी महाराज

गुण-गरिमागार, करुणा-पारावार, युगललब्ध-साकार इन विभूति विशेष गुरुप्रवर पूज्य बाबाश्री के विलक्षण विभा-वैभव के वर्णन का आद्यन्त कहाँ से हो यह विचार कर मन्द मति की गति विथकित हो जाती है ।

विधि हरि हर कवि कोविद बानी ।
कहत साधु महिमा सकुचानी ॥
सो मो सन कहि जात न कैसे ।
साक बनिक मनि गुन गन जैसे ॥

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड -३क)

पुनरपि

जो सुख होत गोपालहि गाये ।
सो सुख होत न जप तप कीन्हे, कोटिक तीरथ न्हाये ।

(सूर-विनयपत्रिका)

अथवा

रस सागर गोविन्द नाम है रसना जो तू गाये ।
तो जड़ जीव जनम की तेरी बिगड़ी हू बन जाये ॥
जनम-जनम की जाये मलिनता उज्ज्वलता आ जाये ॥

(बाबाश्री द्वारा रचित 'बरसाना' से संग्रहीत)

कथनाशय इस पवित्र चरित्र के लेखन से निज कर व गिरा पवित्र करने का स्वसुख व जनहित का ही प्रयास है ।

अध्येतागण अवगत हों इस बात से कि यह 'लेख' मात्र सांकेतिक परिचय ही दे पाएगा अशेष श्रद्धास्पद (बाबाश्री) के विषय में ।

सर्वगुणसमन्वित इन दिव्य-विभूति का प्रकर्ष-आर्ष जीवन-चरित्र कहीं लेखन-कथन का विषय है?

"करनी करुणासिन्धु की मुख कहत न आवै"

(सूर-विनयपत्रिका)

मलिन अन्तस् में सिद्ध सन्तों के वास्तविक वृत्त को यथार्थ रूप से समझने की क्षमता ही कहाँ, फिर लेखन की बात तो अतीव दूर है तथापि इन लोक-लोकान्तरोत्तर विभूति के चरितामृत की श्रवणाभिलाषा ने असंख्यों के मन को निकेतन कर लिया, अतएव सार्वभौम महत् वृत्त को शब्दबद्ध करने की धृष्टता की ।

तीर्थराज प्रयाग को जिन्होंने जन्मभूमि बनने का सौभाग्य-दान दिया । माता-पिता के एकमात्र पुत्र होने से उनके विशेष वात्सल्यभाजन रहे । ईश्वरीय-योजना ही मूल हेतु रही आपके अवतरण में । दीर्घकाल तक अवतरित दिव्य दम्पति स्वनामधन्य श्री बलदेव प्रसाद शुक्ल ('शुक्ल भगवान्' जिन्हें लोग कहते थे) एवं श्रीमती हेमेश्वरी देवी को सन्तान-सुख अप्राप्य रहा, सन्तान-प्राप्ति की इच्छा से कोलकाता के समीप तारकेश्वर में जाकर आर्त पुकार की, परिणामतः सन् १९३० पौष मास की सप्तमी को रात्रि ९:२७ बजे कन्यारत्न श्री तारकेश्वरी (दीदी जी) का अवतरण हुआ, अनन्तर दम्पत्ति को पुत्र-कामना ने व्यथित किया । पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से कठिन यात्रा कर रामेश्वर पहुँचे, वहाँ जलान्न त्याग कर शिवाराधन में तल्लीन हो गये, पुत्र कामेष्टि महायज्ञ किया । आशुतोष हैं रामेश्वर प्रभु, उस तीव्राराधन से प्रसन्न हो तृतीय रात्रि को माता जी को सर्वजगन्निवासावास होने का वर दिया । शिवाराधन से सन् १९३८ पौष मास कृष्ण पक्ष की सप्तमी तिथि को अभिजित मुहूर्त मध्याह्न १२ बजे अद्भुत बालक का ललाट देखते ही पिता (विश्व के प्रख्यात व प्रकाण्ड ज्योतिषाचार्य) ने कह दिया –

"यह बालक गृहस्थ ग्रहण न कर नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही रहेगा, इसका प्रादुर्भाव जीव-जगत के निस्तार निमित्त ही हुआ है ।"

वही हुआ, गुरु-शिष्य परिपाटी का निर्वाहन करते हुए शिक्षाध्ययन को तो गये किन्तु बहु अल्पकाल में अध्ययन समापन भी हो गया ।

"अल्पकाल विद्या बहु पायी"

गुरुजनों को गुरु बनने का श्रेय ही देना था अपने अध्ययन से । सर्वक्षेत्र-कुशल इस प्रतिभा ने अपने गायन-वादन आदि ललित कलाओं से विस्मयान्वित कर दिया बड़े-बड़े संगीत-मार्तण्डों को । प्रयागराज को भी स्वल्पकाल ही यह सानिध्य सुलभ हो सका "तीर्थीं कुर्वन्ति तीर्थानि" ऐसे अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न असामान्य पुरुष का । अवतरणोद्देश्य की पूर्ति हेतु दो बार भागे जन्मभूमि छोड़कर ब्रजदेश की ओर किन्तु माँ की पकड़ अधिक मजबूत होने से सफल न हो सके । अब यह तृतीय प्रयास था, इन्द्रियातीत स्तर पर एक ऐसी प्रक्रिया सक्रिय हुई कि तृणतोड़नवत् एक झटके में सर्वत्याग कर पुनः गति अविराम हो गई ब्रज की ओर ।

चित्रकूट के निर्जन अरण्यों में प्राण-परवाह का परित्याग कर परिभ्रमण किया; सूर्यवंशमणि प्रभु श्रीराम का यह वनवास-स्थल 'पूज्यपाद' का भी वनवास-स्थान रहा । "स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे" इस भावना से निर्भीक घूमे उन हिंसक जीवों के आतंक संभावित भयानक वनों में ।

आराध्य के दर्शन को तृषान्वित नयन, उपास्य को पाने के लिए लालसान्वित हृदय अब बार-बार 'पाद-पद्मों' को श्रीधाम बरसाने के लिए ढकेलने लगा, बस पहुँच गए बरसाना । मार्ग में अन्तस् को झकझोर देने वाली अनेकानेक विलक्षण स्थितियों का सामना किया । मार्ग का असाधारण घटना संघटित वृत्त यद्यपि अत्यधिक रोचक, प्रेरक व पुष्कल है तथापि इस दिव्य जीवन की चर्चा स्वतन्त्र रूप से भिन्न ग्रन्थ

के निर्माण में ही सम्भव है, अतः यहाँ तो संक्षिप्त चर्चा ही है । बरसाने में आकर तन-मन-नयन आध्यात्मिक मार्गदर्शक के अन्वेषण में तत्पर हो गए । श्रीजी ने सहयोग किया एवं निरन्तर राधारससुधा सिन्धु में अवस्थित, राधा के परिधान में सुरक्षित, गौरवर्णा की शुभ्रोज्ज्वल कान्ति से आलोकित-अलङ्कृत युगल सौख्य में आलोडित, नाना पुराणनिगमागम के ज्ञाता, महावाणी जैसे निगूढ़ात्मक ग्रन्थ के प्राकट्यकर्ता "अनन्त श्री सम्पन्न श्री श्री प्रियाशरण जी महाराज" से शिष्यत्व स्वीकार किया ।

ब्रज में भामिनी का जन्म स्थान 'बरसाना', बरसाने में भामिनी की निज कर निर्मित 'गह्वर-वाटिका' "बीस कोस वृन्दाविपिन पुर वृषभानु उदार, तामें गहवर वाटिका जामें नित्य विहार" और उस गह्वरवन में भी महासदाशया मानिनी का मनभावन मान-स्थान 'श्रीमानमन्दिर' ही मानद (बाबाश्री) को मनोनुकूल लगा । 'मानगढ़' ब्रह्माचलपर्वत की चार शिखरों में से एक महान शिखर है । उस समय तो यह 'बीहड़ स्थान' दिन में भी अपनी विकरालता के कारण किसी को मन्दिर-प्राङ्गण में न आने देता । मन्दिर का आन्तरिक मूल-स्थान चोरों को चोरी का माल छिपाने के लिए था । चौराग्रगण्य की उपासना में इन विभूति को भला चोरों से क्या भय?

भय को भगाकर भावना की – "तस्कराणां पतये नमः" – चोरों के सरदार को प्रणाम है, पाप-पङ्क के चोर को भी एवं रकम-बैंक के चोर को भी । 'ब्रजवासी चोर भी पूज्य हैं हमारे' इस भावना से भावित हो द्रोहार्हणों (द्रोह के योग्य) को भी कभी द्रोह-दृष्टि से न देखा, अद्वेष्टा के जीवन्त स्वरूप जो ठहरे । फिर तो शनैः-शनैः विभूति की विद्यमत्ता ने स्थल को जाग्रत कर दिया, अध्यात्म की दिव्य सुवास से परिव्याप्त कर दिया ।

जग-हित-निरत इस दिव्य जीवन ने असंख्यों को आत्मोन्नति के पथ पर आरूढ़ कर दिया एवं कर रहे हैं । श्रीमच्चैतन्यदेव के पश्चात् कलिमलदलनार्थ नामामृत की नदियाँ बहाने वाली एकमात्र विभूति के सतत् प्रयास से आज ३२ हजार से अधिक गाँवों में प्रभातफेरी के माध्यम से नाम निनादित हो रहा है । ब्रज के कृष्णलीला सम्बन्धित दिव्य वन, सरोवर, पर्वतों को सुरक्षित करने के साथ-साथ सहस्त्रों वृक्ष लगाकर सुसज्जित भी किया । अधिक पुरानी बात नहीं है, आपको स्मरण करा दें - सन् २००९ में "श्रीराधारानी ब्रजयात्रा" के दौरान ब्रजयात्रियों को साथ लेकर स्वयं ही बैठ गये आमरण अनशन पर इस संकल्प के साथ कि जब तक ब्रज-पर्वतों पर हो रहे खनन द्वारा आघात को सरकार रोक नहीं देगी, मुख में जल भी नहीं जायेगा । समस्त ब्रजयात्री भी निष्ठापूर्वक अनशन लिए हुए हरिनाम-संकीर्तन करने लगे और उस समय जो उद्दाम गति से नृत्य-गान हुआ; नाम के प्रति इस अटूट आस्था का ही परिणाम था कि १२ घंटे बाद ही विजयपत्र आ गया । दिव्य विभूति के अपूर्व तेज से साम्राज्य-सत्ता भी नत हो गयी । गौवंश के रक्षार्थ गत १५ वर्ष पूर्व माताजी गौशाला का बीजारोपण किया था, देखते ही देखते आज उस वट बीज ने विशाल तरु का रूप ले लिया, जिसके आतपत्र (छाया) में आज ५५,००० से अधिक गायों का मातृवत् पालन हो रहा है । संग्रह-परिग्रह से सर्वथा परे रहने वाले इन महापुरुष की 'भगवन्नाम' ही एकमात्र सरस सम्पत्ति है ।

परम विरक्त होते हुए भी बड़े-बड़े कार्य सम्पादित किये इन ब्रज-संस्कृति के एकमात्र संरक्षक, प्रवर्द्धक व उद्धारक ने । गत ७० वर्षों से ब्रज में क्षेत्रसन्यास (ब्रज के बाहर न जाने का प्रण) लिया एवं इस सुदृढ भावना से विराज रहे हैं । ब्रज, ब्रजेश व ब्रजवासी ही आपका सर्वस्व हैं । असंख्य जन आपके सान्निध्य-सौभाग्य से सुरभित हुये, आपके विषय में जिनके विशेष अनुभव हैं, विलक्षण अनुभूतियाँ हैं, विविध

विचार हैं, विपुल भाव-साम्राज्य है, विशद अनुशीलन हैं; इस लोकोत्तर व्यक्तित्व ने विमुग्ध कर दिया है विवेकियों का हृदय । वस्तुतः कृष्णकृपालब्ध पुमान् को ही गम्य हो सकता है यह व्यक्तित्व । रसोदधि के जिस अतल-तल में आपका सहज प्रवेश है, यह अतिशयोक्ति नहीं कि रस-ज्ञाताओं का हृदय भी उस तल से अस्पृष्ट ही रह गया ।

'आपकी आन्तरिक स्थिति क्या है' यह बाहर की सहजता, सरलता को देखते हुए सर्वथा अगम्य है । आपका अन्तरंग लीलानन्द, सुगुप्त भावोत्थान, युगल-मिलन का सौख्य इन गहन भाव-दशाओं का अनुमान आपके सृजित साहित्य के पठन से ही सम्भवहै । आपकी अनुपम कृतियाँ – श्री रसिया रसेश्वरी, स्वर वंशी के शब्द नूपुर के, ब्रजभावमालिका, भक्तद्वय चरित्र इत्यादि हृदयद्रावी भावों से भावित विलक्षण रचनाएँ हैं ।

आपका त्रैकालिक सत्संग अनवरत चलता ही रहता है । साधक-साधु-सिद्ध सबके लिए सम्बल हैं आपके त्रैकालिक रसार्द्रवचन । दैन्य की सुरभि से सुवासित अद्भुत असमोर्ध्व रस का प्रोज्ज्वल पुञ्ज है यह दिव्य रहनी, जो अनेकानेक पावन आध्यात्मास्वाद के लोभी मधुपों का आकर्षण केन्द्र बन गयी, सैकड़ों ने छोड़ दिए घर-द्वार और अद्यावधि शरणागत हैं; ऐसा महिमान्वित-सौरभान्वित वृत्त विस्मयान्वित कर देने वाला स्वाभाविक है ।

रस-सिद्ध-सन्तों की परम्परा इस ब्रजभूमि पर कभी विच्छिन्न नहीं हो पाई । श्रीजी की यह 'गह्वर-वाटिका' जो कभी पुष्पविहीन नहीं होती, शीत हो या ग्रीष्म, पतझड़ हो या पावस, एक न एक पुष्प तो आराध्य के आराधन हेतु प्रस्फुटित ही रहता है । आज भी इस अजरामर, सुन्दरतम, शुचितम, महत्तम, पुष्प (बाबाश्री) का जग 'स्वस्तिवाचन' कर रहा है । आपके अपरिसीम उपकारों के लिए हमारा अनवरत वन्दन अनुक्षण प्रणति भी न्यून है ।

कथा-प्रसंग-सूचिका

पाठ्य-क्रमाङ्क	पृष्ठाङ्क	कथा-क्रम का प्रारम्भिक व अन्तिम अध्याय
भागवतमाहात्म्य	०२ – ५३	श्रीसूताख्यान (१) – सप्ताहश्रवणविधि (६)
प्रथम स्कन्ध	५४ – १३५	नैमिषीयोपाख्यान (१) – शुकागमन (१९)
द्वितीय स्कन्ध	१३५ – १९१	महापुरुषसंस्थानुवर्णन (१) – पुरुषसंस्थानुवर्णन (१०)
तृतीय स्कन्ध	१९२ – ३१५	विदुरोद्धवसंवाद (१) – कापिलेयोपाख्यान (३३)
चतुर्थ स्कन्ध	३१५ – ४२२	विदुरमैत्रेयसंवाद (१) – प्रचेतसोपाख्यान (३१)
पंचम स्कन्ध	४२३ – ४९७	प्रियव्रतविजय (१) – नरकानुवर्णन (२६)
षष्ठ स्कन्ध	४९८ – ५५३	अजामिलोपाख्यान (१) – पुंसवनव्रतकथन (१९)
सप्तम स्कन्ध	५५४ – ६२५	प्रह्लादचरित्रोपक्रम (१) – सदाचारनिर्णय (१५)

श्री राधा

श्रीमद्भागवत-सप्ताह-कथा

श्रीबाबामहाराज द्वारा कथित (२२ फरवरी १९८५)

श्रीमंगलाचरण

वन्दे राधिकां देवी किशोरीं माधव स्वामिनीम् ।
श्यामां गजगामिनीं चैव त्रिभुवन मोहन मोहिनीम् ॥
वन्दे नवघनश्यामं पीतकौशेय वाससम् ।
सानन्दं सुन्दरं शुद्धं श्रीकृष्णं प्रकृतेः परम् ॥

श्रीमद्भागवतमहापुराण के भीतर गूढरूप से कृष्णवल्लभा वृषभानुनन्दिनी श्रीप्रियाजी का रस है, जिसे स्पष्ट रूप से टीकाकार-आचार्यों ने खोला है; इसे दशम स्कन्ध के अन्तर्गत रासपञ्चाध्यायी की कथा में बताया गया है । श्रीयुगलरस के कारण ही श्रीमद्भागवत की ऐसी विलक्षण महिमा हुई है, यह रस का समुद्र है । अब इसके माहात्म्य का प्रारम्भ किया जाता है ।

श्रीपद्मपुराणोक्त भागवतमाहात्म्य

अध्याय – १

नैमिषारण्य एक प्रसिद्ध तीर्थस्थल है । एक बार वहाँ बहुत बड़ा यज्ञ हुआ, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि वहाँ एक सहस्र (एक हजार) वर्ष के लिए बैठे । ऐसा आख्यान लिखित है कि सर्वप्रथम महर्षि व्यासजी और शुकदेवजी की वन्दना करने के पश्चात् इसी नैमिषारण्य में विराजमान सूतजी को नमस्कार कर शौनकजी ने उनसे प्रश्न किया – 'हे महाराज ! पृथ्वी पर अत्यन्त घोर कलियुग का आगमन हो चुका है, यह अत्यधिक भीषण है; घोर अथवा भीषण कैसे है ? तो शौनकजी ने कहा – **'जीवश्चासुरतां गतः'** हर प्राणी असुर हो गया है, जितने भी प्राणी हैं, सभी असुर हो गए हैं अर्थात् सबमें आसुरी भाव 'केवल कलह, राग-द्वेष' आदि ही व्याप्त हैं; ऐसी स्थिति में जीव का कल्याण कैसे हो सकेगा, यह आप बताइये ।'

सूतजी बोले – कलियुग का भय तो है ही, सबसे बड़ा भय जीव को काल से है । काल एक व्याल (अजगर) है, जो हम लोगों को खाने के लिए घूम रहा है; इससे बचने का साधन केवल श्रीमद्भागवत महापुराण ही है, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है । जब जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यों का उदय होता है तब श्रीमद्भागवत की प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं होती है (जीव भागवत का श्रवण तभी कर सकता है जब उसके जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य सामने आ जाते हैं) ।

'जन्मान्तरे भवेत्पुण्यं तदा भागवतं लभेत् ।'

आप इसी से समझ लीजिये कि जब शुकदेवजी कथा कहने के लिए बैठे तो देवगण कितने चतुर हैं, वे अमृत का घड़ा लेकर शुकदेवजी

के पास पहुँचे और बोले – 'आप परीक्षित् जी का जीवन चाहते हैं तो इन्हें यह अमृत पिला दीजिये और हमें इसके बदले में श्रीमद्भागवत-कथा का अमृत प्रदान कीजिये ।' इस प्रकार की देवताओं की वणिक-बुद्धि (व्यापारियों जैसी बुद्धि) देखकर शुकदेवजी ने उनकी हँसी उड़ा दी और कहा – 'देखो, कहाँ तो यह मणिरूपा श्रीमद्भागवतजी और कहाँ यह काँच का टुकड़ा अमृत ।' अरे ! अमृत का तो केवल नाम ही अमृत है, वस्तुतः तो 'अमृत' एक बड़ा विष है क्योंकि यह विषबन्धु है, समुद्र-मन्थन के उपरान्त विष के साथ उत्पन्न हुआ है । 'विष' अमृत का भइया (बड़ा भाई) है । अमृत-पान करने से शरीर पुष्ट होता है और देवता बनकर जीव भोग भोगता है । इसीलिए भक्त तो अमृत चाहते ही नहीं हैं, यह तो केवल काँच है, काँच घोटकर (पिघलाकर) पिला दिया जाए तो मृत्यु हो जाएगी । इसीलिए शुकदेवजी ने देवताओं को श्रीमद्भागवत-कथा का श्रवण नहीं कराया और यह बताया कि श्रीमद्भागवत के पठन-श्रवण से सद्यः (तुरन्त ही) भगवान् श्रीश्यामसुन्दर (युगल सरकार श्रीराधामाधव) की प्राप्ति होती है । सूतजी कहते हैं कि श्रीमद्भागवत विद्यमान तो पहले से थी किन्तु इसके श्रवण की सप्ताह-विधि सनकादिक ऋषियों ने नारदजी के लिए चलाई । इस बात को सुनकर शौनकजी चौंक गए और उन्होंने कहा कि भला नारदजी सात दिन तक कथा कैसे सुन सके, उन्हें तो शाप है, वे एक क्षण को भी कहीं स्थिरता से बैठ ही नहीं सकते, फिर वे सात दिन तक कथा-श्रवण हेतु कैसे बैठे रहे ? यह बात तो मेरी समझ में नहीं आई ।

सूतजी बोले कि एकबार सनकादि चारों भाई सत्संग के लिए बैठे तो उन्होंने देखा कि उधर से नारदजी अत्यन्त उदास भाव से जा रहे थे । चारों भाइयों ने उनसे पूछा – 'नारदजी ! आप तो बड़े विरक्त हैं, फिर आपका चेहरा अत्यन्त उदास कैसे दिखाई दे रहा है ? कोई गृहस्थ

चिन्ता में हो, यह तो स्वाभाविक है । **'कथं ब्रह्मन्दीनमुखः'** – आप कैसे इतने दुःखी हो रहे हैं ? आप तो ऐसे प्रतीत हो रहे हैं, जैसे आपका सर्वस्व लुट गया हो ।

'इदानीं शून्यचित्तोऽसि गतवित्तो यथा जनः ।'

आपके ऊपर कैसा डाका पड़ा है, क्या बात हो गयी है, क्या समस्या आ गयी है ?' नारदजी बोले – 'महर्षियो ! मैं अत्यधिक दुःखी हूँ । एकबार मैं ब्रह्मलोक से पृथ्वी के तीर्थों में गया - पुष्कर, प्रयाग, गोदावरी(नासिक), काशी, हरिद्वार, कुरुक्षेत्र तथा अन्य सभी तीर्थों में गया किन्तु मुझे कहीं शान्ति नहीं मिली । समस्त तीर्थों में भ्रमण करने के बाद भी यही अनुभव किया कि शान्ति कहीं नहीं है । आश्चर्य होता है कि तीर्थों में ही शान्ति नहीं है जबकि 'तीर्थयात्रा' तो लोग शान्ति की प्राप्ति के लिए ही करते हैं । वास्तविकता यही है कि आजकल देखो तो सत्य नहीं है, तप नहीं है, शौच (पवित्रता) नहीं है । सभी लोग पशु की तरह पेट पालने के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते हैं । उन्हें यह भी नहीं पता कि हम क्यों मनुष्य बने हैं, इस संसार में हमारा जन्म क्यों हुआ है और हमें क्या करना चाहिए ? सभी लोग पशुओं की तरह हो गए हैं । घर-घर 'कलह' है, अब न तो कोई योगी रहा, न साधु-संत रहा; जो विरक्त बनते हैं, वे भी अर्थ (धन) का संचय करते हैं । प्रायः सभी जगह धन की बहुलता दिखाई देती है । मैं कहाँ तक कहूँ, इस समय संसार में कलियुग की भीषण अग्नि जल रही है; इस अग्नि ने कल्याण के जितने भी साधन थे, उन सबको जलाकर राख कर दिया है, सभी चीजें एकदम ख़ाक हो गयी हैं । मैं दुःखी होकर यमुना-किनारे भ्रमण करते हुए ब्रज में आ गया, जहाँ पर द्वापर में कन्हैयाजी की लीलायें सम्पन्न हुईं थीं । उस ब्रज में यमुना तट पर मैंने क्या देखा कि एक अत्यन्त सुन्दरी युवती उदास मुख से बैठी है । उसके निकट ही दो वृद्ध

व्यक्ति निर्जीव-से धरती पर पड़े हुये थे और वह युवती कभी एक वृद्ध की सेवा करती, कभी दूसरे वृद्ध को सम्भालती । वह कोई साधारण स्त्री नहीं थी क्योंकि सैकड़ों स्त्रियाँ उसके शरीर पर हाथ से पंखा कर रही थीं, बड़ी दिव्य देवियाँ उस नवयुवती की सेवा कर रही थीं ।' जब मैं वहाँ पहुँचा तो वह सुन्दरी बाला बोली – 'अरे-अरे साधो, रुकिए महाराज !'

साधु उसे कहते हैं, जिसके दर्शन से ही पाप नष्ट हो जाता है । **'यदा भाग्यं भवेद्भूरि भवतो दर्शनं तदा ।'** – बड़े भारी पुण्यों के बाद साधुओं का, भक्तों का दर्शन होता है । नारदजी उस युवती की बात सुनकर रुक गए और उससे पूछा – 'अरी ! तुम कौन हो और ये दोनों वृद्ध कौन हैं तथा ये जो अनेकों स्त्रियाँ तुम्हारी सेवा कर रही हैं, ये कौन हैं ?' वह देवी बोली –

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ ॥

(श्रीभागवतमाहात्म्य - १/४५)

'नारदजी ! मैं साक्षात् भक्ति हूँ । ये दोनों मेरे पुत्र हैं ज्ञान और वैराग्य तथा जितनी भी नदियाँ हैं – गंगा, नर्मदा, कावेरी आदि, ये सब यहाँ आकर मेरी सेवा कर रही हैं ।'

(इन दिव्य नदियों द्वारा भक्ति देवी की सेवा करने का कारण यही है कि भक्ति महारानी सर्वोच्च हैं ।) भक्ति देवी ने आगे कहा – 'मैं पहले द्रविण देश में उत्पन्न हुई, कर्नाटक में बढ़ी, गुजरात में जीर्णता (वृद्धावस्था) को प्राप्त हो गयी । (क्योंकि वहाँ शुद्धि-अशुद्धि का अधिक विचार नहीं रहता ।) घूमते-घूमते मैं जब वृद्ध हो गयी तो वृन्दावन धाम में आ गयी । वृन्दावन धाम में आते ही मैं युवावस्था को प्राप्त हो गयी । यहाँ आते ही बिना किसी साधन के ही मैं एकदम नवीन हो गयी, नवयुवती बन गयी । ये जो अचेतनावस्था में पड़े हैं, ये मेरे पुत्र ज्ञान

तथा वैराग्य हैं और मैं इनकी माँ हूँ । बड़े आश्चर्य और दुःख की बात है कि माँ तो युवा है और पुत्र वृद्ध हैं, चल-फिर नहीं सकते, ऐसा कैसे हो गया है ?' नारदजी बोले – 'देवी ! मैं विचार करता हूँ, देखो भगवान् कल्याण करेंगे, उन पर भरोसा रखो ।' विचार करने के उपरान्त नारदजी ने कहा – 'देवी ! बात यह है कि अत्यन्त भीषण कलियुग का आगमन हो गया है; इस युग के प्रभाव से सदाचार, योग, तपस्या आदि सभी कल्याणकारी साधन भस्म हो गए हैं । **'जना अघासुरायन्ते'** – हर प्राणी अघासुर जैसा बन गया है, तनिक-सी बात पर ही सर्प की तरह फुफकारने और लड़ने को तैयार हो जाता है; किसी में सहनशीलता नहीं रह गयी है - क्या बाप, क्या बेटा, सभी अघासुर बन गए हैं; शठता व दुष्कर्म कर रहे हैं और जो कोई सन्मार्ग पर चलेगा, साधु बनेगा, उसको संसार में कष्ट मिलेगा, इसके विपरीत असाधु (दुष्ट) लोग प्रसन्न रहेंगे । **'इह सन्तो विषीदन्ति प्रहृष्यन्ति ह्यसाधवः ।'** पापी प्रसन्न रहें और धर्मात्मा दुःख भोगें तो बड़ों-बड़ों की श्रद्धा नष्ट हो जाती है कि ये कैसा न्याय है ? ऐसी स्थिति में जो श्रद्धा रखता है, वही पंडित है, वही धीर है । हे भक्तिदेवी ! वृन्दावन में आकर तुम नवीन युवावस्था को प्राप्त हो गयी हो तो यह भूमि बड़ी धन्य है । यहाँ तो स्वाभाविक रूप से भक्ति सर्वत्र नृत्य करती है । यहाँ तो लोग आपस में बातचीत भी करते हैं तो 'राधे-राधे' कहते हैं, कोई हास-परिहास करेगा तो भी 'राधे' नाम का उच्चारण करेगा । यहाँ तो किसी का नाम 'कृष्ण' है, किसी का 'वासुदेव' है, इसलिए चलते-फिरते सामान्य व्यवहार में भी लोग किसी को बुलाने के लिए भगवन्नाम का उच्चारण करते हैं ।'

भक्ति ने नारदजी से पूछा – 'जब कलियुग अत्यन्त भयानक है तो फिर इसे 'भगवान्' कैसे सहन कर रहे हैं क्योंकि यह तो अधर्म का ही प्रसार कर रहा है ।' नारदजी बोले – 'जब भगवान् मुकुन्द इस

धराधाम से चले गए तो उनके जाते ही कलियुग आ धमका । देवि ! वैसे तो कलियुग की बड़ी निन्दा है और इसमें सिवाय अनर्थ और पाप के कुछ नहीं है किन्तु इसमें एक विशेष गुण ऐसा है कि केवल इसी गुण के कारण अधर्म प्रधान होने के कारण भी अन्य युगों से भी इसकी महिमा अधिक बढ़ गयी है । यह बड़े आश्चर्य की बात है – समस्त अधर्मों की, सम्पूर्ण पापों की जड़ यह 'कलियुग' है और फिर भी अन्य युगों से इसकी महिमा अधिक बढ़ गयी ।' भक्ति ने कहा कि यह बात तो मेरी समझ में नहीं आती है ।

नारदजी बोले – 'यही बात तो समझने की है और ये बात जो समझ गया फिर वह हाथ मार लेगा, सफलता को प्राप्त कर लेगा ।' भक्ति ने पूछा – 'इसका क्या रहस्य है ?' नारदजी ने कहा – 'सुनो, वैसे तो कलियुग घोर पापमय है क्योंकि इसमें तपस्या, योग, समाधि आदि कोई कल्याणकारी साधन नहीं किया जा सकता किन्तु यह तुम निश्चित समझो –

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना ।
तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशव कीर्तनात् ॥

(श्रीभागवतमाहात्म्य - १/६८)

सतयुग, त्रेता और द्वापर के लोग 'तपस्या, योग आदि' साधनों का अनुष्ठान करते थे और लाखों वर्षों तक समाधि लगाते थे; उससे उनको जिस फल की प्राप्ति होती थी, कलियुग में केवल 'श्रीकृष्ण-कीर्तन' करने से ही उन युगों से अधिक फल की प्राप्ति हो जाती है । इसलिए कलियुग की महिमा अन्य युगों से अधिक बढ़ गयी है; यह महिमा केवल कीर्तन के कारण है ।'

हम लोग कीर्तन नहीं करते हैं जबकि यह अत्यन्त सरल साधन है फिर भी हम लोग इससे विमुख हैं । इसी कारण से यह कलियुग हमें

खाए जा रहा है । यदि हम लोग इस 'कीर्तन' रूपी साधन को निष्ठा के साथ करें तो कलियुग की कोई शक्ति नहीं है जो हम पर प्रहार कर सके और कीर्तन करने से लोक-परलोक, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द हो जाएगा । इसलिए सभी लोग कीर्तन करें –

जय-जय राधे गोविन्दा । जय-जय वृन्दावनचंदा॥

अपने घर में बैठकर निष्ठा के साथ जो 'कीर्तन' करता है, वह कलियुग में रहते हुए भी तपस्या, योग आदि साधनों से ऊपर चला जाता है; यह बात डंके की चोट पर कही जा रही है । श्रीमद्भागवतकथा-श्रवण करने का भी यही लाभ है कि श्रोताओं को यह नियम बना लेना चाहिए कि हम प्रतिदिन 'भगवन्नाम-कीर्तन' करेंगे; यह किसी व्यक्ति विशेष का नहीं अपितु शास्त्र का निर्देश है ।

नारदजी ने कहा – 'देखो, कलियुग में अगणित दोष हैं, इस युग की करालता (भीषणता) के कारण पण्डित लोग विषयभोग में लिप्त हो जाते हैं, मुक्ति का साधन तो वे जानते ही नहीं हैं । इसी प्रकार जो लोग तीर्थयात्रा करते हैं तो तीर्थ में जाने से भी कोई लाभ नहीं मिल सकता है, इसका कारण यह है कि –

अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः॥

(श्रीभागवतजी - १/७२)

तीर्थों में उग्रकर्म करने वाले नास्तिक लोग जो निवास करते हैं, उनके तामस तेज के कारण तीर्थ अपना तेज छिपा लेते हैं । तीर्थों में पापी लोग रहते हैं, इसलिए तीर्थ की पवित्र भूमि अपने प्रभाव को छिपा लेती है; यह बात बिलकुल सत्य है और इसीलिए तीर्थों में जाने से कल्याण नहीं होता है । अतएव महापुरुषों ने तीर्थयात्रा करने का खण्डन

किया है कि तीर्थों में डोलते रहो, उससे कुछ लाभ नहीं मिलने वाला है क्योंकि वहाँ वास्तविकता तो है नहीं । एकमात्र कल्याण का उपाय इस कलिकाल में यही है कि कहीं तीर्थयात्रा के लिए नहीं भटको, केवल निष्ठा के साथ 'कीर्तन' करो ।'

सूतजी कहते हैं कि नारदजी के मुख से ऐसा सुनकर भक्ति देवी बोलीं – 'सुरर्षे ! आप बड़े धन्य हैं और आपके दर्शन से अवश्य ही मेरा कार्य सिद्ध होगा क्योंकि आप वही नारद हैं जिनकी कृपा से प्रह्लाद को भक्ति मिली एवं आपकी ही कृपा से पाँच वर्ष के बालक ध्रुव को भी भगवत्प्राप्ति हो गयी । इन छोटे-छोटे बच्चों को भी इतनी अधिक ऊँचाई पर पहुँचाने वाले आप ही हैं, इसलिए आपकी कृपा से हमारा भी कार्य सफल होगा । इसके साथ ही पद्मपुराण में वर्णित भागवत-माहात्म्य के प्रथम अध्याय का समापन हुआ ।

अध्याय – २

द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में नारदजी ने भक्ति महारानी से अति उत्तम बात कही –

वृथा खेदयसे बाले अहो चिन्तातुरा कथम् ।
श्रीकृष्णचरणाम्भोजं स्मर दुःखं गमिष्यति ॥

(श्रीभागवतजी - २/१)

'हे बाले ! तुम उदास क्यों हो रही हो ? कन्हैयाजी के चरणकमलों का स्मरण करो, फिर दुःख तो न जाने कौन से चूल्हे में चला जाएगा ?'

आज हम लोग दुःख की अग्नि में क्यों जल रहे हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण स्मरण नहीं कर रहे हैं इसलिए दुःख की भट्टी में तो अवश्य ही जलेंगे । नारदजी कहते हैं कि कोई भी हो, राजा हो, रंक हो, ब्राह्मण हो, वृद्ध हो, देवता हो अथवा मनुष्य हो, जो श्रीकृष्ण का स्मरण नहीं करेगा, वह

अवश्य ही दुःख की भट्टी में, त्रितापों की भट्टी में जलेगा । अनादिकाल से जलता आया है और सदा-सर्वदा जलता रहेगा । जीते जी तो जलेगा ही, मरने के पश्चात् भी जलेगा ।

नारदजी ने भक्ति से कहा – **'कलौ तु केवला भक्ति'** अर्थात् कलियुग में केवल भगवान् की भक्ति है । हे भक्तिदेवी ! तुम कृष्णवल्लभा हो और एक बार तुमने कृष्ण कन्हैया से हाथ जोड़कर पूछा कि मुझे कुछ आज्ञा दीजिये तो प्रभु बोले – **'मद्भक्तान् पोषय'** - भक्ति महारानी ! मेरे भक्तों का पोषण करो । प्रभु को सबसे प्यारे भक्त हैं ।' नारदजी कहते हैं – 'हे भक्ति ! तुम्हारे लिए उन प्रभु ने मुक्ति को दासी बना दिया ।'

जो मुक्ति करोड़ों कल्पों तक साधन करने के बाद भी नहीं मिलती, वह मुक्ति भक्ति की दासी बन गयी और ऐसी दासी है कि भक्तगण मुक्ति की ओर थूकते भी नहीं हैं, वे तो कहते हैं कि यह मुक्ति तो पिशाचिनी है । भक्त लोग कहते हैं –

'भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।'

जिस मुक्ति को दीर्घकाल तक दुष्कर तपस्या, योग आदि साधनों के प्रभाव से लोग प्राप्त करते हैं, उसको भक्तगण कहते हैं कि मुक्ति तो पिशाचिनी है, इससे दूर ही रहना, कहीं खा न जाये ।

नारदजी भक्ति से बोले – 'भगवान् ने मुक्ति को तो तुम्हारी दासी बना दिया और ज्ञान-वैराग्य को तुम्हारा सहायक कर दिया, इस प्रकार द्वापर तक तो तुम बड़े आनन्द से रही । कलियुग में तो मुक्ति बिल्कुल समाप्त हो गयी पाखण्ड रूपी रोग के दुष्प्रभाव से ।'

जहाँ देखो, सर्वत्र पाखण्ड ही पाखण्ड छाया हुआ है । हम जैसे लोग देखते हैं कि कोई आ रहा है तो उसे दिखाने के लिए तुरन्त ही ध्यान लगाकर बैठ जाते हैं, यह पाखण्ड है । माला भी फेरते हैं तो मन में सोचते हैं कि कोई मेरे माला-जप को देख रहा है कि नहीं । किसी

धार्मिक कार्य में चार पैसा भी चढ़ाते हैं तो सोचते हैं कि मेरे इस सत्कार्य को कोई देख रहा है कि नहीं । बहुत से लोग तो यश के लिए अपना नाम भी पत्थर पर अंकित करवा लेते हैं; यह क्या है ? यह दिखाता है कि पाखण्ड हमारे रोम-रोम में घुसा हुआ है । प्रभु के लिए कोई कुछ नहीं करता है । मनुष्य जो कुछ भी करता है, वेश्या की तरह प्रदर्शन के लिए करता है कि चार आदमी जान लें, चार आदमी हमारी प्रशंसा कर दें, चार आदमी हमारी सुन लें । **'पाखण्डामयपीडिता'** - यह पाखण्ड बहुत बड़ी बीमारी है । इससे कोई बच नहीं पाता है । पाखण्ड से पीड़ित होकर मुक्ति महारानी तो क्षय को प्राप्त हो गई ।

नारदजी ने भक्ति से कहा – 'जब तुम मुक्ति को याद करती हो तो वह आती है और चली जाती है । तुमने ज्ञान और वैराग्य को अपने पुत्र बनाकर पालन किया लेकिन अब तो ये बेचारे (कलियुग के प्रभाव से) वृद्ध हो गए ।' परन्तु वही बात नारदजी पुनः कह रहे हैं – 'हे देवि ! कलियुग में बड़ा कष्ट है, तुम्हें भी अत्यन्त कष्ट भोगना पड़ा और तुम्हारे पुत्रों को भी अतीव कष्ट हो रहा है लेकिन बात यही है – **'कलिना सदृशः कोऽपि युगो नास्ति वरानने ।'**

मैं वही बात कहूँगा, चाहे भले ही तुम लोग कलियुग की भट्टी में जल रहे हो लेकिन फिर भी यही कहूँगा कि कलियुग के समान कोई युग नहीं है, किसके लिए ? जो 'कृष्ण-कीर्तन' करता है, उसके लिए कलियुग 'अमृतमय' रूप है, 'सद्यः' यानि तत्काल ही 'कीर्तन' करने वालों को कलियुग में 'कृष्ण' की प्राप्ति हो जाती है ।' नारदजी ने भक्ति से यह भी कहा कि मैं तुम्हें घर-घर में स्थापित करूँगा इस कलिकाल में । घोर पापी ही क्यों न हों किन्तु जिनके हृदय में भक्ति आ जाती है, वे कृष्णमन्दिर (कृष्णलोक) में निर्भय चले जाते हैं, बिना किसी रोक-टोक के पहुँच जाते हैं, उनको कोई रोकने वाला नहीं है ।

पापिनोऽपि गमिष्यन्ति निर्भयं कृष्णमन्दिरम् ।

कुछ बात यहाँ नारदजी बहुत ही उत्तम कह रहे हैं, जैसे –

येषां चित्ते वसेद्भक्तिः सर्वदा प्रेमरूपिणी ।

जिन लोगों के चित्त में भक्ति है, कैसी भक्ति ? **'प्रेमरूपिणी भक्ति'** इस शब्द को समझो । अपनी वृत्ति को प्रेमरूपिणी बनाओ, वही सच्ची भक्ति है । हम केवल माला फेर रहे हैं किन्तु किसी प्राणी से प्रेम के अतिरिक्त बर्ताव कर रहे हैं तो वह भक्ति नहीं है । 'सर्वदा प्रेमरूपिणी' का मतलब है कि हर प्राणी में प्रभु श्रीकृष्ण को देखते हुए उससे प्रेम से व्यवहार करो, ये है प्रेमरूपिणी भक्ति । केवल हमलोग माला फेरके, पाठ करके अपने को बहुत बड़ा भक्त समझ लेते हैं किन्तु दूसरे के प्रति प्रायः हमारा व्यवहार विषम रहता है । इसलिए 'सर्वदा प्रेमरूपिणी' का अर्थ है कि एक छोटे-से बच्चे को भी मत डाँटो, किसी भी प्राणी से कटु मत बोलो तो ये है 'प्रेमरूपिणी भक्ति'; ऐसी भक्ति जिसके अन्दर आ जाती है, वह स्वप्न में भी यमराज को नहीं देख सकता है, यमराज की सामर्थ्य कहाँ है उसके पास आने की ।

न प्रेतो न पिशाचो वा राक्षसो वासुरोऽपि वा ।
भक्तियुक्तमनस्कानां स्पर्शने न प्रभुर्भवेत्॥

(श्रीभागवतमाहात्म्य - २/१७)

प्रेत हो, पिशाच हो, राक्षस तथा असुर हो; जिसके हृदय में भक्ति है, उसे ये दुष्ट शक्तियाँ छू भी नहीं सकती हैं । कैसे ? जैसे – हिरण्यकशिपु का उदाहरण देखो – 'प्रह्लादजी' को परम शक्तिशाली (त्रिलोकविजयी) असुर स्पर्श भी नहीं कर सका । केवल 'भक्ति महारानी' की यह शक्ति है, अतः शक्ति है तो केवल 'भक्ति' में है । तपस्या, वेद, ज्ञान आदि से 'कृष्ण' नहीं मिलते हैं ।

'हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः ।'

केवल भक्ति और प्रेम से 'कृष्ण' मिलते हैं, इसका प्रमाण क्या है ? इसका प्रबल प्रमाण हैं - गोपीजन । सहस्त्रों जन्मों के शुभ कर्म के बाद 'कृष्ण के प्रति भक्ति' का उदय होता है । किसी के अन्दर यदि कृष्ण के प्रति भक्ति है तो समझ लो कि इसके पीछे लाखों-करोड़ों वर्षों के पुण्य छिपे हुए हैं । ऐसे ही कोई साधारण रूप से कन्हैयाजी का भजन नहीं कर सकता है । इसीलिए 'भगवद्भक्त' से दबना चाहिए । 'भगवद्भक्त' का आदर करना चाहिए क्योंकि उसके पीछे करोड़ों वर्षों के पुण्य छिपे हुए हैं, तब वह आज कृष्ण का भजन कर रहा है । हम लोगों को यह सब दिखाई नहीं देता है, क्या किया जाए ? हमारी स्थूल दृष्टि है । नारदजी कहते हैं – इसीलिए मैं बार-बार कह रहा हूँ –

कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः ।

(श्रीभागवतमाहात्म्य - २/१९)

कलियुग में केवल 'भक्ति' का ही प्रताप है । अगर तुम्हें 'कन्हैया' को अपने सामने देखना है, अपने सामने उसे खड़ा करना है तो इसके लिए केवल 'भक्ति' का आश्रय लेना होगा । यदि सच्ची भक्ति है तो कन्हैया सामने खड़ा हुआ दिखाई देगा । जो 'भक्त' की निन्दा करता है तो वह चाहे कितना भी बड़ा महर्षि हो, कितना भी बड़ा पंडित हो, उसे बड़ा भारी दुःख उठाना पड़ेगा । उदाहरण के तौर पर 'दुर्वासाजी' का जीवन-चरित्र देख लो, उन्हें 'अम्बरीषजी' के प्रति अपराध करने के कारण कितना भीषण संकट सहन करना पड़ा था, इसलिए सभी लोग भक्तों से बड़ा भय करना । इस बात की गहरी सावधानी रखना कि कहीं भक्तों के प्रति हमारे द्वारा अपराध न हो जाए । 'भक्तापराध' से एक क्षण में नष्ट हो जाओगे । इसलिए भगवद्भक्त से (उसके प्रति अपराध होने से) बहुत डरना । हमारी-तुम्हारी तो बात ही क्या है, हिरण्यकशिपु और रावण जैसे त्रिलोक विजयी, महाशक्तिशाली राजाओं का भक्तापराध

करने पर क्या हाल हुआ, यह सब शास्त्रों में वर्णित है । विभीषण का जब रावण ने बुरी तरह अपमान किया तो उसके बारे में गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है –

रावण जबहिं विभीषन त्यागा । भयउ विभव बिनु तबहिं अभागा॥

(श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड - ४२)

रामजी ने तो रावण को पीछे मारा, विभीषण का अपराध करने के कारण वह पहले ही नष्ट हो गया था । इसलिए जिसके अन्दर भक्ति है, ऐसा भक्त बहुत ही बड़ी वस्तु है, अतः उससे डरना चाहिए ।

इस प्रकार जब साक्षात् भक्ति देवी के समक्ष नारदजी ने भक्ति की महिमा का वर्णन किया तो वह अत्यधिक प्रसन्न हुई और फिर नारदजी से बोलीं – 'मेरे ये दोनों पुत्र ज्ञान और वैराग्य, जो अचेतनावस्था में सो रहे हैं, अब आप इन्हें जगाने की चेष्टा कीजिए ।'

सूतजी बोले – भक्तिजी के वचन सुनकर नारदजी ने मूर्च्छावस्था को प्राप्त ज्ञान-वैराग्य के कान में मुँह लगाकर बड़े जोर से आवाज लगाई जैसे कोई किसी को दूर होने पर तीव्र ध्वनि के साथ पुकारता है – 'अरे ओ रामदास ! उठो ।' उसी तरह से नारदजी ने भी पुकारा – **'ज्ञान प्रबुध्यतां शीघ्र रे वैराग्य प्रबुध्यताम् ।'**

'अरे भइया ज्ञान रे ! ओ ज्ञान ! अरे भइया वैराग्य रे !! उठो ।' किन्तु ज्ञान और वैराग्य अपनी गहरी अचेतनावस्था में खर्राटे लेते हुए ज्यों के त्यों पड़े रहे, उन पर नारदजी के पुकारने का कोई प्रभाव नहीं पड़ा । नारदजी ने वेद-मन्त्रों का उच्चारण किया, गीता-पाठ सुनाया, उन्हें जगाने का बहुत अधिक प्रयत्न किया किन्तु ज्ञान और वैराग्य तो भूख से दुबले हो चुके थे, गहरी निद्रा ने उन्हें ग्रसित कर लिया था । नारदजी द्वारा वेदमन्त्र और गीता पाठ सुनाये जाने पर भी उनकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, तब तो नारदजी को बहुत चिन्ता हुई और वह विचार करने लगे कि अब मैं क्या करूँ, जितनी मेरी शक्ति थी,

जितना मेरा सामर्थ्य था, ज्ञान-वैराग्य को जगाने हेतु मैने अपना पूरा प्रयत्न कर डाला । नारदजी चिन्तित होकर इस प्रकार विचार कर ही रहे थे, उसी समय आकाशवाणी हुई – **'ऋषे ! मा खिद्यता'** 'हे ऋषे ! तुम उदासी को प्राप्त मत हो और देखो, तुम्हारा उद्यम सफल होगा । साधु पुरुषों के पास जाओ और वे इस समस्या का निदान बताएँगे ।'

आकाशवाणी सुनकर नारदजी विचार करने लगे कि कार्य तो हो जाएगा परन्तु आकाशवाणी ने अपनी बात गुप्त रूप में ही कही, स्पष्ट रूप से नहीं बताया कि कौन-से साधु-संतों के पास जाना चाहिए । मैं पहले ही बहुत प्रयत्न कर चुका हूँ ज्ञान-वैराग्य की मूर्च्छा को दूर करने के लिए । अब आकाशवाणी की आज्ञा है तो साधु-संतों के पास समस्या के निदान हेतु चलता हूँ । ऐसा विचारकर नारदजी साधु-संतों की खोज में निकल पड़े । वे हर तीर्थ में जाते और वहाँ रहने वाले संतों-मुनियों से ज्ञान-वैराग्य की मूर्च्छा दूर करने का उपाय पूछते । नारदजी की बात सुनकर कुछ संत तो मौन धारण कर लेते, कुछ संत कहते कि यह तो अत्यन्त असाध्य कार्य है, इस कार्य का सिद्ध होना असम्भव है । जब वेद-वेदान्त और गीता का पाठ करने से ज्ञान-वैराग्य नहीं जाग्रत हुए तो फिर इससे अधिक श्रेष्ठ उपाय और क्या हो सकता है ? कुछ महात्मा तो एकत्रित होकर आपस में चर्चा करने लगे कि जब नारदजी ही ज्ञान-वैराग्य को जगाने का उपाय नहीं जानते तो फिर हम लोग भला इस समस्या का हल कैसे कर पायेंगे ? (जैसे काले बादलों को देखकर वर्षा की आशा में मोरों का समुदाय अपनी पूरी शक्ति के साथ कुहकता रहा किन्तु एक बूँद भी नहीं गिरी फिर बेचारा छोटा-सा पपीहा कितना चिल्ला पायेगा और उसके चिल्लाने से क्या होने वाला है ?) इस प्रकार अन्य बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि, साधु-संत नारदजी के प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके, ज्ञान-वैराग्य की मूर्च्छा भंग करने का उपाय नहीं बता सके फिर भी वे आकाशवाणी की आज्ञा से आगे चलते रहे और मार्ग में मिलने वाले साधु-संतों, ऋषियों से समस्या का निदान पूछते

रहे । अन्त में नारदजी ऐसे स्थल पर पहुँचे, जहाँ सनकादिक चारों भाई बैठ कर सत्संग कर रहे थे । उन्हें देखते ही नारदजी बोले – 'यह तो बड़े सौभाग्य की बात है कि ऐसे महान चारों ऋषि मुझे प्राप्त हुए हैं । ये पाँच वर्ष की अवस्था के चारों भइया नग्न रहते हैं । ये बालक नहीं हैं अपितु ये तो सभी पूर्वजों के भी परम पूर्वज हैं । ब्रह्माजी की सृष्टि में सर्वप्रथम ये ही उत्पन्न हुए । ये तो वयोवृद्ध ज्ञानियों से भी वरिष्ठ हैं और ये करते क्या हैं ? **'हरिकीर्तनतत्पराः'** – ये सदा हरिकीर्तन के ही परायण बने रहते हैं ।'

हम जैसे नासमझ प्राणी तो कीर्तन को छोटी-मोटी चीज समझते हैं किन्तु बड़े-बड़े महर्षियों के भी पूर्वज ये सनकादिक चारों परम श्रेष्ठ ऋषि भी सदा कीर्तन करते रहते हैं जिसको हम जैसे अज्ञानी जीव हुल्लड़ समझते हैं । सदा कीर्तन करने के प्रभाव से ही सनकादिक मुनिगण सर्वोच्च (सबसे ऊँचे) बने हुए हैं । इसलिए सभी लोग प्रेम से कीर्तन करें ।

जय श्री राधे जय नन्दनन्दन ।

कथा-श्रवण करते समय तो श्रोताओं को कीर्तन अवश्य करना चाहिए । अपने घर जाकर तो वे शायद न भी करें । सबसे बड़ा ज्ञान यही है कि श्रद्धा के साथ भगवन्नाम का कीर्तन किया जाए ।

जय श्री राधे जय नन्दनन्दन ।
जय जय राधे नैनन अंजन ॥
जय बरसानो जय गह्वरवन ।
जय वृन्दावन जय गोवर्धन ॥

इस प्रकार से सनकादिक चारों मुनि कीर्तन कर रहे थे । वे भी गह्वरवन की लीला गाते हैं, बरसाने की जय-जयकार बोलते हैं । कीर्तन और ब्रज रस में सनकादिक मस्त रहते हैं, उनको देखते ही नारदजी

आनन्दातिरेक से कह उठे – **'अहो भाग्यस्य योगेन दर्शनं भवतामिह ।'** – 'आहाहाहा ! वाह रे मेरे सौभाग्य !! बड़े भाग्य से सन्त का दर्शन प्राप्त होता है । बलिहारी है मेरे ऐसे भाग्य ! जो मुझे आप जैसे सन्तों के दर्शन हुए । महात्माओ ! आप लोग मुझ पर कृपा करें । मैं चाहता हूँ कि भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को सुख मिले ।'

जब नारदजी ने इन महामुनियों को अपनी समस्या बताई तो वे बोले – 'देवर्षे ! आप चिन्ता मत करिए ।'

साधु तो बहुत शीतल वाणी बोलते हैं । उनके पास कोई कितना भी दुखी प्राणी जाए, वे उसे अपनी मधुर वाणी से शीतल कर देते हैं । कोई भी तुम्हारे पास आये तो सबसे पहले ऐसी वाणी बोलो कि वह जो दौड़कर, थका हुआ आया है, उसका श्रम चला जाए । (यह साधु का लक्षण है) इसी तरह सनकादिक मुनीश्वरों ने भी नारदजी को प्रसन्न करते हुए अत्यन्त मधुर वाणी से कहा – 'आप अपने चित्त में हर्ष लाइए । उपाय बहुत सरल है और नारदजी ! आप तो विरक्तों के भी शिरोमणि हैं । अरे, आप तो कृष्ण दासों में अग्रगणी हैं, साधारण नहीं हैं । आप योग के सूर्य हैं । नारदजी, अपने को पहचानिए कि आप कौन हैं ? आपको जो इतनी उदासी है, वह ठीक है ।' अन्य लोग तो नारदजी से पूछते थे – अरे महाराज ! आप कैसे उदास हो गये किन्तु चारों कुमार नारदजी से कहते हैं कि आपकी उदासी ठीक है क्योंकि परदुःख में दुःखी साधु ही हो सकते हैं । अपने दुःख में सारी दुनिया दुःखी होती है किन्तु साधु तो वही है जो पराये दुःख में दुःखी होता है । सनकादिकों ने द्रव्य यज्ञ, तपो यज्ञ आदि बहुत से यज्ञ बताये किन्तु अन्त में कहा कि सबसे बड़ा यज्ञ है – श्रीमद्भागवत-श्रवण, अतः केवल श्रीमद्भागवत का श्रवण करने से ही ज्ञान-वैराग्य के कष्ट दूर होंगे ।

नारदजी बोले – 'महाराज ! एक बात बताइए, मैंने ज्ञान-वैराग्य को वेद-वेदान्त, गीता आदि शास्त्र सुनाये और तब भी उनका दुःख दूर नहीं हुआ तब फिर श्रीमद्भागवत के कथन-श्रवण से कैसे इनका दुःख दूर हो जाएगा ? ये बात मेरी समझ में नहीं आ रही है ।' (वस्तुतः नारदजी की समझ में सारी बात आ रही है किन्तु वे संसार के हम जैसे लोगों के कल्याण के लिए पूछ रहे हैं कि इस बात को ये लोग कैसे समझेंगे ?)

सनकादिक कुमारों ने बहुत अच्छी बात बताई । उन्होंने कहा कि कोई भी फल का पेड़ है जैसे आम का पेड़ है, आम यदि खाओ तो कितना मीठा लगता है लेकिन यदि फल के स्थान पर आम के वृक्ष की लकड़ी खाओ तो मीठी नहीं लगेगी । इसी प्रकार आम वृक्ष का पत्ता खाओ तो वह भी मीठा नहीं लगेगा । यद्यपि फल आम के वृक्ष से निकलकर ही उत्पन्न हुआ है किन्तु फिर भी जो स्वाद, जो विलक्षणता फल में है, वह वृक्ष की अन्य वस्तुओं में नहीं है । इसी प्रकार 'श्रीमद्भागवतजी' वेद रूपी वृक्ष का फल है । वेद-वृक्ष से निकलकर भी फल-रूप होने के कारण आस्वादन में 'श्रीमद्भागवत' वेद से अधिक विलक्षण है, इसकी महिमा सर्वोत्कृष्ट है । अन्य उदाहरण भी है जैसे मिठाई खाते हैं तो वह गुड़ से बनती है, गुड़ बनता है ईख (गन्ने) के रस से, जब वह रस शर्करा बन जाता है, मिसरी बन जाती है तो उसकी मिठास बढ़ती जाती है अथवा जैसे घी सारे दूध में व्याप्त रहता है किन्तु जब दही रूप में उसे मथकर नवनीत (माखन) का लौंदा अलग निकाला जाता है, माखन से घी बनाया जाता है तब उसका प्रभाव अलग होता है । इसी प्रकार जितने भी वेद हैं, शास्त्र हैं, पुराण हैं, जितना भी वाङ्मय जगत है, उन सबका सार है श्रीमद्भागवत । महर्षि व्यासजी को जब वेदों के विभाजन, महाभारत और पुराणों की रचना के बाद भी मोह

हुआ तब भी श्रीमद्भागवत की रचना के बाद ही उन्हें शान्ति मिली, परम लाभ हुआ । इसलिए हे नारदजी ! आप श्रीमद्भागवत के विषय में शंका क्यों करते हैं ? नारदजी सनकादिक की वन्दना करते हुए कहते हैं – धन्य है !! **'यद्दर्शनं च विनिहन्त्यशुभानि सद्यः ।'** (श्रीभागवतमाहात्म्य - २/७५)

सन्त दर्शन से सभी अशुभ उसी समय नष्ट हो जाते हैं और आप तो प्रेम के प्रकाशक हैं । मैं आपकी शरण में हूँ । अन्त में नारदजी ने एक बहुत अच्छी बात बताई कि देखो, साधु संग सबको नहीं मिलता है । उदाहरण के लिए कहीं पर कोई श्रेष्ठ महात्मा हैं, दो व्यक्ति बैठकर उनके सत्संग का लाभ ले रहे हैं । वहीं पर बीसों आदमी उन महात्मा के पास से होकर निकल जायेंगे किन्तु ये भी नहीं ध्यान देंगे कि कौन बैठा है, क्या कह रहा है, भगवच्चर्चा हो रही है कि क्या चर्चा हो रही है ? इसका कारण यह है कि

भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन सत्सङ्गमं च लभते पुरुषो यदा वै ।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥

(श्रीभागवतमाहात्म्य - २/७६)

जब बहुत जन्मों के, लाखों-करोड़ों जन्मों के पुण्य इकट्ठे होकर, भाग्य बनकर आते हैं तब उसका फल यह होता है कि संत का संग मिलता है । बिना इतने सुन्दर भाग्य के, लाखों-करोड़ों जन्मों के पुण्यों के मिले बिना सत्संग की प्राप्ति नहीं होती है । बहुत जन्मों के पुण्य जब उदय होते हैं तब भगवद्भक्त का, साधु का संग उपलब्ध होता है और तब उस संग के प्रभाव से मनुष्य के अज्ञान जनित मोह और मद रूप अंधकार का नाश होकर विवेक की प्राप्ति होती है ।

इस प्रकार दूसरे अध्याय की समाप्ति हुई ।

अध्याय – ३

नारदजी ने विचार किया कि सनकादिक मुनीश्वरों के द्वारा मुझे ज्ञान-वैराग्य की मूर्च्छा दूर कर उनको जागृत करने का साधन तो मालूम हो गया कि श्रीमद्भागवत कथा का आयोजन करना होगा ।

अब यह विचार करना है कि श्रीमद्भागवत कथा का आयोजन कहाँ करना है और कितने दिनों तक करना है ? इस सन्दर्भ में जब नारदजी ने सनकादिक मुनियों से प्रश्न किया तो चारों भैया बोले कि कथा ऐसे स्थान पर करना चाहिए जहाँ की भूमि पुण्यशालिनी हो तथा जहाँ ऋषि-मुनि गण, महात्मा लोग रह रहे हों, सुन्दर प्रकृति की विविध छटा हो तथा **'नानातरुलताकीर्णम्'** – वह स्थान अनेक प्रकार के वृक्षों और लताओं के कारण सघन हो ।

(लताओं की छत्र छाया में बैठने से जो आनन्द होता है, वह आनन्द लाखों रुपयों के तम्बू-तनात के नीचे बैठने से नहीं प्राप्त हो सकता) इसीलिए उन्होंने कहा – 'नानातरुलताकीर्णम्' – जहाँ स्वाभाविक रूप से लतायें फ़ैल रही हों, बना-बनाया लताओं का चंदोवा हो तथा वह ऐसा स्थान हो जहाँ जीवों में पारस्परिक वैर न हो । गंगा तट पर स्थित हरिद्वार के निकट ऐसा स्थान है । वहाँ आप श्रीमद्भागवत कथा का आयोजन करें ।

सनकादि मुनिगणों की आज्ञानुसार गंगा तट हरिद्वार में नारदजी ने श्रीमद्भागवत सप्ताह यज्ञ करवाया और शुक ताल में शुकदेवजी ने भागवत कथा का श्रवण परीक्षितजी को कराया ।

सूतजी कहते हैं कि साधारण मनुष्य तो श्रीमद्भागवत कथा का महत्त्व जान ही नहीं सकता । हरिद्वार में श्रीमद्भागवतामृत का पान करने के लिए ब्रह्माजी के पुत्र भृगुजी और वसिष्ठजी जैसे श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि दौड़े । उनके अतिरिक्त च्यवनजी, गौतमजी, परशुरामजी,

विश्वामित्रजी, मार्कण्डेयजी आदि बड़े-बड़े ऋषि आये । व्यासजी, पराशर आदि मुनिगण भी आये । वेद, वेदान्त (उपनिषद) और सत्तरह पुराण भी श्रीमद्भागवत कथा के श्रवण हेतु आये । गंगा आदि नदियाँ और समस्त तीर्थ भी आये । सबको नारदजी ने बैठने के लिए आसन दिया और सभी लोग बैठ गये । बैठते ही सबसे पहले भगवान् की जय-जयकार और उनके लिए नमस्कार किया गया । शंख आदि का मांगलिक शब्द होने लगा । शंख, बेला आदि वाद्यों की महिमा शास्त्र में लिखी है । इनका शब्द मांगलिक होता है, इनकी ध्वनि से समस्त अशुभ नष्ट हो जाते हैं । यह व्यर्थ का हल्ला नहीं है । ये सब मांगलिक ध्वनियाँ हैं, इनकी ध्वनि से भूत-प्रेत की बाधा दूर होती है । इसीलिए उस समय कथा स्थल पर शंख की मांगलिक ध्वनि की गयी । कथा श्रवण के लिए समस्त देवताओं के नायक भी विमानों पर आरूढ़ होकर आये । जब समस्त श्रोतागण बैठ गये तो सनत्कुमार जी बोले – 'इस शुकशास्त्र श्रीमद्भागवत के श्रवण करते ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है । श्रीमद्भागवत के श्रवण से हृदय में स्वयमेव ही भगवान् का आविर्भाव हो जाता है । जीव सदा से भवसागर में भटक रहा है किन्तु जब यह श्रीमद्भागवत का श्रवण कर लेता है तो मुक्त हो जाता है । जिस घर में श्रीमद्भागवत की कथा होती है, उस गृहस्थी के घर को घर नहीं समझना चाहिए । **'तद् गृहं तीर्थरूपं हि'** – वह घर तो तीर्थ बन गया । शरीर में भी पाप तभी तक रहते हैं, जब तक मनुष्य श्रीमद्भागवत कथा का श्रवण नहीं करते । लोग गंगाजी स्नान करने जाते हैं, कोई काशी जाता है, कोई प्रयाग जाता है, कोई पुष्कर जाता है किन्तु ये सब तीर्थ मिलकर भी श्रीमद्भागवत श्रवण के एक अंश की भी बराबरी नहीं कर सकते । भागवतजी, द्वादशाक्षर मन्त्र, तुलसीजी और गौ माता आदि को एक समान समझना चाहिए । जो मनुष्य अर्थ समझकर श्रीमद्भागवत शास्त्र

का निरन्तर पाठ करता है, उसके करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है । कहाँ तक कहें, राजसूय और अश्वमेध यज्ञों का पुण्य अपने आप ही श्रीमद्भागवत के द्वारा प्राप्त हो जाता है । जिस व्यक्ति ने अपनी शठता के कारण सारे जीवन भागवत की कथा नहीं सुनी है, वह चाण्डाल और गधे के समान है । ऐसा व्यक्ति तो नौ महीने तक अपनी माता के गर्भ में बोझ बनकर ही रहा । **'जननीजनिदुःखभाजा'** – उसकी माता ने व्यर्थ ही उस दुष्ट को अपने गर्भ में नौ महीने तक धारण किया क्योंकि वह स्वतः भी अधोगति में जा रहा है, साथ ही अपने पितृश्वरों को भी अधोगति में ले जा रहा है । धिक्कार है पशु जैसे उस मनुष्य को, जो पृथ्वी का भार है, पृथ्वी का वजन बढ़ा रहा है । श्रीमद्भागवत से विमुख होकर भगवद्भक्ति से रहित हुआ वह दुष्ट अपनी माता के पेट का और पृथ्वी का भार है । इसलिए पहली आवश्यक बात यह है कि श्रीमद्भागवत का श्रवण तो सदा-सर्वदा ही करना चाहिए । इसे सुनने के लिए दिनों का कोई नियम नहीं है । अच्छी चीज का सेवन तो सर्वदा ही करना चाहिए परन्तु चारों सनकादिक मुनिगण कहते हैं कि एक बात अवश्य है कि श्रीमद्भागवत का श्रवण सत्य और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए करना चाहिए । यह आवश्यक है क्योंकि यदि हम भागवत श्रवण कर रहे हैं किन्तु सत्य की रक्षा नहीं कर रहे हैं, ब्रह्मचर्य की रक्षा नहीं कर रहे हैं तो यह ठीक नहीं है । कलियुग में हर प्राणी के लिए इस खांड़े की धार पर चलना (सत्य और ब्रह्मचर्य की रक्षा करना), मन को रोकना कठिन है, इसलिए सप्ताह कथा श्रवण का नियम बना दिया गया है कि यदि तुम अधिक दिन तक सत्य और ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते हो तो सात दिन तक तो अपने वेग को रोक ही सकते हो । एक तो यह कारण बताया गया और दूसरा कारण यह बताया गया कि सबकी आयु थोड़ी है । कलियुग में लम्बे समय तक साधन कोई नहीं

कर सकता है इसलिए भी सरलता की दृष्टि से और समय की दृष्टि से सात दिनों तक भागवत कथा श्रवण का नियम बनाया गया है । सात दिनों तक कथा-श्रवण को यज्ञ-रूप बताने के बाद सनकादिक मुनिगण कहते हैं कि श्रीमद्भागवत सप्ताह कथा योग से बढ़कर है, ध्यान और ज्ञान से भी अधिक फल सप्ताह यज्ञ का है । गर्जना करके सनकादिक मुनीश्वर कह रहे हैं कि यदि मनुष्य श्रद्धा और नियमपूर्वक सप्ताह विधि से भागवत कथा का श्रवण करे तो उसके लिए संसार में कोई भी वस्तु असम्भव नहीं है ।

शौनकजी ने इस प्रकार सूतजी से श्रीमद्भागवत सप्ताह यज्ञ की महिमा को सुनकर उनसे इसकी और महिमा पूछी तो सूतजी ने आगे बताया कि जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण अपने नित्य धाम को जा रहे थे, अन्तर्धान लीला को प्राप्त हो रहे थे, उस समय उद्धवजी उनके पास पहुँचे और बोले – 'हे प्रभो ! आप तो जा रहे हैं और इस समय घोर कलिकाल आ गया है । इस युग में सभी मनुष्य खल (दुष्ट) हो जायेंगे । कलियुग के प्रभाव से साधु-संत भी उग्र स्वभाव के हो जायेंगे । यहाँ तक कि सारी पृथ्वी भार रूप हो जाएगी ।

हे कमललोचन ! आपके अतिरिक्त तो कोई भी इसका त्राता (रक्षक) नहीं है । हे प्यारे ! आपने भक्तों के लिए ही तो अवतार ग्रहण किया, सगुण-साकार बने, लीलायें करीं और अब आप जा रहे हैं तो मेरी प्रार्थना पर ध्यान दीजिये ।'

प्रभास क्षेत्र में श्यामसुन्दर ने विचार किया कि उद्धवजी बात तो ठीक कह रहे हैं । ये महाभागवत हैं, ब्रजगोपियों के कृपापात्र हैं और सदा जगत के कल्याण की बात ही सोचते हैं । श्रीकृष्ण विचार करने लगे कि भक्तों के सहारे के लिए मैं ऐसी क्या वस्तु प्रदान करूँ, जो मेरे बाद भी उनके लिए अवलम्ब हो जाए । ऐसा विचारकर उन्होंने अपना

वैष्णव तेज श्रीमद्भागवत में रख दिया और अन्तर्धान होकर वे श्रीमद्भागवत रूपी समुद्र में प्रवेश कर गये । जब श्रीकृष्ण भागवत में प्रवेश कर गये तो जितना भी वैष्णव तेज था, वह सम्पूर्ण रूप से भागवत में आ गया ।

तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम् ।
तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः ॥

भागवत रूपी समुद्र में भगवान् प्रवेश कर गये । इसलिए यह भागवतजी भगवान् की शब्दमयी प्रतिमा (मूर्ति) है । प्रतिमा इसलिए है क्योंकि इसके जो बारह स्कन्ध हैं तो प्रथम स्कन्ध तो चरणों से लेकर घुटनों तक है । भगवान् के घुटनों से लेकर कटि प्रदेश तक द्वितीय स्कन्ध है । तीसरा स्कन्ध भगवान् की नाभि है, चौथा स्कन्ध है भगवान् का उदर, पाँचवां स्कन्ध है भगवान् का हृदय, छठवाँ स्कन्ध है भगवान् का कण्ठ, सातवाँ स्कन्ध भगवान् का मुख है, जिसके अन्तर्गत प्रह्लादजी का चरित्र वर्णित है । 'भगवान् के नेत्र' आठवाँ स्कन्ध है, 'भौंह और कपोल' नौंवाँ स्कन्ध है; दशम स्कन्ध जिसमें श्रीकृष्ण लीला का वर्णन है, वह भगवान् का ब्रह्मरन्ध्र है, जो सर्वोच्च है । भगवान् का मन एकादश स्कन्ध है और उनकी आत्मा द्वादश स्कन्ध है । दशम स्कन्ध के अन्तर्गत रासपञ्चाध्यायी भगवान् का प्राण है । इसीलिए श्रीमद्भागवत को भगवान् की वाङ्मयी मूर्ति बताया गया है, साक्षात् उनकी प्रतिमा है । जैसे हम मूर्ति की पूजा करें तो उसमें चरण, हस्त, उदर, नासिका आदि अंग होते हैं, वैसे ही श्रीमद्भागवत भगवान् की साक्षात् मूर्ति है । इसके श्रवण, पठन और दर्शन से मनुष्य के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं । केवल भागवत के दर्शन से ही पाप नष्ट हो जाते हैं । यह बात बिलकुल सत्य है और जो नियम से भागवत का सप्ताह विधि से श्रवण करता है,

उसकी क्या महिमा कही जाए, उसकी महिमा तो सबसे अधिक है । कितना सरल उपाय है अनन्त पापों को थोड़ी देर में, सात दिनों में ही नष्ट करना । कितनी अधिक कृपा की बात है कि जिस पाप राशि को हम लोग लाखों-करोड़ों जन्मों तक भोगते, वह केवल सात दिनों में ही नष्ट हो जाती है, यह कितना सरल है । कलियुग में समस्त साधनों का तिरस्कार करने के बाद यह सप्ताह यज्ञ की विधि बतायी गयी है । भगवान् श्यामसुन्दर की प्राप्ति तो बहुत ही ऊँची वस्तु है किन्तु संसार में लोग गरीबी से त्रस्त हैं, उनके पास पैसा नहीं है, कर्ज है, दुःखी हैं, रोगी हैं तो उनके लिए भी श्रीमद्भागवत सप्ताह यज्ञ ही समस्या का हल है ।

'दुःखदारिद्र्यदौर्भाग्यपापप्रक्षालनाय च ।'

श्रीमद्भागवत सप्ताह कथा के श्रवण से समस्त दुःख, दरिद्रता, दुर्भाग्य और पाप नष्ट हो जाते हैं । यहाँ तक कि काम-क्रोध पर विजय पाना बहुत ही कठिन है, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी इन पर विजय नहीं प्राप्त कर सके किन्तु जो मनुष्य भागवत का श्रवण और सेवन करता है, वह काम-क्रोध जैसे भयंकर विकारों पर भी विजय प्राप्त कर लेता है ।

'अन्यथा वैष्णवी माया देवैरपि सुदुस्त्यजा ।'

अन्यथा हम लोगों की क्या क्षमता, जब देवगण भी इस वैष्णवी माया को नहीं जीत सकते । इसलिए सप्ताह विधि का विधान किया गया कि इसके द्वारा सरलतापूर्वक पापों का नाश हो जाता है ।

सूतजी कहते हैं कि जब सनकादिक मुनीश्वरों ने इस प्रकार श्रीमद्भागवत सप्ताह श्रवण की महिमा बताई, जिस सभा में बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि श्रोता बनकर बैठे थे, नदियाँ बैठी थीं, बड़े-बड़े तीर्थ बैठे थे तो उस सभा में एक आश्चर्यजनक घटना यह हुई कि भक्ति देवी के दोनों

वृद्ध पुत्र ज्ञान और वैराग्य युवावस्था को प्राप्त हो गये और उन दोनों अपने युवक पुत्रों को लेकर भक्ति महारानी सबके सामने उपस्थित हो गयीं; सभी श्रोतागण उनका दर्शन करने लगे ।

बोलो भक्ति महारानी की जय ।

सभा में साक्षात् भक्तिदेवी अपने परम तेजस्वी युवा पुत्रों ज्ञान-वैराग्य को साथ में लेकर उपस्थित हो गयीं । भक्ति महारानी सभा में आयीं तो कैसे आयीं, क्या कहती हुई आयीं, यह भी समझो क्योंकि यही हम लोगों को भी करना है । भक्ति जिस समय प्रकट हुई तो वह सभा में यह गाते हुए आ रही थीं –

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे । हे नाथ नारायण वासुदेव ॥

जब भक्ति महारानी इस प्रकार भगवन्नाम का कीर्तन कर रही थीं तो उन्हें देखकर सारी सभा भी यही गाने लगी –

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे ।

इस प्रकार से कृष्ण नाम की ध्वनि लगाते हुए भक्ति महारानी सभा में चली आ रही हैं । जहाँ भी कृष्ण नाम की ध्वनि होती है, वहाँ तो भक्ति अवश्य उपस्थित रहती है । जहाँ पर श्रीकृष्ण नाम कीर्तन होता है, वहाँ तो भक्ति नाचेगी । इसलिए सभी लोग कृष्ण- नाम-संकीर्तन करो और तब सबके घर-घर भक्ति नृत्य करेगी; ये है इसका रहस्य । कीर्तन करती हुई भक्ति देवी का कैसा सुन्दर श्रृंगार है । भागवत के श्लोकों के जितने भी अर्थ हैं, वे ही सब भक्ति देवी के आभूषण बने हुए हैं । श्यामसुन्दर की जितनी भी लीलायें भागवत में वर्णित हैं जैसे रास लीला, कहीं माखन चोरी लीला, कहीं कन्हैया नृत्य कर रहे हैं, कहीं सखाओं के साथ हास-परिहास और उछल-कूद कर रहे हैं; ये जितनी भी सरस लीलायें हैं, ये सभी भक्ति महारानी के अंग के आभूषण बने हुए

हैं, उनके शरीर पर अनन्त आभूषण हैं, बड़ा सुन्दर रूप और वेष है। सभी दर्शक विचार करने लगे कि यह सभा तो ऐसी खचाखच भरी हुई है कि इसमें तिल रखने तक की जगह नहीं है, ऐसे में ये भक्ति देवी इस सभा के बीच में कैसे प्रकट हो गयीं ?

कथं प्रविष्टा कथमागतेयं मध्ये मुनीनामिति तर्कयन्तः ।

(श्रीभागवतमाहात्म्य - ३/६८)

जब सभा में बैठे श्रोतागण विचार कर रहे थे कि इस विशाल सभा के बीच में भक्ति महारानी का प्राकट्य कैसे हो गया तो सनकादिक मुनियों ने श्रोताओं से कहा – 'आप लोग शंका मत करिये। ये भक्ति महारानी श्रीमद्भागवत कथा के अर्थ से प्रकट हुई हैं। ये कहीं आती-जाती नहीं हैं। ये तो भागवत के भीतर ही प्रविष्ट होकर विराजित हैं, इसी में से अपनी इच्छानुसार जब चाहे तो बाहर आ जाती हैं। भक्ति महारानी ने जब देखा कि सब श्रोतागण मेरे बारे में ही विचार कर रहे हैं तो वह स्वयं बोलीं। सबसे पहले तो वह भागवत के वक्ता सनकादिक मुनीश्वरों से बोलीं – 'महर्षियो !

'भवद्भिरद्यैव कृतास्मि पुष्टा' (श्रीभागवतमाहात्म्य - ३/७०)

आप लोगों ने जो श्रीमद्भागवत-कथा कही, उसके रस के प्रभाव से आज मैं पुष्ट हो गयी। क्यों ? **'कलिप्रणष्टापि कथारसेन'** – कलियुग के कारण हमें (भक्ति, ज्ञान और वैराग्य को) हानि हुई थी और अब तो मैं पुष्ट हो गयी हूँ। हे ब्रह्मा के पुत्रो ! अब आप बताइए कि मैं कहाँ रहूँ, कहाँ बैठूँ क्योंकि अब मैं 'प्रकट और पुष्ट' दोनों ही हो गयी हूँ।' (भक्ति देवी के इस प्रश्न से सनकादिक उत्तर देते हैं, उनके वार्तालाप को सभी श्रोतागण सुन रहे हैं।)

सनकादिकों ने कहा –

भक्तेषु गोविन्दस्वरूपकर्त्री प्रेमैकधर्त्री भवरोगहन्त्री ।

(श्रीभागवत-माहात्म्य - ३/७०)

'हे भक्ति ! तुम भक्तों के हृदय में गोविन्द के स्वरूप को स्थापित करने वाली हो ।'

यह भक्ति महारानी की शक्ति है कि हम लोगों का मन जो काली कोठरी है, इस काली कोठरी को उज्जवल आसन बनाकर इस पर 'कन्हैयाजी' को लाकर पधरा देती हैं । यह शक्ति भक्ति में है और किसी साधन में नहीं है । भक्तों में गोविन्द के स्वरूप को स्थापित करने वाली हैं भक्ति । **'प्रेमैकधर्त्री'** - जो भगवद्भक्त होगा, उसके पास ही प्रेम मिलेगा और कहीं प्रेम नहीं मिलेगा । भगवद्भक्त के पास जाओ तो वह हमेशा प्रेम से बोलेगा, अन्य लोगों के पास जाओ तो क्रोधावेश में भरकर ऐसा बोलेंगे कि उनके पास जाने वाला ही भस्म हो जाएगा । वस्तुतः 'प्रेम' ही भक्ति है, यह भवरोग को नष्ट करने वाली है । **'वैष्णवमानसानि'** भक्तों का हृदय बहुत कोमल होता है । भक्ति देवी के विराजने के लिए कितना बढ़िया आसन सनकादिक मुनि ने बताया, वह है भक्तों का हृदय । अगर मखमल कहते हैं तो वह भी कड़ा होता है क्योंकि कपड़ा ही तो ठहरा, अन्य चीजों में भी कोमलता के साथ कुछ कड़ापन-रूखापन होता है किन्तु भक्तों का हृदय इतना कोमल होता है कि नवनीत से भी अधिक कोमल बताया गया है । **'संत हृदय नवनीत समाना ।'** नवनीत (मक्खन) तो फिर भी कर्रा हो जाता है किन्तु भक्तों का हृदय परम कोमल होता है, वह ऐसा पुष्प है जो कभी कुम्हलाता नहीं है । इसलिए सनकादिकों ने भक्तिदेवी से कहा कि ऐसे भक्तों के हृदय रूपी आसन पर जाकर आप बैठो । एक बात और ध्यान देने योग्य है कि वहाँ रहना चाहिए जहाँ कोई विघ्न-बाधा न हो, चोर-बदमाश न सता सकें । जो भक्तों का मन है, वहाँ पर तुम्हारे पास कलियुग के दोष पहुँचेंगे ही नहीं, वह ऐसी बढ़िया कोठरी है । जब तुम भक्तों के मन में रहोगी तो कलियुग के जितने भी दोष हैं, वे तुमको देख ही नहीं पायेंगे, पहुँचना तो दूर है ।

इस प्रकार से सनकादिकों ने भक्ति देवी को रहने का स्थान बताया । जब स्थान बताया तो उसी समय सबके देखते-देखते भक्तिदेवी भक्तों के चित्त में जाकर विराजित हो गयीं और भक्तगण परम शीतल, परम सुखी हो गए । जब भक्ति देवी भक्तों के मन में विराजित हो गयीं तब सूतजी ने एक बहुत ही उत्तम श्लोक कहा –

सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या
निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका ।
हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय
प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः ॥

(श्रीभागवत-माहात्म्य - ३/७३)

दुनिया में धनी व्यक्ति को बड़ा माना जाता है, गरीब को छोटा माना जाता है लेकिन यह बात गलत है, ऐसा नासमझ लोग कहते हैं जिनके अन्दर ज्ञान नहीं है, जो पशु हैं । वास्तव में तो समस्त लोकों, ब्रह्माण्डों में जो निर्धन हैं, वे ही धन्य हैं । ऐसा कैसे ? निर्धन होकर कैसे धन्य हैं ? निर्धन तो संसार में बड़ा अभागा माना जाता है तो यहाँ कहा गया है कि ऐसे निर्धन जिनके हृदय में 'भगवान् की भक्ति' है क्योंकि 'भक्ति' से बड़ा कोई धन नहीं है और संसारी धन तो मनुष्य को नरक में ले जाता है । 'भगवद्भक्ति' जिसके हृदय में है, उसका फल क्या है ? फल यह है –

हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः ।

(श्रीभागवत-माहात्म्य - ३/७३)

भगवान् श्यामसुन्दर भी अपने निजलोक, अपने निजधाम को सर्वथा अर्थात् बिलकुल छोड़ देते हैं, उस प्राणी के लिए, जिसके हृदय में भक्ति है और अपने दिव्य धाम को भी छोड़कर उन लोगों के हृदय में, उस कोठरी में घुस जाते हैं जहाँ भक्ति है । क्यों घुस जाते हैं ?

'भक्तिसूत्रोपनद्धः' - जैसे डोरी से बँधकर कोई लट्टू नाचता है, वैसे ही कृष्ण भी भक्तिसूत्र से बँधकर, लट्टू बन करके उस भक्त के हृदय में प्रवेश कर जाते हैं । इसीलिए ब्रजगोपिकायें गाती हैं –

'हरि लटुआ री लटुआ' ये तो लट्टू हैं, प्रेम की डोरी में बँधकर नाचा करते हैं, इनकी कोई सत्ता ही नहीं है, ये तो नाचने वाले लट्टू हैं । इसीलिए उपरोक्त श्लोक में कहा गया –

'प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः ।'

अचम्भे की बात यह है कि श्रीमद्भागवत के आश्रय से वक्ता और श्रोता सभी कृष्ण के समान हो जाते हैं । घटा-बढ़ी की बात नहीं है कि श्रोता को वक्ता से कम फल मिलता है, 'श्रीमद्भागवत' की ही ऐसी महिमा है कि वक्ता और श्रोता सभी कृष्ण के समान हो जाते हैं, यह ऐसा अन्धाधुन्ध दरबार है ।

इस प्रकार तृतीय अध्याय की समाप्ति होती है ।

अध्याय – ४

सूतजी कहते हैं कि प्रभु अपने धाम में विचार करने लगे कि यह तो बड़ी विचित्र महिमा सनकादिकों ने भागवत की बताई । अब यह महिमा मुझे सिद्ध करके दिखानी भी होगी । जब भक्तों के चित्त में भगवान् ने अलौकिक भक्ति देखी तो उन्होंने उसी समय अपना नित्य धाम छोड़ दिया । **'निज लोकं परित्यज्य'** – यह बात स्पष्ट है कि भगवान् की भक्ति की महिमा ऐसी है कि भगवान् अपने धाम को उसी समय छोड़ देते हैं, उन्होंने स्वयं कहा है –

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

चार भक्त जहाँ भी बैठकर भगवान् का कीर्तन करने लगते हैं, वहीं प्रभु उपस्थित हो जाते हैं, प्रभु कोई ऊपर आकाश में नहीं रहते हैं । यही तो महिमा है कि जहाँ पर भक्ति है, वहाँ प्रभु आ जाते हैं । इसी प्रकार सनकादिक ऋषियों द्वारा कथा कहने पर जब भक्ति देवी अपने पुत्रों सहित आनन्द से प्रकट हुई तो उस समय श्यामसुन्दर भी वहाँ आ गए । कैसे आये ? सभा जुड़ी हुई है, उस सभा में बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि बैठे हुए हैं, सभी तीर्थ, सभी नदियाँ मूर्तिमान होकर बैठे हैं और सभी को भक्ति के कारण वहाँ साक्षात् भगवान् का दर्शन हुआ । श्यामसुन्दर जब आये तो उनकी ऐसी छटा है –

वनमाली घनश्यामः पीतवासा मनोहरः ।
काञ्चीकलापरुचिरोल्लसन्मुकुटकुण्डलः ॥२॥

कन्हैयाजी आये तो सबसे पहले उनके दिव्य मनोहर अंग पर क्या दिखाई पड़ा ? दूर से ही उनके गले में वनमाला झूमती चली आ रही है जैसे आगे-आगे कोई ध्वजा-पताका फहरे । उनकी चाल बड़ी प्यारी है । वह झूमती हुई चाल, उसे मदमाती कह लो, गज की सी कह लो, हंस जैसी चाल कह लो, ऐसी सुन्दर चाल से वह आ रहे हैं तो उनके अलौकिक शरीर पर सबसे पहले वनमाला के दर्शन होते हैं । उनके शरीर की घन के समान नीली ज्योति चारों ओर फ़ैल रही है । उस नीली ज्योति के ऊपर पीला पीताम्बर अपनी न्यारी छटा फहरा रहा है । नीले रंग के ऊपर पीला रंग तो विजय ही करता है, नीले के ऊपर पीले की शोभा अधिक हो जाती है । श्यामसुन्दर की कमर में पीताम्बर के ऊपर बड़ी सुन्दर कौंधनी है । शीश पर बड़ा प्यारा मुकुट है, कानों में कुंडल लटक रहे हैं । श्यामसुन्दर की एक और सबसे न्यारी विशेषता है । अन्य जितने भी देवता हैं, चाहे वे तैंतीस कोटि के हैं, चाहे ब्रह्माजी हैं, विष्णुजी हैं, शिवजी हैं, ये सब सीधे खड़े होते हैं किन्तु श्यामसुन्दर

का नाम ही है त्रिभंगी । ये तीन जगह से टेढ़े खड़े होते हैं, इनकी तरह कोई खड़ा हो ही नहीं सकता । अन्य देवताओं की तो नकल हो भी सकती है किन्तु कन्हैया की त्रिभंगी गति की तो नक़ल भी नहीं हो सकती है । क्यों ? हम लोग यदि टेढ़े होंगे तो अधिक से अधिक अपनी गर्दन को झुका लेंगे लेकिन श्यामसुन्दर की गर्दन ऐसी लचकीली लग रही है जैसे टूट सी गयी हो, कमर अलग दिशा की ओर मुड़ रही है, चरण पर चरण अलग तरह से रखे हुए हैं, ऐसी लोच है कि कोई नट भी इस मुद्रा में नहीं खड़ा हो सकता है । ऐसा सुन्दर त्रिभंग ललित उनका श्रीविग्रह (शरीर) है । श्यामसुन्दर के वक्षःस्थल पर कौस्तुभमणि विराजित है । करोड़ों कामदेव भी मथित हो जायें, ऐसा उनका अंग लावण्य है । हरिचंदन समस्त विग्रह पर लिप्त है । एक और विशेषता थी कि कन्हैयाजी हाथ में मुरली लेकर आये ।

'परमानन्दचिन्मूर्तिर्मधुरो मुरलीधरः ।'

'वंशी' मधुरता का परिपूर्णतम स्रोत है, यह श्रीकृष्ण की वंशी भी उनके साथ ब्रज में रहती है, ब्रज के बाहर नहीं रहती है । जब श्रीकृष्ण ब्रज के बाहर लीला करते हैं तो वंशी को ब्रज में ही छोड़ जाते हैं । वे कहते हैं कि अब (ब्रज के बाहर) मैं वंशी के योग्य नहीं रह गया । ब्रज के बाहर तो श्रीकृष्ण चक्र धारण करते हैं । ब्रज रसिक संत कहते हैं कि वंशी और चक्र में विरोध है । ब्रज में श्रीकृष्ण अस्त्र धारण नहीं करते हैं और ब्रज के बाहर मुरली नहीं धारण करते । यह ब्रज के और ब्रज के बाहर के श्रीकृष्ण की पहचान है । इसीलिए ब्रज रस रसिक संत कहते हैं – **'हमारो मुरलीवारो श्याम ।'** हमारा श्यामसुन्दर तो मुरलीवाला है, जो चक्र फिराता है वह भी ठीक है लेकिन हमारे कन्हैया में तो एक विशेषण है कि वह तो मुरली धारण करता है, यह हमारे कन्हैया की पहचान है ।

बिन मुरली वनमाल चन्द्रिका, नहिं पहचानत नाम ।

यदि मुरली नहीं है, वनमाला नहीं है, मयूर चन्द्रिका नहीं है तब साक्षात् कृष्ण भी आ जाएँ तो हम उनको नहीं पहचानते कि तुम कौन हो, होंगे कोई, ऐसे बहुत से घूमा करते हैं । यह ब्रज रसिकों की वाणी है । इसीलिए सनकादिक मुनीश्वरों द्वारा कथित श्रीमद्भागवत कथा की अद्वितीय सभा में जब श्यामसुन्दर आये तो मुरली लेकर आये । उन्होंने विचार किया कि यदि मुरली के स्थान पर कुछ और वस्तु लेकर जाऊँगा तो ब्रजरसिकजन तो आँख-भौं सिकोड़ लेंगे, इनका कुछ पता नहीं है, ये तो बड़े अटपटे हैं, ये तो कहते हैं –

हम हैं राधे जू के बल अभिमानी ।
टेढ़े रहें मोहन रसिया सों,
बोलत अटपटी बानी ॥

इसलिए श्यामसुन्दर मुरलीधर बनके आये, हाथ में मुरली लेकर आये । **'परमानन्दचिन्मूर्तिर्मधुरो मुरलीधरः ।'** उस सभा में आते ही श्यामसुन्दर अपने भक्तों के हृदय में प्रवेश कर गए और तभी तो भक्तों को आनन्द मिलेगा ।

'आविवेश स्वभक्तानां हृदयान्यमलानि च ।'

संसार में ऐसी रीति है कि जब विवाह के अवसर पर दूल्हा चलता है तो उसके पीछे-पीछे बारात भी चलती है । बिना बारात के दूल्हा की कोई शोभा नहीं है अथवा बिना दूल्हा के बारात की क्या शोभा ? इसी प्रकार जब दूल्हा श्रीश्यामसुन्दर 'श्रीमद्भागवत-सभा' में आ विराजे तो उनकी बारात के सदस्य नित्य धाम में क्या करते, वे भी अपने दूल्हे के पीछे-पीछे यहाँ चले आये । भगवान् के जितने पार्षद थे उद्धव आदि भक्तगण तथा वैकुण्ठवासी भक्तगण, जो गूढ़ रूप से पहले ही वहाँ स्थित थे, वे भी अब साक्षात् रूप से प्रकट हो गए तथा अपने श्रीकृष्णचन्द्र प्रभु की बड़े जोर से जयजयकार करने लगे ।

बोलो कन्हैया लाल की जय ।
बोलो बंसीवारे की जय ।
बोलो मुरलीवारे की जय ॥

अब तो वहाँ पर परमानन्द की वर्षा होने लगी । साक्षात् नन्दनन्दन के विराजने पर उस सभा में स्थित प्रत्येक भक्त आनन्द से उनकी जयजयकार करने लगा । कुछ देर तक तो उस सभा में तुमुल ध्वनि से जय-जयकार का ही निरन्तर उद्घोष होता रहा । कन्हैया तो आनन्द स्वरूप हैं, अतः आनन्द में भरकर उस सभा में लगातार कुछ देर तक 'नन्द के आनन्द भयो जय कन्हैया लाल की' ऐसी जय ध्वनि होती रही । **'तत्सभासंस्थितानां च देहगेहात्मविस्मृतिः ।'** – परमानन्द में पूर्णतया भाव-विभोर होकर ऐसी 'जय ध्वनि' होती रही कि सभी भक्तों को अपने देह-गेह की विस्मृति हो गयी कि कहाँ हमारा शरीर है, कहाँ हमारा घर है, कहाँ हमें वापस लौटना है, इन सब वस्तुओं को सभी भक्तगण सर्वथा भूल गए । श्यामसुन्दर के दर्शन से परमानन्द के कारण सभी के रोम-रोम पुलकित हो गए । जब सबकी ऐसी भाव-दशा हो गयी तो देवर्षि नारदजी उस सभा के बीच में खड़े हुए । उनके अतिरिक्त ऐसी दिव्य सभा में और कौन पहले बोलता, इसीलिए नारदजी सनकादिक मुनियों से बोले – 'हे मुनीश्वरो ! यह तो मैंने 'श्रीमद्भागवत-सप्ताह-कथा' की महिमा कुछ अलौकिक ही देखी । अभी तक तो मैंने केवल कथा के श्रोताओं की ही सद्गति के बारे में सुना था किन्तु यहाँ जो अत्यन्त मूढ़ और शठ लोग तथा पशु-पक्षी आदि जीव-जन्तु बैठे थे, उन सबके भी समस्त पाप नष्ट हो गए । यह महिमा तो अत्यधिक विचित्र है ।' मान लो हम भजन कर रहे हैं अथवा कोई योग साधन कर रहे हैं तो इससे हमारे पाप नष्ट हों यह तो ठीक है, इसे समझा जा सकता है परन्तु हमारे पास वाले के भी पाप नष्ट हो जाएँ, यह तो आश्चर्यजनक है । भोजन हम करें किन्तु पेट किसी और का भरे, यह तो आश्चर्य की बात है । ऐसा ही

वहाँ हुआ कि एक के खाने से सबका पेट भर गया इसीलिए नारदजी ने कहा कि श्रीमद्भागवत की ऐसी अलौकिक महिमा मैंने यहाँ ही देखी कि केवल श्रोतागण तर जाएँ तो कोई बात नहीं परन्तु मैंने देखा कि यहाँ तो जितने भी पशु-पक्षी बैठे थे, वे सब भी निष्पाप हो गए । इसलिए कलियुग में मनुष्यलोक में पापों को नष्ट करने के लिए 'श्रीमद्भागवत सप्ताह यज्ञ' के समान और कोई साधन नहीं है । यह तो सनकादिक मुनिगण ने कोई नवीन मार्ग ही प्रकाशित किया है । अब तक इस संसार में ऐसा कोई मार्ग नहीं था । सात दिन कितना थोड़ा-सा समय है और ऐसे अल्पकाल में ऐसा अद्भुत चमत्कार हुआ । नारदजी के इस प्रकार कहने पर सनकादिक मुनियों ने कहा – 'देखो सभासदो ! सभी लोग सुनिए, आप लोग श्रीमद्भागवत की महिमा जानना चाहते हैं तो सुनिए, जिस मनुष्य ने सदा पाप किये हैं, सदा दुराचार ही दुराचार किया है अथवा जो लोग क्रोध की अग्नि में सदा जलते रहते हैं, कुटिल हैं, कामी हैं, ऐसे सभी प्रकार के पापात्मा निश्चित ही 'भागवत सप्ताह कथा' के श्रवण से पवित्र हो जाते हैं, इसमें कोई शंका नहीं है । जो सत्य से रहित है, माता-पिता को भी दूषित करने वाला है, तृष्णा से भरपूर है, आश्रम के सभी धर्मों से रहित हो चुका है, दम्भी-पाखण्डी है, ईर्ष्या-द्वेष करने वाला है, ऐसे लोग भी निश्चित ही सप्ताह यज्ञ से पवित्र हो जाते हैं । पाँच प्रकार के महापाप करने वाले, छल-छद्म परायण, क्रूर, पिशाचों के समान बहुत से लोग निर्दयी होते हैं, दया तो उनके अन्दर होती ही नहीं है, व्यभिचार में डूबे हुए, निश्चित ही ऐसे सभी पापात्माओं का सप्ताह यज्ञ से उद्धार हो जाता है । शरीर, वाणी और मन से जितने भी प्रकार के पाप हैं, उनको करने वाले, पराया धन खाना भी एक बहुत बड़ा पाप है, हम लोग यदि सोचते हैं कि कोई आदमी आये और कुछ धन हमें भेंट कर जाए तो यह बड़ा भारी पाप है । पराये धन से पुष्ट होना साधारण पाप नहीं है । यहाँ बताया गया है - **'परस्वपुष्टा'** अर्थात् दूसरे के धन से खूब माल खा-खाकर जो पुष्ट हो रहे हैं, जो ब्राह्मण के धन को हड़पकर

उससे पुष्ट हैं, मलिन हैं, दुराशय हैं, इन सभी पापात्माओं की सप्ताह कथा से सद्गति हो जाती है । सनकादिक मुनियों की यह बात समस्त सभा सुन रही थी तो उन्होंने कहा कि इस विषय में हम आपको एक सच्ची घटना सुनातेहैं ।

प्राचीन काल में तुंगभद्रा नदी के तट पर स्थित किसी नगर में आत्मदेव नामक एक ब्राह्मण रहता था । वह बड़ा विद्वान था । वैदिक कर्मकाण्ड और स्मार्त कर्मों में ऐसा निष्णात (कुशल) था कि मानो सूर्य की तरह चमचमा रहा था । वह साधारण ब्राह्मण नहीं था । धनी था किन्तु भिक्षुक था क्योंकि ब्राह्मण का धर्म है भिक्षावृत्ति से जीवन यापन करना । उसकी पत्नी का नाम था धुन्धुली । यथा नाम तथा गुण, जहाँ जाए वहाँ धुंध ही धुंध हो । धुन्धुली के लक्षण भी समझना चाहिए कि धुन्धुली किसे कहते हैं ? धुन्धुली का यह लक्षण है – **'स्ववाक्यस्थापिका'** अर्थात् मेरी बात कैसे कट गयी, मेरी बात को स्वीकार किया जाना चाहिए । जैसे पिता ने पुत्र से कहा - यह कार्य कर तो तू मेरी बात न मानकर दूसरा काम कैसे कर बैठा या जैसे कोई कहता है – मैंने कहा कि जलपात्र लेकर उस स्थान पर रख दे तो तूने मेरी बात न मानकर जलपात्र को दूसरे स्थान पर क्यों रख दिया ? इस प्रकार छोटी-छोटी बातों पर हम लोग जो हठ करते हैं, अपने वाक्य की स्थापना करते हैं, इससे अहं बढ़ता है । जिस स्त्री में ऐसा लक्षण होता है, समझ लो वह धुन्धुली है । इसीलिए रामचरितमानस में कहा गया है – **'भगति पक्ष हठ नहिं सठताई ।'** भक्ति में हठ नहीं करना चाहिए । कोई यदि भक्त है तो उसे धुन्धुली नहीं बनना चाहिए । आत्मदेव ब्राह्मण की पत्नी धुन्धुली 'स्ववाक्यस्थापिका' थी, यद्यपि वह अत्यन्त सुन्दर थी, अच्छे कुल में उत्पन्न हुई थी किन्तु स्ववाक्यस्थापिका होने के कारण चाहती थी कि मेरी बात कटनी नहीं चाहिए । वह व्यर्थ की बात करने वाली, बहुत

बोलने वाली थी, कलह बहुत किया करती थी । ऐसे बुरे लक्षण उसमें थे । दोनों पति-पत्नी बहुत काल तक गृहस्थ में रहे परन्तु उनके कोई सन्तान नहीं हुई । जब सन्तान उत्पन्न नहीं हुई तो आत्मदेव बड़े दुखी हुए । **'आरत काहि न करे कुकरमू ।'** – दुःखी होने पर उन्होंने दान करना प्रारम्भ किया कि शायद कुछ पुण्य हो जाए और उसके फलस्वरूप सन्तान प्राप्ति की हमारी कामना पूर्ण हो जाए । उन्होंने दीन-दुःखियों को बहुत दान किया । गोदान, स्वर्ण दान और पृथ्वीदान किया, भूखे को अन्न तथा वस्त्रहीन को वस्त्र दिए । इस प्रकार इन्होंने अपना आधा धन दान में दे दिया किन्तु इतना दान देने पर भी न पुत्र हुआ न पुत्री हुई । सन्तानहीनता के दुःख से त्रस्त होकर एक दिन आत्मदेवजी अपना घर छोड़कर वन में चले गए । दोपहर के समय वह एक तालाब के किनारे आकर बैठ गए, वह बहुत अधिक दुःखी थे । इतने में वहाँ एक सन्यासी महात्मा पधारे । उनको देखकर आत्मदेवजी ने प्रणाम किया और रोने लग गए तो महात्माजी ने पूछा – 'अरे ब्राह्मण ! क्यों रोते हो, तुम्हें कैसी चिन्ता है, तुम मुझे अपने दुःख का कारण बताओ ।' ब्राह्मणदेव बोले – 'हे ऋषे ! मैं क्या बताऊँ अपना दुःख ? बिना पाप के दुःख नहीं होता है ।'

हमारे शरीर में यदि रोग है या कोई दुःख है तो बिना पाप के दुःख नहीं आता है । आत्मदेव ने कहा कि पूर्व पाप के कारण मुझे दुःख है । मेरे जितने पूर्वज हैं, मेरे पुत्र न होने के कारण उनकी क्या गति होगी ? मैं ब्राह्मणों को भोजन का निमन्त्रण देता हूँ तो ब्राह्मण और देवता मेरी कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते हैं । धिक्कार है मुझे । जो प्रजाहीन (संतानहीन) है, उस कुल को धिक्कार है ।

ऐसा कहकर आत्मदेव ब्राह्मण अत्यधिक दुःखी होकर उन सन्यासी महात्मा के पास जोर-जोर से रोने लगे । आत्मदेव के दुःख

को देखकर सन्यासी महात्मा को बड़ी दया आई । उन्होंने आत्मदेवजी से कहा – 'ब्राह्मण देव ! सन्तान की प्राप्ति में सुख नहीं है । भगवान् जैसी परिस्थिति में रखें, चाहे वह अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, सभी परिस्थितियों में यह दैव विधान है, यह भगवान् की इच्छा है, भगवान् ऐसा ही चाहते हैं, इस प्रकार प्रभु का मंगल विधान देखना ही भक्त का लक्षण है, फिर तुम्हारे भाग्य में तो सात जन्मों तक पुत्र नहीं है । अरे, पुत्रवानों को सुख नहीं मिलता है । पूर्व काल में राजा सगर और अंग को सन्तान के कारण दुःख भोगना पड़ा । भीष्म पितामह के कौन सी सन्तान थी और धृतराष्ट्र के सौ पुत्र भी हो गये तो उसे उनसे क्या सुख मिला ? वस्तुतः सुख पुत्र प्राप्ति में नहीं है ।' सन्यासी महात्मा ने आत्मदेव ब्राह्मण को इस प्रकार बहुत समझाया परन्तु वह नहीं माने और महात्मा जी से बोले – 'आप तो कृपा कीजिये और मुझे पुत्र प्राप्ति कराइए ।' सन्यासी महात्मा ने जब देख लिया कि यह ब्राह्मण पुत्र प्राप्ति का अपना आग्रह नहीं छोड़ रहा, तब उन्होंने उसको एक फल दिया और कहा कि इस फल को खाने से तुम्हारी पत्नी को पुत्र की प्राप्ति होगी । तुम्हारी पत्नी को एक वर्ष तक सत्य, शौच, दया, दान और एक समय एक ही अन्न खाने के नियम का पालन करना चाहिए ।

महात्माजी की बात को सुनकर ब्राह्मण देव प्रसन्न होकर अपने घर लौट आये तथा अपनी स्त्री धुन्धुली को वह फल दिया किन्तु वह तो बहुत ही दुष्ट स्वभाव की थी । फल को देखकर उसके मन में तरह-तरह के कुतर्क उठने लगे, अतः उसने उस फल को नहीं खाया । अपनी बहिन के कहने से उसने उस फल को गाय को खिला दिया । बहिन ने धुन्धुली से यह भी कहा कि मेरे उदर में बालक है, प्रसव होने पर वह बालक मैं तुझे दे दूँगी । समय आने पर जब बहिन के बालक उत्पन्न हुआ तो उसने अपने पति के द्वारा चुपचाप उसे धुन्धुली के पास पहुँचा दिया । धुन्धुली ने आत्मदेव के पास सूचना भिजवा दी कि मेरे गर्भ से

एक बालक ने जन्म लिया है । अब तो सारे नगर में हल्ला मच गया कि आत्मदेव ब्राह्मण के घर बालक का जन्म हुआ है । सब लोगों को बड़ा आनन्द हुआ । अनेक प्रकार के मांगलिक कृत्य होने लगे । परन्तु इस गुप्त रहस्य का किसी को पता नहीं चल पाया । इधर जिस गाय को फल खिलाया गया था, तीन महीने बाद उसने भी एक मनुष्याकार बालक को जन्म दिया । उस बालक के कान गाय जैसे थे । अतः आत्मदेव ब्राह्मण ने उसका नाम 'गोकर्ण' रख दिया । धीरे-धीरे दोनों बालक बड़े हो गये ।

गोकर्णः पण्डितो ज्ञानी धुन्धुकारी महाखलः ।

गोकर्णजी तो परम विद्वान् हुए परन्तु धुन्धुकारी बड़ा ही दुष्ट निकला । वह दीन-दुखियों को बहुत सताया करता था । वह दुष्टों के साथ मित्रता बढ़ाने लगा और वेश्यागामी हो गया । उसने वेश्याओं को प्रसन्न करने के लिए अपने पिता की सारी सम्पत्ति नष्ट कर दी । उसके ऐसे निकृष्ट आचरणों को देखकर आत्मदेव ब्राह्मण को बड़ा कष्ट हुआ । एक दिन उन्होंने गोकर्ण जी के पास जाकर कहा –

'बेटा ! मुझे आत्मकल्याण का उपदेश दो ।' गोकर्णजी ने कहा –

असारः खलु संसारो दुःखरूपी विमोहकः ।
सुतः कस्य धनं कस्य स्नेहवाञ्ज्वलतेऽनिशम् ॥

(श्रीभागवत-माहात्म्य - ४/७४)

यह संसार असार है । इसमें केवल दुःख ही दुःख है । न तो बेटा किसी का है और न ही धन किसी का है परन्तु मनुष्य स्नेह के पाश में बँधा हुआ व्यर्थ ही जल रहा है, आसक्ति में मर रहा है, आसक्ति के पाश में बँध गया है । जैसे दीपक में जब तक तेल है तब तक वह जलता ही रहेगा । संसार में यदि कहीं भी राग है, सूक्ष्म राग भी है तो संसार का क्लेश न चाहते हुए भी मनुष्य को भोगना पड़ेगा । सुख तो केवल वैराग्य में है । हर आदमी राग की बीमारी से ग्रसित है । वह इस बीमारी से

मुक्त कैसे होगा, इस रोग का निवारण कैसे होगा तो इसका उत्तर यह है कि जब मनुष्य के हृदय में वैराग्य आ जायेगा तो यह राग रूपी रोग भाग जायेगा ।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा –

जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई । जब उर बल बिराग अधिकाई ॥

जब वैराग्य उत्पन्न होगा तो अपने आप ही संसार से राग हट जायेगा । राग हटा, वैराग्य आया तो मन पूर्णतः स्वस्थ हो जायेगा । अब किसी प्रकार की बीमारी नहीं रहेगी क्योंकि संसार से मन विलग हो गया । संसार का स्वरूप है – **'दुःखालयमशाश्वतम्'** संसार दुःख का घर है, दुःख का भण्डार है । जो इस संसार में आसक्ति करेगा, उसको दुःख अवश्य ही भोगना पड़ेगा । इसीलिए गोकर्णजी ने कहा –

न चेन्द्रस्य सुखं किंचिन्न सुखं चक्रवर्तिनः ।
सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः ॥

(श्रीभागवत-माहात्म्य - ४/७५)

चक्रवर्ती सम्राट को सुख नहीं है, धनवान को सुख नहीं है । तो क्या सुख संसार में किसी को है ही नहीं ? न राजा को है, न धनवान को है तब फिर संसार में सुखी कौन है ? गोकर्णजी बोले – 'सुख तो है परन्तु जो पूर्णरूपेण विरक्त हो गया है, जिसका मन संसार से हट गया है, एकमात्र उसी व्यक्ति को सुख प्राप्त है । वह रोग मुक्त हो जायेगा, राग की बीमारी से छूट जायेगा और मुक्त हो जायेगा अर्थात् अनन्त सुख में चला जायेगा ।'

इसके बाद गोकर्णजी ने दो श्लोक कहे और ये दो श्लोक ही गोकर्ण गीता के नाम से प्रसिद्ध हैं । इन दो श्लोकों में गोकर्णजी ने भक्तियुक्त

वैराग्य की बड़ी विलक्षण परिभाषा कही है । वैराग्य का स्वरूप बताया । वैराग्य होगा कैसे, वैराग्य किसे कहते हैं ? गोकर्णजी ने कहा –

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वम्
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च ।

शरीर कैसा है ? अस्थि, चर्म और रक्त से बना हुआ यह जो गन्दा, दुर्गन्धयुक्त शरीर है, इसमें हमने अभिमति (अभिमान) कर ली है कि मैं शरीर हूँ तो इस अभिमति को छोड़ देना चाहिए । **'त्यज त्वम्'** – वह त्याग देने योग्य है , उसे छोड़ो । इस तरह तो अहंता छोड़ो तथा स्त्री-पुत्रादि में जो ममता है, मेरेपन की भावना है, उसे भी छोड़ दो । जब अहंता आती है तब ममता भी आती है और जब ममता बढ़ जाती है तो ममता के स्थान पर भी अहंता आ जाती है । जैसे मान लो कि किसी का अपने पुत्र में बहुत राग है, बहुत प्रेम है । अब पुत्र में आसक्ति हुई तो पहले यह भावना थी कि यह मेरा पुत्र है । धीरे-धीरे वह आसक्ति इतनी बढ़ेगी कि वहाँ मेरे की जगह भी मैं आ जायेगा । बेटे को कोई थप्पड़ लगा दे तो अपना मन दुखी होता है जबकि थप्पड़ स्वयं को नहीं लगा, थप्पड़ लगा बेटे को किन्तु ममता इतनी बढ़ गयी कि वह ममता भी अहंता बन गयी । मम भी अहं बन जाता है । जब प्रगाढ़ आसक्ति होती है तो फिर ममता भी अहंता का रूप धारण कर लेती है । पहले तो यह भाव था कि केवल मैं ही हूँ किन्तु ममता होने पर अब पुत्र भी मैं हूँ, स्त्री भी मैं हूँ । अब अहंता इतनी अधिक बढ़ गयी । जबकि 'अहं' शब्द एकवचन का है । जो अकेला व्यक्ति है, वही अपने को अहं (मैं) कह सकता है किन्तु अब तो स्त्री भी मैं हूँ, पुत्र भी मैं हूँ । स्त्री को दुःख है तो स्वयं को दुःख होगा जबकि कष्ट तो तुम्हारे पास नहीं है, स्त्री को है । स्त्री को कोई बीमारी हो गयी, कोई असाध्य रोग हो गया तो स्वयं पुरुष के शरीर में कोई पीड़ा नहीं है किन्तु स्त्री के प्रति ममता ऐसी बढ़ गयी कि

वह अहंता ही बन गयी । अतः स्त्री को जो दुःख है, वह स्वयं को भी होने लगेगा । गोकर्णजी ने कहा कि इस ममता को भी छोड़ दो । **'ममतां विमुञ्च'** – बिलकुल छोड़ दो । अब यह ममता कैसे छूटेगी तो गोकर्ण जी ने इसका उपाय बताया – **'पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठम्'** इस संसार की क्षणभंगुरता को देखो । हम बार-बार यह विचार करें कि यह संसार क्षणिक है, क्षणभंगुर है । अभी जो दिख रहा है, वह थोड़ी देर बाद नहीं रहेगा । इस तरह जब बारम्बार संसार की क्षणभंगुरता का विचार किया जायेगा तो अपने-आप ही आसक्ति दूर हो जाएगी और फिर हम भक्तियुक्त वैराग्य में परिनिष्ठित हो जायेंगे । देखो, वैराग्य भी दो प्रकार का होता है । एक होता है भक्तियुक्त वैराग्य और दूसरा होता है सामान्य ज्ञानियों का वैराग्य । घर-परिवार छोड़ दिया, साधनरत हो गये, यह है सामान्य ज्ञानियों का वैराग्य । वैराग्य का मतलब केवल यही नहीं है कि खाना-पीना छोड़ दिया । खाना-पीना छोड़ने से ही यदि कोई वैरागी बनेगा तो सर्प में यह ताकत होती है कि कई दिनों तक उसे खाने-पीने को कुछ न मिले तो वह केवल वायु पीकर ही रह सकता है । इस तरह भोजन छोड़ने को ही वैराग्य कहा जाये तो सर्प से अधिक वैरागी कोई हो नहीं सकता । घर-द्वार छोड़कर जंगल में रहना ही यदि वैराग्य हो तो चूहे से अधिक वैरागी कोई नहीं है, वह तो अपना सारा जीवन एक छोटे से बिल में ही रहकर व्यतीत कर लेता है । किन्तु यहाँ गोकर्णजी कह रहे हैं –

'वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ।'

भक्तियुक्त वैराग्य करना यानि जो भी हमारा त्याग हो, वह केवल भगवान् के लिए ही हो । सर्वत्याग करने के बाद भगवद्भजन ही हम करें । इधर-उधर की चीजों में न लगें । नहीं तो कहीं घर-परिवार छोड़कर आये, साधु वेष भी धारण कर लिया और इसके बाद आश्रम के

प्रपंच में ही लग गये तो फिर यह भक्तियुक्त वैराग्य नहीं होगा । भक्तियुक्त वैराग्य होना चाहिए ।

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम् ।

धर्म का परिपालन करो । कैसा धर्म ? लोकधर्मों को छोड़कर परम धर्म को पकड़ो । लोकधर्म क्या है ? लोकधर्म तो यह है कि माँ ने जन्म दिया तो बालक के लिए माता की सेवा करना लोकधर्म है, पिता की सेवा करे, बन्धु-बान्धवों के प्रति जो कर्तव्य हैं, उनका परिपालन करे, ये सब लौकिक धर्म हैं किन्तु जब परम धर्म की बात आती है तो ये सब लौकिक धर्म छोड़ने पड़ते हैं । वेदों में कहा गया है – **'मातृ देवो भव पितृ देवो भव'** अर्थात् माँ ही दैव है, पिता ही दैव है किन्तु वेद-उपनिषद् का सार 'भागवतजी' को कहा गया है, उसमें कहा गया है कि परम धर्म के लिए लौकिक धर्मों को छोड़ना पड़ता है । वैष्णव धर्म तो कहता है –

घर बसे घर बसे घर में वैराग्य कहाँ,
मोह-ममता में चित्त पागिहै पे पागिहै ।

घर में रहकर वैराग्य नहीं हो पायेगा । घर में रहकर लौकिक धर्मों का पालन तो हो जायेगा परन्तु परम धर्म का पालन नहीं हो पायेगा । परम धर्म के लिए सर्वत्याग करना ही पड़ेगा । सब कुछ छोड़ना पड़ेगा । चैतन्य महाप्रभु ने भी कहा है – **'विना सर्वत्यागं न हि भवति भजनं यदुपतेः ।'** बिना सर्वत्याग के परम धर्म का निर्वाह कोई नहीं कर पाएगा । इस परम धर्म में आने के बाद क्या करना होगा तो गोकर्णजी ने बताया कि काम और तृष्णा को छोड़कर भगवद्भक्तों की सेवा करनी होगी । इसके अतिरिक्त एक अन्य मुख्यबात कही – **'अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा'** – परम धर्म में आने के बाद

'दूसरों के गुण और दोष-दर्शन' दोनों को ही छोड़ना पड़ेगा । हम लोग तो दोष दर्शन को ही बुरा मानते हैं, गुण दर्शन को अच्छा मानते हैं किन्तु गोकर्णजी कह रहे हैं कि परम धर्म में गुण का देखना भी छोड़ना पड़ेगा तथा दोष का देखना भी छोड़ना पड़ेगा । यदि गुण ही देखने हैं तो भगवान् के गुण कोई कम नहींहैं । भगवान् का वात्सल्य, सौशील्य, कारुण्य, आर्जव आदि उनके अनन्तानन्त गुण हैं । यदि गुण देखने ही हैं तो भगवान् के देखेजाएँ । यदि संसार में किसी व्यक्ति विशेष में हम लोग गुण दर्शन करने लग गये तो फिर भगवान् तो एक कोने में रह जायेंगे और वह व्यक्ति ही भगवान् बन जायेगा कि यह तो बड़ा भला आदमी है । ठीक है, भला है लेकिन फिर ऐसा नहीं कि उसकी भलाई के चक्कर में भगवान् एक कोने में रखे रह जायें । इसीलिए दोष दर्शन तो निषिद्ध है ही परन्तु परम धर्म में गुण दर्शन का भी निषेध किया गया है । किसी के गुण भी मत देखो । गुण देखने की आदत है तो भगवान् के गुण देखे जायें । दोष देखने की आदत है तो अपने दोष देखे जाएँ, दूसरे के नहीं । अपने अन्दर जितना अधिक दोष दर्शन किया जा सके, उतना ही चित्त शुद्ध होगा, उतना ही हम लोगों के अन्दर जो दुर्गुण हैं, वे सब मार्जित होंगे, वे सब दूर चले जायेंगे और हम लोग अवगुण मुक्त हो जायेंगे । भगवान् से गुण ही नहीं, भगवान् से तो यदि दोष भी जुड़ जाये तो उससे बड़ा कोई गुण नहीं है और संसार में यदि गुण भी जुड़ जायेगा तो उससे बड़ा कोई दोष नहीं है । जितने भी धर्म हैं यदि वे भगवान् से नहीं जुड़े तो वे धर्म भी अधर्म हैं । गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा –

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ । जहँ न राम पद पंकज भाऊ ॥

भगवान् के चरणों से यदि नहीं जुड़ा तो वह धर्म भी सबसे बड़ा अधर्म बन जायेगा क्योंकि –

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू । जहँ नहिं राम पेम परधानू ॥

वह योग भी कुयोग हो जायेगा, वह ज्ञान भी अज्ञान बन जायेगा, जिसका भगवच्चरणों से सम्बन्ध नहीं हुआ, जो भगवान् से नहीं जुड़ा, वह 'धर्म' अधर्म हो जायेगा और यदि दोष भी भगवान् से जुड़ जाये तो वह गुण बन जायेगा । मान लो कितना भी ऊँचे से ऊँचा गुण है किन्तु यदि भगवान् से उसका सम्बन्ध नहीं हुआ तो वह बेकार है ।

इस प्रकार गोकर्णजी ने परम धर्म बताया और इस परम धर्म में आत्मदेव ब्राह्मण परिनिष्ठित हुए । उन्होंने घर का त्यागकर वन की यात्रा की । वहाँ दिन-रात भगवान् की सेवा-पूजा करने से और नियमपूर्वक भागवत के दशम स्कन्ध का पाठ करने से उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लिया ।

अध्याय – ५

सूतजी कहते हैं – शौनकजी ! एक दिन आत्मदेव ब्राह्मण की पत्नी धुन्धुली अपने पुत्र धुन्धुकारी के उपद्रवों से दुःखी होकर रात के समय कुएँ में जा गिरी और इससे उसका प्राणान्त हो गया ।

मृत्यु तो स्त्री-पुरुष दोनों की हुई किन्तु एक ने सत्संग के द्वारा अपने जीवन को सुधार लिया और एक सदा-सर्वदा के लिए अन्धकार में चली गयी ।

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥

वे लोग आत्महत्यारे हैं, जो मनुष्य-शरीर प्राप्त करने के बाद भी अपने आप से अपना कल्याण नहीं करते, वे गाढ़ अन्धकार में चले जाते हैं ।

धुन्धुकारी ने पाँच वेश्याओं को अपने घर में रख लिया था । उनको प्रसन्न करने के लिए वह जहाँ-तहाँ से क्रूर कर्मों के द्वारा धन

चुराकर लाता था । एक दिन उन वेश्याओं के कहने पर धुन्धुकारी बहुत-सा धन चुराकर लाया और उन्हें बहुत से सुन्दर वस्त्र और आभूषण दिए । चोरी का बहुत सा माल प्राप्त होने पर अब इन कुलटाओं ने धुन्धुकारी से पीछा छुडाने के लिए उसकी हत्या करने की योजना बनायी । रात को ही सोते हुए धुन्धुकारी को इन दुष्टाओं ने रस्सियों से कसकर बाँध दिया और उसके गले में फाँसी लगाकर उसे मारने का प्रयास किया । ऐसा करने पर भी जब वह नहीं मरा तो उन्होंने उसके मुख पर बहुत से दहकते हुए अँगारे डाले, इस तरह वह अग्नि की लपटों से झुलसकर अत्यन्त कष्ट के साथ मरा । अपने दुष्कर्मों के कारण मृत्यु के पश्चात् धुन्धुकारी को प्रेत योनि की प्राप्ति हुई । गोकर्णजी ने धुन्धुकारी की मृत्यु का समाचार सुना तो उन्होंने उसके लिए गयाजी में श्राद्ध किया और जब वे वापस लौटकर अपने घर आये तो आधी रात के समय वह गोकर्णजी के सामने बड़े विकट रूप दिखाने लगा । कभी वह भेड़ा बन जाता, कभी हाथी बन जाता तो कभी इन्द्र बन जाता । गोकर्णजी ने उससे पूछा – 'तू कौन है ? रात के समय ऐसे भयानक रूप क्यों दिखा रहा है ?'

गोकर्णजी के पूछने पर प्रेत योनि को प्राप्त धुन्धुकारी जोर-जोर से रोने लगा । उसके अन्दर बोलने की शक्ति नहीं थी । तब गोकर्ण जी ने अंजलि में जल लेकर उसे अभिमन्त्रित करके धुन्धुकारी के ऊपर छिड़का । ऐसा होने पर उसके पापों का कुछ शमन होने से उसके अन्दर बोलने की शक्ति आयी और वह बोला – 'हे करुणानिधान ! मैं तुम्हारा भाई धुन्धुकारी हूँ । मैं अपने पापों की क्या गणना करूँ, बस इतना समझ लो कि अपने घोर पापों के कारण मैं प्रेत बन गया हूँ । अब कोई ऐसा उपाय करो जिससे कि मेरा उद्धार हो जाये ।'

गोकर्णजी ने कहा – 'मैंने तो गयाजी में जाकर तुम्हारे लिए विधिपूर्वक पिण्डदान किया, फिर भी प्रेत योनि से तुम्हारा उद्धार कैसे

नहीं हुआ ? यदि गया श्राद्ध से भी तुम्हारा उद्धार नहीं हो सका तब तो फिर तुम्हारा उद्धार असम्भव ही है ।'

धुन्धुकारी बोला – 'आप तो महान पुरुष हैं । ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो आपके लिए असम्भव हो । कृपा करके मेरे कल्याण का कोई अन्य उपाय करें ।'

सबेरा होने पर गोकर्ण ने अपने तपोबल से सूर्य की गति को रोक दिया और उनसे धुन्धुकारी के उद्धार का साधन पूछा । सूर्यदेव ने श्रीमद्भागवत का सप्ताह पारायण करने के लिए प्रेरित किया । उनकी प्रेरणा से गोकर्णजी ने धुन्धुकारी के उद्धार के निमित्त श्रीमद्भागवत सप्ताह यज्ञ का अनुष्ठान किया । जब श्रीमद्भागवत सप्ताह यज्ञ के अनुष्ठान की खबर चारों ओर फैली तो सभी लोग अपने पापों की निवृत्ति और कथा श्रवण की इच्छा से आने लगे । थोड़ी ही देर में श्रोताओं का बहुत बड़ा समुदाय वहाँ इकठ्ठा हो गया । इधर प्रेत योनि को प्राप्त धुन्धुकारी भी कथा श्रवण के लिए आया और वायु रूप होने के कारण एक सात गाँठ के बाँस के छिद्र में घुसकर कथा सुनने के लिए बैठ गया । गोकर्णजी ने प्रथम स्कन्ध से कथा सुनाना आरम्भ कर दिया । संध्या को जब कथा को विश्राम दिया गया तो वहाँ एक बहुत विचित्र घटना घटी । उस बाँस की एक गाँठ भीषण शब्द करते हुए फट गयी । दूसरे दिन दूसरी गाँठ फटी और तीसरे दिन तीसरी गाँठ फटी । इस प्रकार सात दिनों में उस बाँस की सातों गाँठें फट गयीं और कथा श्रवण के प्रभाव से धुन्धुकारी प्रेत योनि से मुक्त हो गया एवं भगवत् सारूप्य को प्राप्त होकर दिव्य रूप धारण करके गोकर्णजी के सम्मुख प्रकट हुआ । उसका रूप साक्षात् भगवान् नारायण के समान था । गोकर्णजी ने पूछा – 'भैया ! तुम कौन हो ?'

धुन्धुकारी ने गोकर्णजी को प्रणाम करके कहा – मैं आपका छोटा भाई धुन्धुकारी हूँ । आपकी कृपा से प्रेत योनि से मेरा उद्धार हो गया ।

यह श्रीमद्भागवत की कथा प्रेतपीड़ा का नाश करने वाली तथा निश्चित ही कृष्ण लोक की प्राप्ति कराने वाली है ।

अस्थिस्तम्भं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धं पात्रं मूत्रपुरीषयोः ॥

(श्रीभागवत-माहात्म्य - ५/५८)

मनुष्य इस शरीर में झूठे ही अभिमति कर लेता है । शरीर का स्वरूप तो देखो, जैसे किसी घर को बनाया जाता है तो सबसे पहले खम्बा खड़ा किया जाता है, वैसे ही इस शरीर में हड्डियों के खम्बे हैं, फिर खम्बे को जैसे रस्सी से बाँध दिया जाता है, वैसे ही तमाम नाड़ियों से इस अस्थि रूपी स्तम्भ को बाँध दिया गया है । खम्बे पर फिर जैसे पलस्तर आदि किया जाता है वैसे ही माँस और रक्त का इस पर पलस्तर कर दिया गया है, चमड़े से इसको ढक दिया गया है क्योंकि है तो यह मल-मूत्र का मटका ही अतः इसकी जो दुर्गन्ध थी, उसके कारण यह शरीर जो देखने में बुरा लगता था, उसको चमड़े से ढक दिया गया । अगर यह चमड़े से न ढका होता तो मनुष्य का कभी भी इस शरीर में राग न होता । जब वह दिन भर देखता कि शरीर के भीतर हड्डी है, माँस है, रक्त है, मल-मूत्र भरा हुआ है तो इसके प्रति आसक्ति कभी हो ही नहीं सकती थी किन्तु इस शरीर को जब चमड़े से ढक दिया गया तो इसका भीतर का स्वरूप तो दिखता नहीं और केवल ऊपर के गोरे चमड़े को देखकर मनुष्य मोहित होकर इसके प्रति आसक्ति किये रहता है ।

सुन्दर देही देखके, उपजत है अनुराग ।
मढ़ी न होती चाम के, तो जीवत खाते काग ॥

हर से देखने पर यह शरीर बड़ा सुन्दर लगता है किन्तु यदि यह चर्म(चमड़े) से न मढ़ा होता तो मनुष्य को जीवित ही कौवे खा जाते । मृत्यु के बाद तो क्या खाते, जीवित ही खा जाते लेकिन इसे चर्म से मढ़

दिया गया है तो इसके भीतर का कुछ दिखाई ही नहीं देता है कि रक्त है कि माँस है कि अस्थि है । सुनते हैं कि शरीर के भीतर मल-मूत्र आदि दूषित पदार्थ भरे पड़े हैं परन्तु सुनने का कितनी देर तक प्रभाव रहता है, थोड़ी देर तक प्रभाव रहता है । उसके बाद हम लोग फिर से इसी गंदे शरीर के प्रति आसक्त हो जाते हैं । इस प्रकार भगवत् सारूप्य को प्राप्त हुए धुन्धुकारी ने शरीर की नश्वरता को बताया –

कृमिविड्भस्मसंज्ञान्तं शरीरमिति वर्णितम् ।
अस्थिरेण स्थिरं कर्म कुतोऽयं साधयेन्न हि ॥

(श्रीभागवतमाहात्म्य - ५/६०)

इस शरीर के लिए मनुष्य क्या-क्या नहीं करता है लेकिन इस शरीर की जो अंतिम संज्ञा है, वह कृमि, विड् और भस्म ही है । मरने के बाद गाड़ दिया गया तो यह शरीर कृमि बन जायेगा, कोई पशु खा गया तो यह विड्(मल) बन जायेगा और जला दिया गया तो राख का ढेर हो जायेगा । मरणोपरान्त इस शरीर की मात्र ये तीन ही स्थितियाँ होती हैं । इसके अतिरिक्त अन्य कोई चौथी स्थिति दुनिया में नहीं है । फिर इस अस्थिर शरीर से, जो स्थिर रहने वाला नहीं है, मनुष्य इसकी पूर्ति करता रहता है । जन्म बीत गये इसकी पूर्ति करते-करते, रोज भोजन करते हैं फिर भी पेट नहीं भरता है । ऐसा नहीं है कि आज खा लिया तो फिर पचास साल तक भूख नहीं लगेगी । दो-तीन बार हम लोग खाते हैं फिर भी इस शरीर की कभी पूर्ति नहीं होती है और इसकी अन्तिम संज्ञा है कि यह कृमि, विड व भस्म बन जायेगा । और कुछ यह देगा नहीं, और कुछ इससे मिलना नहीं है कि उदर पोषण करने से भगवान् मिलेंगे तो फिर क्या इस अस्थिर शरीर से स्थिर भगवान् की प्राप्ति नहीं की जा सकती है ? रामचरितमानस में भगवान् राम ने कहा –

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । पाइ न जेहिं परलोक सँवारा ॥

इस अस्थिर शरीर से हम नित्य स्थिर रहने वाले भगवान् को प्राप्त कर सकते हैं फिर भी हम मूढ़ लोग नहीं करते हैं, भगवत्प्राप्ति की चेष्टा नहीं करते हैं। हर व्यक्ति सदा जीवित रहना चाहता है, कोई मरना नहीं चाहता है परन्तु हम लोग विचार करें कि जिस अन्न से हम पेट भर रहे हैं, वह अन्न सुबह पकाया जाता है लेकिन संध्या तक बिगड़ जाता है। जिस अन्न से हम अपने शरीर को पुष्ट कर रहे हैं, वह अन्न ही जब नित्य नहीं है तो उस अनित्य अन्न को खाने से यह शरीर नित्य कैसे हो जायेगा, नहीं हो सकता है नित्य। अनित्य भोजन कर रहे हैं तो अनित्य ही रहेगा यह शरीर। यदि भगवन्नामामृत का नित्य ही पान किया जाये, नित्य इस अमृत को पिया जाए तो यह शरीर भी नित्य हो जायेगा, अमर हो जायेगा। **'याय पीवै सो अमर है जाय, नाम रस मीठो है।'** लेकिन हम लोग अस्थिर शरीर से स्थिर प्रभु को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करते हैं।

बड़ा ही सुन्दर भाषण दिया धुन्धुकारी ने, फिर उसने गोकर्णजी को प्रणाम किया और एक बड़ी ही विचित्र बात कही –

'जडस्य शुष्कवंशस्य यत्र ग्रन्थिविभेदनम्।'

जिस कथा के सुनने से जड़ योनि के बाँस की ग्रन्थियाँ फट सकती हैं तो फिर चित्त की ग्रन्थियों का खुल जाना कौन-सी बड़ी बात है। भागवत कथा के श्रवण से सहज ही हृदय ग्रन्थि से मुक्त होकर जीव भगवान् को प्राप्त कर सकता है।

'संसारकर्दमालेपप्रक्षालनपटीयसि'

संसार रूपी कीचड़ को धोने के लिए यह भागवत कथा बड़ी ही निपुण है। यह कथा ही एकमात्र सार है, हम लोग संसार के कीचड़ में, संसार के दलदल में फँसे हुए हैं। इस कीचड़ को यह कथा ही धोएगी। इस कीचड़ को भागवत कथा रूपी जल ही साफ़ करेगा।

जिस समय धुन्धुकारी ये सब बातें कह रहा था, उसी समय वहाँ भगवान् के पार्षदों सहित वैकुण्ठ से एक विमान उतरा । धुन्धुकारी उस विमान पर चढ़ गया । गोकर्णजी ने भगवान् के पार्षदों से पूछा – 'यहाँ कथा तो सभी ने समानरूप से सुनी किन्तु विमान केवल धुन्धुकारी के लिए ही क्यों आया ? कथा के फल में इस प्रकार का भेद क्यों हुआ ?'

भगवान् के पार्षदों ने कहा – 'इस फल भेद का कारण श्रोताओं के श्रवण का भेद ही है । कथा सुनी तो सबने किन्तु जितने एकाग्र चित्त के साथ धुन्धुकारी ने कथा को सुना, निराहार रहकर विधिवत कथा श्रवण की तथा सुने हुए विषय का स्थिर चित्त से यह खूब मनन-निदिध्यासन भी किया करता था । ऐसा श्रोता यहाँ कोई भी नहीं है । यदि ये श्रोता फिर से श्रीमद्भागवत की कथा श्रवण करें तो निश्चय ही सबको वैकुण्ठ की प्राप्ति हो जाएगी ।'

ऐसा कहकर वे पार्षद वैकुण्ठ धाम को चले गये । गोकर्ण महाराज ने सबके उद्धार के लिए श्रावण मास में पुनः भागवत कथा का आयोजन किया । अब जब कथा प्रारम्भ हुई तो सभी ने ध्यान से कथा को सुना क्योंकि वे समझ गये कि पहले भी हमने कथा सुनी किन्तु ध्यान से नहीं सुनी तो उसका लाभ नहीं मिला जबकि धुन्धुकारी प्रेत था परन्तु एक बार ध्यानपूर्वक कथा सुनने से ही वह विमान पर बैठकर वैकुण्ठ चला गया । इसलिए अबकी बार सभी ने बड़ी एकाग्रता के साथ कथा का श्रवण किया । इस बार कथा की समाप्ति के अवसर पर स्वयं भगवान् वहाँ पधारे । जैसे ही प्रभु वहाँ आये तो चारों ओर से जयघोष की ध्वनि होने लगी । ध्यानपूर्वक कथा का श्रवण किया गया तो साक्षात् ठाकुर जी ही आ गये । चित्त की एकाग्रता ने भगवान् को खींच लिया । भगवान् अपने साथ अनेकों विमान लेकर आये थे, सभी श्रोताओं को उन विमानों पर चढ़ाकर भगवद्धाम भेज दिया गया । कथा सुनने वालों को तो धाम मिल गया परन्तु सुनाने वाले को क्या मिला ? कथा सुनाने

वाले गोकर्णजी को भगवान् ने अपने हृदय से लगा लिया । मानो भगवान् ने स्वयं अपने आप को ही गोकर्णजी को दे दिया । सुनने वाले ने धाम की प्राप्ति की और सुनाने वाले को भगवान् ने स्वयं को ही दे दिया । अब भगवान् से बड़ी वस्तु तो दुनिया में कोई हो नहीं सकती । गोकर्णजी के लिए इससे बड़ी उपलब्धि और क्या हो सकती थी, हो ही नहीं सकती थी, सम्भव ही नहीं थी । जिस समय भगवान् पधारे तो बड़ी जोर से वहाँ नाम संकीर्तन प्रारम्भ हुआ । भगवद्दर्शन होने से वहाँ उपस्थित सभी श्रोता कृतकृत्य हो गये । गोकर्णजी की कृपा से उस गाँव के कुत्ते और चाण्डालपर्यन्त जितने भी जीव थे, किसी को छोड़ा नहीं गया, सबको विमान में बिठा लिया गया । जिसके कर्णरन्ध्र में गोकर्णजी के द्वारा निःसृत कथा का एक शब्द भी पड़ गया, उसका फिर संसार में पुनरागमन ही नहीं हुआ, वह सदा-सदा के लिए मुक्तावस्था को प्राप्त हो गया ।

अध्याय – ६

सनकादि मुनीश्वरों ने देवर्षि नारदजी को आगे सप्ताह यज्ञ की विधि के बारे में बताया । सप्ताह यज्ञ की विधि क्या है, वक्ता-श्रोता के लक्षण क्या हैं, कथा कैसे सुननी चाहिये, अनुष्ठान कैसे करना चाहिए, इन सब विधियों का निरूपण किया गया ।

सनकादि मुनीश्वरों ने कहा –

विरक्तो वैष्णवो विप्रो वेदशास्त्रविशुद्धिकृत् ।
दृष्टान्तकुशलो धीरो वक्ता कार्योऽअतिनिःस्पृहः ॥

(श्रीभागवतमाहात्म्य - ६/२०)

ऐसे वक्ता के मुख से कथा सुनी जाए जो विरक्त हो, वैष्णव हो, उसके हृदय में भगवद्भक्ति हो, ब्राह्मण कुल में जिसका जन्म हुआ हो

तथा वेद-शास्त्र में पारंगत हो । उसे दृष्टान्त देने में भी कुशल होना चाहिए जिससे कि भागवत जी के कठिन सिद्धान्तों को श्रेष्ठ भक्तों की कथा के उदाहरण से समझा सके । इस श्लोक में दो बार एक ही बात को कहा गया, प्रथम तो यह कहा गया कि वक्ता विरक्त हो और अंत में कहा गया कि वह अतिनिःस्पृह हो अर्थात् वक्ता के अन्दर सबसे बड़ी योग्यता यही है कि वह विरक्त एवं अति निःस्पृह हो, जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो । वक्ता को कैसा होना चाहिए तो सनकादि मुनीश्वर ने यहाँ स्त्री-पुरुष का भेद नहीं रखा । इसके बाद उन्होंने श्रोताओं के विषय में कहा कि भगवान् को लक्ष्य बनाकर ही कथा सुनी जाये । कथा के दिव्य मण्डप में जब आयें तो श्रीमद्भागवत जी को साक्षात् भगवत् विग्रह मानकर उनको प्रणाम करें, वक्ता को शुक स्वरूप मानकर प्रणाम करें, उनके सहयोगियों को पार्षद-परिकर रूप मानकर प्रणाम करें । कथा श्रवण करने के पूर्व वक्ता को स्तुति-वन्दना आदि से संतुष्ट करें । कथा में होने वाले उत्सव-महोत्सवों को विधि-विधान के साथ पूर्ण उत्साहपूर्वक मनायें ।

नारदजी महाराज ने सनकादि मुनीश्वरों के द्वारा सप्ताह यज्ञ की विधि का श्रवण किया । कथा समाप्त होते ही वहाँ श्रीशुकदेवजी पधारे । उन्होंने भी श्रीमद्भागवत की महिमा का वर्णन करते हुए कहा –

स्वर्गे सत्ये च कैलासे वैकुण्ठे नास्त्ययं रसः ।
अतः पिबन्तु सद्भाग्या मा मा मुञ्चत कर्हिचित् ॥

(श्रीभागवतमाहात्म्य - ६/८३)

स्वर्ग, सत्यलोक, कैलाश और वैकुण्ठ में भी भागवत-रस नहीं है । यह भागवत का रस तो केवल इस धरा पर ही बह रहा है । इसलिए जितना अधिक इसका पान कर सकें, उतना करें । इसको कभी चूकना नहीं चाहिए, कभी इसे छोड़ना नहीं चाहिए ।

प्रथम स्कन्ध

अध्याय –१

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के प्रथम अध्याय का जो पहला श्लोक है, यह मंगलाचरण के रूप में है क्योंकि ऐसी शास्त्रीय परम्परा है कि प्रारम्भ में मंगलाचरण किया जाता है । इस प्रथम श्लोक में श्रीवेदव्यासजीमहाराज ने परतत्त्व का वर्णन किया है ।

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥

(श्रीभागवतजी - १/१/१)

जिन प्रभु से सृष्टि का जन्म, पालन और संहार होता है, अन्वय और व्यतिरेक दोनों पद्धतियों से जो सभी पदार्थों में अनुगत हैं, स्वराट् हैं, जिनकी स्वतंत्र सत्ता है, जिन्होंने संकल्प मात्र से ही ब्रह्माजी को ज्ञान दे दिया, जिस ज्ञान के सम्बन्ध में बड़े-बड़े देवता भी मोहित हो जाते हैं । जल में मिट्टी, मिट्टी में जल, जल में सूर्य-रश्मियों का, सूर्य-रश्मियों में जल का जहाँ भ्रम हो जाता है, अपने प्रभाव से जो माया को निरस्त किये रहते हैं, ऐसे सत्यस्वरूप भगवान् का हम ध्यान करते हैं ।

इस श्लोक में ब्रह्म के लक्षण बताये गये हैं, लक्षण दो प्रकार के होते हैं – पहला स्वरूप लक्षण और दूसरा तटस्थ लक्षण । जैसे – कोई लड़का है तो उसका स्वरूप लक्षण यह है कि उसके आँख, नाक, कान आदि शरीर के अंग कैसे हैं, रंग गोरा है कि काला है, शरीर पुष्ट है कि विकलांग है । तटस्थ लक्षण यह है कि उस लड़के को संगीत का ज्ञान है, पढ़ा-लिखा है । तटस्थ लक्षण में यह भी है कि लड़का चोरी भी करता

है । इसी प्रकार उपरोक्त श्लोक में ब्रह्म के तटस्थ एवं स्वरूप लक्षण बताये गये हैं । ब्रह्म का स्वरूप लक्षण श्लोक के अन्तिम चरण में बताया गया है, वह केवल इतना ही है – **'सत्यं परं धीमहि ।'** ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है – जो परम सत्य है, वही ब्रह्म है । तटस्थ लक्षण है – **'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतः ।'** उसके द्वारा सृष्टि की रचना, पालन और संहार होता है । **'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये'** – 'आदिकवि' का अर्थ है - ब्रह्माजी, 'ब्रह्म' का अर्थ है – वेद, उसने आदिकवि ब्रह्माजी को वेद का ज्ञान प्रदान किया । यह तटस्थ लक्षण है । **चार्थेष्वभिज्ञः** – सभी पदार्थों में वह ज्ञानरूप है । अभिज्ञ का अर्थ है ज्ञानरूप । **जन्माद्यस्य** – जन्मादि – संसार का जन्म, पालन और प्रलय, **यतोऽन्वयादि** – अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही प्रकार से ब्रह्म से ही होता है । ब्रह्म है तो संसार का जन्म होगा, नहीं है तो नहीं होगा । ब्रह्म है तो संसार का पालन होगा, अन्यथा नहीं होगा । इस प्रकार संसार का जन्म, पालन और प्रलय (संहार), ये तीनों अन्वय और व्यतिरेक विधि से ब्रह्म में ही होते हैं । यह सब तटस्थ लक्षण है, जैसे तैत्तरीय श्रुति में बताया गया है कि ब्रह्म क्या है ? यह बड़ी प्रसिद्ध श्रुति है और अद्वैतवादियों के पास इसका कोई उत्तर नहीं है । तैत्तरीय श्रुति में ब्रह्म का लक्षण लिखा है –

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्मेति विजिज्ञासस्व ।

(तैत्तिरीयोपनिषद् - ३/१)

यतो माने जहाँ से । इसका मतलब है कि ब्रह्म से ही सारा संसार उत्पन्न हुआ है, अतः इस संसार को पूर्णतया मिथ्या कैसे कहा जा सकता है, जैसा कि अद्वैतवादी दार्शनिक कहा करते हैं । यह संसार है, केवल रज्जु में सर्प की भाँति भ्रम नहीं है । यतः माने भगवान् से, जिस ब्रह्म से (इसमें पञ्चमी विभक्ति है) । इस बात का उत्तर अद्वैतवादियों के पास

नहीं है । यह संसार ब्रह्म से निकला है । सीप में चाँदी की तरह यह भ्रम नहीं है । संसार का अस्तित्व है । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते – अनन्त प्राणी उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं । **जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादि** – (भा १/१/१) की यह प्रथम पंक्ति तैत्तरीय श्रुति का सार है । **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** – जिस ब्रह्म से अनन्त प्राणी उत्पन्न होते हैं तथा **येन जातानि जीवन्ति** – जिसके द्वारा सब जी रहे हैं । जातानि – पैदा होने के बाद, येन जीवन्ति – उसके द्वारा जी रहे हैं । कोई कहे कि हम अन्न खाते हैं, इसलिए जी रहे हैं । जल पीते हैं, इसलिए जी रहे हैं तो ऐसा नहीं है । किसी मरणासन्न व्यक्ति को रोटी खिलायी जाए तो क्या वह जी जायेगा ? इसलिए यह भ्रम है । न तो कोई अन्न से जीवित है, न जल द्वारा जीवित है और न ही औषधि के सेवन से जीवित है । येन जातानि जीवन्ति – जिसके द्वारा संसार में जीवन है । इस बात को भगवान् ने गीता में कहा है – **जीवनं सर्वभूतेषु** – सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन मैं हूँ । अन्न जीवन नहीं है । जल जीवन नहीं है ।

यह व्याख्या (भा १/१/१) जन्माद्यस्य के सन्दर्भ में है । आदि से मतलब पालन एवं संहार । तैत्तरीय श्रुति कहती है – 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' – जन्म । आदि माने पालन, येन जातानि जीवन्ति – पालन, जिसके द्वारा जी रहे हैं । आदि का मतलब प्रलय (संहार), 'यत् प्रयन्ति' – जिसमें लीन हो गये, प्रलय हो गयी । 'यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति', प्रलय के बाद वहीं पर 'संविशन्ति' सब सोते हैं, स्थिर रहते हैं । इसका अभिप्राय है कि संसार है जब यह पैदा हुआ है और अद्वैतवादी कहते हैं कि संसार भ्रममात्र है । संसार पैदा हुआ है और उसी (ब्रह्म) के द्वारा पालित-पोषित हो रहा है तथा उसी में लीन होता है । लीन होने के बाद महाप्रलय में उसी (ब्रह्म) में रुकता है, मिट नहीं जाता है । 'तद् ब्रह्मेति विजिज्ञासस्व' उसी को ब्रह्म

समझो । वही ब्रह्म है । तैत्तरीय श्रुति में इस प्रकार यह जो ब्रह्म का तटस्थ लक्षण बताया गया है, ब्रह्म का यही तटस्थ लक्षण ही (भा.१/१/१) में प्रथम पंक्ति से लेकर साढ़े तीन पंक्ति तक वर्णित किया गया है –

'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः' – अन्वय-व्यतिरेक से जन्म, पालन और प्रलय ब्रह्म में सिद्ध होता है एवं इन पदार्थों में वह ज्ञानरूप ब्रह्म है । पदार्थेष्वभिज्ञः – वह सदा ज्ञान रूप है । ऐसा नहीं कि अन्धकार आ जाये । ज्ञान कहाँ से आता है ? स्वराट् – स्वेनैव राजते, ब्रह्म को बाहर से प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, वह स्वतः प्रकाश है । स्वराट् माने स्वतः प्रकाश । संसार की सारी चीजें उसके द्वारा भासित होती हैं –

तमेव भान्तमनुभान्ति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

(कठोपनिषद् - २/२/१५)

सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड – ११७)

वह सबका प्रकाशक है अर्थात् स्वयं प्रकाश है । **जन्माद्यस्य... तेने** – जिसने (ब्रह्म ने) ज्ञान दिया, फैलाया, किसको ? **आदिकवये** – आदिकवि ब्रह्मा को, **मुह्यन्ति यत्सूरयः** – जिसके बारे में बड़े-बड़े सूर (विद्वान्) लोग भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् उसके वास्तविक तत्त्व को नहीं जान पाते हैं । जैसे श्रीकृष्ण की ब्रज लीला को देखकर ब्रह्माजी को मोह हुआ, इन्द्र तथा वरुण को भी मोहहुआ । राम लीला को देखकर सती और गरुड़ को मोह हुआ । ये सभी सूरि (विद्वान्) हैं, फिर भी मोह को प्राप्त हो जाते हैं और भगवल्लीला को समझ नहीं पाते हैं । यह संसार उसी ब्रह्म (भगवान्) में है, कैसे, **तेजोवारिमृदां यथा विनिमये** – जैसे तेज, जल और मिट्टी का एक दूसरे में विनिमय होता रहता है, भासता

रहता है । उदाहरण के लिए तुमने जल में सूर्य का गोला देखा तो सूर्य जल में भासित हुआ अथवा कोई शीशा है, उसमें तुमने सूर्य देखा । वह शीशा मिट्टी है, मिट्टी से बना है । उसमें तेज का संक्रमण हुआ अथवा दूर बालू में प्रतीत होता है कि पानी की लहर दौड़ रही है तो वहाँ मिट्टी में वारि का संक्रमण हो रहा है । इसी तरह सम्पूर्ण प्रकृति में तेज, वारि और मिट्टी का एक दूसरे में विनिमय होता रहता है । **यत्र त्रिसर्गोऽमृषा** – त्रिसर्ग के बहुत से अर्थ किये गये हैं जैसे तीनों लोक, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति आदि तीनों अवस्थायें । ये अमृषा (सत्य) की तरह दिखायी पड़ रही हैं यद्यपि विनिमय होता रहता है, इनकी शाश्वत सत्ता नहीं है । एक होती है शाश्वत सत्ता जिसे कूटस्थ भी कहते हैं और एक होती है बदलती हुई सत्ता । हर चीज बदल रही है किन्तु चल रही है जैसे नदी की धारा । उस धारा में हर समय नया जल आ रहा है, उसकी कूटस्थ सत्ता नहीं है जैसे पहाड़ की कूटस्थ सत्ता है । इसी प्रकार यह संसार हर समय बदल रहा है किन्तु इसका अस्तित्त्व है । यह कूटस्थ सत्ता की तरह भासित होता है । **'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्'** – वे भगवान् अपने धाम (तेज) से कपट रूपी माया को सदा दूर रखते हैं । **'सत्यं परं धीमहि'** – ऐसे सत्यस्वरूप भगवान् का हम ध्यान करते हैं । यह इस श्लोक का सामान्य अर्थ है किन्तु कुछ आचार्य महापुरुषों ने कहा कि इस श्लोक में सामान्य अर्थ तो निकला परन्तु भागवत रसरूप ग्रन्थ है, उस रसरूप ग्रन्थ का प्रथम श्लोक मंगलाचरण ही ऐसा है कि उसमें ठाकुरजी की कोई लीला का परिस्फुटन तो दिखायी ही नहीं पड़ रहा है, कोई लीला तो दिखायी ही नहीं दे रही है । अतः कुछ आचार्यों ने इस प्रथम श्लोक में ही श्रीठाकुरजी की सम्पूर्ण लीला को सिद्ध करके दिखाया । **'जन्माद्यस्य'** – 'आद्यस्य' अर्थात् अनादि आदि सर्वकारण गोविन्द । जो गोविन्द भगवान् ही इस सृष्टि के आदि पुरुष हैं अर्थात्

जब कुछ भी नहीं था, उस प्रलय काल में भी भगवान् ही थे । उन भगवान् का जन्म हुआ, कहाँ जन्म हुआ तो बताया कि घर में जन्म हुआ । किन्तु घर में तो जन्म हुआ नहीं, जन्म तो हुआ मथुरा में, जेल में तो बोले कि जहाँ गृहिणी होती है उसी को घर कहा जाता है, जहाँ स्त्री रहती है वही घर है । जब वसुदेव जी कंस के कारागार में रहे तो मैया देवकी भी तो उनके साथ में थीं । अतः उस कारागार को ही उनका घर मान लिया गया । इसलिए ठाकुर जी का जन्म उनके घर में हुआ । घर में जन्म हुआ फिर घर के अतिरिक्त वे कहाँ रहे तो कहा – 'अन्वयाद्' वहाँ से भाग गये और गोकुल में जाकर रहे । जन्म लिया मथुरा में और रहे गोकुल में । क्यों ? अर्थेष्वभिज्ञः – सब जानते हैं कि अभी मुझे गोकुल जाना है, ब्रज लीला सिद्ध करनी है, गोपियों से प्रेम करना है, उनके साथ रास लीला करनी है, उसके बाद मथुरा जाकर कंस का वध करना है, फिर आगे द्वारका लीला भी करनी है । सब बात जानते हैं इसलिए जन्म लिया मथुरा में और भागकर गये गोकुल में । कैसे हैं वे प्रभु तो बोले स्वराट् हैं । स्वेषु गोपेषु राजते इति स्वराट् – ग्वालबालों के बीच में बैठते हैं, स्वतन्त्र सत्तावान को स्वराट् कहा गया है । भगवान् की सत्ता से सारा संसार चल रहा है, उन भगवान् की सत्ता क्या है तो बताया कि उनकी कोई सत्ता नहीं है । ये तो स्वतः सिद्ध हैं, सत्तावान हैं, इन्हीं की सत्ता से सब कुछ चल रहा है । प्रश्न हुआ कि जब लीला करते हैं तो स्वयं तो सत्तावान हैं फिर लीला किसके साथ करते हैं, उन गोपी-ग्वालबालों के साथ जिनकी सत्ता नहीं है तो इसका उत्तर है नहीं, भगवान् जब स्वतः सिद्ध हैं तो उनका जो परिकर है चाहे वे गोपियाँ हैं चाहे ग्वालबाल हैं चाहे गायें हैं, वे सब नित्य हैं । स्कन्द पुराणोक्त भागवत माहात्म्य में लिखा है – **नित्याः सर्वे विहाराद्या** – भगवान् नित्य हैं और उनका जितना परिकर है चाहे गायें हैं चाहे गोपी-ग्वाल हैं,

यशोदा मैया-नन्द बाबा हैं, वह सारा परिकर नित्य है क्योंकि भगवान् आप्तकाम भी इन्हीं गोपी-ग्वालों की सहायता से बने हैं । **कामास्तु वाञ्छितास्तस्य गावो गोपाश्च गोपिकाः** । भगवान् को आप्तकाम कहा गया, वे पूर्णकाम हैं । पूर्णकाम होने पर भी उनके मन में कामना आती है । किसकी कामना आती है तो सबसे पहले गायों की कामना होती है फिर ब्रजगोपियों की कामना, ग्वालबालों की कामना होती है और जब ये सब भगवान् को मिल जाते हैं तब वे आप्तकाम, परिपूर्णकाम बन जाते हैं । जैसे भगवान् स्वराट् हैं, अपनी सत्ता से ही सिद्ध हैं, वैसे ही उनका परिकर भी स्वतः सत्ता सिद्ध है यानी जैसे भगवान् तीनों कालों में रहते हैं, वैसे ही उनकी गायें, गोपी, ग्वाल, माता-पिता आदि परिकर भी सदा बना रहता है । यहाँ तक कि यह ब्रजभूमि भी नित्य है ।

गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते ।

कभी इस भूमि का नाश नहीं होता है । वृन्दावन के रसिक महापुरुष व्यास जी ने कहा है –

माया काल रहित नित नूतन कबहूँ नाहि नसात ।

ब्रजभूमि कभी नष्ट नहीं होती है । यहाँ तक कि महाप्रलय में भी

राधा मोहन के निज मन्दिर महाप्रलय नहिं जात ।

प्रलय का भी इस ब्रजभूमि में प्रवेश नहीं है । इसकी सत्ता नित्य है ।

इस तरह जैसे भगवान् स्वराट् हैं वैसे ही उनका पूरा परिकर भी स्वराट् है । सब नित्य सिद्ध परिकर है ।

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवयेमुह्यन्ति यत्सूरयः ।

उन भगवान् ने मात्र अपने संकल्प से ही ब्रह्मा जी को ज्ञान दे दिया । ऐसा कभी सुनने में तो नहीं आया कि ब्रह्मा जी भगवान् के पास गये और उनसे ज्ञान प्राप्त किया तो यहाँ कहा गया – तेने ब्रह्म हृदा – संकल्प मात्र से ही भगवान् ने ब्रह्मा जी को ज्ञान प्रदान कर दिया । वहाँ किसी कागज-कलम की आवश्यकता नहीं है कि ब्रह्मा जी पढ़ने के लिए बैठें और भगवान् उन्हें पढ़ायें । उन्हें तो भगवान् के संकल्प मात्र से ही सब ज्ञान हो गया । कैसी लीलायें हैं उनकी ? लीलायें ऐसी हैं कि ज्ञान हो गया तब भी ब्रह्मा जी मोहित हो गये । मुह्यन्ति यत्सूरयः । ब्रह्मा जी मोहित हो गये, ब्रह्मा जी तो क्या, स्वयं दाऊ जी महाराज भी मोहित गये । जिस समय वत्सापहरण लीला हुई, ब्रह्मा जी ने बछड़ों और ग्वालबालों का हरण किया तो श्रीकृष्ण एक वर्ष तक स्वयं ही सारे बछड़े और ग्वालबाल बनकर लीला करते रहे । उस समय दाऊ जी को भी पता नहीं था कि कृष्ण ही ग्वालबाल और बछड़े बने हुए हैं । जब इस लीला के समापन का समय आया तब दाऊ जी को इसका पता लगा, उन्होंने विचार किया कि किसी दैत्य की, देवताओं की माया तो मुझ पर प्रभाव नहीं डाल सकती फिर यह कैसी माया है । जितनी भी गायें हैं, वे अपने नए बछड़े की अपेक्षा पुराने बछड़ों से अधिक प्रेम कर रही हैं, ऐसा क्यों जबकि गाय अपने नए बछड़े से अधिक प्रेम करती है । अन्त में दाऊजी को दिखायी पड़ा कि सारे ग्वालबाल भी चतुर्भुज और सारे बछड़े भी चतुर्भुज । दाऊजी सोचने लगे कि यह कैसी विलक्षण माया है ? कृष्ण एक साल तक ग्वालबाल बनकर खेलते रहे, बछड़े बनकर गायों का दूध पीते रहे और मुझे बताया भी नहीं । भगवान् की ऐसी विलक्षण लीला हुई जिसने दाऊजी महाराज को भी मोहित कर दिया फिर उसे सामान्य जीव क्या समझेंगे ?

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा ।

ऐसे इनके विलक्षण कार्य हैं कि पानी में मिट्टी का आभास करा दें और मिट्टी में पानी का आभास करा दें, कैसे ? इसका प्रमाण है वेणुगीत । गोपियाँ कहतीं हैं –

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।

(श्रीभागवतजी - १०/२१/१४)

जब श्यामसुन्दर वेणुध्वनि करते हैं तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनि पक्षी बनकर इस ब्रजभूमि के वृक्षों की डालों पर आकर बैठ जाते हैं, कैसे बैठते हैं, बिलकुल मौन समाधि लगा लेते हैं, मौन होकर बैठते हैं । जिन पक्षियों का स्वभाव ही है बोलना, वे बोलना ही भूल जाते हैं । इसी प्रकार **शावाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थु** – वेणुध्वनि सुनकर बछड़ों की ऐसी स्थिति हो जाती है कि गायों का दूध पीते रहते हैं तो दूध का जो घूँट मुख में है, उसे न तो निगल पाते हैं और न ही उगल पाते हैं ।

जल का स्वभाव है बहने का, यमुना बहती रहती है किन्तु जब श्रीकृष्ण की वेणु ध्वनि सुनाई पड़ती है तो

यमुना जी थकित भई लगी जब करारी ।

यमुना जी का प्रवाह बंद हो गया, यमुना जी रुक गयीं । पाषाण का धर्म है कठोरता किन्तु जैसे ही श्यामसुन्दर की वेणुध्वनि पर्वत से टकरायी तो उसके पाषाण पिघल-पिघलकर बहने लगे । इस तरह पाषाण का धर्म पानी में आ गया । पानी कठोर हो गया, बहते-बहते रुक गया और पानी का जो धर्म था, वह पाषाण में आ गया, पाषाण का धर्म है कठोरता किन्तु वे पिघलकर बहने लगे । **यत्र त्रिसर्गोऽमृषा** । ऐसी विलक्षण प्रभु की लीलायें हैं, जो जल में भूमि का व्यत्यय और भूमि में जल का व्यत्यय करा देती हैं । एक दूसरे का धर्म एक दूसरे में आ

जाता है । उन भगवान् ने त्रैसर्गिक लीलायें की हैं, एक तो गोकुल में लीला की है, दूसरी लीला मथुरा में की है और तीसरी लीला द्वारका में की है । भगवान् की ये जो त्रैसर्गिक लीलायें हैं, ये तीनों लीलायें ही सत्य हैं । कभी भी ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि ब्रज लीला सत्य है तथा अन्य लीलायें मृषा (झूठी) हैं । अमृषा - तीनों सर्ग की लीलायें सत्य हैं चाहे वह ब्रज लीला हो अथवा मथुरा की लीला हो अथवा द्वारका की लीला हो ।

धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।

भगवान् अपने तेज से माया को निरस्त किये रहते हैं अर्थात् भगवद् धाम में माया का प्रवेश नहीं है । जब धाम में माया का प्रवेश नहीं है तो वहाँ रहने वालों को माया कैसे व्याप सकती है ? इसीलिए तो महापुरुषों ने कहा –

वृन्दावन में मंजुल मरिबो ।
जीवनमुक्त सबै ब्रजवासी
पदरज सों हित करिबो ॥

यहाँ के ब्रजवासियों को, यहाँ के रहने वालों को माया व्याप्त नहीं कर सकती है क्योंकि भगवान् ने धाम में माया को आने ही नहीं दिया । यहाँ साक्षात् प्रभु का वास है और जहाँ भगवान् रहते हैं

विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया ।

जहाँ भगवान् रह रहे हैं, वहाँ तो माया खड़ी भी नहीं हो सकती है, डरकर, काँपकर भाग जाती है । प्रभु की नित्य स्थिति है ब्रजभूमि में और जब वे यहाँ नित्य विराजे हुए हैं तो फिर माया का प्रवेश यहाँ होगा भी कैसे ? माया का जब ब्रजभूमि में प्रवेश ही नहीं है इसीलिए तो

ब्रजवासी जीवनमुक्त कहे गये हैं । महापुरुषों ने कहा कि ब्रजवासी नित्यमुक्त हैं, इनको माया नहीं बाँध सकती है ।

अस्तु, भागवत में प्रथम स्कन्ध के प्रथम अध्याय के इस पहले ही श्लोक में सम्पूर्ण कृष्ण लीला को गाया गया है । श्रीमद्भागवत रसरूप ग्रन्थ है । भागवत जी में लिखा है – **स्वादु स्वादु पदे पदे** – इसके प्रत्येक शब्द, अक्षर में बड़ा रस है । इस प्रथम श्लोक में परमात्म तत्त्व का वर्णन किया गया है । भागवत जी का प्रतिपाद्य विषय श्रीकृष्ण हैं लेकिन भागवत जी की रसरूपता तभी सिद्ध होगी जब इसमें श्रीराधारानी की महिमा गायी जाएगी । जब तक राधा महिमा नहीं गाई जाएगी, भागवत की रसरूपता सिद्ध नहीं होगी और भागवत रसमय ग्रन्थ है, क्यों, क्योंकि इसमें श्रीराधारानी को आश्रयणीया कहा गया तथा श्रीकृष्ण को आश्रित कहा गया है । भागवत जी का जो प्रतिपाद्य है, वह शक्ति है, वह श्रीराधारानी हैं एवं उस शक्ति को लेने वाले वाले श्रीकृष्ण हैं । इसलिए कुछ रसिक महापुरुषों ने इस प्रथम श्लोक में राधारानी की लीला को भी गाया है । शंका होती है कि प्रथम श्लोक में राधा लीला कैसे सिद्ध हो सकती है क्योंकि यहाँ तो ठाकुर जी का नाम लिया गया है, कृष्ण नाम यहाँ लेंगे वह तो चल भी जायेगा किन्तु राधारानी का नाम तो इस प्रथम श्लोक में सिद्ध हो ही नहीं सकता क्योंकि इस श्लोक में कहा गया है – **सत्यं परं धीमहि** । हम श्रीकृष्ण को सत्य मान सकते हैं किन्तु राधारानी के बारे में तो इस श्लोक में कुछ कहा ही नहीं गया है, इस श्लोक में राधारानी का नाम कहीं नहीं आया है । रसिक महापुरुषों ने कहा कि बिना राधारानी का वर्णन किये भागवत का रसरूप सिद्ध नहीं होगा, रस नहीं आयेगा क्योंकि आह्लादिनी शक्ति, रस शक्ति, रस प्रदान करने वाली शक्ति तो श्रीराधारानी ही हैं ।

'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्'

इस श्लोक में आद्यस्य शब्द पुल्लिंग है । संस्कृत में तीन लिंग – पुल्लिंग, स्त्री लिंग और नपुंसक लिंग चलते हैं । आद्यस्य शब्द पुल्लिंग का शब्द है तो यहाँ राधा नाम कैसे सिद्ध हो जायेगा, राधा नाम की सिद्धि के लिए तो यहाँ स्त्री लिंग के शब्द का प्रयोग होना चाहिए । इसका उत्तर यह है कि कई जगह श्रीराधारानी और श्रीश्यामसुन्दर के लिए नपुंसक लिंग के जो शब्द हैं, उनका प्रयोग हुआ है जैसे तत्त्व शब्द है, तत्त्व शब्द का प्रयोग स्त्री लिंग में भी किया जा सकता है और पुल्लिंग में भी किया जा सकता है । राधारानी भी तत्त्व हो सकती हैं और श्रीकृष्ण भी तत्त्व हो सकते हैं । जैसे श्रीमद्भागवत में प्रारम्भ में ही कहा गया – **वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं ।**

इसमें तत्त्व शब्द का प्रयोग हुआ ठाकुर जी के लिए । श्रीराधासुधानिधि ग्रन्थ में राधारानी के लिए कहा गया – **सुकुमारं विजयते ।** सुकुमार शब्द भी न तो पुल्लिंग का है और न ही स्त्रीलिंग का है, यह नपुंसक लिंग का शब्द है । इसी प्रकार श्रीराधासुधानिधि में एक जगह राधारानी के लिए कहा गया – **नवरत्नं विजयते ।** नवरत्न शब्द का प्रयोग भी राधारानी के लिए किया गया । इसलिए आद्यस्य शब्द का प्रयोग राधारानी के लिए किया जा सकता है क्योंकि आद्यस्य शब्द को हम पुल्लिंग से नपुंसक लिंग में परिवर्तित कर देंगे । वह कैसे होगा ? एक नियम है नपुंसक लिंग का कि प्रथम दो वचन प्रथमा विभक्ति और द्वितीया विभक्ति तो एक से चलते हैं किन्तु तृतीया विभक्ति से नपुंसक लिंग के जितने भी शब्द हैं, वे पुल्लिंग की तरह ही चलते हैं । जैसे फल शब्द नपुंसक लिंग है, तृतीया विभक्ति से फल शब्द के वचन भी पुल्लिंग की तरह ही चलेंगे जैसे तृतीया विभक्ति में फलेन, फलाभ्याम्, फलैः । वैसे ही राम शब्द पुल्लिंग है तो रामेण, रामाभ्याम्, रामैः। अब यहाँ आद्यस्य शब्द नपुंसक लिंग की षष्ठी विभक्ति है, अतः आद्यस्य शब्द

राधारानी के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है तथा यह शब्द श्रीकृष्ण के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है । आद्यस्य – जो श्रीराधारानी भगवान् की भी आराध्याहैं । स्कन्द पुराण में कहा गया – **आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ ।** श्यामसुन्दर की भी आत्मा हैं श्रीराधारानी इसलिए उन राधारानी से अनादि आदि सर्वकारण कोई हो नहीं सकता है । राधारानी का जन्म कहाँ हुआ ? उनके जन्म के अवसर पर दो बातें मिलती हैं । रावल में भी उनका जन्म माना जाता है और बरसाना में भी उनका जन्म माना जाता है । राधारानी ने जन्म लिया रावल में और फिर जन्म लेकर कहाँ आयीं, अनु-अयाद् – बरसाने में आ गयीं । क्योंकि रसिक महापुरुषों ने जो पद गाये हैं, उसमें जितनी लीलायें बरसाने की मिलती हैं उतनी रावल की नहीं मिलती हैं । रावल में राधारानी का जन्म तो गाया गया है किन्तु जितनी भी लीलायें हुई हैं, वे सब बरसाना धाम में ही हुई हैं । श्रीजी ने जन्म लिया रावल में और वहाँ से आयीं बरसाने में, क्यों आयीं ? ठाकुर जी को ब्रज में ब्रज लीला करनी थी और ब्रज के बाहर भी काम करना था परन्तु राधारानी क्यों आयीं, उनको क्या काम था बरसाने में ? इनका प्रमुख कार्य था महारास लीला करना । बिना श्रीजी के आश्रय के श्यामसुन्दर रास लीला नहीं कर सकते थे । इसलिए महारास करने के लिए राधारानी रावल से बरसाना आयीं । अब कृष्ण लीला में तो ब्रह्मा जी मोहित हुए फिर राधारानी की लीला में कौन मोहित हुआ ? श्रीजी की लीला सुनकर, महारास लीला सुनकर श्रवण भक्ति के आचार्य श्रीपरीक्षित जी महाराज मोहित हो गये । **मुह्यन्ति यत्सूरयः** । मोहित होकर परीक्षितजी ने शुकदेवजी से प्रश्न कर दिया कि श्रीकृष्ण ने तो धर्म का व्यतिक्रम किया, धर्म का उल्लंघन किया, परस्त्रियों का स्पर्श किया । अतः राधारानी और श्यामसुन्दर की महारास लीला, उनकी जितनी भी आन्तरिक श्रृंगार

रस की लीलायें हैं, इन लीलाओं को सुनकर परीक्षितजी जैसे भी मोहित हो गये, जो श्रवण भक्ति के आचार्य हैं, फिर औरों के बारे में तो क्या कहना ।

'तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा'

श्यामसुन्दर की वंशी ध्वनि के प्रभाव से जैसे पाषाण पिघल गये, यमुना जी रुक गयीं, इस प्रकार का श्रीजी में कौन सा प्रभाव है तो गोपियाँ श्यामसुन्दर से कहती हैं कि तुम सैकड़ों वंशी ध्वनि भी एक साथ करो तो वह राधारानी के एक भी नूपुर की ध्वनि की बराबरी नहीं कर सकती है । अतः जब श्रीजी की नूपुर ध्वनि होती है तो उस समय भी प्रकृति में, सृष्टि में विरोधाभास होने लग जाता है । तरल जड़ हो जाता है, जड़ तरल हो जाता है । गोपियाँ नृत्य करना भूल जाती हैं, श्यामसुन्दर वंशी बजाना भूल जाते हैं । **तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो** । ये श्रीजी के नूपुर का चमत्कार है और **यत्र त्रिसर्गोऽमृषा** – जैसे श्रीकृष्ण की त्रैसर्गिक लीला है – मथुरा लीला, ब्रज लीला एवं द्वारका लीला, उसी प्रकार राधारानी की भी तीन जगह लीलायें हुई हैं – बरसाना, रावल एवं वृन्दावन । ये श्रीजी के त्रैसर्गिक लीलास्थल हैं । श्रीजी ने रावल में जो लीला की, बरसाने में जो लीला की और वृन्दावन में जो लीला की, ये तीनों ही लीलायें अमृषा हैं, नित्य हैं, सत्य हैं । स्कन्द पुराण के अनुसार लीला के दो भेद किये गये हैं । एक होती है वास्तवी लीला और दूसरी होती है व्यावहारिकी लीला । इसी का दूसरा नाम है नित्य लीला और प्रकट लीला । वास्तवी लीला को नित्य लीला कहा गया और व्यावहारिकी लीला को प्रकट लीला कहा गया है । नित्य लीला वह है जो नित्य धाम में सदा-सर्वदा चलती रहती है । वहाँ ठाकुर जी का जन्म और लीला संवरण नहीं होता तथा प्रकट लीला वह है जैसे द्वापर में भगवान् कृष्ण रूप से आये, उन्होंने जन्म लिया फिर बाल

लीलायें कीं, कभी रोये, कभी हँसे, कभी ब्रजवासियों के साथ खेले । इसके बाद मथुरा में जाकर लीला की फिर द्वारका में लीला की और अन्त में धाम गमन कर गये । अतः इस मृत्यु लोक में जो लीला होती है, उसमें ठाकुरजी का जन्म भी होता है, लीला संवरण भी होता है किन्तु नित्य धाम में जो नित्य लीला चल रही है, उसमें जन्म और लीला संवरण का व्यवधान नहीं होता है । वहाँ तो सदा से लीला चल रही है और सदा ही चलती रहेगी परन्तु ब्रजभूमि का उत्कर्ष बताते हुए कहा गया कि यह जो बरसाना धाम है, यह जो गह्वर वन धाम है – **अत्रैव ब्रजभूमिः सा** – यह ब्रजभूमि वह धाम है जहाँ नित्य लीला एवं प्रकट लीला, दोनों ही लीलायें चलती हैं । प्रकट लीला चलती है, यह बात तो देखने में आ जाती है जैसे द्वापर युग में श्रीजी ने अवतार लिया और लीला की परन्तु अब तो वे हमें दिखायी ही नहीं पड़ रही हैं । नित्य लीला का तो मतलब है कि हमेशा लीला चलती रहे परन्तु हमें तो श्रीजी यहाँ दिखायी ही नहीं दे रही हैं फिर हम कैसे मान लें कि इस ब्रजभूमि में नित्य लीला चल रही है । स्कन्द पुराण में इसका उत्तर दिया गया है कि यहाँ नित्य लीला तो सदा चल ही रही है किन्तु जो इसके अधिकारी भक्तजन हैं, उन्हीं को इसका दर्शन होता है । अब हमें इसका दर्शन नहीं हो रहा है तो इसका मतलब यह नहीं है कि यहाँ लीला हो ही नहीं रही है । लीला तो हो रही है किन्तु हमें इसका दर्शन नहीं हो रहा है, यह बात अलग है लेकिन यहाँ प्रकट लीला भी होती है एवं नित्य लीला भी होती है । दोनों ही लीलायें श्रीराधारानी के इस पावन बरसाना धाम, ब्रजभूमि में होती हैं । श्रीकृष्ण की जो त्रैसर्गिक लीला कही गयी है ब्रज लीला, मथुरा लीला और द्वारका लीला, उसमें जो ब्रज लीला है, उसको नित्य लीला माना गया है तथा मथुरा, द्वारका की जो लीला है, उसको प्रकट लीला माना गया है । मथुरा और द्वारका में तो श्रीकृष्ण कभी आयेंगे और कभी चले जायेंगे परन्तु ब्रज से तो न कभी वे गये और न

ऐसा है कि किसी निश्चित समय पर वे यहाँ आयेंगे । यहाँ तो वे सदा से हैं और सदा ही रहेंगे । इसीलिए ब्रज लीला को नित्य लीला माना गया है और मथुरा-द्वारका की लीला को प्रकट लीला माना गया है । वैसे ही श्रीजी की जो त्रैसर्गिक लीला है रावल, बरसाना और वृन्दावन में तो बरसाने की लीला को यहाँ के रसिकों ने नित्य लीला माना है एवं रावल तथा वृन्दावन की लीला को प्रकट लीला माना है । प्रकट लीला में आना-जाना होता है किन्तु नित्य लीला में आना-जाना नहीं होता है । अतः बरसाने में तो श्रीराधारानी नित्य विहार करती हैं परन्तु यह नित्य लीला उसी को दिखायी पड़ती है जैसा कि रसिकों ने गाया है –

यह रस बरसे बरसाने जू ।
बिनु कुँवरि कृपा को पावे जू ॥

जिस पर कृपा वर्षा, अनुग्रह वर्षा हो जाये, उसका साक्षात् नित्य लीला में प्रवेश हो जाता है । यह नित्य लीला भूमि है, यहाँ नित्य ही राधारानी की लीला होती रहती है और अधिकारीगणों को उसका दर्शन भी प्राप्त हो जाता है । जिन पर श्रीजी की कृपा होती है, उन्हीं को यहाँ नित्य लीला का दर्शन होता है । महापुरुषों ने कहा है–

गह्वर श्रीराधा को घर है ।
ताकी देहु सोहिनी स्वामिनी, यही चाह मो उर अंतर है ॥

गह्वरवन राधारानी का नित्य घर है, उनका अपना घर है । अब वे जिसे चाहें अपने घर में बुलायें, जिसे चाहें उसे अपनी अनुभूति करायें । बिना उनकी इच्छा के, बिना उनकी कृपाशक्ति के अनुभव में राधारानी नहीं आयेंगी । बरसाना नित्य लीला स्थल है, इसका क्या प्रमाण है ? इसका प्रमाण भी परम रसिक संत श्रीव्यास जी महाराज की वाणी में दिया गया है । उन्होंने अपने एक पद में कहा –

लागी रट राधा-राधा नाम ।
ढूँढ़ फिरी वृन्दावन सगरो नन्द डिठौना श्याम ॥
कै मोहन कै खोर साँकरी कै मोहन नंदगाँव ।
व्यासदास की जीवन राधे धनि बरसानो गाँव ॥

स्वयं रसिकों की वाणी से ही यह प्रमाणित है कि बरसाना नित्य लीला भूमि है, नित्य लीला स्थल है । आज भी यहाँ नित्य लीला हो रही है । अधिकारीजनों को, पात्रों को इसका अनुभव भी होता है, उनको दर्शन भी होता है । राधारानी सदा ही बरसाने में विराजती हैं और भक्तों की अभिलाषा को पूर्ण करती हैं, ऐसी वे करुणामयी हैं । श्रीमद्भागवत रसरूप ग्रन्थ है । इसीलिए शुकदेवजी ने इसके रस का प्रकाशन किया । रस का प्रकाशन कब होगा ? जब युगल तत्त्व का इसमें वर्णन होगा । केवल कृष्ण लीला का वर्णन कर दिया, इससे भागवत की रसमयता की सिद्धि नहीं होगी । इसीलिए भागवत में राधारानी की लीला का भी वर्णन हुआ है । अब प्रश्न यह है कि शुकदेव जी ने गोपनीय रूप से क्यों राधारानी का लीला का भागवत में वर्णन किया, उन्हें स्पष्ट रूप से राधारानी का नाम लेना चाहिए था । व्यासजी महाराज का एक पद है –

परम धन राधा नाम आधार ।
जाहि श्याम मुरली में गावत सुमिरत बारम्बार ॥
श्रीशुक प्रकट कियो नहिं याते जानि सार को सार ॥

राधा नाम सारमयी वस्तु है, यह सबका निष्कर्ष है, सब सिद्धान्तों का सार है ।

युगल नाम श्रुति सार है राधे कृष्ण राधे कृष्ण ।

समस्त वेद, उपनिषद, श्रुतियों का सार है राधा नाम ।

यदि ऐसा है तो फिर स्पष्ट रूप से राधा नाम का उल्लेख भागवत में क्यों नहीं किया गया ? इसका उत्तर यह है कि जो वस्तु अधिक मूल्यवान होती है, उसको मनुष्य सड़क पर नहीं फेंकता है । उस वस्तु को छिपाकर ही रखा जाता है । मान लो हमारे पास कोई बहुत महामूल्यवान हीरा हो, मणि हो तो ऐसा नहीं है कि उसे हम साधारण रूप से घर में पटक देंगे । उस मणि के लिए सोने की सुन्दर सी पिटारी बनायी जाएगी । उस पिटारी को लोहे की पिटारी में रखा जायेगा फिर उस पिटारी को अलमारी में रखा जायेगा और कमरा बंद कर दिया जायेगा । इतना सँभालकर हम लोग उस मणि को रखेंगे । एक लौकिक जगत की सामान्य सी वस्तु को जब हम लोग इतना सँभालकर रखते हैं तो फिर जो राधा नाम समस्त सिद्धान्तों का सार है, निष्कर्ष है, उसको शुकदेव जी महाराज इतना स्पष्ट नहीं कह सकते हैं । इसलिए राधा नाम को भागवत में छिपाकर रख दिया कि जिन पर श्रीजी की कृपा है उनको यह मिल जायेगा और नहीं कृपा है तो नहीं मिलेगा । अब हमें न मिले तो इसका मतलब यह नहीं है कि राधा नाम का उल्लेख शुकदेव जी ने भागवत में कहीं किया ही नहीं । हम न समझें तो यह हमारी बुद्धि का दोष है । वैसे भी सनातन संस्कृति में एक आर्य मर्यादा है,

आत्मनाम गुरोर्नाम नामाति कृपणस्य च ।
न नामो गृह्णीयात् ज्येष्ठा पत्य कलत्रयो ॥

हमारे भारतवर्ष में पहले ऐसी मर्यादा थी कि लोग अपनी पत्नी का नाम नहीं लेते थे और यहाँ तक कि अपने बड़े पुत्र का नाम भी नहीं लेते थे । ऐसा क्यों तो इसका उत्तर है उनके सम्मान के लिए । इसी प्रकार शुकदेव जी ने राधा नाम का भागवत में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, क्यों, उनके सम्मान के लिए । जिन शुकदेव जी महाराज की ऐसी स्थिति है –

राधा श्रवण मात्रेण मूर्च्छा षाण्की भवेत् ।
अतः नोच्चारितं स्पष्टं परीक्षित हितकृन् मुनिः ॥

श्रवण पथ में कभी राधा नाम चला जाता, कभी सुनने में ही आ जाता तो शुकदेवजी महाराज को छः महीने की समाधि लग जाती थी । अब जब वे परीक्षित जी को भागवत कथा श्रवण कराने के लिए बैठे हैं, राधा नाम उच्चारण करने से ही यदि छः महीने की समाधि लग जाएगी तो फिर आगे की कथा चर्चा कौन करेगा, परीक्षित जी को कौन कथा सुनाएगा ? अतः परीक्षित जी का हित करने के लिए, उनके कल्याण के लिए स्पष्ट राधा नाम का उल्लेख भागवत में नहीं किया गया । परन्तु दशम स्कन्ध की रासपंचाध्यायी में शुकदेव जी ने स्थान-स्थान पर श्रीराधारानी के लिए कहीं वधू शब्द का प्रयोग किया, कहीं राधसा शब्द का प्रयोग किया, कहीं अनयाऽऽराधितो नूनं कहकर आराधित शब्द का प्रयोग किया, इस तरह उन्होंने जगह-जगह राधारानी की लीला का गान किया है । स्पष्ट राधा नाम का उल्लेख नहीं किया तो क्या हुआ ?

धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परम निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदंतापत्रयोन्मूलनम्।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीशवरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिःशुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥

(श्रीभागवतजी - १/१/२)

इस श्लोक में तीन बार अत्र शब्द का प्रयोग हुआ है । किसी भी बात को यदि तीन बार कह दिया जाये तो वह बिलकुल पक्की हो जाती है । यहाँ अत्र शब्द का तीन बार प्रयोग क्यों हुआ है ? अत्र का अर्थ होता है –'यहाँ' । व्यासजी कह रहे हैं – धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र

भागवत के प्रथम स्कन्ध के प्रथम अध्याय के इस दूसरे श्लोक में चार चीजें बतायी गयी हैं। किसी भी ग्रन्थ को यदि जाना जाये तो उसके पहले उसकी चार चीजों को समझ लेना चाहिए। उन चार चीजों को समझने से अपने आप ही सारा ग्रन्थ समझ में आ जाता है। पहला है अधिकारी, दूसरा प्रयोजन, तीसरा सम्बन्ध और चौथा है विषय। भागवत का विषय क्या है ? भागवत में क्या कहा गया है ? भागवत में कौन सी बात को मुख्य रूप से रखा गया है ? व्यासजी महाराज कहते हैं –**धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र**। भागवत में उस परम धर्म का निरूपण हुआ है, जिसमें मोक्ष को भी त्याग देने की मुख्य शिक्षा दी जाती है। इसलिए इसको परम धर्म कहा जाता है। परम धर्म का यह मतलब है कि इससे बड़ा कोई दूसरा धर्म है नहीं क्योंकि वेदों में भी मोक्ष प्राप्ति के, स्वर्ग प्राप्ति के कर्म बताये गये हैं परन्तु श्रीमद्भागवत में केवल उन्हीं कर्मों को बताया गया है, जिनसे भगवत्प्रेम प्राप्त होता है, मोक्ष नहीं। **उज्झित कैतव**। साधारण स्वर्ग छोड़ देना तो छोटी सी बात है, भागवत हमें मोक्ष छोड़ना सिखाती है। उस परम धर्म का भागवत में वर्णन हुआ है। अतः भागवत का विषय यही है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि चार पुरुषार्थ नीचे रह जाते हैं, इनसे भी आगे जो पंचम पुरुषार्थ है, वह है कृष्ण प्रेम। जो कृष्ण प्रेम प्रदान कर दे, वही परम धर्म है और उस परम धर्म का भागवत में वर्णन है। इसके अधिकारी कौन हैं ? हर आदमी मुक्ति (मोक्ष) चाहता है। इतना साहस किसमें है जो मोक्ष छोड़ दे। इसलिए भागवत को सुनने का विशेष अधिकारी कौन है तो व्यासजी ने कहा – **निर्मत्सराणां सतां**। जो निर्मत्सर संत हैं, जिनके अन्दर मात्सर्य नहीं है, वे ही भागवत को सुनने के अधिकारी हैं। मात्सर्य का मतलब यह है कि अपने से अधिक दूसरे का उत्कर्ष देख लिया तो मन में द्वेष पैदा हो गया और सोचने लगे कि यह हमसे आगे

कैसे निकल गया । दूसरे के उत्कर्ष को जो आसानी से सहन कर ले, उसको निर्मत्सर कहा गया है । इसलिए भागवत श्रवण करने के भी सब अधिकारी नहीं हैं । निर्मत्सराणां सतां - जो निर्मत्सर संत हैं, वही इसको सुनेंगे । भागवत में क्या वर्णन किया गया है तो व्यासजी ने कहा –

वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीशवरः

भागवत में जानने योग्य वस्तु का वर्णन हुआ है और एक बात हम लोगों को समझ लेना चाहिए कि संसार में जानने योग्य यदि कोई है तो वे केवल भगवान् हैं । उन्हीं को पाने की, उन्हीं को जानने की, उन्हीं को पहचानने की चेष्टा करनी चाहिए । हम लोग संसार की प्राप्ति की चेष्टा करते हैं । भगवान् की प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिये । अतः वास्तविक वेद्य वस्तु भगवान् हैं । वे कैसे हैं, उनको जानने से होगा क्या तो व्यासजी ने कहा – **शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्** । लौकिक लाभ भी होगा और पारमार्थिक लाभ भी होगा । लौकिक लाभ कैसे होगा तो इसका उत्तर है कि जब उस परमात्मा को हम जान जायेंगे तो तीनों तापों से मुक्त हो जायेंगे । अतः लौकिक लाभ तो यह है कि जीव संसार में तीनों तापों से मुक्त हो जायेगा । जितने भी प्रकार के दुःख हैं, आधि-व्याधि हैं, क्लेश हैं, उनसे जीव मुक्त हो जायेगा तथा मरने के बाद क्या होगा तो कहते हैं कि शिवदं – मरने के बाद कल्याण हो जायेगा । ये दो लाभ हैं । जब इतना बड़ा लाभ भागवत को, भगवान् को जानने से होता है तो फिर हर आदमी इसको क्यों नहीं जान लेता है ? व्यासजी महाराज कहते हैं – **कृतिभिः**। एक जन्म की साधना से भगवान् को नहीं जान पाओगे । जब अनन्तानन्त जन्मों का पुण्य पुंज एक साथ सामने आएगा तब यह चर्चा सुनने को मिलेगी और तब भगवान् को जानने का अवसर मिलेगा । नहीं तो भागवत को जानने में

क्या परिश्रम है, कोई भी व्यक्ति बाजार में जाकर भागवत की पुस्तक को घर में रख सकता है । घर में ग्रन्थ स्थापित कर लेना बड़ी बात नहीं है । कृतिभिः – जब अनन्त जन्मों का पुण्य पुंज उदित होगा तब जाकर जीव भगवत्प्राप्ति की चेष्टा करेगा । इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा –

अति हरि कृपा जाहि पर होई ।
पाउँ देइ एहिं मारग सोई ॥

(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड - १२९)

जब अतिशय कृपा-करुणा की वर्षा होती है, जब अनन्तानन्त जन्मों का पुण्य पुंज सामने आता है तब जीव भगवान् को पाने की, भागवत के श्रवण करने की चेष्टा करता है, नहीं तो चेष्टा भी नहीं करता है । यदि चेष्टा ही कर ली तो चेष्टा का लाभ देखो – **शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ।** भागवत कथा श्रवण करने की मात्र इच्छा भी हो गयी, कथा सुनी नहीं केवल सुनने की इच्छा उत्पन्न हो गयी तो उस इच्छा मात्र से अविलम्ब ईश्वर उसी समय आकर हृदय में विराजमान हो जायेगा, भगवान् हृदय में आ जायेंगे और फिर यदि कथा सुन ली तब तो फिर निश्चित ही भगवान् सामने आकर अपना साक्षात्कार ही नहीं अपितु अपना आलिंगन दान भी करेंगे, अपने हृदय से लगा लेंगे जैसे गोकर्ण जी को लगाया था । अतः इस श्लोक में 'अत्र' शब्द का जो तीन बार प्रयोग हुआ तो उसका मतलब आचार्यों ने बताया है –

अत्रैव प्रोज्झितकैतव धर्मः नान्यत्र ईश्वरः अत्रैवावरुध्यते । अत्रैवेश्वरोऽवरुध्यते नान्यत्र, अत्रैव वास्तवं वस्तु वेद्यं, नान्यत्र, अत्रैव प्रोज्झितकैतवो धर्मः ।

(श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीजी)

भागवत ही परम धर्म सिखायेगी, अन्य कोई दूसरा ग्रन्थ परम धर्म नहीं सिखाएगा । भागवत के सुनने की इच्छा ही हृदय में भगवान् को विराजमान करेगी, अन्य किसी दूसरे ग्रन्थ में यह ताकत नहीं है । भागवत ही मोक्ष का त्याग सिखायेगी, अन्य किसी सत्शास्त्र में ऐसी ताकत नहीं है । इसीलिए तीन बार अत्र शब्द का प्रयोग हुआ अर्थात् यहीं, इसी भागवत जी में, इसी महामहिमामण्डित ग्रन्थ में भगवत्प्राप्ति का उत्कृष्टतम साधन बताया गया है, अन्यत्र ऐसा नहीं है ।

भागवतजी की क्या महिमा है तो व्यास जी ने कहा –

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

(श्रीभागवतजी - १/१/२)

वेद-उपनिषदों का कल्पवृक्ष है और उस कल्पवृक्ष का पका हुआ फल है श्रीमद्भागवत । व्यासजी ने फिर ये क्यों कहा – **पिबत भागवतं** अर्थात् इस भागवत को पियो क्योंकि फल तो पिया नहीं जाता है, खाया जाता है । तब व्यासजी महाराज ने कहा – **शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्** । जब से शुकदेवजी महाराज का भागवत से स्पर्श हो गया है, इससे सम्पर्क हो गया है, तब से यह फल रसयुक्त हो गया है, परमानन्द रस इसमें आ गया है । इसलिए इस फल को खाने के लिए नहीं कहा बल्कि यह कहा कि पियो क्योंकि जो फल खाया जाता है, उसमें कुछ चीजें ऐसी भी होती हैं जो छोड़ी जाती हैं । जैसे खाने योग्य फल है आम । मनुष्य जब आम को खायेगा तो गुठली को छोड़ेगा ही, केला खायेगा तो उसका छिलका छोड़ेगा परन्तु भागवत खाया जाने वाला फल नहीं है । यह तो पीने योग्य फल है क्योंकि इसमें एक भी अंश ऐसा नहीं है जिसे छोड़ा जाये । इसलिए इसकी रसरूपता का वर्णन करते हुए कहा गया कि जितना हो सके इसका पान करना चाहिए । पिबत भागवतं

रसमालयं । कब तक पियें, कोई निश्चित समय बताया कि दो-चार घंटे पियें कि दो-चार साल पियें तो व्यासजी ने कहा कि इसके पान करने की कोई निश्चित अवधि नहीं है । रसमालयं – जीवन की अंतिम श्वांस तक, मृत्यु के अवसर तक इसे पीते ही रहो । अतः

पिबन्तु सद्भाग्या मा मा मुञ्चत कर्हिचित् ।

इसको कभी छोड़ना नहीं, ऐसा मत सोचना कि एक बार भागवत सुन ली, अब वही कथा बार-बार क्या सुनें ? क्योंकि यदि कथामृत से तृप्ति हो गयी तो समझ लो कि अभी हमने कथा रस को समझा नहीं । **मा मा मुञ्चत कर्हिचित्** – इसे कभी छोड़ना मत, जितना पी सकते हो उतना पियो ।

रामचरित जे सुनत अघाहीं । रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं ॥

(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड – ५३)

उनको रसानुभूति नहीं हुई जिनको भागवत कथा को सुनकर तृप्ति हो गयी, जो इससे अघा गये । जिसको रसानुभूति हो जाएगी, वह फिर इस रस से अघा नहीं सकता, ऊब नहीं सकता । उसको तो जितना अधिक रस पीने को मिल जायेगा, वह पिएगा क्योंकि **शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्,** जब शुकदेवजी महाराज परीक्षितजी को कथा सुनाने के लिए बैठे तो किसी अन्य पुराण की चर्चा नहीं की, सीधे भागवतजी की कथा चर्चा आरम्भ की । क्योंकि तोते को यह बहुत अच्छी पहचान होती है कि कौन सा फल सबसे अधिक मीठा है और तोता उसी फल पर चोंच मारता है जो पेड़ का सर्वाधिक मधुर फल होता है । जो फल तोता खा लेता है, उसके बारे में हम लोग भी यही कहते हैं कि यह तोते का खाया हुआ फल है इसलिए बहुत मीठा होगा । **शुकमुखाद्** – शुकदेवजी से इसका स्पर्श हो गया, संपर्क हो गया तब से भागवत में अतिशय मधुर रस बहने लग गया है । ऐसा दिव्य फल पृथ्वी में कहाँ

से आया ? एक बार ब्रह्माजी को यह फल ठाकुर जी ने दिया । तब सत्य लोक से यह फल मृत्यु लोक में आया । अरे, इतनी ऊँचाई से फल गिरेगा तो फट नहीं जायेगा, यह कैसा फल है जो इतने ऊपर से गिरा किन्तु फटा नहीं । नहीं फटा जैसे किसी वृक्ष के सबसे ऊपरी भाग में कोई पका हुआ फल लगा हो, वह फल जब नीचे गिरेगा तो नीचे किसी पत्ते के ऊपर गिरेगा । एक पत्ते से दूसरे पत्ते पर गिरता हुआ जब क्रम से एक-एक पत्ते पर आयेगा तो नीचे गिरने पर वह फल फटेगा नहीं । यह भागवत रूपी फल भी साक्षात् भगवान् के मुख से निकलकर सीधे मृत्युलोक में नहीं आ गया । शिष्य रूपी शाखा-प्रशाखा के पत्ते-पत्ते पर होकर यह फल मृत्युलोक में आया है । सबसे पहले भगवान् ने ब्रह्मा जी को कहा, फिर ब्रह्मा जी ने नारदजी को कहा, नारदजी ने व्यासजी को कहा, व्यासजी ने शुकदेव जी से कहा, शुकदेवजी ने परीक्षित जी से कहा । आगे फिर सूतजी ने शौनक जी से कहा । इस प्रकार शिष्यों के द्वारा क्रम से यह फल नीचे आया । इसलिए इस फल को कोई क्षति नहीं हुई । जैसा प्रभु मुख से निकला, वैसा ही यहाँ जीव जगत को प्राप्त हो गया ।

शौनक जी ने आगे सूतजी से प्रश्न किये हैं कि आप हमें सब शास्त्रों का सार सुनाइए । भगवान् देवकी-वसुदेव से क्यों प्रकट हुए, यह आप कृपा करके बताइये । इसके बाद शौनक जी ने बड़ी सुन्दर बात कही –

यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः ।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ॥

(श्रीभागवतजी - १/१/१५)

भगवद्भक्तों के द्वारा गाये हुए उन लीला चरित्रों को आप हमें सुनाइए, जो भगवद्भक्त निरन्तर भगवद् चरणों में ही विराजे रहते हैं । शौनक जी ने बहुत विचित्र बात यहाँ कही । उन्होंने कहा कि कोई बहुत

दिनों तक गंगा तट पर रहे, गंगा जल का पान करे और स्नान करते हुए गंगा जी का सेवन करे तो बहुत दिनों के बाद पवित्रता मिलेगी किन्तु भगवद्भक्तों के तो दर्शन मात्र से ही पवित्रता प्राप्त हो जाती है । ऐसा इसलिए है क्योंकि गंगा जी भगवान् के चरणों से निकल चुकी हैं । अब वे चरणों में रही नहीं, चरणों से निकल चुकी हैं । हालाँकि गंगा जल है भगवान् के ही चरणों का जल परन्तु अब यह भगवान् के चरणों से अलग हो चुका है किन्तु भगवद्भक्त तो निरन्तर ही भगवान् के चरणकमलों में बैठे रहते हैं, वे अलग नहीं हुए । इसलिए शौनक जी सूत जी से कहते हैं कि भक्तों के द्वारा जो प्रभु का लीला गान हुआ है, उसे आप हम लोगों को श्रवण कराइए, जो चित्त को शुद्ध कर देगा । गंगा जी के सेवन से वह कल्याण नहीं होगा, जो भक्तों के दर्शन मात्र से हो जायेगा क्योंकि भगवान् और भक्तों का सम्बन्ध निरन्तर रहता है । गंगाजी का तो एक बार सम्बन्ध हुआ था, जब भगवान् के चरण धोये गये परन्तु चरण धुलने के बाद वह जल चरणों से अलग हो गया किन्तु भक्त तो निरन्तर ही भगवच्चरणों में बैठे रहते हैं, ये तो कभी अलग होते ही नहीं हैं । इसलिए इनके दर्शन मात्र से पवित्रता की प्राप्ति हो जाती है ।

इसके बाद शौनक जी ने प्रश्न किया कि धर्म क्या है, भगवान् श्रीकृष्ण के स्वधामगमन के पश्चात् धर्म किसकी शरण में गया ?

अध्याय – २

धर्म किसे कहते हैं, किस क्रिया का नाम धर्म है, किस विशेष कर्म का नाम धर्म है तो न किसी विशेष कर्म का नाम धर्म है और न ही किसी विशेष क्रिया का नाम धर्म है । धर्म फिर किसे कहते हैं तो सूतजी ने कहा –

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्म क्या है ? किसको धर्म कहा गया ? हमारी कोई भी क्रिया धर्म बन सकती है, धर्म नहीं परम धर्म बन सकती है । हमारा जो कर्म भगवान् के चरणों में प्रेम उत्पन्न कर दे, बस वही परम धर्म है, उसी को सबसे बड़ा धर्म कहा गया है । वह कर्म कैसे होगा तो इस श्लोक की आगे की पंक्ति में कहा गया –

अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति – (श्रीभागवतजी १/२/६)

उस कर्म में कोई हेतु नहीं होगा, कोई निमित्त नहीं होगा, कामना नहीं होगी । हम लोग भगवान् का भजन तो करते हैं लेकिन भगवान् से संसार को पाने की प्रार्थना करते हैं । इस तरह भगवान् तो साधन हो गये और संसार साध्य हो गया । जब साधन भी भगवान् हो जायेंगे और साध्य भी भगवान् हो जायेंगे तब वही कर्म धर्म हो जायेगा । अहैतुक्यप्रतिहता – जिस कर्म में कामना नहीं होती है, वह कर्म अक्षय हो जाता है, कभी व्यवहित नहीं होता, कभी बाधित नहीं होता है । इसीलिए तुलसीदासजी ने कहा – हे राम जी ! मैं आपसे केवल एक ही वस्तु चाहता हूँ । मैं आपसे एक ही वस्तु माँगता हूँ –

यह विनती रघुवीर गुँसाई ।
हेतु रहित अनुराग राम पद,
बढ़ै अनुदिन अधिकाई ।

कभी भी मन में कामना न आये और आपके चरणों में प्रेम बढ़ता ही रहे, रुके नहीं ।

चहौं न सुगति सुमति सम्पति कछु,
रिधि सिधि विपुल बड़ाई ॥

न मुझे सुगति चाहिए, न सुमति (अच्छी बुद्धि) चाहिए, न सम्पत्ति चाहिए। ऋद्धि-सिद्धि, मान-बड़ाई आदि भी नहीं चाहिए। आपके चरणों में मेरा प्रेम बढ़ता रहे, बस यही मेरी अभिलाषा है।

इसी का नाम परम धर्म है। इस परम धर्म का फल क्या है ?

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥

(श्रीभागवतजी - १/२/९)

धर्म का फल पैसा नहीं है। मान लो कि धर्म किया और पैसा आ गया जैसे कि भागवत की कथा हो रही है तो उसमें जो भी द्रव्य (धन) आया तो यद्यपि धर्म का फल धन नहीं है परन्तु जो धन आ गया, उसका क्या किया जाये ?

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥

(श्रीभागवतजी - १/२/१०)

उस धन का फल केवल जीविकामात्र है। बाकी जितना भी धन है तो धन का एकमात्र फल धर्म ही है। यदि द्रव्य आ गया तो क्या उसको फेंक दें, नहीं, उसे फेंको नहीं अपतु किसी धर्म के कार्य में लगा दो। अपने पास उतना ही धन रहे जितना कि प्राणवृत्ति से जीवनयापन होता रहे। अब यदि हम जीवनयापन का लक्ष्य बना रहे हैं कि उतना धन तो आवश्यक है जितने में जीवन का निर्वाह होता रहे तो फिर उस जीवन का फल क्या है तो जीवन का फल है – **जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा।**

जीवन का फल यही है कि अद्वय तत्त्व को जानने की इच्छा मन में हो जाये। कौन सा तत्त्व, अद्वय तत्त्व। वह अद्वय तत्त्व क्या है ?

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

(श्रीभागवतजी - १/२/११)

तत्त्वज्ञ लोगों में कोई उसे ब्रह्म कहता है, कोई उसे परमात्मा कहता है और कोई भगवान् कहता है ।

अब जैसे एक ही आदमी है तो किसी का वह चाचा है, किसी का मामा है, किसी का भाई है । कोई स्त्री है तो वह आदमी उसका पति है । उसी प्रकार वह अद्वय वस्तु है तो एक ही परन्तु जो ज्ञानी हैं, वे उसे ब्रह्म कहते हैं, योगी उसे परमात्मा कहते हैं और भक्त उसे भगवान् कहते हैं । तत्त्व तो तीनों एक ही है लेकिन भक्तों का जो ध्येय है, भक्तों के जो सेव्य हैं, वे तो केवल श्रीभगवान् ही हैं ।

अध्याय – ३

आगे शौनक जी ने सूतजी से भगवान् के अवतारों के विषय में प्रश्न किया कि प्रभु के अवतार कितने हैं, क्यों वे अवतार लेते हैं ? शौनक जी के प्रश्न करने पर सूतजी महाराज ने कहा कि यों तो भगवान् के अनन्त अवतार हैं – **अवतारा ह्यसंख्येया** – असंख्य अवतार हैं, जिनकी गणना नहीं की जा सकती किन्तु फिर भी शास्त्रों में कुछ अवतार तो बताये गये हैं । भगवान् के मुख्य चौबीस अवतार हैं ।

अब यहाँ मन में प्रायः यह शंका होती है कि भगवान् के अवतार तो बहुत हैं परन्तु हम किस अवतार को मानें । बहुत से लोग बहुधा ऐसा प्रश्न करते हैं कि राम बड़े हैं कि कृष्ण, शक्ति की उपासना की जाये अथवा शिवोपासना की जाये । कौन से देवता की उपासना की जाये ? भक्तमाल के टीकाकार श्रीप्रियादास जी ने बहुत उत्तम बात लिखी –

जिते अवतार सुखसागर न पारावार करैं विस्तार लीला जीवन उधार कौं ।

भगवान् के जितने भी अवतार हुए हैं, सभी अवतार केवल लोक कल्याण के लिए, जीवों को भवसागर के पार लगाने के लिए ही हुए हैं। अब यदि कहा जाये कि अवतार हुए तो हैं परन्तु हम किस अवतार को मानें। राम जी का अवतार बड़ा है अथवा श्रीकृष्ण के रूप में जब प्रभु आये, वह अवतार बड़ा है। कौन से अवतार को हम अधिक मानें तो प्रियादास जी कहते हैं

जाही रूप मांझ मन लागै जाको पागै तहीं ।

भगवान् के जिस रूप में अधिक मन लगता हो या रूप में मन लगाने पर खूब आनन्द मिलता हो, भगवान् के उसी रूप को भजना चाहिए। ऐसा कोई भेद नहीं है कि राम जी को भजो अथवा श्रीकृष्ण को ही भजो या देवी माता को भजो या शिवजी को ही भजो। जिस रूप में मनोयोग ज्यादा हो जाये, जिसमें खूब आनन्द मिले, उसी रूप में मन लगाना चाहिए। फिर प्रश्न हुआ कि कहीं ऐसा तो नहीं कि रामजी का अवतार नित्य अवतार न हो अथवा कृष्ण अवतार नित्य अवतार न हो। इसके उत्तर में प्रियादास जी कहते हैं –

सब ही हैं नित्त ध्यान करत प्रकाशैं चित्त ।

चाहे रामावतार हो चाहे उनका कृष्णावतार हो चाहे मत्स्यावतार हो अथवा वाराहावतार हो, जितने भी अवतार हैं, ये सभी नित्य हैं लेकिन होता यह है कि हम लोग भगवान् के अवतारों की उपेक्षा कर देते हैं और साम्प्रदायिक संकीर्णता में फँसकर भेदभाव करते हैं कि तुम रामानन्दी हो, तुम अमुक सम्प्रदाय के हो। इससे अपराध होता है जबकि भगवान् एक ही हैं, केवल उनको पाने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। जिस मार्ग में मन अधिक अनुरक्त हो जाये, जिस मार्ग से सम्बद्ध होने पर अधिक आनन्द की अनुभूति हो, बस उसी मार्ग को परिपक्वता के साथ पकड़ लेना

चाहिए। किन्तु फिर भी कोई एक मूल अवतार तो होगा। अतः भागवत में मूल अवतार कृष्णावतार को बताया गया है।

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

भगवान् तो श्रीकृष्ण ही हैं। अन्य जितने भी अवतार हैं, वे उनके अंश से उत्पन्न हुए हैं। बहुत से लोग आक्षेप करते हैं कि महाविष्णु हैं मूल रूप, उनके अंश से कृष्ण उत्पन्न हुए हैं। किन्तु ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि भागवतजी का भी यही मत है, ब्रह्माजी ने भी यही कहा है, श्रीमन्महाप्रभुजी ने भी यही माना है – कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। श्रीमहाप्रभु जी ने इस श्लोक का बड़ा विलक्षण अर्थ किया है। यहाँ शुकदेवजी ने कहा – कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् अर्थात् कृष्ण भगवान् हैं।

दो चीजें होती हैं। एक होता है अनुवाद और दूसरा होता है विधेय। यह नियम है कि पहले अनुवाद को कहा जाता है, पीछे विधेय को कहा जाता है। ज्ञात वस्तु को अनुवाद कहते हैं और अज्ञात वस्तु को विधेय कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि यह ब्राह्मण विद्वान् है। यहाँ जो ब्राह्मण है, वह तो अनुवाद है क्योंकि हम जानते हैं कि यह ब्राह्मण है। ब्राह्मण के जो चिह्न हैं यज्ञोपवीत, तिलक आदि तो इसने यज्ञोपवीत धारण किया है, तिलक धारण किया है। अतः मनुष्य उसे देखकर पहचान जायेगा कि यह व्यक्ति ब्राह्मण है। बताने की आवश्यकता नहीं है किन्तु विधेय तत्त्व अज्ञात होता है, उसे बिना बताये कोई जान नहीं सकता। अब जैसे कोई ब्राह्मण विद्वान् है तो जब तक वह अपनी विद्वत्ता का परिचय नहीं देगा तब तक कोई नहीं जान सकता कि वह विद्वान् है। कोई ब्राह्मण है, यह बात तो देखकर जानी जा सकती है किन्तु वह विद्वान् है, यह बात देखकर नहीं जानी जा सकती है जब तक कि वह अपनी विद्वत्ता का परिचय न दे। अतः पहले अनुवाद कहा जाता है,

पीछे विधेय कहा जाता है अर्थात् जिस चीज को हम जानते हैं उसे पहले कहें और जो चीज नहीं जानी गयी है, उसे पीछे कहें । इस तरह **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्** – इस चरण में कृष्ण शब्द अनुवाद है और भगवान् शब्द विधेय है । जैसे किसी मंदिर में गये तो वहाँ एक ओर रामजी खड़े हैं तथा दूसरी ओर श्रीकृष्ण खड़े हैं । श्रीकृष्ण के स्वरूप को हम देखकर ही जान जायेंगे कि जिनके हाथ में मुरली है, वे तो श्रीकृष्ण हैं तथा जिनके हाथ में धनुष है, वे श्रीराम हैं । क्योंकि स्वरूप ज्ञात वस्तु है तथा वे भगवान् हैं, यह अज्ञात वस्तु है । अतः यह बात पीछे रखी जाएगी । इसीलिए भागवत में कहा गया – कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् अर्थात् कृष्ण ही भगवान् हैं । यदि ऐसा होता कि भगवान् कोई और हैं तथा कृष्ण अंश हैं तो सूतजी महाराज कहते - स्वयम् भगवान् कृष्णस्तु । पहले भगवान् कहते, पीछे कृष्ण कहते । परन्तु ऐसा नियम नहीं है । पहले भगवान् नहीं कह सकते । पहले अनुवाद रखना पड़ेगा, पीछे विधेय रखना पड़ेगा । इसलिए सूतजी ने कहा – कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। कृष्ण ही भगवान् हैं । अतः महाविष्णु भी भगवान् के ही एक अवतार हैं, भगवान् से उत्पन्न हुए हैं । ऐसा नहीं कहना चाहिए कि महाविष्णु के अवतार श्रीकृष्ण हैं । श्रीकृष्ण के अवतार महाविष्णु हैं, फिर आगे उनसे अन्य अवतारों का प्राकट्य हुआ है क्योंकि ब्रह्माजी ने भी दशम स्कन्ध में गोपाल जी की स्तुति करते हुए कहा है – **नारायणस्त्वं**.....। प्रभो ! आप ही नारायण हैं ।

'नारायण' का अर्थ होता है – अखिलसर्वदेहिनाम् । जिस स्वरूप में सारा संसार निवास करे, उसे नारायण कहा गया है और जो नारायण है, उसके तीन लक्षण हैं । वही आत्मा होगा, वही साक्षी होगा और वही सबका स्वामी भी होगा । इस संसार का साक्षी कौन है, भगवान् हैं, श्रीकृष्ण हैं । वे ही सबके स्वामी हैं, वे ही सबके रक्षक हैं, वे ही सबकी

आत्मा हैं । ब्रह्माजी ने श्रीकृष्ण को नारायण भी कहा है । कृष्ण रूपी नारायण अलग हैं और क्षीर सागर में शयन करने वाले नारायण अलग हैं । जो मूल नारायण हैं, वे भगवान् कृष्ण हैं । उन्हीं के अंश से क्षीर सागर में शयन करने वाले नारायण का प्राकट्य हुआ । इसलिए श्रीकृष्ण अवतार मूल अवतार है । किसी पेड़ की जड़ में यदि पानी दिया जाये तो फिर अलग से पत्ते, फल अथवा शाखा में पानी देने की आवश्यकता नहीं रहती है । इसी प्रकार मूल अवतार श्रीकृष्ण का पूजन हो गया तो फिर जितने भी देवी-देवता हैं, उन सबका पूजन अपने-आप ही हो जाता है । इसलिए भक्तों का जो ध्येय है, भक्तों के जो भगवान् हैं, वे तो श्रीकृष्ण ही हैं ।

अध्याय – ४, ५

शौनक जी ने सूतजी से प्रश्न किया – प्रभो ! श्रीमद्भागवत का प्रणयन कैसे हुआ ? इसके प्रणयन की प्रेरणा व्यास जी को किसने और कैसे दी, यह आप कृपा करके हमें बतायें ।

सूतजी ने वर्णन किया – शौनक जी ! श्रीमद्भागवत का प्रणयन नारदजी की प्रेरणा से हुआ । वेदों का विभाजन, सत्तरह पुराण एवं महाभारत आदि की रचना करने के बाद भी जब व्यासजी महाराज को संतोष नहीं हुआ तो देवर्षि नारद व्यासजी के पास गये और उनसे पूछा कि आप असंतुष्ट चित्त क्यों दिखायी देते हैं ? व्यासजी ने कहा – देवर्षे ! आप ही बताइये कि मेरा चित्त परिपूर्णता का अनुभव क्यों नहीं कर रहा है ? मेरे द्वारा ऐसी कौन सी त्रुटि हो गयी, ऐसा कौन सा कर्म मेरे द्वारा शेष रह गया जो मैंने अभी तक किया नहीं ।

नारदजी ने बड़ा सुन्दर उत्तर दिया – व्यासजी ! आपने सत्तरह पुराणों की रचना की, वेदों का विभाजन किया, महाभारत की भी रचना की परन्तु आपने उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान

नहीं किया । इसीलिए आपका यह समस्त साहित्य सृजन व्यर्थ है । अब आप श्रीकृष्ण लीला का गान कीजिये तब आपका मन संतुष्ट होगा, परिपूर्ण होगा ।

नारदजी के ऐसा कहने का क्या अभिप्राय है ? जितने भी पुराणों की रचना व्यासजी ने की, क्या उनमें भगवान् के नाम की चर्चा नहीं की गयी, कृष्ण चर्चा नहीं की गयी ? इसका उत्तर है कि कृष्ण चर्चा पुराणों में की तो गयी है परन्तु बहुत थोड़े अंश में की गयी है । नारदजी चाहते थे कि अब व्यासजी कोई ऐसा पुराण बनायें, जिसमें कृष्ण चर्चा के अतिरिक्त कोई दूसरी चर्चा ही न हो । इसीलिए श्रीमद्भागवत का प्रणयन हुआ और यह वैष्णवों का परम धन बन गयी क्योंकि जिन भक्तों की बुद्धि में भगवान् ही एकमात्र धन हैं, उन भगवान् की चर्चा जिस ग्रन्थ में हुई, वही ग्रन्थ वैष्णवों का परम धन हो गया ।

नारदजी ने व्यासजी से कहा कि अब आप किसी ऐसे साहित्य की रचना कीजिये, जिसमें केवल कृष्ण चर्चा ही हो । नारदजी ने अपने पूर्व जीवन का परिचय देते हुए बताया कि मैं अपने पिता ब्रह्माजी के शाप से पिछले कल्प में दासी पुत्र बना किन्तु अब मैं कृष्ण गुणगान करता रहता हूँ । पूर्व जन्म में मैं अपनी माँ का इकलौता पुत्र था । मेरे पिता की मृत्यु हो चुकी थी, माता अकेली थी और वह ब्राह्मणों के घर में सेवा किया करती थी । जिन ब्राह्मणों के घर में वह सेवा करती थी, उनके घर में एक बार विशुद्ध संत पधारे । उन संतों की सेवा करने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ । उस सेवा के प्रताप से मेरा हृदय शुद्ध हो गया और भक्ति धर्म जाग्रत हो गया । मैं छोटा था अतः सदा उनके पास ही रहने की मेरी सामर्थ्य तो नहीं थी परन्तु मैं दिन में एक बार उन संतों की सीथ (जूठन) खा लेता था ।

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः ।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस-स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते ॥

(श्रीभागवतजी - १/५/२५)

दिन में एक बार ही खाता था, स्वाद बुद्धि से नहीं बल्कि इस भाव से खाता था कि ये भगवान् के भक्त हैं, भक्तों का सीथ प्रसाद मुझे मिल रहा है । उस उच्छिष्ट को खाने से मेरे समस्त कल्मष जल गये और उन भक्तों के धर्म में मेरी भी रुचि हो गयी । उन भक्तों का क्या धर्म था ? भक्तों का तो एक ही धर्म है कि कृष्ण गुणगान किया जाये, कृष्ण कीर्तन किया जाये । बस यही भक्तों का परम धर्म है । उन भक्तों का धर्म मेरे हृदय में जाग गया । मैं भी कृष्ण कथा का श्रवण और कीर्तन करने लगा । ऐसा करने से मुझे परम वैराग्य प्राप्त हो गया । उन संतों ने जाते समय कृपा करके मुझे उस गुह्यतम ज्ञान का उपदेश दिया, जिसका उपदेश स्वयं भगवान् ने अपने श्रीमुख से किया है । उस उपदेश से ही जगत् के निर्माता भगवान् श्रीकृष्ण की माया के प्रभाव को मैं जान सका, जिसको जान लेने पर उनके परम पद की प्राप्ति हो जाती है ।

अध्याय – ६

श्रीव्यासजी ने पूछा – नारदजी ! जब आपको ज्ञानोपदेश करने वाले महात्मागण चले गये तब आपने क्या किया ?

श्रीनारदजी ने कहा – उस समय मैं पाँच वर्ष का बालक था और तभी एक दिन सर्प के डसने से मेरी माँ की मृत्यु हो गयी किन्तु मैं रोया नहीं । मैंने यही समझा कि भगवान् की मेरे ऊपर बहुत बड़ी कृपा हो गयी है ।

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः ।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥

(श्रीभागवतजी - १/६/१०)

भक्त का यही लक्षण है कि वह भगवान् के प्रत्येक विधान में उनका मंगल ही दर्शन करता है । भगवान् चाहे उसे मृत्यु दें अथवा उसे माला धारण करायें, भक्त उस मृत्यु अथवा माला दोनों को ही भगवान् का मंगल विधान मानकर प्रसन्न रहता है । संत तुकारामजी की पत्नी बड़े ही कर्कश स्वभाव की थीं । तुकारामजी कहते थे कि यह भगवान् की बड़ी कृपा हुई जो ऐसी स्त्री मिली, नहीं तो अच्छे स्वभाव की स्त्री मिलने पर मैं उसमें आसक्त होकर भगवान् को भूल जाता । संत एकनाथजी की पत्नी परम भक्ता थीं तो वे कहते थे कि बाहर किसी संत का मिलन बड़ा दुर्लभ होता है किन्तु भगवान् ने तो मुझे घर बैठे ही सत्संग प्रदान कर दिया है । नरसी जी के पुत्र की मृत्यु हुई तो वे कहने लगे कि अच्छा हुआ, अब मैं संसार के बन्धन से मुक्त होकर सुखपूर्वक भगवान् का भजन करूँगा । परिस्थितियाँ अपने अनुकूल हैं या प्रतिकूल हैं, इससे कोई मतलब नहीं है, चाहे जैसी भी परिस्थिति है, वह भगवत्प्रदत्त है, इसलिए इसमें भी भगवान् का कोई न कोई मंगल विधान होगा । ऐसा विचारकर माँ की मृत्यु होने पर भी पाँच वर्ष के नारदजी रोये नहीं बल्कि उन्होंने सोचा कि यह तो मेरे ऊपर भगवान् की बहुत बड़ी कृपा हुई है । भक्त का यही लक्षण है । सूरदासजी ने कहा है –

कृपा श्रीलालन जू की चहिये ।
इनने करी करी सो आछी,अपने सिर पर सहिये ॥

भगवान् जो भी कर रहे हैं, अच्छा कर रहे हैं, उसे प्रसन्नतापूर्वक सहन करना चाहिए । यही भगवान् की कृपा प्राप्त करने का उचित मार्ग है ।

मन के प्रतिकूल परिस्थिति आने पर अपना ही दोष देखना चाहिए । कोई विपत्ति आने पर हम लोग भगवान् को दोष देते हैं लेकिन भक्तिमार्ग कहता है –

अपनो दोष विचार सखी री, इनसो कछु न कहिये ।
सूर कछू कहबे को नाहीं, श्याम शरण ह्वै रहिये ॥

यह मार्ग शिकायत करने का, भगवान् से कुछ कहने का नहीं है कि उन्होंने अच्छा नहीं किया । हमने तो अच्छा किया किन्तु भगवान् ने मेरे साथ गलत किया । हम लोग भगवान् पर दोषारोपण भी करते हैं और फिर उनकी कृपा भी चाहते हैं । कृपा तो प्रभु की हो चुकी है, उस कृपा को पहचानना है । उन्होंने अनुकूल परिस्थिति दी, वह भी कृपा है, प्रतिकूल परिस्थिति दी, वह भी कृपा है । यह विवेक नारदजी को छोटी सी अवस्था में कैसे हो गया ? यह विवेक उन्हें संतों का उच्छिष्ट खाने से हुआ ।

साधुन की जूठन नित लहिये ।

नित्य यदि संतों की उच्छिष्ट को श्रद्धापूर्वक लिया जाये तो भक्ति धर्म में रुचि उत्पन्न हो जाती है । गीता में भगवान् ने कहा है कि जूठा भोजन तामसी है ।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामस प्रियम् ॥

(श्रीगीताजी - १७/१०)

इसके विपरीत भागवत में प्रमाण दिया गया कि उच्छिष्ट खाने से भक्ति धर्म की प्राप्ति हो जाएगी ।

इसका समाधान यह है कि सामान्य लोगों का जूठा भोजन तामसी है किन्तु भगवद्भक्तों का जूठन महाप्रसाद है । हम जिस व्यक्ति का जूठन खायेंगे, उसके भावों का संक्रमण हमारे भीतर हो जायेगा । इसलिए संतों की जूठन खाने को ही कहा गया है, संसारियों की नहीं । सांसारिक

लोगों का जूठन खाने पर तो सांसारिक दूषण हमारे हृदय में भी उत्पन्न हो जायेंगे । भगवद्भक्त, जिनके हृदय में निरन्तर भक्ति रूपी मन्दाकिनी प्रवाहित होती रहती है, ऐसे भक्तों की उच्छिष्ट को जब हम खाते हैं तो हमारे हृदय में भी भक्तों का भक्ति रूपी धर्म जाग्रत हो जायेगा । भक्तों का उच्छिष्ट सबसे बड़ी चीज है । चैतन्य चरितामृत में कहा गया है –

विषयीर अन्न खाइले मलिन हय मन,
मलिन मन हइके नाहे कृष्नेर स्मरण ।

विषयी मनुष्यों की जूठन खाने से चित्त दूषित हो जायेगा, फिर कृष्ण स्मरण नहीं हो पायेगा । भक्तों का जूठन खाने से जैसे उन भक्तों का चित्त अविच्छिन्न रूप से भगवान् में लगा रहता है, वैसे ही हमारी चित्त वृत्ति भी तैलधारावत् भगवान् में अपने-आप लग जाएगी, लगानी नहीं पड़ेगी । भक्तों की सीथ प्रसादी खाने से भागवत धर्म की प्राप्ति हुई, इसके भक्तमाल में अनेकों प्रमाण हैं ।

नारदजी कहते हैं कि भक्तों की सीथ प्रसादी खाने से मेरे हृदय में भागवत धर्म जाग्रत हो गया । उन भक्तों का धर्म था निरन्तर कीर्तन करना, अतः अब मैं भी निरन्तर कृष्ण गुणगान करने लगा । माँ की मृत्यु होने पर मैं उत्तर दिशा की ओर चला गया । वहाँ निर्जन वन में एक पीपल के वृक्ष के नीचे बैठकर मैं हृदय में भगवान् का ध्यान करने लगा । मेरे हृदय में भगवान् का स्फुरण हुआ ।

भगवान् का दर्शन कई प्रकार से होता है । एक धारणा का दर्शन होता है, एक ध्यान का दर्शन होता है, एक समाधि का दर्शन होता है, एक स्वप्न में दर्शन होता है, एक स्फुरण का दर्शन और एक साक्षात्कार होता है । नारदजी महाराज को यहाँ स्फूर्ति मात्र ही हुई । स्फूर्ति में भगवान् एकदम से आये, एक झलक दिखायी और गायब हो गये ।

इसको स्फूर्ति कहा जाता है । इसमें रूप सामने स्थिर नहीं रहता है । भगवान् आये और आकर अन्तर्हित हो गये । अब तो नारदजी और अधिक व्याकुल हो गये । दर्शन न होता तो कोई बात नहीं थी पर जिसको एक बार भगवान् का दर्शन हो गया, वह क्या भगवान् को देखे बिना रह पायेगा ? नारदजी का चित्त भगवान् को पाने के लिए और व्यग्र हो गया । उस समय आकाशवाणी हुई – 'वत्स ! खेद मत करो । इस जन्म में नहीं, अब तो अगले जन्म में तुम्हें मेरा दर्शन होगा ।'

अब प्रश्न उठता है कि हम भक्ति कर रहे हैं परन्तु इस जन्म में जब भगवान् मिलेंगे ही नहीं, नारदजी की तरह कहीं भगवान् ने हमसे भी कह दिया कि अगले जन्म में तुम्हें मेरा दर्शन होगा तो इससे तो निराशा उत्पन्न हो जाएगी । जब इस जन्म में दर्शन ही नहीं होगा फिर जीव साधन ही क्यों करेगा ? इसका उत्तर यह है कि यह घटना सतयुग की है । नारदजी सतयुग के भक्त हैं । सतयुग में भगवान् ने उनसे कहा कि इस जन्म में नहीं, अगले जन्म में तुम्हें मेरा दर्शन होगा किन्तु कलिकाल में एक भी भक्त ऐसा नहीं हुआ, जिसको भगवान् ने कहा हो कि अगले जन्म में तुझे मेरा दर्शन होगा । कलियुग के भक्त से तो भगवान् ने कहा कि तू अभी, इसी क्षण मेरा दर्शन कर ले, मैं तो सदा-सर्वदा तेरे साथ खेलूँगा । कलिकाल में भगवान् का जीवों के ऊपर विशेष अनुग्रह है, विशेष कृपा है । इसलिए हताश होने की बात नहीं है । नारदजी को तो अगले जन्म में अपने पार्षद रूप की, नारद रूप की प्राप्ति हो गयी । ठाकुरजी ने उन्हें दिव्य वीणा प्रदान की, जिस पर वे निरन्तर हरि गुणगान करते रहते हैं । इसीलिए नारदजी ने व्यासजी से कहा कि माया मेरे पास फटक तक नहीं सकती । माया मेरा स्पर्श नहीं कर सकती क्योंकि मैं निरन्तर कृष्ण नाम संकीर्तन करता रहता हूँ । नाम ग्रहणकारी

के पास माया नहीं आ सकती है । इस तरह नारदजी व्यासजी को प्रेरणा देकर चले गये ।

अध्याय – ७

श्रीशौनकजी ने पूछा – सूतजी ! देवर्षि नारदजी का अभिप्राय व्यास भगवान् ने सुन लिया । फिर उनके चले जाने पर व्यासजी ने क्या किया ?

श्रीसूतजी ने कहा – ब्रह्मनदी सरस्वती के पश्चिमी तट पर शाम्याप्रास नाम का एक आश्रम है, वहाँ ऋषियों के यज्ञ चलते ही रहते हैं, वहीं व्यासजी का अपना आश्रम है । उसी आश्रम में बैठकर उन्होंने भक्तियोग के द्वारा अपनी चित्तवृत्ति को एकाग्र करके भगवान् और उनकी माया का दर्शन किया और उसके बाद नारदजी की प्रेरणा से व्यासजी महाराज ने श्रीमद्भागवत की रचना की । सूरदासजी ने कहा है –

अन्तर्दाह जो मिट्यो व्यास को, इकचित ह्वै भागवत किये ॥
को-को न तर्‌यो हरिनाम लिये ।

जब व्यासजी ने भागवत का प्रणयन किया तब उनको अपने चित्त में परिपूर्णता का अनुभव हुआ, नहीं तो अभी तक वे असन्तुष्ट थे । वे सोच रहे थे कि ऐसा क्या कर्त्तव्य शेष रह गया, ऐसा क्या कार्य अधूरा रह गया, जिसको मैंने अभी तक पूर्ण नहीं किया । जब भागवतजी की रचना कर ली, कृष्ण-चर्चा कर ली, तब उन्होंने अब तक जितने भी पुराणों की रचना की थी, वे सब सफल हो गये । 'साहित्य की सुन्दरता' उसके काव्य प्रदर्शन से, भाषा शैली से अथवा श्रेष्ठ अलंकारों से नहीं होती है । 'साहित्य की सफलता' केवल श्रीकृष्णयश के गान से होती है;

चाहे वह भाषा की दृष्टि से, दार्शनिक दृष्टि से उतना उत्कृष्ट न हो किन्तु यदि उसमें कृष्ण की चर्चा है, यदि उसमें उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्ण का नाम-गुणगान है तो वही साहित्य सफल है, वही सार्थक है । सत्तरह पुराणों की रचना से 'व्यास भगवान्' को संतोष नहीं हुआ था किन्तु 'भागवत' की रचना के बाद उनको पूर्ण संतोष की अनुभूति हो गई ।

श्रीसूतजी ने कहा – शौनकजी ! अब मैं राजर्षि परीक्षित् के जन्म, कर्म और मोक्ष की तथा पाण्डवों के स्वर्गारोहण की कथा कहता हूँ क्योंकि इन्हीं से भगवान् श्रीकृष्ण की अनेकों कथाओं का उदय होता है । जिस समय महाभारत युद्ध में कौरव और पाण्डव- पक्ष के बहुत-से वीर योद्धा मारे गये और भीमसेन की गदा के प्रहार से दुर्योधन की जाँघ टूट गई, तब अश्वत्थामा ने अपने स्वामी दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए द्रौपदी के सोते हुए पाँच पुत्रों के सिर काटकर उसे भेंट किये । द्रौपदी के विलाप करने करने पर अर्जुन ने उसे सान्त्वना दी और अश्वत्थामा को दण्डित करने के लिए चल पड़े । अर्जुन ने उसको पकड लिया और बाँधकर द्रौपदी के पास ले चले । वैसे तो भागवत में कई जगह स्त्रियों के स्वभाव की निन्दा की गयी है, किन्तु यहाँ एक स्थान पर उनके स्वभाव की प्रशंसा की गयी है । जो लोग इस बात को नहीं समझते, वे सोचते हैं कि भागवत में तो केवल स्त्रियों की निन्दा ही की गई है; परन्तु जहाँ निन्दा करने योग्य कृत्य होता है, वहाँ निन्दा की जाती है और जहाँ प्रशंसनीय गुण होते हैं, उनकी प्रशंसा भी की जाती है । ऐसा नहीं कि ऋषियों का किसी के प्रति पक्षपात है और किसी के प्रति द्वेष होता है, ऐसा तो नासमझ लोग ही सोचते हैं । ऐसे नासमझ लोग ही गोस्वामी तुलसीदासजी पर भी आक्षेप करते हैं कि उन्होंने ऐसी चौपाई लिखी –

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी । सकल ताड़ना के अधिकारी ॥

वे सोचते हैं कि गोस्वामीजी स्त्रियों से चिढ़ते थे, इसीलिए उन्होंने ऐसी चौपाई लिखी । गोस्वामीजी स्त्रियों से चिढ़ते नहीं थे बल्कि उन्होंने तो उत्तरकाण्ड में भक्ति को भी स्त्री बताया है । गोस्वामीजी ने इस तरह बताया है कि स्त्री तो सबसे अधिक पूज्य है । वे कहते हैं कि स्त्री के भी अलग-अलग स्वरूप होते हैं । **'मोह न नारि नारि के रूपा ।'** जो मायारूपिणी नारी होती है, वह अलग है और जो भक्तिरूपा नारी होती है, वह अलग है, वह पूज्य होती है । उसी प्रकार व्यासजी यहाँ कहते हैं कि जिस समय 'अर्जुन' अश्वत्थामा को पशु की तरह बाँधकर उसे खींचते हुए द्रौपदी के पास लाये; 'द्रौपदी' जिनके पाँच पुत्रों की इसी अश्वत्थामा ने सोते समय हत्या कर दी, उसके प्रति भी उनके मन में द्वेष भाव नहीं आया अपितु अर्जुन से उसका सम्मान करने को कहा । विचार करो कि कितना विशाल हृदय उनका था ।

तथाऽऽहृतं पशुवत्पाशबद्धमवाङ्मुखं कर्मजुगुप्सितेन ।
निरीक्ष्य कृष्णापकृतं गुरोः सुतं वामस्वभावा कृपया ननाम च ॥

(श्रीभागवतजी - १/७/४२)

जब अश्वत्थामा को 'अर्जुन' द्रौपदी के सामने खींच कर लाये तो शर्म के कारण उसकी गर्दन नीचे झुक रही थी क्योंकि उसने अत्यधिक निन्दित कर्म किया था । 'द्रौपदी महारानी' जिनका एक नाम कृष्णा भी है, उन्होंने अपकारी उस गुरुपुत्र को देखा, जिनके पाँच पुत्रों का इस दुष्ट द्वारा वध किया गया था ।

इस श्लोक में द्रौपदी के लिए लिखा है – 'वामस्वभावा' । 'वाम' का अर्थ सुन्दर भी होता है और 'वामा' का अर्थ स्त्री भी होता है । यहाँ दोनों ही अर्थ हैं । अगर 'वामस्वभावा' का अर्थ सुन्दर स्वभाव वाली माना जाए, तब भी 'द्रौपदी' स्त्री ही तो थी किन्तु सूतजी ने द्रौपदी की

बहुत अधिक प्रशंसा की है, अर्जुन से भी बढ़कर द्रौपदी की प्रशंसा की है । इसमें भी नारी की ही प्रशंसा हुई और 'वामायाः स्वभावः यस्याः' के अनुसार भी वामात्व अर्थात् स्त्रीत्व की प्रशंसा हुई अथवा 'वामः स्वभावः यस्याः' – 'यस्याः' में भी स्त्रीलिंग आता है तो भी स्त्री की प्रशंसा हुई । दोनों अर्थ से 'वाम' माने सुन्दर अर्थात् 'वामा' माने स्त्री । सुन्दर स्वभाव किसका, उस नारी का अथवा स्त्री तो स्वभाव से ही दयालु होती है, इसलिए दोनों ही अर्थ में यहाँ स्त्री की प्रशंसा की गयी है । अपने सुन्दर स्वभाव के कारण अश्वत्थामा को पशु की भाँति बँधा हुआ देखकर द्रौपदी भूल ही गई कि इसने आज रात को ही मेरे पाँच पुत्रों की हत्या की है । वह तो कृपा करके अश्वत्थामा के निकट गयी और उसे प्रणाम किया । धन्य है उस महामहिमाशालिनी नारी द्रौपदी को क्योंकि ऐसे अधम बन्धु ब्राह्मण को प्रणाम कर रही है, जिसकी निन्दा स्वयं भगवान् कर रहे हैं । कैसा विशाल हृदय है द्रौपदी का, वह अश्वत्थामा का बन्धन नहीं सह सकी और अर्जुन से बोली – **"मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः ।"** 'अरे ! छोड़ो-छोड़ो, यह तो ब्राह्मण है, हर हालत में हमारा गुरु है और फिर तुमने तो इसके पिता, अपने गुरुदेव से विद्याध्ययन किया है ।' अब 'द्रौपदीजी' अर्जुन को उपदेश दे रही हैं, क्या बात है ? बढ़ गयी नारी आगे, रह गए पाण्डव पुरुष पीछे । द्रौपदी ने अर्जुन से कहा – "देखो, तुमने जिन गुरुदेव से विद्या पाई, ये वही भगवान् द्रोण हैं जो अपने पुत्र के रूप में खड़े हुए हैं ।

'स एष भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्तते ।' (श्रीभागवतजी - १/७/४५)

वेदों में भी कहा गया है – **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** – पिता ही पुत्र के रूप में आता है । तुम किसका अपमान कर रहे हो, यह तुम्हारे सामने साक्षात् भगवान् द्रोण खड़े हैं । तुम यह मत समझो कि मेरे पुत्रों का हत्यारा सामने खड़ा है, होश में आ जाओ ।"

एक द्रौपदी ने ही ऐसा कहकर एकदम सभी को सावधान कर दिया । इसीलिए उनके बारे में श्लोक (भागवत - १/७/४२) में कहा गया है – 'वामस्वभावा' । द्रौपदी ने आगे अर्जुन से कहा – 'देखो, गुरुदेव की जो अर्धांगिनी हैं कृपीजी, कहीं वे हमारी तरह दुःखी न हो जाएँ, जैसे हम दुःखी हैं पुत्र शोक में (पुत्र के मारे जाने पर शोक तो होता ही है) कहीं वे भी पुत्र-शोक में विलाप न करें । अरे ! इस अश्वत्थामा को मारने से क्या हमारे मृतक पुत्र वापस लौटेंगे ? तुम इसको मार दोगे तो इसकी माँ, जो तुम्हारी गुरुमाता हैं, वह रोयेंगी, इससे तुमको और अधिक अपराध लगेगा और जिन लोगों ने ब्रह्म- कुल को कोप कराया है, वे राजा ही क्यों न हों, अवश्य ही नष्ट हो जायेंगे ।'

सूतजी कहते हैं – हे ब्राह्मणो ! उस समय युधिष्ठिरजी ने खड़े होकर कहा कि द्रौपदी ठीक कह रही हैं । युधिष्ठिर के अतिरिक्त ऐसा कहने की और किसी की हिम्मत नहीं हुई क्योंकि भीमसेन क्रोधित हो रहे थे । अन्य कोई बोलता तो भीमसेन दहाड़कर उसका सिर ही तोड़ देते और कहते – 'बड़ा बना है धर्म का आचार्य, हम इसे छोड़ दें, जिसने हमारे पुत्रों का वध किया है ।' भीमसेन अपने पुत्रों का वध नहीं सह पाए । सब लोग जान रहे थे कि भले ही द्रौपदी के कहने से अर्जुन अश्वत्थामा को छोड़ दें किन्तु भीमसेन अवश्य ही इसका सिर तोड़ेंगे । उनके नेत्र क्रोध के कारण अत्यंत भयंकर हो रहे थे, अश्वत्थामा को देखते ही उसको मारने के लिए उनकी भुजा फड़क रही थी, फिर भी ऐसी स्थिति में युधिष्ठिर खड़े हुए । भागवत में उनके लिए शब्द लिखा है – 'धर्मसुत' अर्थात् वह धर्मराज के पुत्र हैं । उन्होंने कहा कि रानीजी ठीक कह रही हैं । जब युधिष्ठिरजी ने द्रौपदी की बात का समर्थन किया तो नकुल भी उनके पक्ष में हो गए, सहदेव, युयुधान, सात्यकि और अर्जुन भी युधिष्ठिरजी का समर्थन करने लगे; और तो और, 'भगवान्'

भी कहने लगे – 'ठीक है, युधिष्ठिरजी ठीक कह रहे हैं ।' वहाँ उपस्थित सभी नर-नारियों ने द्रौपदी की बात का समर्थन किया । जब सम्पूर्ण बहुमत द्रौपदी और युधिष्ठिर की ओर चला गया, तब भीमसेन बहुत अधिक क्रोधित हुए और बोले – 'इन सब लोगों का यह अनुचित विचार है । मैं इस मत को नहीं मानता, मैं अकेला ही विपक्ष का नेता हूँ, मैं तो इस अश्वत्थामा को अभी समाप्त कर दूँगा । कौन कहता है कि इसको छोड़ दो ।' इस प्रकार भीम ने सबका खण्डन कर दिया । उन्होंने न तो युधिष्ठिर का सम्मान रखा, न श्रीकृष्ण का और न ही द्रौपदी का क्योंकि वे तो भीमसेन हैं, वह बोले – 'अश्वत्थामा ने किसी का तो भला नहीं किया, इसका स्वामी दुर्योधन भी तो पाँच बालकों के कटे सिर देखकर दुःखी हुआ ।' अब 'भगवान्' ने विचार किया कि यह समस्या तो गहरी हो गयी है, कहीं ऐसा न हो कि भीमसेन और अधिक क्रोधित हो जाएँ । उन दोनों (द्रौपदी और भीमसेन) की बात सुनकर 'भगवान्' ने अर्जुन की ओर देखा । अर्जुन किंकर्त्तव्यविमूढ़ हैं कि क्या करें, भीमसेन तो बड़े भैया हैं, क्या उनसे लड़ूँ ? श्यामसुन्दर बोले – 'देखो, अधम ब्राह्मण को भी मारना नहीं चाहिए, एक नियम तो यह है और ठीक है तथा दूसरा नियम यह है कि जो आततायी है, उसका वध कर देना चाहिए; शास्त्र रूप से ये दोनों बातें मेरे द्वारा कही गयी हैं । द्रौपदीजी ! अब मैंने निर्णय करना तुम पर छोड़ दिया । अब न अर्जुन बोलें, न युधिष्ठिर बोलें, न मैं बोलूँ और न भीम बोलें । हे द्रौपदी ! अब तुम सबका प्रिय कार्य करो, मेरा भी प्रिय करो और भीमसेन का भी प्रिय करो ।' यह द्रौपदी की परीक्षा हो रही है । अभी तो उनके हृदय की परीक्षा हुई थी और अब उनकी बुद्धि की परीक्षा हो रही है कि कितनी बुद्धि वाली हैं ? अर्जुन ने 'भगवान्' के भाव को समझ लिया कि प्रिय कैसे हो सकता है, और उसे विचारकर उन्होंने अश्वत्थामा के मस्तक से मणि निकाल ली, वह वध

के ही समान था; कैसे ? जो अधम ब्राह्मण होता है, उसको स्थान से निकाल दो, उसका सिर मुड़वा दो, उसका धन ले लो, यही उसका वध है । उच्च स्थिति के पुरुष का वध नहीं किया जाता है, उसका सिर नहीं काटा जाता है । इस प्रकार से अर्जुन ने अश्वत्थामा की मणि लेकर उसको छोड़ दिया और वह निस्तेज हो गया; तब फिर पाण्डवों ने अपने पूर्वजों की अंतिम क्रिया की ।

अध्याय – ८

सूतजी कहते हैं – इसके बाद धृतराष्ट्र व गांधारी के सहित सभी पाण्डव गंगा-तट पर जलदान के लिए गये । आगे सूतजी महाभारत के युद्ध में मारे गए दुष्ट राजाओं (कौरवों) के बारे में एक महत्वपूर्ण बात कहते हैं – **'कचस्पर्शक्षतायुषः'** - युद्ध में तो कौरव बाद में मारे गए, उसके पहले ही जब दुष्ट दुःशासन ने दुर्योधन की आज्ञा से भरी सभा में द्रौपदी को खींच कर लाने के लिए उसके केशों का स्पर्श किया था, उसी समय कौरवों का और उनके पक्षपाती लोगों का नाश हो गया भक्त नारी के अपमान से । महाभारत के युद्ध में मारे गए ऐसे कई योद्धाओं के उद्धार के लिए पाण्डवों ने गंगा तट पर जलदान किया । तदनन्तर सबसे आज्ञा लेकर जब भगवान् श्रीकृष्ण द्वारिका जाने को तैयार हुए तो उन्होंने देखा कि दूर से 'उत्तरा' भागती हुई उन्हीं की तरफ आ रही है और उनके पास आकर बोली –

पाहि पाहि महायोगिन् देवदेव जगत्पते ।
नान्यं त्वदभयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ॥

(श्रीभागवतजी - १/८/९)

'हे महायोगी ! मेरी रक्षा करिए, यह ब्रह्मास्त्र की अग्नि मुझे भले ही जला दे किन्तु मेरे गर्भ में स्थित बालक की रक्षा करिए ।' 'भगवान्'

ने सामने की घटना देखकर विचार किया कि देखो, पाण्डवों ने दया करके बिना मारे अश्वत्थामा को छोड़ दिया और फिर भी वह जाकर पाण्डवों से बदला ले रहा है, उनके वंश का नाश करने के लिए इसने उत्तरा के गर्भ स्थित बालक पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर दिया है । अश्वत्थामा ने पाण्डवों का नाश करने के लिए उनकी ओर भी पाँच बाणों का सन्धान किया था ताकि सभी पांडव नष्ट हो जाएँ, सम्पूर्ण पृथ्वी पाण्डवों से रहित हो जाए, पाण्डवों के बीज-वंश से रहित हो जाए । 'भगवान्' ने अपने सुदर्शन चक्र का आह्वान किया और इस सुदर्शन चक्र के 'वैष्णव-तेज' से ब्रह्मास्त्र का 'ब्रह्म-तेज' अपने आप ही शान्त हो जाएगा । कोई भी तेज हो, 'वैष्णव-तेज' तो सबसे महान है । अपनी वैष्णवी माया से भगवान् ने उत्तरा के गर्भ के चारों ओर ऐसा आवरण रच दिया कि ब्रह्मास्त्र वहाँ पहुँच ही नहीं सकता था । यद्यपि ब्रह्मास्त्र अमोघ है, उसके वेग को कोई शान्त नहीं कर सकता लेकिन वैष्णव तेज के आगे वह शान्त हो गया । इस प्रकार सभी की प्राण रक्षा हो गयी । अब कन्हैयाजी द्वारिका चलने को तैयार हुए, उस समय कुन्तीजी आईं । कुन्तीजी ने भगवान् की बड़ी लम्बी स्तुति की, उन्होंने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात स्तुति में कही कि हे श्यामसुन्दर ! आपको नमस्कार है, हे प्रभो ! आप अवतार क्यों लेते हैं ? भगवान् के अवतार लेने का बहुत ही विलक्षण कारण कुन्तीजी ने इस स्तुति में बताया है कि कृष्ण का अवतार क्यों होता है ? आप कृष्ण रूप से पृथ्वी पर क्यों आये हैं ? वह कहती हैं –

तथा परमहंसानां मुनीनां अमलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥

(श्रीभागवतजी - १/८/२०)

असुरों को मारना आपके अवतार का विशेष कारण नहीं है,आपके संकल्प से ही असुर मर सकते हैं । धर्म की स्थापना भी आचार्य रूप से आप करते आये हैं । बड़े-बड़े आचार्य भगवान् ही तो हैं । किन्तु एक कार्य ऐसा है जो आपके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं कर सकता है, वह कार्य यह है कि बड़े-बड़े परमहंस, जिनका निर्मल चित्त है, जो माया मुक्त हैं, उन सबको भक्ति प्रदान करने के लिए आप कृष्ण रूप से पृथ्वी पर आये हैं । ऐसा कैसे ? पहले भी तो भगवान् ने अनेकों अवतार धारण किये थे किन्तु परमहंसों की संहिता 'श्रीमद्भागवत' की रचना श्रीकृष्ण-अवतरण के बाद ही हुई और जितनी भी संहितायें हैं, वे परमहंस-संहिता नहीं हैं । ऐसा क्यों ? श्यामसुन्दर ने ब्रज में जो प्रेमरस प्रवाहित करने वाली महारास आदि लीलायें प्रकट कीं, यह रस तो किसी अवतार में उत्पन्न नहीं हुआ अथवा बिना कृष्ण के प्रकट हुए यह रस प्रवाहित नहीं हो सकता था । परमहंस लोगों के लिए आगे का कोई कोर्स नहीं होता, उनकी अध्यात्म की शिक्षा समाप्त हो जाती है, जैसे – भौतिक शिक्षा में कोई 'एम.ए.' तक पढ़ गया, अब उसके लिए आगे कोई पढ़ाई नहीं है । केवल पी.एच डी. अथवा डॉक्टरेट की पढ़ाई ही की जा सकती है । वैसे ही परमहंसों की अध्यात्म-शिक्षा का सम्पूर्ण कोर्स समाप्त हो जाता है, परन्तु उनको भी भक्तियोग प्रदान करने के लिए श्रीकृष्ण का अवतरण होता है । एक अन्य महत्वपूर्ण बात कुन्तीजी ने यह माँगी कि हे श्यामसुन्दर ! मुझे तो आप सदा विपत्ति का वरदान दीजिये ।

कुन्तीजी की इस स्थिति से हम लोगों को अपनी तुलना करना चाहिए । कुन्तीजी किस ऊँचाई पर स्थित हैं और हम लोगों की क्या दशा है ? हम लोग भगवान् से माँगते हैं – महाराज ! हमें सुख दो, धन दो, यश दो । भले ही हम भाषण में कहते हैं कि हम निष्काम हैं किन्तु अपना यश सुनकर प्रसन्न हो जाते हैं,धन प्राप्त कर सुखी हो जाते हैं

क्योंकि हमारे भीतर कामना का चोर छिपा हुआ है और बात करते हैं निष्कामता की । कुन्तीजी को सभी सुख प्राप्त थे, उनके पुत्र पाण्डव समस्त भूमण्डल को जीत चुके थे किन्तु फिर भी वे श्रीकृष्ण से कहती हैं – 'हे प्रभो ! अब हमारे जीवन में पहले जैसी विपत्तियाँ नहीं हैं, अतः हमें विपत्ति दीजिये ।

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्याद्पुनर्भवदर्शनम् ॥

(श्रीभागवतजी - १/८/२५)

पहले जब-जब हम पर विपत्तियाँ आती थीं, आप हमें धीरज बँधाने आया करते थे ।' इसी भाव को सूरदासजी ने गाया है –

अब वे विपदा हू न रही ।

कुन्तीजी कहती हैं –

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥

(श्रीभागवतजी - १/८/२६)

जन्म-अच्छे कुल में जन्म होना, जैसे – 'आचार्य, गोस्वामी या ब्राह्मण कुल, ऐश्वर्य, वेदाध्ययन, श्री (बहुत तेजस्वी बन जाना)' ये सब चीजें मनुष्य के मद को बढ़ा देती हैं और ऐसा मनुष्य जिसके अन्दर मद है, वह तो भगवान का नाम भी नहीं ले सकता, भजन तो क्या करेगा ? एक अन्य अति उत्तम बात भी कुन्तीजी ने कही –

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम् ।

वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति ॥

(श्रीभागवतजी - १/८/३१)

हे प्यारे श्यामसुन्दर ! मुझे तो तुम्हारी वह छवि याद आती है जब गोकुल में अपनी बाललीला में तुमने गोरस के माट-मटके फोड़ दिए थे तब गोपी अर्थात् यशोदा मैया ने तुमको बाँधने के लिए हाथ में रस्सी ली थी । मैया के हाथ में पीटने के लिए लकुट और बाँधने के लिए रस्सी देखकर तुम्हारे नेत्रों से भय के कारण आँसू बहने लगे और बड़े-बड़े नेत्रों से तुमने इतने आँसू बहाए कि उनमें लगा हुआ गाढ़ा काजल तुम्हारे चेहरे पर फ़ैल गया । काजल से पुता हुआ मुख और उस पर मोती सी आँसुओं की बूंदें तथा उन आँसुओं की बूंदों के बीच में तुम्हारे भय से घबराए हुए नेत्र ऐसे फड़फड़ा रहे थे जैसे पक्षी उड़ रहे हों । भय के कारण तुमने अपना मुख नीचे कर लिया कि कहीं मैया मेरे गाल पर चाँटा न मार दे । हे प्यारे ! जिस तुमको देखकर काल भी भयभीत होता है, तुम्हारी वह दशा, वह मीठी लीला याद आती है अर्थात् कुन्तीजी भी ब्रज की याद कर रही हैं । कुन्तीजी हों चाहे भीष्म जी हों, ऐसा कौन है जो ब्रज की मधुरता को भूल सके, भूल ही नहीं सकता । श्यामसुन्दर की ऐसी मधुर लीलायें तो परमहंसों को भी मोहित करने वाली हैं, उन्हें कोई कैसे भूल सकता है चाहे कुन्तीजी हों, चाहे भीष्म जी हों । आगे कुन्तीजी भगवान् के अवतार के कई कारण बताते हुए कहती हैं कि आपने अपने प्रिय भक्त राजा यदु का प्रिय करने के लिए अवतार ग्रहण किया अथवा वसुदेव और देवकी ने अपने पूर्व जन्म में (सुतपा और पृश्नि के रूप में) आपको पुत्र रूप से प्राप्त करने की याचना की थी, ऐसी कथायें प्रसिद्ध हैं अतः उनकी मनोकामना पूर्ण करने के लिए आपने अवतार धारण किया अथवा इस संसार के क्षेम (कल्याण) के लिए अथवा असुरों के वध के लिए अथवा दैत्यों के भार से पीड़ित पृथ्वी का उद्धार करने के

लिए अथवा भवसागर पार करने वाले भक्तों के कल्याण हेतु अवतार ग्रहण कर अपनी लीलाओं का विस्तार किया और सातवाँ अंतिम कारण बताते हुए कुन्तीजी ने अपनी वाणी को विराम दे दिया तथा इसके लेखक व्यासजी ने भी अपनी कलम तोड़ दी कि उपरोक्त वर्णित कारण तो क्रम से महत्वपूर्ण होते गए हैं परन्तु अवतार का अंतिम कारण यही है कि आपके रसिक भक्तों को आनन्द मिले, वस्तुतः आपके अवतार-ग्रहण करने का मुख्य कारण यही है और कोई हेतु नहीं है । हे नाथ ! अब आप हमें क्यों छोड़ रहे हैं, हमें मत छोड़िये, इसी धराधाम पर विराजिये ।

जब इस प्रकार स्तुति करते हुए कुन्ती ने उनसे रुकने की प्रार्थना की तो 'भगवान्' तो प्रेम के आधीन रहते हैं, उन्होंने कहा – 'ठीक है, अभी हम और रुकेंगे ।' युधिष्ठिरजी ने भी श्रीकृष्ण से आग्रह किया – 'प्रभो ! अभी आप हस्तिनापुर में ही विराजिये । मेरा अज्ञान तो देखिये कि मैंने कितनी अधिक अक्षौहिणी सेना को नष्ट करवा दिया । (रथ, हाथी, घुड़सवारों और पैदल चलने वाले सैनिकों से युक्त होकर अक्षौहिणी सेना का निर्माण होता है । इसमें जितने रथ होते हैं, उतने ही हाथी होते हैं । २१,८७० रथ होते हैं तथा इतनी ही संख्या में हाथी होते हैं, पैदल १,०९,३५० तथा ६५,६०० घुड़सवार होते हैं ।) एक अश्वमेध यज्ञ करने से मेरे द्वारा किया गया इतना प्रबल पाप कैसे नष्ट हो सकता है ?'

अध्याय – ९

सूतजी कहते हैं – भगवान् ने विचार किया कि अभी मुझे हस्तिनापुर में रुकना चाहिए क्योंकि युधिष्ठिर को मोह हो गया है । श्यामसुन्दर हस्तिनापुर में रुक गए और जहाँ शर-शय्या पर भीष्म पितामह पड़े थे, अपने भक्त का मान बढ़ाने के लिए 'प्रभु' उनके पास

गये । श्यामसुन्दर के पीछे-पीछे अनेकों महान ऋषि जैसे नारदजी, व्यासजी, परशुरामजी, वशिष्ठजी, विश्वामित्रजी, भारद्वाजजी, गौतम ऋषि, शुकदेव मुनि, बृहस्पति आदि भी गये । उस समय भीष्म पितामह अपने हृदय में श्यामसुन्दर की छवि का ध्यान कर रहे थे । उन्होंने आँखे खोलीं तो देखा कि सामने पाण्डव खड़े थे, उन्हें देखकर भीष्मजी के नेत्रों में आँसू आ गये । वह बोले कि ये पाण्डव तो बड़े भक्त हैं, क्या ये कष्ट पाने योग्य हैं । बेचारी कुन्ती बाल-विधवा है । काल की लीला कौन जाने, ये बेचारे कष्ट पाने योग्य तो नहीं है । देखो ! ये जो सामने खड़े हैं, ये साक्षात् 'भगवान् आदिनारायण' हैं, इनके प्रभाव को कौन जान सकता है ? भीष्मजी ने पाण्डवों से कहा कि तुम लोग इन्हें अपने मामा का पुत्र समझते हो, प्रिय समझते हो । अर्जुन ! तुम इन्हें अपना मित्र समझते हो, ठीक है भाई, क्यों न समझोगे, इन्होंने काम ही ऐसे किये हैं । इनकी लीला ही ऐसी है कि ये स्वयं नौकर बन जाते हैं, स्वयं ही अपनी महिमा घटाते हैं; तो फिर तुम इनको अपना मित्र क्यों नहीं समझोगे । ये जगत के पिता 'भगवान्' होकर भी अपनी महिमा स्वयं घटाते हैं । ये 'कृष्ण' प्रेम के आधीन हो जाते हैं, दास बन जाते हैं, अपनी महिमा को छोड़ देते हैं क्योंकि इनका ऐसा ही स्वभाव है; प्रेम के कारण ये अर्जुन के सारथि बने । तभी तो श्रीसूरदासजी ने गाया –

सबसे ऊँची प्रेम सगाई ।
प्रेम बिबस पारथ रथ हाँक्यो,
भूल गए ठकुराई ।
ऐसी प्रीति बढ़ी या ब्रज में,
गोपिन नाच नचाई ॥

इसीलिए भीष्म पितामह पाण्डवों से कहते हैं कि यह तो प्रेम की महत्ता है कि ये भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे दूत बने, तुम्हारे सारथि

बने । किन्तु ऐसा होने पर भी, ऊँचे-नीचे कार्य करने पर भी इनकी महिमा नहीं घटती है । आज श्यामसुन्दर यहाँ मेरे पास आये हैं तो क्यों आये हैं, ये तुम लोगों को मेरे द्वारा उपदेश दिलाने नहीं आये हैं; ये वस्तुतः मेरे ऊपर कृपा करके आये हैं । देखो, तुम लोग इनकी कृपा देख लो कि मैं प्राण त्याग कर रहा हूँ और प्राण प्यारा मेरे सामने आ गया है, यह कृपा है । ये वही 'कृष्ण' हैं जिनके नाम-कीर्तन की अपार महिमा है, इनके नाम का कीर्तन करते हुए जो योगी शरीर त्याग करते हैं, वे निश्चय ही मुक्त हो जाते हैं ।

श्रीनाम-कीर्तन का मरणावस्था को प्राप्त मनुष्य पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस सम्बन्ध में श्रीबाबामहाराज अपने जीवन की घटना बताते हैं कि मानमंदिर के नीचे बसे ग्राम मानपुर की यह घटना है । इस गाँव में श्रीरघुवीरजी नामक एक भक्त थे, वह गह्वरवन में भजन किया करते थे; जब उनका अंत समय आया तो उन्होंने एक मेरे घनिष्ट सहयोगी ब्रजवासी के द्वारा खबर भिजवाई कि श्रीबाबा मुझे आकर देख जायें । जब मैं उनके घर के निकट पहुँचा तो मार्ग से ही उनकी उल्टी साँस चलने की आवाज सुनाई पड़ रही थी, उन्हें होश भी नहीं था, न उठ सकते थे, न बोल सकते थे । मानपुर के ब्रजवासियों के साथ हमने उनकी सद्गति के लिए वहाँ नाम-संकीर्तन किया । नाम-कीर्तन के बाद एक पद गाया –

मदन गोपाल शरण तेरी आयो।
यम डरप्यो जब दास कहायो॥

मैंने सोचा कि इस समय इनके ऊपर यमराज सवार हैं तो घंटों तक तीव्र ध्वनि के साथ इस पद को हम लोगों ने गाया । आश्चर्यजनक बात यह हुई कि इस पद को सुनकर वह उठकर बैठ गए, जिनको होश नहीं था, उनको होश आ गया, उन्होंने हाथ के इशारे से मुझे अपने पास

बुलाया और फिर मेरा हाथ अपने सिर पर रखवाया । इसके बाद मैं मानमंदिर चला आया और थोड़ी देर बाद उनका निधन हो गया । कथनाशय है कि श्रीभगवन्नाम-कीर्तन की महिमा केवल शास्त्रों में ही नहीं लिखी है, यह तो अनुभव की बात है कि श्रीनाम-संकीर्तन की महिमा सत्य है, चमत्कारपूर्ण है किन्तु हमलोग इस पर आस्था नहीं रखते हैं । भीष्मपितामह कहते हैं –

भक्त्यावेश्य मनो यस्मिन् वाचा यन्नाम कीर्तयन् ।
त्यजन् कलेवरं योगी मुच्यते कामकर्मभिः ॥

(श्रीभागवतजी - १/९/२३)

शरीर छोड़ते समय नाम-कीर्तन करना चाहिए । कोई भी आदमी जिसके प्राण छूट रहे हों, उस समय श्रीभगवान् के नाम का कीर्तन करना ही सबसे बड़ी दवाई है ।

जय श्रीराधे जय नन्दनंदन ।
जय जय श्यामा नयनन अंजन ॥

भीष्मजी कहते हैं कि नामकीर्तन करते हुए जो देह-त्याग करता है, वह निश्चित ही मुक्त हो जाता है । जब तक मैं देह का त्याग नहीं करूँ, ये श्यामसुन्दर मेरी प्रतीक्षा करें, यहीं विराजें –

स देवदेवो भगवान् प्रतीक्षताम् ।

देखो, भक्त का भगवान् पर कितना अधिकार होता है । सूतजी कहते हैं – भीष्म पितामह ने अंतिम समय पाण्डवों को बहुत से उपदेश दिए । उस समय उत्तरायणकाल आया, जब उन्हें शरीर का त्याग करना था । जब उनके जाने का समय आया तो पितामह ने श्यामसुन्दर की स्तुति करते हुए कहा – 'मैं वितृष्ण होकर श्यामसुन्दर

में अपना मन लगा रहा हूँ । श्यामसुन्दर कैसे हैं, वे नीलवर्ण के हैं, अर्जुन के सखा हैं । मैंने युद्धभूमि में उनके ऊपर बाण चलाये, उस समय लीलादृष्टि से उनके कवच कट गए और मेरे पैने बाण उनके शरीर में तीक्ष्णता से चुभ गए, उनकी वह मेरे ऊपर कृपा वाली छबि मुझे याद आती है, घोड़ों की टाप से उठी धूल से लिपटी हुई उनकी अंगकान्ति मुझे आज तक याद है । अर्जुन ने युद्ध में किसी का वध नहीं किया, ये तो कन्हैयाजी रथ पर आगे सारथि बनकर बैठे रहते थे और अपनी दृष्टि से ही योद्धाओं की आयु हर लेते थे तथा उन कृष्ण की दृष्टि से पहले से ही मरे हुए योद्धाओं पर अर्जुन बाण चलाया करते थे । जिन श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का ज्ञान प्रदान किया, उन्होंने मेरी प्रतिज्ञा सत्य करने के लिए अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी और उस समय की उनकी वह छटा मुझे याद आती है, जब वह मुझे मारने के लिए रथ से कूद पड़े, उस समय उनका दुपट्टा पीछे छूट रहा था ।

वा पट पीत की फहरान ।

उनका दुपट्टा फहराता हुआ शरीर से अलग खिसका जा रहा था और वह मेरा वध करने के लिए मेरी ओर चले आ रहे थे । अर्जुन ने जिन-जिनका वध किया, चूँकि उन लोगों ने शरीर छोड़ते समय उनके सारथि श्रीकृष्ण का दर्शन किया था, अतः उन सभी को भगवत्प्राप्ति हो गयी ।' अंत में भीष्मजी ने श्रीकृष्ण की महारास- लीला का स्मरण किया । ब्रजलीला से कौन बच सकता है ? कुन्तीजी ने भी ब्रज की याद की, भीष्म पितामह भी ब्रज की याद करते हुए कहते हैं कि जब रास के समय अचानक श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गए तो गोपबालायें उनका स्मरण करते-करते उन्हीं के स्वरूप को प्राप्त हो गयीं । युधिष्ठिर के राजसूय

यज्ञ में भी जिन्होंने प्रथम पूजा प्राप्त की, समस्त भेदों को छोड़कर मैं उन्हीं श्यामसुन्दर का ध्यान कर रहा हूँ, जो सबके हृदय में स्थित हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्णरूप का चिन्तन करते हुए भीष्मजी ने देह-त्याग कर दिया। उस समय आकाश में नगाड़े बजने लगे, फूलों की वर्षा होने लगी। सभी मुनिगण श्यामसुन्दर को हृदय में धारणकर अपने आश्रमों को लौट गये। युधिष्ठिर भी भगवान् श्रीकृष्ण के साथ हस्तिनापुर चले आये और उनकी अनुमति से धर्मपूर्वक पृथ्वी का शासन करने लगे।

अध्याय – १०

जब पाण्डव सम्पूर्ण पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर शासन करने लगे तो युधिष्ठिरजी के बारे में लिखा है कि सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य प्राप्त कर लेने पर भी उन्होंने भोग नहीं भोगे; शासन अवश्य उन्होंने किया, उनके शासनकाल में चारों ओर सुख-शान्ति थी, अच्छी वर्षा हुआ करती थी। श्यामसुन्दर कुछ दिनों तक पाण्डवों के पास ही रहे, अंत में वह द्वारिका जाने को तैयार हुए। विदाई का समय आया तो जितनी भी स्त्रियाँ थीं, उनका हृदय भर आया परन्तु उन्होंने अपने आँसुओं को रोक लिया ताकि कोई अमंगल न हो जाए। इसी को प्रेम कहते हैं कि चलते समय मुख से आँसू क्यों बहायें। अपने श्यामसुन्दर को हँसते हुए मुख से विदा करना चाहिए। (हम जैसे लोग क्या करते हैं कि अपने आँसू पहले दिखाते हैं, प्रेम का प्रदर्शन करते हैं।) विदाई के समय स्वयं अर्जुन ने 'श्रीकृष्ण का सफेद छत्र' जिसका डंडा रत्नों का बना हुआ था, अपने हाथ में धारण किया। उद्धव तथा सात्यकि चँवर डुलाने लगे। जब श्रीकृष्ण विदा हो रहे थे तो मार्ग में उनके बारे में हस्तिनापुर की स्त्रियाँ परस्पर बातें कर रही थीं। श्रीमद्भागवत के टीकाकार आचार्यों ने रहस्य खोला है कि ये स्त्रियाँ नहीं हैं, ये श्रुतियाँ हैं। श्रुतियाँ भी अनेक प्रकार

की होती हैं । जो रसरूपा श्रुतियाँ थीं, वे तो ब्रज में गोपियाँ बनी थीं; बाकी ऐश्वर्य वाली श्रुतियाँ अलग होती हैं, उनको श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य रूप की प्राप्ति होती है । वे ऐश्वर्य रूपा श्रुतियाँ यहाँ आपस में कह रही थीं – 'अरे देखो ! ये ही पुराणपुरुष हैं । सृष्टि के पूर्व भी जब समस्त शक्तियाँ सो रही थीं तो इन्ही पुराणपुरुष ने अपनी प्रकृति को लेकर संसार की रचना की । प्रलय के बाद शयन करते हुए 'भगवान्' को श्रुतियाँ ही जगाती हैं । ये ही पुराणपुरुष हैं, जिन्होंने समस्त शास्त्र बनाए हैं । ये ही पुराणपुरुष अनेकों अवतार धारण करते हैं । इन्हीं के कारण यदुवंश भी पवित्र हो गया, द्वारिका भी पवित्र हो गयी, रुक्मिणी आदि रानियाँ भी धन्य हैं, जो इनकी अर्धांगिनी बनीं । ब्रज की स्त्रियाँ, जिन श्रीकृष्ण की याद में प्रतिक्षण विरहावस्था को प्राप्त होकर मूर्च्छा आदि को प्राप्त हो रही हैं, उनका ऐसा सर्वोच्च कोटि का अघटमान (कभी न घटने वाला) प्रेम है । द्वारिका की रानियों को तो निरन्तर श्रीकृष्ण प्राप्त हैं, ऐसी स्थिति में यदि इनका श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम बढ़ता है तो कोई विशेष बात नहीं है, विलक्षणता तो ब्रजगोपियों की है कि आज भी प्रकट लीला में श्रीकृष्ण से दीर्घकाल का विरह होने पर भी उनका प्रेम ज्यों का त्यों बना हुआ है । श्रीकृष्ण की रानियों को भी देखो, इन्होंने कलंकित स्त्रीत्व को भी पवित्र बना दिया है ।' इस प्रकार से हस्तिनापुर की स्त्रियों के रूप में ऐश्वर्यरूपा श्रुतियाँ श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन कर रही थीं । अजातशत्रु युधिष्ठिर ने श्यामसुन्दर के विदा होते समय स्नेहवश शंका होने के कारण उनकी रक्षा के लिए अपनी अक्षौहिणी सेना उनके साथ भेज दी थी ।

अध्याय – ११

सूतजी कहते हैं – द्वारिका पहुँचकर श्रीकृष्ण ने अपना शंख बजाया । शंख की ध्वनि सुनकर द्वारिका की सारी प्रजा अपने स्वामी श्रीकृष्ण का दर्शन करने के लिए बाहर आ गयी और उनके पास

पहुँचकर उनकी स्तुति करने लगी – 'हे प्रभो ! हम आपके चरणकमलों को प्रणाम करते हैं । आप ही हमारे माता, पिता, पति एवं गुरु हैं । जब कभी आप द्वारिका से बाहर चले जाते हैं तो हमें आपके बिना एक क्षण भी करोड़ों युगों के समान प्रतीत होता है ।' प्रजा की स्तुति को सुनते हुए श्रीकृष्ण द्वारिका में प्रविष्ट हुए और अपने महलों में पहुँचे । सबसे पहले उन्होंने देवकी आदि अपनी सातों माताओं को प्रणाम किया । माताओं ने अपने पुत्र कृष्ण से बहुत प्रेम किया । इसके बाद श्रीकृष्ण अन्तःपुर में पहुँचे, वहाँ भगवान् की १६,१०८ स्त्रियों ने उनके आगमन पर अपने व्रत छोड़ दिए । वे व्रत क्या हैं, उन व्रतों के अनुसार जिस स्त्री के पति परदेश गए हों, उसे स्मृतियों के अनुसार इतने काम नहीं करना चाहिए ।

क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् ।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥

खेलना-कूदना, शरीर को सजाना, सामाजिक उत्सवों में भाग लेना, हँसी-मजाक करना , दूसरे के घर जाना - इन कार्यों को बंद कर देना चाहिए ।

अपने पति श्यामसुन्दर का दर्शन कर द्वारिका की समस्त नारियों ने इन व्रतों को त्याग दिया । उन्होंने श्यामसुन्दर से यहाँ तीन प्रकार से मिलन किया । एक तो उन्हें अपने नेत्रों से देखकर हृदय में ले गयीं । इस प्रकार मन ही मन, फिर नेत्रों के द्वारा और इसके उपरान्त पुत्रों के बहाने शरीर से श्रीकृष्ण का आलिंगन किया । यहाँ भी वही बात हुई, उनकी आँखों में आँसू आये परन्तु उन्होंने आँसुओं को रोक लिया कि कहीं श्यामसुन्दर को यह आशंका न हो जाए कि मेरे विरह में ये बहुत दुखी रहीं । इसके बाद श्रीकृष्ण की महिमा का वर्णन किया गया है कि द्वारका में १६,१०८ परम सुन्दरी रानियों के साथ रहते हुए भी कामदेव के बाणों द्वारा वे उनको मथित नहीं कर सकीं । वे सभी रानियाँ

श्रीकृष्ण की अत्यन्त प्रेम से बहुत सेवा करती थीं किन्तु उनके मध्य रहते हुए भी श्रीकृष्ण समभाव से रहकर अपने स्वरूप में स्थित रहते थे ।

अध्याय – १२

शौनकजी ने सूतजी से पूछा कि उत्तरा के गर्भ में स्थित बालक परीक्षित् की क्या गति हुई, जिनकी भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं रक्षा की ।

सूतजी बोले – भगवान् के द्वारा रक्षित उस बालक का धर्मराज युधिष्ठिर पालन करने लगे । वह बालक जब गर्भ में था तो ब्रह्मास्त्र से उसकी रक्षा करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं गर्भ में प्रवेश कर गए, उस समय उस बालक ने भगवान् का दर्शन किया । उसने देखा कि एक श्याम रंग का पुरुष मेरे चारों ओर गदा घुमाता हुआ मेरी रक्षा कर रहा है । उस बालक का नाम परीक्षित् रखा गया, क्यों ? परि का अर्थ है चारों ओर, ईक्षित का अर्थ है कि जो देख रहा है । देख रहा है कि यह जो श्याम रंग का पुरुष मेरी रक्षा कर रहा है, यह कौन है? कितना सुन्दर है, गदा लेकर मेरे चारों ओर खिलौना की तरह घूम रहा है । इसलिए परीक्षित् शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी – **परयैक्षत क इत्यसौ** – बच्चा सोचता है कि यह कौन है, कौन है, चारों ओर उसे देखता है, इसलिए उसका नाम पड़ गया परीक्षित् । कृष्ण दर्शन उसको गर्भ में ही हो गया । यह लीलाधारी की लीला है । बालक परीक्षित् का जन्म होने के बाद प्रजातीर्थ नामक काल में युधिष्ठिर जी ने बहुत सा दान दिया । प्रजातीर्थ किसे कहते हैं ? ऐसा कहा जाता है कि बालक के जन्म होने पर जब तक नाल छेदन नहीं किया जाता, तब तक सूतक नहींलगता । नाल छेदन से पूर्व के समय को प्रजातीर्थ कहते हैं, उस समय जो दान किया जाता है, वह अक्षय हो जाता है, यह नियम है । उस समय किये हुए दान का कभी विनाश नहीं होता । अतः प्रजातीर्थ

काल में युधिष्ठिर जी ने ब्राह्मणों को बहुत अधिक दान दिया । ब्राह्मण लोग बड़े ही प्रसन्न हुए । 'विष्णु' अर्थात् भगवान् श्यामसुन्दर द्वारा 'रात्' यानि रक्षा किये जाने के कारण उस बालक का एक और नाम हुआ – विष्णुरात । जब ब्राह्मणों को दान मिला तो वे बालक के बारे में भविष्यवाणी करने लगे – 'यह जो बालक है, यह अपनी प्रजा की रक्षा करने में इक्ष्वाकु के समान होगा । दशरथ पुत्र राजा राम की तरह यह अत्यन्त सत्य प्रतिज्ञ होगा । दुष्यन्त पुत्र भरत के समान यह यज्ञ करने वाला होगा । वीरता में यह दोनों अर्जुन – सहस्त्रबाहु अर्जुन और अपने दादा अर्जुन के समान होगा । बहुत से गुणों का वर्णन करने के पश्चात् ब्राह्मणों ने कहा कि अंत में ब्राह्मण कुमार के शाप से तक्षक द्वारा अपनी मृत्यु का समाचार सुनकर व्यासनन्दन शुकदेवजी से आत्मज्ञान का उपदेश प्राप्तकर गंगा तट पर अपने शरीर का त्यागकर निश्चय ही अभयपद प्राप्त करेगा ।' परीक्षित् जी जन्म लेने के बाद चारों ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखा करते थे कि वह पुरुष कहाँ गया जो गर्भ में मुझे दिखाई पड़ा था, इसीलिए इनका नाम परीक्षित् रखा गया । युधिष्ठिरजी ने तीन अश्वमेध यज्ञ किये, उस समय उनके निमंत्रण से पधारे हुए भगवान् ब्राह्मणों द्वारा उनका यज्ञ सम्पन्न कराकर वापस द्वारका चले गये ।

अध्याय – १३

सूतजी कहते हैं – विदुरजी तीर्थयात्रा में मैत्रेय ऋषि से आत्मज्ञान प्राप्तकर और भगवान् श्रीकृष्ण के बारे में सारा समाचार जानकर कि वह इस धराधाम से चले गए हैं, हस्तिनापुर गए । विदुरजी को देखकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र ने उनका बहुत स्वागत किया । युधिष्ठिरजी बोले – 'आप जैसे भक्त तीर्थयात्रा करने क्यों जाते हैं ? जो भगवान् का

भक्त है, वह तीर्थ में क्यों जाता है ? तीर्थ उसको पवित्र नहीं कर सकते हैं, वह स्वयं जाकर तीर्थ को पवित्र करता है ।'

भागवत में आगे गंगा अवतरण के प्रसंग में गंगा जी ने राजा भगीरथ से स्पष्ट कह दिया कि मैं तो मृत्युलोक में नहीं जाऊँगी, वहाँ पापी लोग मेरे पवित्र जल में अपने पाप धोयेंगे । तब भगीरथ जी ने कहा – 'संत लोग तुम्हारे जल में आकर स्नान करेंगे, पापी लोग तुम्हारे जल में जो पाप छोड़ जायेंगे, उसे वे संत नष्ट कर देंगे ।'

युधिष्ठिरजी ने इसीलिए विदुरजी से कहा कि आप तो स्वयं तीर्थों को पवित्र करने के लिए तीर्थयात्रा को गये थे । तदनन्तर युधिष्ठिरजी ने विदुर जी से यह भी पूछा – 'महाराज ! हमारे जो प्रेमी श्यामसुन्दर हैं और उनका यदुवंश है, उनका क्या हाल-चाल है ?' विदुरजी इस बात को छिपा गए, उन्होंने विचार किया कि यदि मैं इनसे कह दूँगा कि श्यामसुन्दर तो अपने नित्यधाम को चले गए तो ये बहुत दुखी होंगे और पाण्डव लोग अपने प्राण त्याग देंगे । इसलिए उन्होंने युधिष्ठिर के इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया । विदुर जी कुछ दिन पाण्डवों के पास हस्तिनापुर में रहे । वह स्वयं धर्मराज (यमराज) थे और शापवश उन्हें पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ा था । अब कुछ दिन हस्तिनापुर वह अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र के कल्याण के लिए रहे । धृतराष्ट्र, जिनके सौ पुत्र युद्ध में मारे गए, फिर भी वे आसक्तिवश और जीने की इच्छा कर रहे थे । इसलिए विदुर एक दिन धृतराष्ट्र के पास गए और उनसे बोले – 'अरे राम-राम ! देखो, आपके सौ पुत्रों को भीम ने मार डाला और फिर भी इन्हीं पाण्डवों के द्वार पर आप गृहपाल (कुत्ते) की भाँति पड़े हुए हैं । जीव की अपने शरीर में कैसी प्रबल आसक्ति होती है, अपने स्त्री-पुत्र के प्रति भी उसकी कैसी गाढ़ आसक्ति होती है । एक बात यहाँ विदुर जी ने बहुत महत्वपूर्ण कही है कि मनुष्य को देह का त्याग किस प्रकार करना चाहिए । हम लोग शरीर का त्याग करना तब अच्छा समझते हैं, जब चार आदमी हमारी सेवा करने वाले हों, कोई दवा देने वाला हो, कोई

पाँव दबा रहा हो । विदुरजी कहते हैं कि धीर पुरुष को शरीर इस प्रकार छोड़ना चाहिए । बहुत महत्वपूर्ण श्लोक उन्होंने कहा है –

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः ।
अविज्ञातगतिः जह्यात् स वै धीर उदाहृतः ॥

(श्रीभागवतजी - १/१३/२५)

पहले तो इस शरीर से खूब स्वार्थ निकाले और वह स्वार्थ यही है कि अधिक से अधिक भजन करे तथा फिर विरक्त हो जाए, बन्धन को छोड़कर ऐसी जगह शरीर त्याग करे, 'अविज्ञात गतिः' – जहाँ कोई नातेदार-रिश्तेदार, कोई परिवार का सदस्य सेवा करने वाला, पानी देने वाला भी न हो, उन लोगों को पता भी न पड़े कि इसका शरीर कब और कहाँ छूटा ? इसे कहते हैं शरीर का त्याग करना – 'अविज्ञातगतिर्जह्यात्' । ऐसा इसलिए करना चाहिए क्योंकि अंत समय में एकमात्र श्रीकृष्ण का स्मरण करना चाहिए । कृष्ण ही तो अपने एकमात्र सम्बन्धी हैं, उनके अतिरिक्त अपना कौन है, फिर कौन है बेटा-बेटी ? जब जंगल में एकांत में पड़े रहेंगे, वहाँ कोई सेवा करने वाला नहीं होगा, उस समय असहाय अवस्था में, बीमारी में केवल श्यामसुन्दर की ही याद आयेगी । इसलिए एकान्त में ऐसे ही स्थान में अपना शरीर त्याग करना चाहिए, ऐसा करने वाला ही है सच्चा कृष्ण प्रेमी । विदुरजी ने एक अन्य महत्वपूर्ण बात और कही कि यदि किसी को स्वतः (अपने आप) वैराग्य हो जाए तब भी बढ़िया है और यदि किसी के सिखाने से वैराग्य हो जाए, वह भी बढ़िया है । कोई अपने हृदय में श्यामसुन्दर को स्थापित करके घर से चल दे, यह सर्वोत्तम उपाय है ।

यः स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान् ।
हृदि कृत्वा हरि गेहात् प्रव्रजेत् स नरोत्तमः ॥

(श्रीभागवतजी - १/१३/२६)

विदुरजी ने धृतराष्ट्र से कहा कि अब कलियुग आने वाला है । राजन् ! अब इस महल से आप निकल जाइये, आप तो यहाँ कुत्ते की भाँति अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं । अब इस शरीर के मोह को छोड़ दीजिये । आपका शरीर वृद्धावस्था का शिकार हो गया है, आयु बीत चुकी है, आपके सभी पुत्रों की मृत्यु हो गयी और अब भी आप यहाँ जी रहे हैं । जिन कुन्ती के पुत्रों को आपने जान से मारने का प्रयास किया और अब उन्हीं के टुकड़े आप खा रहे हैं ।

इस प्रकार अपने छोटे भाई विदुर की बातें सुनकर धृतराष्ट्र की आँखें खुल गईं और वे विचार करने लग गए कि यदि मैं अपने भाई विदुर की बात पहले ही मान लेता तो मेरी यह दुर्दशा न होती । अब तो तत्क्षण ही उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया । इसीलिए तो शास्त्रों में कहा गया है कि किसी घर में एक भी भक्त होता है तो वह सभी का उद्धार कर देता है । विदुर जी के सदुपदेश से विवेक प्राप्त होने पर धृतराष्ट्र महल से वन की ओर चले गए, उनके पीछे ही गान्धारी भी चल पड़ीं । इधर प्रातःकाल होने पर जब युधिष्ठिर धृतराष्ट्र व गान्धारी को प्रणाम करने पहुँचे तो देखा कि दोनों माता-पिता अपने कक्ष में नहीं थे, बहुत ढूँढ़ा लेकिन नहीं मिले तब तो वे रोने लगे । संजय से पूछा कि तुमने हमारे माता-पिता को कहीं देखा है ? संजय भी दुखी होकर बोले – 'महाराज ! पता नहीं रात को ही वे दोनों कहाँ चले गए ?' उसी समय नारद जी तुम्बुरु गन्धर्व के साथ वहाँ आये तो देखा कि युधिष्ठिर रो रहे थे, उन्होंने नारद जी से पूछा – 'महाराज ! हमारे माता-पिता कहीं गंगा जी में तो नहीं गिर पड़े, कहीं उन्होंने आत्महत्या तो नहीं कर ली ?' नारदजी ने कहा – 'काल भगवान् की विचित्र लीला है । वे ही संयोग कराते हैं, वे ही वियोग कराते हैं, हम सब तो खिलौना हैं । हम स्वयं अनाथ हैं, इस संसार में कौन किसकी रक्षा कर सकता है ? हमारे पाँवों को तो अजगर ने पकड़ रखा है और हम दूसरों की रक्षा करने जा रहे

हैं । माता-पिता के पैर काल रूपी अजगर ने पकड़ रखे हैं और वे अपने बच्चे की रक्षा करने दौड़ते हैं । प्रभु की कैसी लीला है ? कैसा अज्ञान है ? एक जीव दूसरे जीव का भोजन बना हुआ है ।' इस प्रकार नारदजी युधिष्ठिर को समझाने लगे कि दुःख मत करो, यह सब काल की लीला है । अपनी दिव्य दृष्टि से देखकर नारदजी युधिष्ठिर को बताते हैं कि तुम्हारे माता-पिता धृतराष्ट्र और गान्धारी हिमालय के दक्षिण भाग में स्थित 'सप्तस्त्रोत' नामक स्थान में गए हैं । यद्यपि धृतराष्ट्र और गान्धारी पिछली रात में ही गए थे किन्तु नारद जी उनके अगले घटनाक्रम की भविष्यवाणी करने लगे । नारदजी ने कहा कि धृतराष्ट्र और गान्धारी केवल जल पीकर शान्तात्मा होकर वहाँ बैठे हुए हैं । अपनी बुद्धि को क्षेत्रज्ञ में लीन करके तथा क्षेत्रज्ञ को प्रभु में लीन करके निरावरण, निरुपाधि होकर वे स्थित हैं और आज से पाँचवें दिन वे अपने शरीर का त्याग करेंगे, उनका शरीर स्वयं जलकर भस्म हो जाएगा, धृतराष्ट्र के पीछे उनकी पत्नी गान्धारी भी अग्नि में प्रवेश कर जायेंगी । विदुरजी इस दृश्य को देखकर वहाँ से तीर्थयात्रा करने चले जायेंगे । ऐसा कहकर नारदजी तुम्बुरु के साथ चले गए । देवर्षि नारद के मुख से धृतराष्ट्र और गान्धारी की सद्गति का समाचार सुनकर युधिष्ठिर ने शोक करना छोड़ दिया ।

अध्याय – १४

सूतजी कहते हैं – युधिष्ठिरजी ने अर्जुन को द्वारका श्रीकृष्ण का समाचार लाने के लिए भेजा । कई महीने बीत जाने पर भी अर्जुन द्वारका से लौटकर नहीं आये । धर्मराज युधिष्ठिर ने देखा कि बड़े-बड़े अपशकुन हो रहे हैं । उन्होंने भीमसेन से पूछा कि अर्जुन अभी तक द्वारिका से नहीं लौटे, सात महीने बीत गए । श्यामसुन्दर का क्या समाचार है, इसके बारे में कुछ पता नहीं चल रहा है । मेरी बायीं भुजा भी फड़क रही है ।

उस समय हो रहे बड़े-बड़े अशुभों का भी उन्होंने वर्णन किया । जब युधिष्ठिर भीमसेन से इस प्रकार बात कर रहे थे, उसी समय अर्जुन आ गये । युधिष्ठिरजी ने अर्जुन से कहा कि सबसे पहले मुझे भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम, उग्रसेन, प्रद्युम्न आदि का समाचार सुनाओ । अर्जुन ! तुम बड़े उदास दिखाई दे रहे हो, कहीं ऐसा तो नहीं कि हमारे प्यारे श्यामसुन्दर का विरह तुम्हे प्राप्त हो गया हो ।

अध्याय – १५

सूतजी कहते हैं – युधिष्ठिरजी की बात सुनकर अर्जुन बोले – 'महाराज ! मैं तो ठग लिया गया । श्यामसुन्दर मुझे छोड़कर चले गए । जिन श्रीकृष्ण की महिमा से द्रौपदी के स्वयंवर में मैंने सबको हराया, खाण्डव वन मैंने अग्निदेव को दे दिया, उन्हीं की कृपा से मयदानव की बनाई हुई सभा प्राप्त की, उन्हीं की कृपा से जरासन्ध के द्वारा कैद किये हुए राजा मुक्त किये गए, जरासन्ध का वध किया गया, समस्त कौरव मारे गए । उन्हीं श्रीकृष्ण की कृपा से दुर्वासा के कोप से हम लोगों की रक्षा हुई, जब दस हजार शिष्यों के साथ वे हमारे पास वन में भोजन करने पहुँचे थे, जिनकी कृपा से मैंने महादेव जी को युद्ध में तृप्त किया, इसी शरीर से मैं स्वर्ग में इन्द्रभवन में जाकर बैठा, वहाँ निवास किया और जिनकी कृपा से अकेले ही मैंने कौरवों की सेना में प्रवेश करके उन पर विजय प्राप्त की । कितने ही दिव्य अस्त्र वीर योद्धाओं ने मेरे ऊपर चलाये किन्तु प्रह्लाद जी को जैसे दैत्यों के अस्त्र नहीं छू सके, उसी प्रकार शत्रुओं के अस्त्र-शस्त्र मेरा भी स्पर्श नहीं कर सके । मैं उनसे परिहास किया करता था – मित्र ! तुम तो बड़े सच्चे हो अर्थात् झूठे हो । आज उन्हीं श्रीकृष्ण के बिना जब मैं उनकी रानियों को लेकर द्वारिका से लौट रहा था तो मुझ पराक्रमी को थोड़े से पशु चुराने वाले ग्वालों ने लूट लिया । यह सब श्यामसुन्दर की माया है । इसके

अतिरिक्त ब्राह्मणों के शाप से मोहित होकर यदुवंशी वारुणी मदिरा पीकर उन्मत होकर एक दूसरे से लड़-भिड़कर समाप्त हो गए। केवल ४-५ यदुवंशी ही बचे हैं।' इस तरह युधिष्ठिर को बताकर अर्जुन बहुत दुखी हुए। यद्यपि श्रीकृष्ण इस धराधाम पर उपस्थित नहीं थे फिर भी अर्जुन को कालक्रम के प्रभाव से जो गीताज्ञान विस्मृत हो गया था, भक्ति के कारण वह ज्ञान भगवद् इच्छा से फिर से उन्हें प्राप्त हो गया। ये सब भगवान् की लीलाशक्ति के खेल हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के स्वधामगमन की बात सुनकर सभी पाण्डवों और द्रौपदी ने स्वर्गारोहण का निश्चय किया। कुन्तीजी श्रीकृष्ण का धामगमन सुनकर संसार से उपराम हो गयीं। जिस दिन भगवान् इस पृथ्वी से अन्तर्धान हुए, उसी समय कलियुग आ धमका। अपने पौत्र परीक्षित् को युधिष्ठिर ने पृथ्वी के सम्राट के रूप में अभिषिक्त किया और मथुरा मंडल का राज्य अनिरुद्ध के पुत्र वज्रनाभ को सौंप कर युधिष्ठिर ने अपना सब कुछ अन्तरात्मा में लीन कर दिया तथा निराहार होकर स्वर्गारोहण के उद्देश्य से उत्तर दिशा की ओर चल पड़े, जहाँ से कोई वापस नहीं लौटता है। वहाँ उन्होंने अपनी एकांत मति कृष्ण में लगाकर सबसे दुष्कर गति प्राप्त की। आगे सूतजी कहते हैं –

ययाहरद् भुवो भारं तां तनुं विजहावजः । (श्रीभागवतजी - १/१५/३४)

भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस शरीर से पृथ्वी का भार उतारा था, उसका परित्याग कर दिया। कुछ आचार्यों ने इस श्लोक को नहीं माना है। वस्तुतः जो भगवान् द्वारा अपना शरीर छोड़ने की बात इस श्लोक में कही गयी है तो भगवान् का शरीर तो चिन्मय है, इसलिए यहाँ प्रयुक्त शब्द (विजहावजः) 'विजहौ अजः' का अर्थ छोड़ना नहीं मानना चाहिए। भगवान् ने अपना शरीर छोड़ा नहीं था। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। इसलिए चिन्मय शरीर होने

के कारण 'भगवान्' उसे छोड़ नहीं सकते । अतः यहाँ 'विजहौ' से मतलब है - भगवान् की अन्तर्धान लीला । इसलिए आचार्यों के अनुसार श्लोक को समझकर तब उसका अर्थ करना चाहिए क्योंकि श्लोक का अर्थ करते समय मूल सिद्धान्त से उसका विरोध नहीं होना चाहिए । जो सिद्धान्त चिन्मयत्व का प्रतिपादन करते हैं, उनको स्वीकार करते हुए, उन्हें लेकर चलना चाहिए । इसीलिए आचार्यों ने ये दो श्लोक '१/१५/३४ तथा १/१५/३५' को नहीं माना है । अगर कोई इन्हें मानता भी है तो उसे '१/१५/३४' में प्रयुक्त शब्द 'विजहौ' का अर्थ आचार्यों के अनुसार ही करना चाहिए ।

उधर विदुरजी भी, जो अत्यन्त संयमी थे, कृष्ण में मन को लगाकर, प्रभास क्षेत्र में अपने शरीर का त्यागकर अपने लोक को चले गये । द्रौपदीजी ने भी कृष्णगति को प्राप्त किया । पाण्डवों के इस महाप्रयाण, उनकी सद्गति की कथा को सुनकर मनुष्य 'भक्ति' प्राप्त करता है । पाण्डव 'श्रीकृष्ण' के अनन्य भक्त थे, केवल श्रीकृष्ण ही उनके एकमात्र लक्ष्य थे, ऐसा ही लक्ष्य हम सबका भी होना चाहिए ।

अध्याय – १६

सूतजी कहते हैं – परीक्षित् जब राजा बन गए तो उन्होंने उत्तर की पुत्री इरावती से विवाह करके जनमेजय आदि चार पुत्र उत्पन्न किये । इन्होंने कृपाचार्य को पुरोहित बनाकर तीन अश्वमेध यज्ञ किये, जिसमें देवता प्रत्यक्ष उपस्थित होकर अपना भाग ग्रहण करते थे । एक बार परीक्षित् दिग्विजय के लिये चले तो उन्होंने एक शूद्र राजा को देखा जो गाय और बैल के जोड़े को पाँव की ठोकरों से मार रहा था ।

यह कथा केवल एक रूपक नहीं है, यह तो पहले ही भागवत में लिख दिया गया है कि कलियुग में जिन लोगों की शूद्र वृत्तियाँ हैं, वे ही राजा बनेंगे । शूद्र से मतलब केवल जाति का ही शूद्र नहीं है बल्कि

जिनकी शूद्र वृत्ति है, भगवद् विमुख हैं, कलियुग में ऐसे लोग ही राजा बनेंगे, जो न तो भगवद्भक्ति जानते हैं, न अध्यात्म जानते हैं, केवल स्वार्थवृत्ति में लिप्त रहते हैं। कलियुग में अच्छे लोग तो राजा बनेंगे ही नहीं। भगवद्भक्त यदि राजा बनें तो सारे समाज को भक्त बना दें किन्तु कलियुग में जितने राजा बनेंगे सब शूद्र होंगे।

शौनकजी ने सूतजी से पूछा – वह शूद्र रूपी कलियुग जो राजा का रूप धारणकर गौवंश पर अत्याचार कर रहा था, परीक्षित् जी ने किसलिए उसका नियंत्रण किया, यदि यह प्रसंग कृष्णलीला से जुड़ा हो तो आप हमें बताइये क्योंकि यहाँ इस सभा में न तो कोई बीमार होगा और न ही किसी की मृत्यु होगी। हम लोगों ने भगवान् मृत्यु को यहाँ बुला रखा है जिससे कि जब तक यहाँ यज्ञ हो रहा है तब तक कोई बाधा न आये।

सूतजी ने कहा – जिस समय राजा परीक्षित् ने यह सुना कि कलियुग मेरे राज्य में आ गया है और यह सभी अमंगलों का घर है, वे दिग्विजय करने के लिए नगर से बाहर निकल पड़े। जहाँ-जहाँ भी वे जाते, वहीं वे अपने पूर्वजों का और भगवान् श्रीकृष्ण का यश सुनते थे। एक स्थान पर वह पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वहाँ धर्म एक बैल का रूप बनाकर एक पैर पर खड़ा हुआ था और गाय रूपिणी पृथ्वी से बात कर रहा था।

धर्म ने कहा – 'हे भद्रे ! मैं तुम्हें उदास देखता हूँ, कदाचित् श्यामसुन्दर दूर चले गए हैं, इसीलिए तुम शोक कर रही हो अथवा मेरे लिए शोक कर रही हो अथवा अपने लिए शोक कर रही हो कि कलियुग में राजा लोग शूद्र होंगे अथवा इस बात का शोक कर रही हो कि कलियुग में ब्राह्मण लोग वेदविहीन हो जायेंगे अथवा क्षत्रिय लोग

आपस में लड़ाई-झगड़ा करके राष्ट्र का नाश करेंगे । तुम्हारे दुःख के अनेक कारण हैं, हे वसुन्धरे ! तुम मुझे उन्हें अवश्य बताओ ।'

पृथ्वी ने कहा – 'हे धर्म ! तुम सब कुछ जानते हो । पहले तुम्हारे चार पाँव थे, अब तुम्हारी क्या हालत हो गयी है ? भगवान् के सत्य,शौच,दया, क्षान्ति आदि मुख्य ३९ गुण और इनके अतिरिक्त भी जो अन्य दिव्य गुण थे, इन समस्त महान गुणों के आश्रय भगवान् अब अन्तर्धान हो गए, अपने नित्य धाम को पधार गए तो क्या दुःख नहीं होगा ? यह कलियुग पापमय है, इससे सारा संसार और मैं भी ग्रसित हो रही हूँ । इसीलिए तुम्हारे और अपने लिए भी मैं शोक कर रही हूँ । जिन श्रीकृष्ण के चरणों की प्राप्ति से मैं तीनों लोकों से अधिक गौरव को प्राप्त कर चुकी थी, अब उन श्रीकृष्ण का विरह कौन सह सकता है ?'
जब धर्म रूपी बैल और पृथ्वी रूपी गौ इस प्रकार बात कर रहे थे, उसी समय वहाँ परीक्षित् जी आ गये ।

अध्याय – १७

सूतजी कहते हैं – राजा परीक्षित् ने देखा कि उन दोनों को एक शूद्र प्रताड़ित कर रहा है, वह रथ पर सवार है तथा वेष राजा का बना रखा है । परीक्षित् जी ने उससे पूछा – 'तू कौन है ? वेष से तू राजा लग रहा है और इस प्रकार से तू इन गाय, बैल पर प्रहार क्यों कर रहा है ?' उन्होंने धर्म से पूछा – 'हे वृषभ महाराज, आप कौन हैं ? आपका एक ही पाँव है ।' गाय रूपिणी पृथ्वी से कहा – 'हे गो माता, तुम क्यों रो रही हो ? जिस व्यक्ति ने तुम्हारी यह दशा की है, वह यदि देवता भी होगा तो मैं उसकी भुजा काट डालूँगा ।'

धर्म बोले – 'महाराज ! आपने बहुत सुन्दर बात कही किन्तु मैं स्वयं आज तक यह नहीं जान पाया कि मुझे यह क्लेश कहाँ से प्राप्त हो रहा है ? कुछ लोग दैव को कष्ट का कारण बताते हैं तो कुछ लोग कहते

हैं कि कर्म के कारण कष्ट मिलता है, कुछ लोग स्वभाव को दुःख का कारण मानते हैं । अब दुःख के बहुत से कारण मैंने आपको बता दिए, आप स्वयं ही विचार कर लीजिये कि मेरे दुःख का कारण क्या हो सकता है ?' उस बैल के मुख से ऐसा सुनकर परीक्षित् जी समझ गए कि यह तो साक्षात् धर्म है ।

देखो, अपने मुख से कभी सच्ची बुराई भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि बुराई तो बुराई ही है । इसीलिए एक बात यहाँ परीक्षित् जी ने बहुत अच्छी कही –

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ।
यद् अधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत् ॥

(श्रीभागवतजी - १/१७/२२)

अधर्म की जो व्यक्ति सूचना देता है तो उतनी देर तक उसका मन अधर्म का चिन्तन तो करता ही है, मान लो किसी ने आकर बिना अपराध के ही तुम्हारे गाल पर दो चाँटे मारे, अब तुम किसी से कह रहे हो कि मैंने तो कुछ अनुचित कार्य नहीं किया फिर भी अमुक व्यक्ति ने मुझे मारा जैसे बच्चा अपनी माँ से कहता है कि अमुक व्यक्ति ने मुझे दो चाँटे मारे । भले ही किसी ने बिना किसी दोष के ही तुमको मारा किन्तु तुम्हारे मन में हिंसा की याद तो आई और हिंसा की स्मृति होने से तुम्हारा मन कषाय से युक्त हो गया । इसलिए कृष्ण के अतिरिक्त कोई बात मत करो चाहे वह सही क्यों न लग रही हो, चाहे वह धर्म की बात हो अथवा अधर्म की ।

राजा परीक्षित् बोले – 'इतनी बड़ी समझदारी तो धर्म में ही हो सकती है, किसी मनुष्य में नहीं हो सकती । इसलिए हे बैल महाराज ! आप तो धर्म ही हैं । तप, शौच, दया और सत्य – ये जो आपके चार पाँव हैं, इनमें से अधर्म ने तीन पाँवों को तोड़ ही दिया अतः

तप, शौच और दया तो नष्ट हो गए, केवल सत्य बचा है । उस सत्य को भी यह कलियुग भक्षण करना चाहता है ।' ऐसा विचार कर परीक्षित् जी ने तलवार निकाल ली क्योंकि वे परम वैष्णव थे किन्तु कलियुग उनकी शरण में आ गया इसलिए उन्होंने उसका वध नहीं किया । राजा परीक्षित् ने कलियुग को भयभीत देखकर कहा – 'अच्छा, तुम डरो नहीं, हमारे वंश में शरणागत को नहीं मारा जाता है परन्तु तुम मेरे राज्य में मत रहो क्योंकि तुम जहाँ भी रहोगे वहाँ लोभ, झूठ, चोरी, दुष्टता, स्वधर्म-त्याग, दरिद्रता, कपट, कलह, दम्भ आदि दुर्गुण भी रहेंगे, ये ही तुम्हारे लक्षण हैं, ये ही तुम्हारे काम हैं । 'कलियुग बोला – 'महाराज! जहाँ कहीं भी मैं जाता हूँ, वहाँ मुझे आप धनुष-बाण लिए दिखाई देते हैं, इसलिए कोई तो जगह मुझे स्थिरता से रहने के लिए बताइये ।'

सूतजी कहते हैं कि परीक्षित् जी ने कलियुग से कहा कि तुम्हारे रहने के लिए मैं ये स्थान बताता हूँ – द्यूत (जुआ), मदिरापान, स्त्री - संग और हिंसा । इन चार स्थानों पर तुम रहो । जब कलियुग ने अपने रहने का और भी स्थान माँगा तो परीक्षित् जी ने उसे एक और स्थान स्वर्ण (सोना) दे दिया ।

लोग स्वर्ण (सोना) को बहुत अच्छी चीज समझते हैं, परन्तु भक्त को तो सोना पहनना ही नहीं चाहिए । मीराजी ने कहा है –

गहना गाँठी हम सब त्यागा,
त्यागो कर रो चूडो ।

मीरा जी ने स्वर्ण के आभूषण क्यों छोड़ दिए क्योंकि इसमें कलियुग (अधर्म) का निवास है । स्त्रियों को सोने के गहने पहनने का बहुत शौक होता है जबकि यह है बिल्कुल अशुभ, एकदम अमंगल है, साक्षात् कलियुग है । स्वर्ण का तो स्पर्श भी निषिद्ध है । इस तरह ये

पाँच स्थान अधर्म के हैं – जुआ,मदिरापान, स्त्री संग, हिंसा और स्वर्ण । राजा, लोकपति अर्थात् नायक या नेतागण और गुरु, इन तीनों को तो इन पाँच चीजों का कभी स्पर्श भी नहीं करना चाहिए परन्तु आजकल तो ये पाँच चीजें इन्ही तीनों के पास मिलेंगी । धन-सम्पत्ति (पूँजी) यानि सोना राजा के पास मिलेगा अथवा जितने भी (लोकनायक) नेता हैं, वे भी खूब धन कमाते हैं और गुरुजी बनकर भी लोग बहुत धन अर्जित करते हैं, गुरुओं को शिष्यों के द्वारा अत्यधिक भेंट-पूजा दान-दक्षिणा आदि की प्राप्ति होती है ।

सूतजी कहते हैं कि राजा, लोकपति (नेतागण) और गुरु को तो इन चीजों से सर्वथा दूर ही रहना चाहिए तब तो वह राजा है, लोकपति है और गुरु है परन्तु आजकल तो इन तीनों के पास ही ये चीजें अधिक मिलती हैं ।

राजा परीक्षित् ने वृषभरूपी धर्म के तीनों चरण - तपस्या, शौच (पवित्रता) और दया जोड़ दिए तथा इस समय भी वे राजर्षि परीक्षित् हस्तिनापुर में राजसिंहासन पर विराजमान हैं ।

इस प्रसंग में एक शंका होती है कि सूतजी जिस समय ऋषि-मुनियों की सभा में प्रवचन कर रहे थे, उस समय तो परीक्षित् राजा थे नहीं, उसका उत्तर आचार्यों ने दिया कि पाणिनि का संस्कृत व्याकरण का एक सूत्र है – **वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा ।** (पाणिनीय सूत्र ३/३/१३१) वर्तमान के समीप की बात को वर्तमान की ही तरह कहा जाता है जैसे किसी ने अन्य किसी व्यक्ति से पूछा कि क्या तुम श्रीजी के मंदिर का दर्शन कर आये तो उस व्यक्ति ने कहा-हाँ साहब, दर्शन करके ही आ रहा हूँ । किन्तु आ रहा हूँ – ऐसा कहना तो बिलकुल गलत है, वह व्यक्ति तो दर्शन करने के पश्चात् अपने स्थान पर आकर बैठा हुआ है । इसी प्रकार किसी ने पूछा – क्यों भाई, मंदिर दर्शन करने जाओगे तो

व्यक्ति कहता है – हाँ, दर्शन करने जा रहा हूँ । अब ऐसा कहना कि 'जा रहा हूँ' यह तो गलत है, उसे कहना चाहिए था कि जाऊँगा । पाणिनि के व्याकरण सूत्र के अनुसार वर्तमान के समीप की बात को वर्तमान की ही तरह व्यवहार किया जाता है । इसीलिए सूतजी कहते हैं कि इस समय हस्तिनापुर के सिंहासन पर परीक्षित् जी विराजमान हैं । अथवा इस वाक्य का दूसरा समाधान है - **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** इस श्रुति के अनुसार अपने पुत्र जनमेजय के रूप में भी वही परीक्षित् राजसिंहासन पर विराजमान हैं । इस प्रकार दोनों रूप से यह बात घटित हो जाती है ।

अध्याय – १८

परीक्षित् अपनी माता के गर्भ में मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए, जब तक्षक नाग के द्वारा अपने प्राणनाश का समाचार सुना, तब भी वह मोहित नहीं हुए, क्यों नहीं मोहित हुए, क्यों नहीं घबराए तो इसका उत्तर देते हुए सूतजी कहते हैं –

नोत्तमश्लोकवार्तानां जुषतां तत्कथामृतम् ।
स्यात्सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम् ॥

(श्रीभागवतजी - १/१८/४)

जो मनुष्य आजीवन भक्ति करता है और भगवान् की कथा सुनता है, उसकी पहचान ये है कि अन्तकाल में वह घबराता नहीं है । मनुजी ने भी कहा है –

प्रायशः पापकारित्वात् मृत्योर्द्विजते नरः ।
कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवात्युम् ॥

जो कृतकृत्य हैं, वे तो मृत्यु की प्रतीक्षा करते हैं –

कब मरिहौं, कब देखिहौं नैनन नित्यविहार ।

हम जैसे लोग जो कृतकृत्य नहीं है, वे मृत्यु के समय घबराते हैं क्योंकि जीवन का सब समय प्रपंच में बीता है, लाल-ललना (राधा-माधव) का कुछ स्मरण तो किया नहीं ।

जब तक पृथ्वी पर परीक्षित् जी सम्राट रहे तब तक कलियुग अपना प्रभाव नहीं डाल सका । सूतजी ने एक बात और बतायी कि परीक्षित् ने कलियुग को क्यों रहने दिया ? इसका कारण यह है कि जो सच्चे संत होते हैं, वे किसी से भी द्वेष नहीं करते हैं ।

नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक् ।
कुशलान्याशु सिध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत् ॥

(श्रीभागवतजी - १/१८/७)

परीक्षित् जी ने देखा कि कलियुग में एक बहुत बड़ा गुण यह है कि इसमें कुशल कर्म बहुत जल्दी सिद्ध हो जाते हैं और अकुशल कर्मों को तो करने पर ही उनका फल मिलता है, उनकी मानसिक सिद्धि नहीं होती है तथा अच्छे कर्मों को यदि तुम मन से ही सोचोगे तो भी उनका फल मिल जाएगा । जैसे हम लोग सोचते हैं कि हमारे पास पैसा होता तो हम सौ रुपये दान देते; तो कलियुग का यही बड़ा गुण है कि पुण्य कर्म को मन से सोचने से ही उसका फल मिल जाता है । अच्छी बात तुमने सोची तो सही । यह कलियुग का कितना बढ़िया गुण है । इसलिए हमेशा दूसरों का भला ही सोचो । ईर्ष्यालु मत बनो, किसी की उन्नति देखकर कुढ़ो नहीं । परोपकार की अच्छी बात यदि मन से ही सोचोगे तो उसे क्रियात्मक रूप से करने पर जो फल मिलता, वह तुमको केवल सोचने पर मिल जाएगा । इसी कारण से परीक्षित् जी ने कलियुग को रहने दिया, उसका वध नहीं किया ।

ऋषियों ने कहा –

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत् सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

(श्रीभागवतजी - १/१८/१३)

यह श्लोक भागवत में तीन बार आया है । इसका अर्थ यह है कि भगवद् भक्त के लवमात्र के संग के आगे स्वर्ग तो क्या, मोक्ष भी बेकार है फिर मनुष्यों के तुच्छ भोगों की तो बात ही क्या है ? ऐसे भगवद् भक्तों की कथा से कौन है जो तृप्त हो जाएगा, इसलिए महाराज सूतजी ! आप हमें परीक्षित् जी की और भी कथा सुनाइये । वह महाभागवत थे और आप भी परम भक्त हैं । सूतजी बोले – अहा हा ! मैं विलोमज हूँ अर्थात मेरा जन्म पवित्र नहीं है ।

सूतजी 'विलोमज' इसलिए थे क्योंकि सूत जाति की उत्पत्ति ब्राह्मणी माता और क्षत्रिय पिता द्वारा हुई है । इसलिए यह विवाह विलोम था । ऊँचे वर्ण का पुरुष होना चाहिए, स्त्री निम्न वर्ण की हो तो वह विवाह विलोम नहीं होता है । इसलिए सूतजी कहते हैं कि विलोमज रीति से मेरा जन्म हुआ है, इसलिए मेरा कुल तो ठीक नहीं है । इतना बड़ा कुल में दोष होने पर भी वह दोष सत्संग से नष्ट हो जाता है अर्थात् कोई वेश्यापुत्र भी यदि सत्संग में पहुँच जाए तो वह पवित्र हो जाता है । सत्संग की ऐसी महिमा है । अधिकतर लोग खानदान देखते हैं कि अच्छे माता-पिता का पुत्र होना चाहिए किन्तु नहीं, यहाँ यह सिद्धान्त लागू नहीं होता है । लड़का किसी का भी है, देखना ये चाहिए कि उसका संग कैसा है, यदि उसका संग अच्छा है तब तो ठीक है और अच्छे कुल का लड़का होकर भी यदि बुरी संगति कर रहा है तो वह ठीक नहीं है । यहाँ इस प्रसंग में ऐसा ही निर्णय किया गया है । महात्माओं से तो बात करने में ही दौषकुल्य (कुल का दोष) नष्ट हो जाता है फिर जो लोग भगवान् का नाम लेते हैं, भगवन्नाम कीर्तन करते हैं, उनकी जो जाति-पाँति देखता

है, वह तो महामूर्ख है । यह शास्त्र द्वारा निरुपित भक्ति मार्ग है, यहाँ जातिवाद का खण्डन नहीं किया जा रहा है क्योंकि श्रीमद्भागवत शास्त्र में ही इस सिद्धान्त का निरूपण किया गया है कि जो भगवद् भक्त भगवान् का नाम कीर्तन कर रहा है, भले ही वह जाति से शूद्र अथवा चाण्डाल है किन्तु वह पूज्य है, उसके जाति-कुल को मत देखो –

कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य

(श्रीभागवतजी - १/१८/१९)

केवल एक बार संतों से बात कर लिया जाए, इतने से ही अपवित्र कुल में उत्पन्न होने का दोष नष्ट हो जाता है ।

दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं महत्तमानामभिधानयोगः ।

(श्रीभागवतजी - १/१८/१८)

यह शास्त्र का सिद्धान्त है, जो मनुष्य नाम कीर्तन कर रहा है, उसके जाति-कुल का कोई दोष नहीं रह जाता है क्योंकि भक्ति की ऐसी ही महिमा है । जिनके चरणकमलों की धोवन गंगा जी त्रिलोकी को पवित्र करती हैं, उन भगवान् के अतिरिक्त और कौन पूज्य हो जाएगा ? सन्तगण उन्हीं भगवान् का भजन करते हैं ।

यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा
व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढम् ।
व्रजन्ति तत्पारमहंस्यमन्त्यं
यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्मः ॥

(श्रीभागवतजी - १/१८/२२)

जिन भगवान् के चरणकमलों में मन को अनुरक्त करके लोग परम पद को प्राप्त हो जाते हैं, उनकी कैसी स्थिति होती है, वह है अहिंसा और शान्ति । भगवद्भक्त का परम लक्षण यही है कि वह किसी को सताता

नहीं है, स्वयं सब कुछ सहन कर लेता है । सूतजी आगे कहते हैं कि एक बार धनुष उठाकर परीक्षित् जी जंगल में गए । वहाँ परीक्षित् जी ने देखा कि शमीक नामक एक ऋषि अपने आश्रम में ध्यानस्थ बैठे हैं, वह ऋषि ध्यान की चरम अवस्था में इस प्रकार निमग्न थे कि उन्हें बाह्य जगत का कुछ भी भान नहीं हो रहा था इसीलिए वह राजा परीक्षित् को बैठने के लिए उचित आसन नहीं प्रदान कर सके तो होनहार की बात है कि परीक्षित् जी क्रोध के वश हो गए । आजकल के कथाकार लोग ऐसा कहते हैं कि परीक्षित् जी के स्वर्ण मुकुट में कलियुग का निवास था, इसलिए कलियुग ने उनकी बुद्धि को दूषित कर दिया किन्तु यह सब बात असत्य है क्योंकि जो परीक्षित् दिग्विजय में कलियुग को पहले ही जीत चुके थे, उन पर अब कलियुग क्या प्रभाव डाल सकता था ? ऐसी बात कहना कि परीक्षित् के स्वर्ण मुकुट में आसीन कलियुग ने उनकी बुद्धि को ग्रसित कर लिया, यह तो परीक्षित् के स्वरूप को गिराना है । यह तो होनहार की बात थी और इसकी घोषणा तो ब्राह्मणों द्वारा उनके नामकरण संस्कार के अवसर पर ही कर दी गयी थी और वस्तुतः ऐसी घटना घटित होने पर ही तो श्रीमद्भागवत का प्राकट्य होता । इसलिए ऐसी बात नहीं कहना चाहिए कि परीक्षित् की बुद्धि पर कलियुग चढ़ बैठा । परीक्षित् जी ने शमीक ऋषि को देखकर विचार किया कि इन्होंने तो झूठी समाधि लगा रखी है और इसीलिए वहाँ समीप में ही पड़े हुए एक मृत सर्प को धनुष से उठाकर उनके गले में डाल दिया और चले गये । शमीक ऋषि का पुत्र श्रृंगी अत्यंत तेजस्वी था, जब उसने सुना कि मेरे ध्यानस्थ पिता के गले में राजा ने मरा हुआ सर्प डाल दिया है तो वह बड़ा ही क्रोधित हुआ और उसने कौशिकी नदी का जल लेकर शाप दे दिया कि मेरी प्रेरणा से आज से सातवें दिन तक्षक सर्प उस कुलांगार परीक्षित् के शरीर को नष्ट कर देगा – **दक्ष्यति स्म कुलाङ्गारं चोदितो मे ततद्रुहम्** । शाप देकर वह अपने आश्रम में आया और अपने

पिता के गले में मरा हुआ साँप देखकर जोर-जोर से रोने लगा। अपने पुत्र का रोना चिल्लाना सुनकर शमीक मुनि के नेत्र खुले और उन्होंने उससे पूछा – 'बेटा, तुम क्यों रो रहे हो ?' जब उन्होंने अपने पुत्र से सब बात सुनी कि इसने परीक्षित् जी को शाप दे दिया है तो वे अपने पुत्र की करतूत से बड़े ही दुःखी हुए और बोले – 'अरे मूर्ख ! ऋषि बालक होकर तूने बहुत बड़ा अपराध कर डाला। परीक्षित् तो महान वैष्णव राजा हैं। यदि पृथ्वी पर राजा न हो तो संसार में अन्याय होगा और **पापमुपैत्यनन्वयं** - हम यदि पाप नहीं कर रहे हैं तो भी हमें पाप लगेगा। घूमकर पाप हमारे ऊपर ही आएगा क्योंकि धर्म की बड़ी विचित्र गति है। बिना शासन के सर्वत्र वर्णसंकरता हो जायेगी। भगवान् मेरे इस बालक को क्षमा करें।

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि ।
नास्य तत् प्रतिकुर्वन्ति तद्भक्ताः प्रभवोऽपि हि ॥

(श्रीभागवतजी - १/१८/४८)

भगवद्भक्त तो वे हैं, जिनका यदि तिरस्कार कर दो, उनको ठग लो, उनको शाप दे दो, उनको मार-पीट लो परन्तु वे बदला नहीं लेते हैं, उसको भक्त कहते हैं। सामर्थ्य होने पर भी वे बदला नहीं लेते हैं।'

संसारी माँ-बाप क्या करते हैं ? यदि कोई उनके बेटा-बेटी को पीट दे तो उसको सिखाते हैं – 'अरे, तूने उसको नहीं मारा, अरे, तूने उसकी फटकार कैसे सुन ली, बदले में तूने उसे क्यों नहीं गाली सुनाई।' इस तरह से आजकल के माँ-बाप मोहवश स्वयं अपने बच्चों को नष्ट करते हैं, उनको विनाश की बातें सिखाते हैं। जबकि पिता तो शमीक ऋषि जैसा भगवद्भक्त होना चाहिए जिन्होंने अपने पुत्र को सिखाया कि बेटा ! कोई तुम्हे मारे तो उसको क्षमा कर दो, गाली दे तो उसे क्षमा कर दो।

अध्याय – १९

सूतजी कहते हैं कि अपने महल में पहुँचकर राजा परीक्षित् ने विचार किया – अरे, यह तो मैंने ऋषि का बहुत बड़ा अपराध किया कि उनके गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया, निश्चय ही अब मुझको घोर कष्ट मिलेगा। जब परीक्षित् जी को पता पड़ा कि शमीक ऋषि के पुत्र ने मुझे भयंकर शाप दे दिया है तो महान भक्त होने के कारण उन्हें वह बहुत अच्छा प्रतीत हुआ।

स साधु मेने नचिरेण तक्षका-नलं प्रसक्तस्य विरक्तिकारणम् –

(श्रीभागवतजी - १/१९/४)

हम लोग तो ऐसा भयंकर शाप सुनकर घबरा जाते कि अरे, सर्प आ जाएगा, हमें काट लेगा तो बड़ी दुखद मृत्यु होगी किन्तु परीक्षित् जी इतना भयानक शाप सुनकर भी कहते हैं – 'वाह-वाह, यह तो बहुत अच्छा हुआ क्योंकि प्रभु जो कुछ भी करते हैं, अच्छा ही करते हैं। यह शाप तो संसार से मेरी विरक्ति का कारण है।' लोक और परलोक के भोगों से मन को हटाकर परीक्षित् जी विचार करते हैं कि जिनके चरणकमलों की धोवन गंगा जी तीनों लोकों को पवित्र कर रही हैं, उन प्रभु को छोड़कर मनुष्य और किसकी सेवा करेगा ? ऐसा विचारकर गंगाजी के तट पर परीक्षित् जी आमरण अनशन करके बैठ गए। उस समय सृष्टि के आदिकाल के बड़े-बड़े ऋषि वहाँ आये, वे समझ गए कि अब परीक्षित् जी का अंतिम समय आ गया है, अब तो वहाँ श्रीमद्भागवत की कथा होगी, अतः हमें वहाँ बिना निमंत्रण के ही चलना चाहिए। उस समय वहाँ पर अत्रि, वसिष्ठ, च्यवन, शरद्वान, गौतम, विश्वामित्र, भृगु, भगवान् व्यास, पराशर, नारद जी आदि सभी बड़े-बड़े ऋषि आये। सबने निश्चय किया कि भगवत्कथा में छोटे-बड़े का क्या विचार,

चाहे कोई भी ऊपर बैठे, चाहे कोई नीचे बैठे, वास्तव में तो कृष्ण यश ही सबसे बड़ाहै । राजा परीक्षित् ने वहाँ पधारे समस्त ऋषियों को प्रणाम किया और कहा – 'अरे, मैं तो धन्य हो गया, यह ब्राह्मण का शाप तो मेरे वैराग्य का कारण बन गया ।' आगे उन्होंने अति उत्तम बात कही –

तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ॥

(श्रीभागवतजी - १/१९/१५)

ब्राह्मण लोग मुझ पर दया करें, गंगा मैया मुझ पर दया करें, अब मैंने अपने चित्त को भगवान् में लगा दिया है । अब चाहे तक्षक आ जाए अथवा कोई भी आ जाए, मुझे कोई भय नहीं है । मैं केवल यही चाहता हूँ कि आप लोग श्रीकृष्ण गुण गाइए और कुछ मत करें । मुझे मृत्यु से कोई भय नहीं है ।

राजा परीक्षित् अपने पुत्र जनमेजय को राज-काज का भार सौंपकर गंगा जी के तट पर बैठ गए । सब ऋषिगण परीक्षित् जी से बोले – 'हे परीक्षित् ! तुम्हारे लिए इतना त्याग होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । जब तक तुम यहाँ जीवित बैठे हो तब तक हम लोग भी यहाँ उपस्थित रहेंगे, यहाँ से जायेंगे नहीं ।' परीक्षित् जी ने ऋषियों से पूछा – 'महात्माओ ! अभी मेरे पास सात दिन का समय है, मैं आप लोगों से यह पूछना चाहता हूँ कि अपने अंतिम समय में मनुष्य को क्या करना चाहिए ? वैसे भी जीवित अवस्था में और विशेषकर जब मृत्यु का समय निकट हो तो मनुष्य को क्या करना चाहिए ? सबका निचोड़ एक ही बात बता दीजिये, पचास बातें नहीं ।' अब इस प्रश्न का निर्णय कौन करे ? इतने में ही क्या हुआ कि भगवदिच्छा से भक्ति के सूर्य व्यासपुत्र शुकदेव जी वहाँ आ गए । **बोलो शुकदेव जी महाराज की जय !**

'अलक्ष्यलिङ्गो' – शुकदेवजी को कोई पहचान नहीं सकता था, ऐसा उनका स्वरूप था; नग्न थे, सोलह वर्ष की उनकी अवस्था थी। जब वह आ रहे थे तो स्त्रियों और बच्चों ने उनको पागल समझकर चारों ओर से घेर रखा था। वह अत्यन्त ही सुन्दर थे, उनकी छटा बड़ी ही सुन्दर थी। उनको देखते ही वहाँ उपस्थित समस्त ऋषिगण उनको पहचानकर अपने-अपने आसन छोड़कर खड़े हो गए। शुकदेवजी को आया देखकर परीक्षित् जी उनके पास गए और उनको बैठने के लिए आसन दिया। इधर जितने भी बच्चे और स्त्रियाँ, जो शुकदेव जी को पागल समझकर उनका पीछा कर रहे थे, वे सभी भाग गए और कहने लगे – 'अरे, ये तो पागल नहीं, कोई आफत है।' समस्त श्रेष्ठ ऋषिगणों के बीच में श्रीशुकदेव जी श्रेष्ठ आसन पर विराजमान हुए। उस समय परीक्षित् जी ने उनका पूजन किया। जब शुकदेवजी शान्त भाव से बैठ गए तो राजा परीक्षित् ने उन्हें साष्टांग प्रणाम करके कहा –

अहो अद्य वयं ब्रह्मन सत्सेव्या: क्षत्रबन्धव:। (श्रीभागवतजी - १/१९/३२)

अहो ! बड़े ही सौभाग्य की बात है कि आप जैसे अतिथि हमारे यहाँ पधारे। संत कैसे होते हैं ? तो परीक्षित् जी कहते हैं –

येषां संस्मरणात् पुंसां सद्यः शुद्ध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः॥

(श्रीभागवतजी - १/१९/३३)

जिन संतों के स्मरण से ही गृहस्थों के घर पवित्र हो जाते हैं। संत घर में आयें, वह तो दूसरी बात है, संतों का केवल स्मरण ही कर लिया जाए तो इतने से ही घर पवित्र हो जाते हैं। इतनी संतों की महिमा है और वे संत यदि घर में आकर दर्शन दे दें तथा फिर उन्हें स्पर्श करने का अवसर मिल जाए, चरण धोने का अवसर मिल जाए तो हे

महायोगिन्! इस क्रिया से महान पापियों के महान पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

पाण्डव और श्रीकृष्ण आपस में ममेरे-फुफेरे भाई थे। (श्रीकृष्ण, पाण्डवों की माता कुन्ती के भाई वसुदेव के पुत्र अर्थात् पाण्डवों के ममेरे भाई थे और इस नाते स्वयं पाण्डव श्रीकृष्ण की बुआ कुन्ती के पुत्र अर्थात श्रीकृष्ण के फुफेरे भाई थे।)

परीक्षित् जी कहते हैं – श्रीकृष्ण की बुआ के पुत्र पाण्डवों के ऊपर कृपा करके आपने मुझे दर्शन दिया है, नहीं तो जिस व्यक्ति की मृत्यु होने वाली है, उसको ऐसा सौभाग्य कैसे मिल सकता है ? हे योगियों के परम गुरु भगवान् शुकदेव जी ! मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि जिस व्यक्ति की मृत्यु होने वाली है, उसको क्या करना चाहिए, उसको क्या सुनना चाहिए, क्या जप करना चाहिए और उसके करने योग्य क्या वस्तु है ?

यह प्रश्न करके परीक्षित् जी शान्त हो गए और इसी के साथ भागवत के प्रथम स्कन्ध की समाप्ति हो जाती है।

द्वितीय स्कन्ध

प्रथम अध्याय

दूसरे स्कन्ध के प्रथम अध्याय में परीक्षित् जी के प्रश्न को सुनकर शुकदेव जी ने बोलना आरम्भ किया।

शुकदेव जी कहते हैं – हे राजन्! तुम्हारा प्रश्न बहुत सुन्दर है और जितने भी आत्मज्ञानी हैं, उन सबके लिए यह प्रश्न बड़ा उत्तम है कि कौन सी वस्तु श्रेष्ठ है, जिसे सुना जाए। सुनने वाली तो हजारों बातें होती हैं किन्तु सबका निचोड़ शुकदेव जी ने पहले ही बता दिया।

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥

(श्रीभागवतजी - २/१/५)

हे राजन्! यदि अभय चाहते हो तो केवल मात्र श्रीकृष्ण को ही सुनो, उनकी ही बात करो और उनका ही स्मरण करो।

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥

(श्रीभागवतजी - २/१/६)

सांख्ययोग का अर्थ है चाहे ज्ञानी हो अथवा भक्त हो। अगर ज्ञानी है तो उसके लिए भी यही बात है कि अन्तकाल में शरीर त्याग करते समय नारायण की स्मृति आ जाए, भगवान् की स्मृति आ जाए, यही मनुष्य जन्म का लाभ है। एक बात और है कि यदि कोई मनुष्य सोचे कि ज्ञान मार्गी के लिए ऐसा नहीं है तो नहीं, जितने भी आत्माराम जन हैं, भागवत तो उनके लिए भी है, कृष्ण स्मरण तो उनके लिए भी आवश्यक है। यदि ज्ञानमार्ग में जाकर कोई सगुण सविशेष ब्रह्म की स्मृति से घबराए तो समझना चाहिए कि उसके तो विनाश का समय आ गया क्योंकि सगुण-निर्गुण दोनों एक हैं, सगुण-साकार ब्रह्म के प्रति जो हीन भाव रखेगा, वह तो परमपद को प्राप्त करके भी भ्रष्ट हो जायेगा।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि मैंने अपने पिता भगवान् व्यासदेव जी से श्रीमद्भागवत पुराण का अध्ययन किया, उसे मैं सुना रहा हूँ और इस बात को फिर से सुन लो –

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥

(श्रीभागवतजी - २/१/११)

जो मनुष्य इस संसार से विरक्त हो चुके हैं, जिनको निर्भय पद चाहिये, उनसे मैं बार-बार कह रहा हूँ कि उन सबके लिए एकमात्र साधन भगवन्नाम कीर्तन है ।

नामकीर्तन एक ऐसा साधन है कि इसकी महिमा लोग बार-बार सुनते हैं फिर भी कर नहीं पाते हैं । ऐसा समझ लो कि श्रीमद्भागवत का फल ही है – 'नाम-संकीर्तन' ।

जय श्री राधे जय नन्दनंदन ।

सबका सार यही है कि भगवान् श्यामसुन्दर का नाम-कीर्तन करो और देखो कि बहुत दिन तक जीने से क्या लाभ है, वास्तविक जीना तो यही है कि नाम-कीर्तन करते हुए जिएँ, इसका नाम 'जीवन' है । प्राचीनकाल में खट्वांग नामक एक राजा हुए हैं, उन्होंने दो घड़ी में ही परम पद प्राप्त कर लिया । ऐसे ही केवल कृष्ण नाम कीर्तन करो तो जियो और नहीं तो जीने का कोई फल नहीं है । नामकीर्तन करो अथवा सुनो । भागवत कथा के श्रोताओं को अपने घर जाकर केवल कृष्ण-कीर्तन करना चाहिए । एक क्षण, दो क्षण, एक मिनट, दो मिनट – केवल नाम-कीर्तन की ध्वनि से ही सारा घर तीर्थ बन जाएगा । यही जीवन का वास्तविक फल है । अन्तकाल (मृत्युसमय) आने पर मनुष्य को घबराना नहीं चाहिए । घबराने की क्या बात है, भगवान् तो काल के भी महाकाल हैं । मरणासन्न व्यक्ति अपने मन को जीतकर ब्रह्माक्षर प्रणव का जप करते हुए भगवान् का ध्यान करे । यहाँ प्रणव से अभिप्राय है भगवन्नाम । भगवान् का ध्यान करे, क्यों ? क्योंकि शुकदेव जी ने भगवान् का ध्यान करने को कहा है । भगवन्नाम और प्रणव एक ही है । शुकदेव जी कहते हैं कि श्रीकृष्ण के एक-एक अंग का ध्यान करे और धारणा द्वारा मन को वश में करे । भगवान् की धारणा और ध्यान के द्वारा क्या होता है, जितने भी मल होते हैं, वे जल जाते हैं । देखो,

अब यहाँ यह समझना चाहिए कि जैसे हमलोग आँख बंद करके ध्यान करते हैं तो बहुत से जो अधकचरे ज्ञानी होते हैं, वे कहते हैं कि अरे यह तो कल्पना का रूप है । (जिसका तुम ध्यान करते हो) इससे क्या लाभ होने वाला है ? यह मूर्खों की बात है । असद् वस्तु में मन गड़ना 'कल्पना' होता है और जब सद् वस्तु में मन चलता है तो यह 'भावना' कही जाती है । प्राकृत काव्यकारों ने भी कहा है – **'निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथम विक्रिया ।'** निर्विकारी चित्त की क्रिया 'भाव' है । अगर ठीक से शब्दार्थ किया जाए तो चित्त निर्विकारी तो होना ही चाहिए । 'निर्विकारी' का मतलब यही नहीं है कि अन्य भाव आदि को विकार मान लिया जाए । निर्विकारी का वैष्णव दृष्टि से यह भी तात्पर्य है कि हम भावना कर रहे हैं तो चित्त सांसारिक विकारों से दूषित नहीं होना चाहिए । इसलिए शुकदेवजी कह रहे हैं –

'यच्छेद्धारणया धीरो हन्ति या तत्कृतं मलम् ।'

(श्रीभागवतजी - २/१/२०)

ध्यान-धारणा से मन के जितने भी मल हैं, वे सब नष्ट हो जायेंगे । अब यहाँ राजा परीक्षित् जी ने शुकदेव जी से प्रश्न किया – महाराज ! यह बताइये कि धारणा क्या वस्तु है, ध्यान तो हम थोड़ा बहुत समझ भी लेते हैं । तब श्रीशुकदेवजी ने धारणा का जो स्वरूप बताया, उसे हमें ठीक से समझना चाहिए क्योंकि बहुत से लोग घबराते हैं, वे कहते हैं कि हम तो रसिक हैं, भागवत जी में तो बहुत- सी फालतू बाते भी हैं; ऐसा नहीं है । इसे समझो, जैसे हम ब्रज की उपासना कर रहे हैं तो ब्रजोपासना भी उसी शैली की है जैसी शुकदेवजी बता रहे हैं । ब्रज की उपासना करना खेल नहीं है । सब लोग कहते हैं कि हम भक्त हैं, ब्रज में आये हैं, भक्ति कर रहे हैं किन्तु भक्ति करना खेल नहीं है । ब्रज-उपासना भी बहुत कठिन है । ब्रज की उपासना में कहा गया है –

सद्योगीन्द्र सुदृश्यसान्द्ररसदानन्दैकसन्मूर्त्तयः
सर्वेऽप्यद्भुतसन्महिम्नि मधुरे वृन्दावने सङ्गताः ।
ये क्रूरा अपि पापिनो न च सतां सम्भाष्य दृश्याश्च ये
सर्वान् वस्तुतया निरीक्ष्य परमस्वाराध्यबुद्धिर्मम ॥

(श्रीराधासुधानिधि - २६४)

जो ब्रज में क्रूर लोग रह रहे हैं, चोर हैं, रात को आकर पैसा छीनकर मार जायेंगे । पापी हैं, इतने ज्यादा पापी हैं कि देखने योग्य नहीं हैं, बोलने योग्य नहीं हैं, उनको इस रूप में देखकर भी ऐसी बुद्धि करो कि ये परम स्वाराध्य हैं, ये है ब्रज उपासना । अब यह कितना कठिन है ।

एक रसिक संत कहते हैं –

श्रीराधे रानी मोहि अपनी कर लीजै ।
और कछू मोहे भावत नाहीं,
महल टहलनी कीजै ।
खग मृग पशु-पंछी या बन के,
चरण शरण रख लीजै ॥

इस ब्रज के खग-मृग, पशु-पक्षी आदि सब वन्दनीय हैं । इन सबके प्रति वही परम स्वराध्य भाव रखना चाहिए, तब तो यह ब्रज-उपासना है । दानलीला में ठाकुरजी कहते हैं –

ब्रज-वृन्दावन गिरि नदी ।
इन सो कहा दुराव प्यारी,
ये सब मेरे रूप ॥

ब्रज में लता-पता आदि जो कुछ भी दिखाई दे रहे हैं, श्यामसुन्दर कहते हैं कि ये सब मेरा रूप है । हम लोगों को अपनी स्थूल दृष्टि से ब्रज

में जो कुछ दिखाई पड़ता है कि यह पापी है, यह पीलू का, ढाक का वृक्ष है; जबकि महापुरुष कहते हैं –

रसिकन पारिजात यह दीखत,
विमुखन ढाक पीलूख ।

रसिकों को ब्रज के वृक्ष साक्षात् पारिजात दिखाई पड़ते हैं और हमको ढाक या पीलू के वृक्ष दिखाई पड़ते हैं । अभी हमें जो ब्रज का विकृत रूप दिखाई पड़ रहा है, इसके प्रति भी हमें वही चिन्मय भाव स्थापित करना पड़ेगा कि यह वही दिव्य ब्रज है ।

यही बात शुकदेवजी यहाँ सिखा रहे हैं कि जितना भी संसार हमें दिखाई पड़ रहा है, यह सब भगवान् का स्वरूप है, यही धारणा करो । यदि तत्त्व दृष्टि से, सिद्धान्त के अनुसार देखा जाय तो रसिकों के सिद्धान्त में और भागवत के सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है । केवल एक समझ का अन्तर है । लोगों ने व्यर्थ के लिए भेद की एक बहुत बड़ी दीवाल अपने चित्त में बढ़ा रखी है, जबकि भेद कुछ नहीं है ।

धारणा कैसी है, इसे शुकदेवजी बताते हैं कि यह जो संसार का स्थूल रूप है, इसे ऐसा समझो कि यह भगवान् का रूप है । जैसे – ब्रजोपासक ब्रज के कण-कण में चिन्मय भाव लाने का प्रयास करते हैं । अभयरामजी कहते हैं –

धनि-धनि वृन्दावन के गदहा प्यारे ।

बहुत से लोग उनके पदों को गा-गाकर हँसते हैं जैसे –

धनि-धनि वृन्दावन की चींटी ।
धनि-धनि वृन्दावन के कूकर ।
धनि-धनि वृन्दावन के सूकर ।

इन पदों को पढ़कर लोग सोचते हैं कि अभयरामजी ने यह क्या गा दिया । यह जो उन्होंने गा दिया, इसे हम समझ नहीं सकते और यह हमें परिहास लगता है परन्तु यह परिहास की बात नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि वृन्दावन के कूकर, वृन्दावन के शूकर और वृन्दावन के गधा, इन सबमें चिन्मय भाव रखो, इसी का नाम भावुकता है । यदि इनके प्रति भावुकता नहीं रखोगे, वही स्थूल दृष्टि बनाए रखोगे तो कैसे तुम ब्रज के उपासक बोले जाओगे ।

अरे, हम लोगों से तो इस संसार के प्राकृत प्रेमी अच्छे हैं जैसे मजनू ने कहा कि लैला की गली का कुत्ता भी मेरा पूज्य है और हम लोग ब्रज में आकर यदि दोषदृष्टि करते हैं कि अरे यहाँ तो बड़ी गड़बड़ी है, यहाँ के लोग पैसा माँगते हैं, ऐसा करते हैं, वैसा करते हैं तो ऐसा नहीं सोचना चाहिए । इसीलिए सारा संसार भगवान् का ही रूप है, यही है धारणा ।

यही बात शुकदेवजी सिखा रहे हैं कि ब्रह्माण्ड सात आवरणों से युक्त है । जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, महत्तत्व और प्रकृति – ये सात आवरण हैं । ये सब भगवान् का स्थूल शरीर है ।

वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः

भगवान् ही इस पृथ्वी के अधिष्ठाता पुरुष हैं । कैसे ? इसके लिए धारणा करना चाहिए । पाताल तो उन आदि पुरुष भगवान् के चरण हैं, दोनों गुल्फ महातल हैं, जाँघें तलातल है, उरुद्वय वितल और अतल हैं, ग्रीवा महर्लोक है तथा आदिपुरुष का ललाट सत्यलोक है, इन्द्रादि देवता उनकी भुजायें हैं, दिशाएँ उनके कान हैं, मुख अग्नि है और उनके नेत्र ही सूर्य आदि हैं । इस प्रकार ब्रह्माण्ड की जितनी भी विभूतियाँ हैं, ये सब भगवान् का स्वरूप हैं । इस तरह विराट का स्थूल से स्थूल रूप जो यह ब्रह्माण्ड है, इसमें जब भगवद्धारणा स्थित हो जाती है तब उस

व्यक्ति को सभी वृत्तियों में भगवान् ही अनुभूत होते हैं और उन भगवान् को, जो सत्य और आनन्द की निधि हैं, उनका भजन करने वाला अन्यत्र (किसी अन्य वस्तु में) आसक्त नहीं होता है तथा उसका आत्मपात नहीं होता है । हममें और एक भक्त में यही अंतर है कि हम भी इस संसार को देखते हैं और एक भक्त भी देखता है किन्तु भक्त सर्वत्र 'भगवान्' की धारणा रखता है तो संसार के इन्ही दृश्यों को देखते हुए भी वह 'कृष्ण' को प्राप्त हो जाता है और हम लोग संसार में भगवान् की धारणा न करके प्राकृत धारणा करते हैं, अतः इस कारण से हमारा आत्मपात हो जाता है । यह केवल दृष्टि का भेद है ।

सबसे पहले शुकदेवजी ने धारणा का उपदेश दिया और उसके बाद शेष कथा कही ।

जय जय राधे गोविंदा ।
राधे गोविंदा जय वृन्दावनचन्दा ॥

शुकदेवजी ने धारणा का जो उपदेश दिया, वह धारणा सर्वत्र आवश्यक है । ब्रज उपासना में उस धारणा का क्या स्वरूप है, यह पहले ही बताया जा चुका है क्योंकि इसे बिना समझे कभी-कभी लोग आलोचना करने लगते हैं । जैसे भागवत में धारणा के अन्तर्गत सब कुछ भगवान् को ही बताया गया, उसी प्रकार ब्रज उपासना में भी धारणा का छोटा सा उदाहरण देखिये ।

श्रीजी दान लीला के प्रसंग में श्यामसुन्दर से कहती हैं – 'हे प्यारे ! आप इस प्रकार से साँकरी खोर में दान ले रहे हैं तो यहाँ ब्रज के सब जीव देख रहे हैं ।' उस समय श्यामसुन्दर कहते हैं – 'हे किशोरी जू ! वस्तुतः यह सब मेरा अंग है ।'

ब्रज वृन्दावन गिरि नदी, पशु-पक्षी सब संग ।
इनसो कहा दुराव प्यारी, ये सब मेरो अंग ॥

ब्रज लाल-लाड़िली का अंग माना जाता है । यहाँ तक कि जो बरसाने का श्रीजी के करकमलों से निर्मित गह्वरवन है, यह स्थली सखीरूपा है, यह यहाँ की धारणा है, रसिक महापुरुषों ने इस स्थली (गह्वरवन) के सहचरी रूप का वर्णन किया है –

चलत्पदस्पर्शमवाप्य सास्थली सुनिर्वृताभूत्प्रथमं ततः परम् ।
अन्यत्र तत्पादमवेक्ष्य चेर्ष्यया किंचिन्मलिम्नश्छलतोऽश्रु बिभ्रती ॥

(श्रीवृषभानुपुरशतक - ६)

बरसाने की एक-एक स्थली सहचरी रूपा है और 'सहचरीगण' श्रीजी के श्रीचरण का प्रकाश हैं । अतः केवल 'क्रम' कहने का ढंग कुछ अलग मालूम पड़ता है किन्तु परिपाटी वही है । उपासक जहाँ कहीं भी जाता है, उसको वही क्रम रखना पड़ता है ।

अध्याय – २

द्वितीय स्कन्ध में शुकमुनि ने सबसे पहले धारणा बतायी कि सब कुछ प्रभु है, प्रभु का ही अंग है । आगे उन्होंने बताया कि ब्रह्माजी को भी जो कुछ प्राप्ति हुई, इसी धारणा से हुई कि सब कुछ प्रभु हैं ।

एवं पुरा धारणयाऽऽत्मयोनिर्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुध्य तुष्टात् ।

(श्रीभागवतजी - २/२/१)

उपासक के लिए धारणा का बहुत महत्व है । गुरु या भावुक महापुरुष क्या करते हैं, वे हमारे चित्त में सबसे पहले धारणा का संशोधन करते हैं । यह उपासना की नींव है । नींव यदि गड़बड़ हो जायेगी तो मकान भी गड़बड़ हो जाएगा । धारणा का ही पोषण भागवत में आगे सभी महापुरुषों ने किया है । कपिल भगवान् भी धारणा का पोषण करते हैं –

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२९/२१)

भगवान् कहते हैं कि चाहे कोई कितना भी भजन करे, मेरे श्रीविग्रह की सेवा करे परन्तु यदि उसकी धारणा गलत है तो मेरी सेवा-पूजा केवल विडम्बना है, केवल स्वांग मात्र है । उन्होंने आगे यहाँ तक कह दिया –

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२९/२२)

यदि हमारी धारणा गड़बड़ है तो 'भस्मन्येव जुहोति सः' - जैसे राख में हवन किया जाये, वैसे ही अर्चा (ठाकुरजी की पूजा) सब तरह से व्यर्थ हो जाती है । यह कितनी गम्भीर बात कपिल भगवान् ने कही है, इसे आगे तीसरे स्कन्ध में विस्तार से बताया जाएगा ।

जो सद्गुरु होते हैं, वे धारणा का ही शोधन करते हैं । धारणा को सँभालने के बाद शुकदेवजी उसका महत्व बता रहे हैं कि धारणा के ही द्वारा ब्रह्माजी ने अपनी नष्ट स्मृति प्राप्त की और सारे संसार की रचना की । जो वेद भगवान् हैं, ये शब्द ब्रह्म हैं, इनके भी बीच में जो विद्वान् लोग हैं, वे प्रयोजन मात्र ही व्यवहार रखते हैं, अन्यत्र नहीं, क्योंकि परिश्रम व्यर्थ जाता है । प्रयोजन क्या है, जिससे केवल भगवद्भक्ति और उपासना का पोषण हो, विद्वान् लोग उतना ही ग्रहण करते हैं । अन्य जो कर्म की श्रुतियाँ हैं, सकाम कर्म का प्रतिपादन करती हैं । रोचनार्था फल श्रुति जितनी भी हैं, उन सबको विद्वान लोग छोड़ देते हैं ।

शुकदेवजी महाराज बता रहे हैं कि संसार में जितने भी लोग हैं, चाहे विद्वान् हैं परन्तु पता नहीं क्यों जब (शयन करने के लिए) पृथ्वी है तो फिर भी अच्छे-अच्छे पलंग खरीदते हैं, बड़े अच्छे गद्दों का प्रयोग करते हैं, जब अपनी भुजा है (फिर भी) अच्छे-अच्छे तकिया खरीदते हैं। हाथों से (अंजलि बाँधकर) जल पी सकते हैं परन्तु फिर भी अच्छे-अच्छे जल पात्र खरीदते हैं। क्यों खरीदते हैं, क्यों संग्रह करते हैं ? यह तो अविवेक है, अज्ञान है। कुम्भनदासजी (महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के शिष्य व अष्टछाप के महान संत) के पास दर्पण भी नहीं था, पत्थर की कठौती में जल भरकर, उसी में देखकर तिलक किया करते थे। स्वामी हरिदास जी अपने शरीर पर ब्रजरज का लेप करते थे, उनके पास रहने के लिए कोई कुटिया भी नहीं थी, निधि-वन की लताओं-कुंजों में पड़े रहते थे। ये लोग सच्चे महापुरुष थे, इन्होंने संसार की वस्तुओं को असार समझा, ये सच्चे रसिक थे, बाकी और जितने भी विद्वान् धन और मायिक पदार्थों का जो संग्रह करते हैं, वह संग्रह व्यर्थ है।
शुकदेवजी कहते हैं –

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षाम् ।
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन् ।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान् ।
कस्माद् भजंति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥

(श्रीभागवतजी - २/२/५)

आश्चर्य है, ये विद्वान् हैं, कवि हैं फिर भी धन के नशे में मदान्ध हुए धनिकों की चापलूसी करते हैं, उनका आश्रय लेते हैं। वस्त्र यदि नहीं है तो रास्ते में पड़े हुए चीथड़े लेकर पहन लो। भोजन यदि नहीं है तो पेड़ के सूखे पत्ते चबा लो। 'श्रीवृन्दावनमहिमामृत' शतक के रचयिता कहते हैं।

भोक्तुं स्वादुं निकामं सकल तरुतले ।
शीर्ण पर्णानि सन्ति स्वच्छन्द स्वछन्दमेवास्ति ॥

पीने के लिए यमुनाजी का जल है, खाने के लिए लता-पता के सूखे पत्ते पड़े हुए हैं ।

शुकदेवजी आगे कहते हैं – **'रुद्धा गुहाः'** क्या गुफायें बंद हो गयी हैं जो हम लोग बड़े-बड़े मकान बनाने में लगे रहते हैं, क्या अजित श्यामसुन्दर भक्तों की रक्षा नहीं करते हैं, जो हम लोग अपनी रक्षा की चिन्ता करते हैं । फिर क्यों विद्वान् लोग धन के दुर्मदान्ध लोगों के पीछे-पीछे घूमा करते हैं कि सेठ लोग कुछ धन दे जायेंगे । क्या है इनकी विद्या?

शुकदेवजी परीक्षित् से कहते हैं – विद्या का यही फल है कि इस प्रकार की धारणा से प्रभु को अपने हृदय में पकड़ो ।

एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध
आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः ।
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत
संसारहेतूपरमश्च यत्र ॥

(श्रीभागवतजी - २/२/६)

प्रभु कहीं बाहर से नहीं आयेंगे । हमारे चित्त में तो प्रभु स्वतः सिद्ध हैं, बैठे हुए हैं, चित्त के अधिष्ठाता ही वासुदेव हैं, साक्षात कृष्ण चित्त में विराज रहे हैं । श्रीकृष्ण स्वतः सिद्ध हैं, हमें केवल उनकी ओर देखना है, वे कहीं बाहर से नहीं आयेंगे-जायेंगे । इसलिए व्यर्थ की जो चिन्ता है, उसमें केवल पशुवृत्ति के लोग ही भटका करते हैं । जो भगवान् के भक्त हैं, दास हैं, वे इसमें नहीं भटका करते हैं । कोई-कोई हृदय में भगवान् का ध्यान करते हैं, जिनका मुख प्रसन्न है, सुन्दर कमल के समान जिनके नेत्र हैं । कदम्ब के पुष्प के पराग की तरह जिनका

पीताम्बर (पीला वस्त्र) है, अंगों पर बड़े सुन्दर आभूषण हैं, कानों में कुण्डल हैं, भुजाओं में सोने के बाजूबंद हैं, ऐसे प्रभु के चरणों को अपने हृदयकमल की कर्णिका पर स्थापित करना चाहिए। वे प्रभु गले में कौस्तुभ मणि धारण किये हुए हैं, वनमाला भी विराजित है, चरणों में नूपुर हैं, कंकण-किंकिणी भी अपने अनुरूप अंगों पर शोभायमान हो रहे हैं। नेत्रों की चितवन बड़ी सुन्दर है और भौहों की मरोड़ के बारे में तो कुछ मत पूछो, उसकी शोभा को तो कोई कह ही नहीं सकता, क्यों ? **भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम्** - भौहों की मरोड़ का यह मतलब मत समझ लेना कि प्रभु नाराज हो गए हैं। भौहों को वे इस ढंग से मरोड़ते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है मानो कृपा की वर्षा हो रही है। ऐसी उनकी छवि है। भौहों की मरोड़ तो अधिकतर कोप में होती है किन्तु श्रीकृष्ण द्वारा भौहों की मरोड़ कृपा के लिए की जा रही है। ऐसे श्यामसुन्दर के प्रति जब तक मन अपनी धारणा में स्थित न हो जाए तब तक एक– एक अंग का चिंतन करके ध्यान करो। ध्यान की परिपाटी को समझो। भगवान् के सम्पूर्ण विग्रह के इकठ्ठा ध्यान करने की परिपाटी नहीं है। महापुरुष लोग ही इसे बताते हैं, अपने-आप ऐसे ही ध्यान नहीं किया जा सकता है। जब श्रीराधारानी-श्यामसुन्दर का ध्यान करने बैठो तो पहले कुछ दिनों तक उनके एक ही अंग, श्रीचरणों का ही ध्यान करो। उदाहरण के लिए श्यामसुन्दर के चरण का ध्यान करना है तो पहले तो उनके श्रीविग्रह के रंग का ध्यान करो जो नील ज्योति है, उनके दिव्य शरीर में सबसे नीचे चरणों के तलवे में अरुणिमा (लालिमा) है, लाल ज्योति निकल रही है, श्रीनखचन्द्रों पर आओगे तो दोनों चरणों के नखों से दस नख-चन्द्रमा चमक रहे हैं, उनकी श्वेत कान्ति है। ऐसे ही श्रीजी के चरण हैं - गौर, अरुण और श्वेत, ये तीन ज्योतियाँ 'श्रीजी' के चरणों से निकलती हैं। इस प्रकार से चरणों का ध्यान करना चाहिए। पहले अंग

कान्ति का ध्यान करो, जैसे ऊपर बताया गया, इसके बाद कुछ दिनों के अभ्यास के बाद जो कान्ति की त्रिवेणी है (नील-गौर, अरुण और श्वेत), जब इनमें मन कुछ-कुछ रमने लग जाए तब आगे चलकर भगवान् के आभूषणों का ध्यान करो । आभूषणों का वर्णन इसीलिए किया गया है जैसे नूपुर हैं । यह कल्पना नहीं है, भगवान् ने अवतार इसीलिए धारण किया ताकि हम लोगों को उनके स्वरूप का ध्यान करने में सुगमता हो । आभूषण भगवद् विग्रह को प्राप्त करके भगवत्स्वरूप बन जाते हैं । भगवान् के अंगों के आभूषण ऐसे नहीं हैं कि सुनार के द्वारा उनका निर्माण किया गया हो । ठाकुर-श्रीजी के जितने भी आभूषण हैं, वे सब सहचरी रूप हैं, सखियाँ हैं । इसलिए उनके आभूषणों का ध्यान करो । फिर इस क्रम से आगे स्वयं ही समझ लेना चाहिए, ऊपर बढ़ना चाहिए और क्रम-क्रम से एक-एक अंग का ध्यान करते जाना चाहिए ।

एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत्
पादादि यावद्धसितं गदाभृतः ।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्
परं परं शुद्धयति धीर्यथा यथा ॥

(श्रीभागवतजी - २/२/१३)

ध्यान 'भगवान् के श्रीचरणों' से शुरू करो और मुखकमल तक जाओ कि प्रभु मुस्कुरा रहे हैं, यहाँ तक पहुँच जाओ । यदि कहें कि अब इसके आगे चलो तो आगे चल ही नहीं पाओगे, उनकी मुस्कान के प्रभाव से ही तुम्हारा सब कुछ हर लिया जाएगा ।

जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्
परं परं शुद्धयति धीर्यथा यथा ॥

भगवान् के जो अंगस्थान तुम्हारे चित्त में रम जायें, उसके बाद आगे बढ़ो । सुगमता-सरलतापूर्वक ध्यान करने का यही मार्ग है । सम्पूर्ण श्रीविग्रह का एक स्थान ध्यान नहीं हो सकता है । इसीलिए पहले क्रम से चलो । यह सब शुक मुनि बता रहे हैं और यह अत्यंत सरस वस्तु है । वस्तुतः श्रीमद्भागवतजी रसिकों के मार्ग से भिन्न नहीं है । ये सब समझना चाहिए ।

कृष्ण चरणों का ध्यान करने के बाद जब ऊपर चले गए और मन अच्छी तरह रम गया तथा जब शरीर छोड़ने का समय आ जाए तो मन को कहीं और न टिकाये । इन्द्रियों को मन द्वारा नियन्त्रित करे और मन को अपनी बुद्धि से बाँधे । ये सब एक दूसरे के अधिकारी(officer) हैं । जैसे पुलिस विभाग में एक थानेदार होता है, उसके ऊपर S.P. होता है, S.P. के ऊपर I.G.आदि अन्य वरिष्ठ अधिकारी होते हैं । वैसे ही इन्द्रियों को तो मन रोकता है तथा मन को बुद्धि रोकती है । यह क्रम है । फिर बुद्धि को ले जाओ क्षेत्रज्ञ (जीव) में तथा क्षेत्रज्ञ को ले जाओ अन्तरात्मा में और अन्तरात्मा को ले जाओ परमात्मा श्रीकृष्ण में । इस प्रकार सब कुछ श्यामसुन्दर में ले जाकर, सब कुछ उन्हें अर्पण करने के बाद एकदम शान्त होकर उस पद को प्राप्त हो जाओगे, जिसे वैष्णव पद कहते हैं, भगवद्धाम कहते हैं ।

परं पदं वैष्णवमामनन्ति

अब यहाँ एक मतभेद है, एक समझने योग्य बात है । बहुत से लोग जो अद्वैतवादी हैं, उनको वैष्णव आचार्य मायावादी कहते हैं क्योंकि जितना भी भगवत्क्षेत्र है, उसको वे सतोगुण के अन्तर्गत मानते हैं परन्तु भक्त लोग कहते हैं कि भगवत्क्षेत्र सतोगुण के अन्तर्गत नहीं है, वह तो वस्तुतः गुणातीत वस्तु है, सतोगुण कैसे हो जाएगा ? वह कौन सी वस्तु

है, वह विशुद्ध सत्व है, उसे अप्राकृत तत्त्व कहा जाता है जैसे शुकदेव जी ने कहा –

न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च
न वै विकारो न महान् प्रधानम् ।

(श्रीभागवतजी - २/२/१७)

न वहाँ सतोगुण है, न रजोगुण और न ही तमोगुण है । वह वैष्णवपद् भगवद्धाम है और मुनि को चाहिए कि उसका आलिंगन करके उपराम हो जाए ।

परीक्षित् जी ने जो गति पूछी तो शुकदेवजी सभी बातों को बता रहे हैं । मुक्ति दो प्रकार की होती है । एक को कहते हैं सद्योमुक्ति और दूसरी को कहते हैं - क्रम मुक्ति । यह समझने योग्य और कठिन विषय है । सद्योमुक्ति नाम सुनने से ऐसा लगता है कि सद्योमुक्ति बड़ी चीज है और क्रम मुक्ति छोटी चीज है परन्तु बड़े और छोटेपन की बात नहीं है । बहुत से लोग इसे समझ नहीं पाते हैं । सद्यः (सद्योमुक्ति) का तात्पर्य है कि ब्रह्म में हम लीन हो गए । क्रममुक्ति का तात्पर्य यह है कि जीव जब भगवद्धाम में जाता है तो ब्रह्म सब जगह व्यापक है । ब्रह्म कौन है, ज्ञानी लोग किसमें लीन होते हैं ? भगवान् के श्रीचरणारविन्द का जो प्रकाश है, भगवद्धाम का जो प्रकाश है, वही ब्रह्म है । भगवान् ने गीता में भी कहा है – **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्'** ब्रह्म की प्रतिष्ठा मैं हूँ, सविशेष केन्द्रस्थानीय मैं हूँ, ब्रह्म तो मेरी महिमा है ।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

(गीता - १८/५४)

ब्रह्म होने के बाद (योगी) फिर मेरी भक्ति प्राप्त करता है । इसलिए ब्रह्म तो सर्वत्र है ही, साधक उसमें लीन हो जाता है, इसको सद्योमुक्ति

कहते हैं । क्रममुक्ति उसको कहते हैं जैसे सूर्य स्थानीय अर्थात् सूर्य और उसका प्रकाश है । सूर्य का प्रकाश हमें पृथ्वी पर भी मिल रहा है परन्तु सूर्य जो प्रकाश का केन्द्रबिन्दु है, उसके पास पहुँचने के लिए हमें बहुत क्रम से चलना होगा और तब हम सूर्य के पास पहुँचेंगे । सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति का यह भाव है । पहले सद्योमुक्ति को समझना चाहिए कि यह क्या है ?

स्वपार्ष्णिनाऽऽपीड्य गुदं ततोऽनिलं
स्थानेषु षड्वन्नमयेज्जितक्लमः ।

(श्रीभागवतजी - २/२/१९)

इस शरीर में छः चक्र हैं । मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्णा में ये छः चक्र हैं – (१) मूलाधार (२) स्वधिष्ठान (३) मणिपूरक (४) अनाहत (५) विशुद्ध तथा (६) आज्ञा चक्र । मूलाधार चक्र गुदा द्वार के ऊपर है, लिंग मूल में है अधिष्ठान चक्र, नाभि में है मणिपूरक चक्र, हृदय में है अनाहत चक्र, कंठ में है विशुद्ध चक्र तथा भौहों के मध्य में है आज्ञा चक्र । इस प्रकार ये छः चक्र हैं ।

शुकमुनि कहते हैं कि जो जीव सद्योमुक्ति की ओर जाता है, उसे चाहिए कि एड़ी से अपनी गुदा को दबाकर प्राणवायु को ऊपर ले जाए । पहले प्राणवायु को (समस्त प्राणों को) मूलाधार चक्र से उठाकर फिर धीरे-धीरे छः चक्रों से ऊपर उठाता चला जाए, **'षड्वन्नमयेज्जितक्लमः'** – क्लम यानी परिश्रम को छोड़कर अथवा जीतकर । प्राणवायु को मूलाधार चक्र से उठाते-उठाते फिर स्वधिष्ठान चक्र से भी उठाये और मणिपूरक पर ले जाए, फिर वहाँ से उठाये तो हृदय में अनाहत चक्र मिलेगा, फिर वहाँ से प्राणवायु को उठाकर, उदानगत्यो - उदान गति से, उरसि - उरसि से यहाँ तात्पर्य है विशुद्धि चक्र क्योंकि हृदय का वर्णन तो हो चुका है, हृदय से तात्पर्य है अनाहत

चक्र किन्तु यहाँ उरसि का मतलब है कंठ (गले)के बीच में प्राणवायु को ले जाएँ और वहाँ से – **'ततोऽनुसन्धाय'** – अपने चित्त को अनुसन्धान करके, अपने लक्ष्य पर बुद्धि के द्वारा अपने तालुमूल में, विशुद्धि चक्र के अग्रभाग में, धीरे-धीरे प्राणों को उठा के ले जाए ।

तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नयेत निरुद्धसप्तायतनोऽनपेक्षः ।

(श्रीभागवतजी - २/२/२१)

उसके बाद सातों द्वारों की अपेक्षा न करके भौहों के बीच आज्ञा चक्र में ले जाए और एक मुहूर्त के अर्द्ध तक रुककर, अकुण्ठ दृष्टि रखकर ब्रह्माण्ड को फोड़ कर मुक्त हो जाए, यह है सद्योमुक्ति । अब क्रममुक्ति को समझना चाहिए, यह कठिन है किन्तु वैष्णवों (भक्तों) के लिए यही है । मृत्युलोक से जब भगवद् भक्त भगवद् धाम को, गोलोक धाम को जाता है तो वह क्रम से जाता है । जैसे – कोई बरसाना से मथुरा जाएगा तो पहले गोवर्धन पड़ेगा, फिर अड़ींग और फिर अन्य स्थान होकर मथुरा तक पहुँचेगा । इसी प्रकार जितने भी जीव परलोक की यात्रा करते हैं, उनमें बहुत से लोग ब्रह्मलोक तक जाते हैं । यह बड़े चक्कर की बात है कि ब्रह्मलोक तक भक्त भी जाता है और बहुत से लोग जो चौरासी लाख योनियों में लौटने वाले हैं, वे भी ब्रह्मलोक जाते हैं । यह दोनों ही प्रकार के शास्त्र के वचन हैं । भगवान् ने गीता में कहा –

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । (श्रीगीताजी - ८/१६)

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक जाकर चौरासी लाख योनियों में लौटना पड़ेगा । जहाँ जाकर लौटना नहीं पड़ता, वह तो मेरा धाम है ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम । (श्रीगीताजी - १५/६)

इसलिए ब्रह्मलोक तक जाकर मृत्युलोक में लौटना पड़ेगा ।

इधर भागवत में शुकदेव जी कह रहे हैं कि भक्त को ब्रह्मलोक जाना पड़ता है अथवा **'ब्रह्मणा सहते प्राप्ताः'** – ब्रह्माजी के साथ वे मुक्त हो जाते हैं, ऐसे भी शास्त्र के वचन हैं । ये जो बहुत से विरोधी वचन हैं, इनका समाहार क्या है ? इनका समाहार समझिये ।

यहाँ भागवत में संक्षेप में बताया गया है क्योंकि परीक्षित् जी के पास समय कम था । इसलिए थोड़े में भागवत में बताया गया कि जब कोई यहाँ (पृथ्वी) से ऊपर के लोकों में जाता है तो उसका एक क्रम है – दिनाभिमानी, पक्षाभिमानी, मासाभिमानी, संवत्सराभिमानी, ऐसे बीच में पड़ने वाले बहुत से स्टेशन बताये गए हैं परन्तु भगवत्शक्ति से उसमें समय नहीं लगता है । केवल उनका नाम ही बताया गया है । ब्रह्मलोक कई प्रकार के लोग जाते हैं, ये भी समझना चाहिए । एक तो वे लोग जाते हैं, जिनको ब्रह्मलोक जाकर लौटना पड़ता है । एक वे हैं, जो ब्रह्मलोक में रुक जाते हैं जैसे कोई बड़ा भारी जंक्शन है, एक गाड़ी तो जंक्शन से लौट आती है, एक गाड़ी जंक्शन पर ही समाप्त हो जाती है, उसको केवल वहीं तक जाना होता है, एक गाड़ी जंक्शन से आगे चली जाती है । इस प्रकार जंक्शन में तीन प्रकार की गाड़ियाँ चलती हैं । वैसे ही ब्रह्मलोक में तीन प्रकार के यात्री जाते हैं ।

यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यंवैहायसानामुत यद् विहारम् ।
अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवायेसहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च ॥

(श्रीभागवतजी - २/२/२२)

यदि कोई ब्रह्मलोक के भोगों के लिए जा रहा है अथवा आकाशचारी लोगों के साथ कोई विहार करने जा रहा है तो वह अपने मन को साथ लेकर जाए और ये ऊपर की गतियाँ कर्मों से नहीं मिलती हैं । विद्या, तप और योग के कारण मिलती हैं, कैसे ? योगी पहले यहाँ

से अग्निलोक जाता है । ये सभी जाने वाले योगी आकाशमार्ग से जाते हैं । ये कैसे जाते हैं तो इसका उत्तर यह है कि सुषुम्णा नाड़ी ऐसी है, जो यहाँ से लेकर ब्रह्मलोक तक फैली हुई है, यह हमको दिखाई नहीं दे सकती है क्योंकि बहुत ही सूक्ष्म संसार है । ऐसा मत समझो कि सुषुम्णा नाड़ी केवल हमारे शरीर के ही भीतर है । यह ऊपर तक चली गयी है । **'सुषुम्णया ब्रह्मपथेन शोचिषा'** – योगी ब्रह्मपथ से चला, अग्निलोक को गया । अग्निलोक क्यों गया तो शुकदेव जी बोले – **'विधूतकल्कोऽथ'** – जो कुछ उसके अन्तःकरण में रज-तम के मल रह जाते हैं , वे वहाँ जल जाते हैं । अग्निलोक से चलकर योगी शैशुमार चक्र जाता है । शैशुमार चक्र क्या है, यह विश्व ब्रह्माण्ड की नाभि है । जैसे हमारे शरीर में नाभि है, उसी प्रकार शैशुमार चक्र भी नाभि है । 'अणीयसा' – बड़े सूक्ष्म शरीर से, 'विरजेन' - बड़े निर्मल होकर (क्योंकि अग्निलोक में योगी के समस्त मल जल चुके हैं) योगी महर्लोक में जाता है, जहाँ एक कल्प तक लोग रहते हैं जैसे पृथ्वी से अन्तरिक्ष में चले जाओ तो वहाँ से पृथ्वी दिखाई पड़ेगी, वैसे ही महर्लोक में जो चला जाता है उसे नीचे का संसार दिखाई पड़ता है । जब प्रलय का समय आता है और शेषनाग के मुख से निकली हुई आग के द्वारा सारा संसार जलने लगता है तो ऊपर के लोक में बैठकर वहाँ के निवासी इसे देखते हैं । जब संसार जलने लगता है तो योगी ब्रह्मलोक में चला जाता है । ब्रह्मलोक की आयु ब्रह्मा की आयु के समान ही दो परार्द्ध की है, वहाँ किसी प्रकार का कोई शोक नहीं है, बुढ़ापा नहीं है, मृत्यु नहीं है, उद्वेग नहीं है । ब्रह्मलोक में तीन प्रकार के लोग गए थे, एक तो पुण्य के बल से जाने वाले, जिन्होंने १०० वर्षों तक कोई पाप नहीं किया और बहुत अधिक पुण्य किये । दूसरे वे लोग ब्रह्मलोक जाते हैं जो हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जी के उपासक हैं, जो ब्रह्माजी को परमात्मा मानकर उनका भजन करते

हैं । तीसरी कोटि में, भगवद् भक्तगण भी ब्रह्मलोक जाते हैं क्योंकि भगवद्धाम जाते समय ब्रह्मलोक रास्ते में ही पड़ता है । जो लोग पुण्य के बल से ब्रह्मलोक जाते हैं, वे तो वहाँ रुककर, वहाँ के भोगों को भोग कर ब्रह्मलोक के अधिकारी बन जाते हैं । कोई-कोई ब्रह्मा भी बन जाते हैं । दूसरे प्रकार के लोग जो हिरण्यगर्भ के उपासक हैं, जिन्होंने ब्रह्मा जी को परमात्मा मानकर उनका भजन किया, ऐसे लोग तो ब्रह्मलोक में जब तक ब्रह्मा जी हैं, तब तक वहाँ रहेंगे, इसके बाद वे लोग ब्रह्मा जी के साथ ही मुक्त हो जायेंगे, ब्रह्मा जी के पहले वे मुक्त नहीं होंगे । इसीलिए इसे क्रममुक्ति कहा जाता है क्योंकि जो लोग मूल ब्रह्मा जी के उपासक हैं, वे ब्रह्मा जी के साथ ही मुक्त होंगे किन्तु यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है, वह यह है कि जो भगवद्भक्त होता है, उसकी मुक्ति में देर नहीं लगती जैसे कोई महत्वपूर्ण रेलगाड़ी चलती है तो वह छोटे-मोटे स्टेशनों पर नहीं रुकती है, रास्ते में स्टेशन पड़ गया, यह दूसरी बात है लेकिन गाड़ी सीधी चली जाती है, बीच में कहीं रुकती नहीं है, वैसे ही जो भगवद्भक्त है, वह तो उत्तम कोटि की रेलगाड़ी है, उसके लिए तो ब्रह्मलोक बीच में पड़ गया, ठीक है लेकिन वहाँ ब्रह्मलोक का केबिन मास्टर ब्रह्माजी भक्त को हरी झण्डी दिखा देंगे कि तुम तो चले जाओ, तुमको रोकने वाला कोई नहीं है, यहाँ तुम्हारे रुकने का स्थान नहीं है, यहाँ तो छोटा-सा स्टेशन है, तुम्हारी तो सुपरफास्ट गाड़ी है, तुम भगवद्धाम जा रहे हो, यहाँ तुम्हारा क्या काम ? इसलिए ब्रह्माजी भक्त को सीधे हरी झण्डी दिखा देते हैं और भक्त स्वेच्छा से ही भगवद्धाम को चला जाता है, ब्रह्मलोक में रुकता नहीं है । क्रम मुक्ति का मतलब यह नहीं है कि साधक को कुछ देर लगी, ऐसा नहीं समझना चाहिए । शुक मुनि कहते हैं कि इसे क्रममुक्ति इसलिए कहा गया क्योंकि बहुत से अधिकारी जो ब्रह्मलोक में रुकने वाले होते हैं, कुछ वहाँ से लौटने वाले

होते हैं, उन सबकी दृष्टि से इसे क्रममुक्ति कहा जाता है । भक्त यदि ब्रह्मलोक पहुँच जाता है तो स्वेच्छा से ब्रह्माण्ड का भेदन कर देता है, कैसे ? सद्योमुक्ति वाला भी तो ब्रह्माण्ड का भेदन करता है, अपनी प्राणवायु को ले जाकर षड्चक्रों से खींचते-खींचते और षड्चक्रों के बाद ब्रह्माण्ड का भेदन कर मुक्त होता है । जबकि भगवद्भक्त तो बहुत बड़ा अधिकारी (authority) है । सद्योमुक्ति वाले महाराज तो व्यष्टि ब्रह्माण्ड का भेदन करते हैं और भक्त तो समष्टि ब्रह्माण्ड का भेदनकर भगवद्धाम को जाता है । समस्त प्राकृत रचना के ऊपर है अप्राकृत भगवद्धाम । जितना भी स्थूल ब्रह्माण्ड है, उन सबका भेदन करके भक्त भगवद्धाम को जाता है । कैसे भेदन करता है ? दो प्रकार के आवरण होते हैं । एक स्थूल आवरण और दूसरा सूक्ष्म आवरण । पचास करोड़ योजन का जो ब्रह्माण्ड है, यह स्थूल आवरण है, इसमें पार्थिव अंश विशेष है । पार्थिव आवरण का भेदन करने पर उससे १० गुना जल का आवरण है अर्थात् दस-दस गुना आवरण बढ़ते जाते हैं । पार्थिव आवरण से दस गुना जल का आवरण है, जल से दस गुना तेज का आवरण है, उससे भी दस गुना आकाश का आवरण है । आकाश से दस गुना अहंकार का आवरण है, अहंकार से दस गुना महत्तत्व का आवरण है, महत्तत्व से दस गुना प्रकृति का आवरण है । इस प्रकार से इन आवरणों का भेदन करके तब सूक्ष्म आवरणों का भेदन करे, कैसे ?

'घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसम्'

घ्राण के द्वारा गंध तन्मात्रा, रसना के द्वारा रस तन्मात्रा, इस प्रकार इन सभी तन्मात्राओं के आवरणों का भेदन करके जो ऊपर को जा रहा है, उसे चाहिए कि तामस अहं, सूक्ष्म भूतों का भेदन करे फिर इन्द्रियाँ जहाँ से निकली हैं, उस राजस अहं का भेदन करे फिर वैकारिक सात्विक अहंकार का भेदन करे, इसके बाद महत्तत्व का भेदन करे और अंत में

भक्त प्रकृति का भेदन करने के बाद भगवद्धाम में पहुँच जाता है, जहाँ से फिर कभी संसार में नहीं लौटता और अनन्तकाल के लिए भगवान् के साथ रास विहार इत्यादि भगवल्लीलाओं में प्रवेश कर जाता है । अब उसके लिए लौटने का कोई काम नहीं है । शुकदेव जी परीक्षित् से कहते हैं कि ये जो मार्ग मैंने तुम्हे बताये, इनके अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं है और इस मार्ग को पाने के लिए – **'वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्'** अर्थात् भक्तियोग चाहिए । इसके अतिरिक्त एक और अजीब बात शुकदेव जी कह गए –

दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणैरनुमापकैः– (श्रीभागवतजी - २/२/३५)

प्रश्न यह हुआ कि भगवान् से प्रेम कैसे करें क्योंकि भगवान् दिखाई तो देते नहीं हैं । लोग प्रेम उससे करते हैं जो दिखाई देता है और जो दिखाई ही नहीं दे रहा है, उससे कैसे प्यार किया जाए ? इसके लिए शुकदेव जी कहते हैं कि जैसे कहीं पर धुआँ निकल रहा है तो उसे देखकर हम अनुमान लगाते हैं कि वहाँ पर आग होगी, वैसे ही संसार के जितने भी दृश्य हैं, इनको देखकर के सोचना चाहिए कि जो इनका द्रष्टा है, वह परमात्मा है । इसके लिए थोड़ा विचार की आवश्यकता है । संसार में जितना रस है, जितना आनन्द है, वह सब कहाँ से आया है, दृश्य को प्रकाशित कौन कर रहा है ? इस प्रकार विचार करते-करते स्वतः पता पड़ जाता है कि आनन्द कहाँ से आया है, जो नन्द को आनन्द श्रीकृष्ण है, वहाँ से आनन्द आ रहा है । जैसे कमरे में बिजली का बल्ब है, इसमें बिजली कहाँ से आई है, विचार करते चले जाओ तो पता पड़ेगा कि बिजली का तार पड़ा फिर पावर हाउस, इसके बाद कहीं बिजली बनती है, वहाँ से आती है तो बिजली का मूल केंद्र वह हुआ, जहाँ बिजली बनायी जाती है । इसी प्रकार शुकदेव जी कह रहे हैं कि यह सोचो संसार में आनन्द कहाँ से आया, इस संसार में रस कहाँ से आया ? यदि तुम विचार करोगे तो समझ जाओगे कि सम्पूर्ण आनन्द, सम्पूर्ण रस यदि

संसार में कहीं है भी तो उस आनन्द का संकलित रूप, इकठ्ठा घर जो है, वही तो कृष्ण है । रस का समुच्चय भण्डार कृष्ण है । इसलिए थोड़ा सा विचार करने पर पता पड़ता है कि सबका दृष्टा कृष्ण है, सबका केन्द्रबिंदु कृष्ण है । ऐसा विचार करने पर स्वतः ही उनसे प्रीति हो जायेगी ।

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम् ॥

(श्रीभागवतजी - २/२/३६)

वे हरि सर्वत्र हैं, सर्वस्थानीय हैं, उन भगवान् का दिन-रात श्रवण करो, उन्हीं का कीर्तन करो, उन्हीं का स्मरण करो, यही कल्याण का एकमात्र मार्ग है और कुछ नहीं है ।

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भ्रतम् ।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ॥

(श्रीभागवतजी - २/२/३७)

जो श्रीकृष्ण यश को सुनते हैं, वे निश्चय ही उनके चरणों में पहुँच जाते हैं ।

अध्याय – ३

इस अध्याय में बताया गया है कि संसार में बहुत से लोग विविध कामनाओं से ग्रसित हैं । किसी को तेज चाहिए, किसी को पैसा चाहिए, किसी को स्त्री चाहिए, किसी को नेतागिरी चाहिए कि हम नेता बन जायें, कोई राज्य प्राप्त करना चाहता है, इस प्रकार लोगों की अलग-अलग कामनायें हैं ।

शुकदेव जी कहते हैं – परीक्षित् ! अपनी विविध कामनाओं के अनुसार लोग अलग-अलग देवताओं का भजन करते हैं जैसे एकाध

उदाहरण देख लो कि इन्द्रियों की कामना पूर्ति के लिए लोग इन्द्र की उपासना करते हैं । जो लोग धन-संपत्ति-पूँजी के इच्छुक हैं, वे देवी की उपासना करते हैं, तेज की इच्छा वाले विभावसु (अग्नि) की उपासना करते हैं । पराक्रम की इच्छा वाले रुद्र की उपासना करते हैं, सुन्दर पत्नी की कामना वाला उर्वशी अप्सरा की उपासना करता है, सुन्दर रूप चाहिए तो गन्धर्वों की उपासना करते हैं परन्तु वास्तविकता ये है कि जैसे एक-एक चीज किसी स्थान (फुटकर विक्रेता के पास) पर थोड़े अंश में मिलती है और यदि किसी थोक व्यापारी (wholesale merchant) के पास पहुँच जाओ तो एक साथ सब चीज मिल जायेगी, चाहे कितनी ही ले लो । शुकदेव जी के अनुसार देवी-देवताओं के पास तो शाखा वाली(branch) दुकानें हैं, उनसे बहुत थोड़ा-थोड़ा माल ही मिलेगा । कामना की पूर्ति यदि करनी है, इकठ्ठा माल चाहिए तो भी श्रीकृष्ण का भजन करना चाहिए और यदि कामना की पूर्ति नहीं करनी है, केवल कृष्ण चाहिए तो भी उन्ही का भजन करना हैं । वे थोक व्यापारी हैं और शेष सभी देवी-देवता तो इनके एजेंट हैं, ये भी अपने उपासकों को देने के पदार्थ श्रीकृष्ण से ही लाते हैं, जिसको जो भी भोग का, विषयसुख का आनन्द और धन इत्यादि चाहिए तो ये देवता श्रीकृष्ण से ही लेकर आते हैं और फिर संसार में अपने उपासकों को बाँटा करते हैं । इसलिए सबका सार शुकदेवजी ने एक ही श्लोक में बता दिया है –

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥

(श्रीभागवतजी - २/३/१०)

चाहे अकाम हो अथवा समस्त कामनाओं से युक्त हो, जैसे – पैसा भी चाहिए, लड्डू-पेड़ा-बर्फी भी चाहिए, सब कुछ चाहिए, ठीक है, इसके

लिए भी गोपालजी का ही भजन करना चाहिए। जो केवल मोक्ष की कामना रखता है, उसे भी परम पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना करनी चाहिए किन्तु इतना अवश्य है कि उसे उदार होना चाहिए। देखो, उदार व्यक्ति के लिए हर उपासना जल्दी सिद्ध होगी। भगवान् ने गीता में भी चार प्रकार के भक्तजनों यथा अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी के बारे में कहा है – **'उदाराः सर्व एवैते'** अर्थात् ये सभी उदार हैं। जो उदार नहीं है, कृपण है, उसको सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। उदार व्यक्ति को बहुत शीघ्र सिद्धि प्राप्त हो जाती है। परन्तु वह भजन कैसे करे तो बहुत ही बढ़िया बात शुकदेवजी ने कही – **'तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत'** – अर्थात् तीव्र भक्तियोग की सुपरफास्ट रेल चलाओ, ऐसा नहीं कि केवल १५ मिनट या २० मिनट भजन कर लिया। तीव्र का मतलब समय की अधिकता नहीं है, महात्माओं की अधिकता नहीं है, तीव्र भक्तियोग का तात्पर्य है मन की एकाग्रता।

इस प्रकार मन की एकाग्रता के साथ भगवान् का भजन करना चाहिए और संसार में सबसे बड़ा कल्याण क्या है ?

एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद् भागवतसङ्गतः ॥

(श्रीभागवतजी - २/३/११)

सबसे बड़ा कल्याण यही है कि भगवान् में अचल भाव हो जाए और वह कैसे होगा, **यद् भागवतसङ्गतः** - जब भक्त का संग करोगे तो दिन-रात भगवान् की ही चर्चा सुनोगे, इसलिए भक्त के संग से स्वतः ही तुम्हारा भगवान् के प्रति अचल भाव हो जाएगा। भक्तों का संग सबसे अधिक आवश्यक है। जो कोई जहाँ भी रह रहा है, किसी शहर में रहता है, वहाँ भी यदि कोई भक्त है, कृष्ण चर्चा जहाँ भी प्राप्त हो रही है, ढूँढ-ढूँढकर वहाँ जाओ, यदि वहाँ कोई कमी है तब भी वहाँ जाओ क्योंकि

कृष्ण चर्चा कान में पड़नी चाहिए और यदि थोड़ी बहुत कमी के डर से तुम ऐसे स्थान पर नहीं जाओगे तो कृष्ण चर्चा तुम्हारे कान में नहीं पड़ेगी । इसलिए सबसे बड़ा लाभ यही है कि कृष्ण यश को सुनो । भक्तियोग मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा लाभ है ।

शौनकजी ने कहा – सूतजी ! राजा परीक्षित् ने शुकदेव जी से और क्या पूछा ? वे तो बड़े भक्त थे । राजा परीक्षित् तो बचपन में ही कन्हैयाजी के खेल खेलते थे । वह तो राजा के पुत्र थे अतः कृष्ण लीला से सम्बन्धित खिलौने बनवाकर उनसे खेलते थे । उन्होंने सुना था कि श्रीकृष्ण ने कालिय नाग को नाथा था तो कालियनाग की मूर्ति बनवाकर उस पर कृष्ण की मूर्ति बनवाकर रखते और दमनलीला की मुद्रा में उन्हें कालियनाग पर घुमाते अथवा कभी अघासुर का खिलौना बना लेते, कभी बहुत लम्बी पूतना बनाकर उस पर बाल कृष्ण को बिठाते ।

बालक्रीडनकैः क्रीडन् कृष्णक्रीडां य आददे ।

(श्रीभागवतजी - २/३/१५)

शौनक जी कहते हैं कि परीक्षित् जी तो ऐसे भक्त थे कि बचपन में भी कन्हैया जी के ही खेल खेला करते थे । एक बात और है कि जो मनुष्य कृष्ण के बिना जी रहा है, वह जी नहीं रहा है, वह तो मर रहा है । मर नहीं रहा है बल्कि मर ही गया है, क्यों ? क्योंकि प्रतिक्षण हमारी आयु कट रही है, नाश को प्राप्त हो रही है । देख लो, क्या पेड़ नहीं जीते हैं, ऐसे ही हम लोग हैं, अन्तर इतना ही है कि पेड़ जड़ योनि में हैं और हम लोग चल फिर सकते हैं, थोड़ा सा चर-अचर का भेद है, नहीं तो जैसे पेड़ हैं, वैसे ही हम भी हैं ।

तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत ।
न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥

(श्रीभागवतजी - २/३/१८)

जो आदमी कृष्ण यश को नहीं सुनता है, उसका शरीर एक धौंकनी है । जैसे लोहार की धौंकनी साँस लेती है, हाँ-हौं की सी ध्वनि करती हुई हौंकनी चलती है । जिस मनुष्य के शरीर में कृष्ण नहीं हैं, कृष्ण नाम नहीं है, वह चाहे कितना ऊँचा धनी है, राजा है, उसका शरीर केवल एक लोहार की धौंकनी है । लोग बढ़िया-बढ़िया भोजन करने में समय बिता देते हैं, कोई किसी अच्छे रेस्टोरेंट में भोजन करने जाता है, कोई किसी बढ़िया होटल में अनेकों प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों का आनन्द लेने जाता है तो क्या गाँव के पशु नहीं खाते-पीते हैं ? शौनकजी कहते हैं कि ये लोग कैसे हैं –

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥

(श्रीभागवतजी - २/३/१९)

ऐसे लोगों की हालत कुत्ते की तरह है अथवा मल खाने वाले सुअर की तरह है । तुच्छ चीजें जैसे कोई चाट खाने होटल में जाता है तो वह विड्वराह अर्थात् मलभोजी सुअर की तरह खाने के लिए जाता है । होटल में गया खाने के लिए तो इससे समय भी नष्ट हुआ और बाहर बाजार में, होटल में खाने को अशुद्ध चीजें मिलती हैं । इसलिए ऐसे लोगों का जीवन विड्वराह (मलभोजी शूकर) की तरह है, केवल नाम है कि ये बड़े आदमी हैं, कलेऊ (नाश्ता) करने के लिए कार पर चढ़कर अमुक रेस्टोरेंट में जाते हैं, ऐसे लोग घर में तो भोजन करते ही नहीं हैं और संसार में बड़े आदमी समझे जाते हैं जबकि हैं वे विड्वराह (मल भक्षण करने वाले शूकर), बिल्कुल स्पष्ट बात है । जबकि इन्हें अपना समय कृष्ण के लिए लगाना चाहिये, कृष्ण का नाम लेना चाहिए और ये तो तुच्छ चीजों में अपना समय नष्ट कर रहे हैं, अतः ये बड़े आदमी कैसे हो सकते हैं ? ये तो विड्वराह हैं, ऊँट हैं । ऊँट एक ऐसा विचित्र प्राणी है जो काँटे खाता है, उसके सामने दूसरे खाद्य पदार्थ रख दो तो

नहीं खायेगा किन्तु काँटों को बड़े चाव से खाता है । पता नहीं प्रभु ने उसे कैसा बनाया है कि काँटे खाते समय उसको कोई पीड़ा भी नहीं होती अपितु उसे तो काँटे खाने में ही आनन्द आता है, इसी प्रकार हम लोग भी ऊँट की तरह हैं और गधे की तरह हैं । इसीलिए शौनकजी कहते हैं कि जिस मनुष्य के कान में भगवान् का नाम नहीं पड़ता, उसे तो गधा, ऊँट और सुअर ही समझना चाहिए । भागवत के इसी श्लोक से ग्रहण कर गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में चौपाई लिखी –

जो नहिं करइ राम गुन गाना । जीह सो दादुर जीह समाना ॥
जीवत सव समान तेइ प्रानी । जिन्ह हरिभगति हृदयँ नहिं आनी ॥

शौनकजी द्वारा कथित श्लोक का हिन्दी में वैसा ही अनुवाद कर दिया है गोस्वामीजी ने । आगे शौनकजी कहते हैं –

बिले बतोरुक्रमविक्रमान् ये
न श्रृण्वतः कर्णपुटे नरस्य ।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत
न चोपगायत्युरुगायगाथाः ॥

(श्रीभागवतजी - २/३/२०)

उस मनुष्य के कान सर्पों के बिल की तरह हैं, जो कृष्ण यश को नहीं सुनता है । जो जीभ भगवत्चरित्र का गायन नहीं करती है, वह मेंढक की जीभ के समान टर्र-टर्र करने वाली है । जो बहुत बोलता है, बहुत बात बनाता है, ऐसे आदमी की समाज में बड़ी प्रशंसा होती है, जबकि है वह मेंढक की तरह ।

भारः परं पट्टकिरीटजुष्टं
अप्युत्तमाङ्गं न नमेन् मुकुंदम् ।

शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां
हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥

(श्रीभागवतजी - २/३/२१)

उसके हाथ मुर्दे के हाथ हैं जो भगवान् की सेवा नहीं करते हैं, भले ही वे सोने के कंगन से भूषित क्यों न हों ।

बर्हायिते ते नयने नराणां
लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये

उसके नेत्रों को धिक्कार है जिसने संत और भगवत्मंदिरों के दर्शन नहीं किये । उस मनुष्य के पैर पेड़ों की तरह हैं जो भगवान् की लीला स्थलियों की यात्रा नहीं करते ।

पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ
क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥

(श्रीभागवतजी - २/३/२२)

जिस मनुष्य ने भगवद्भक्तों की चरणरज कभी मस्तक पर नहीं चढ़ाई, वह तो जीता हुआ भी मुर्दे के समान है ।

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥

(श्रीभागवतजी - (२/३/२४)

उसका हृदय पत्थर के समान है, जो कृष्ण यश को सुनकर भी पिघलता नहीं है ।

अध्याय – ४

सूतजी बोले – परीक्षित् जी ने देह-गेहादि की समस्त ममता का त्याग कर दिया था और आगे चलकर उन्होंने शुकदेव जी से पूछा – महाराज ! यह बताइए कि भगवान् इस संसार की रचना कैसे करते हैं और कैसे इसकी रक्षा करते हैं, कौन-कौन सी शक्तियों का वे आश्रय लेते हैं एवं अकेले ही कैसे वे इस संसार का पालन करते हैं, यह अवश्य ही आप थोड़ा समझा दीजिये क्योंकि ये सब जो भगवान् का पराक्रम है, वह भगवद् यश ही है । इस प्रश्न को सुनने के बाद अब शुकदेवजी ने वन्दना की । बहुत से लोग इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार के तर्क करते हैं कि शुकदेवजी को आते ही सबसे पहले वन्दना करनी चाहिए, मंगलाचरण करना चाहिए । कथा कहने की यह विधि है । ऐसा सोचने वालों को यह ध्यान देना चाहिए कि शुकदेवजी तो सदा ही मंगल रूप हैं, वे तो सदा श्रीकृष्ण में ही तन्मय रहते हैं । इस तरह से लोग शुकदेव जी की स्थिति के बारे में अनेक प्रकार के उत्तर देते हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि जब उनकी मौज आ गयी तभी शुकदेवजी वन्दना करने लगे, श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए वह कहते हैं –

श्रीशुक उवाच –

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे
सदुद्भवस्थाननिरोधलीलया ।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनां
अंतर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥

(श्रीभागवतजी - (२/४/१२)

मैं भगवान् श्यामसुन्दर को नमस्कार करता हूँ, जो तीनों प्रकार की शक्ति को धारण करके संसार की रचना, पालन और संहार करते हैं । आगे वह बताते हैं कि कन्हैया जी अवतार क्यों लेते हैं ? भगवान्

के अवतार के तीन हेतु यहाँ पर वह बताते हैं । भगवान् के अवतार के दो हेतु तो अधिकतर लोग जानते हैं किन्तु तीसरा हेतु कम लोग ही जानते हैं । पहला हेतु है – **सद्व्रजिनच्छिदे** (२/४/१३) । संतों के ऊपर जो कष्ट पड़ता है, उसे दूर करने के लिए भगवान् अवतार लेते हैं । **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्** – यह भगवान् के अवतार लेने का दूसरा हेतु है जिसको (२/४/१३) में शुकदेवजी कहते हैं – **असतामसम्भवाय** अर्थात् असुरों के विनाश के लिए । भगवान् के अवतार लेने का यह कारण हर मनुष्य जानता है, जो भारतवर्ष में पैदा हुआ है कि रामजी क्यों आये, रावण को मारने के लिए पृथ्वी पर आये । कंस को मारने के लिए श्रीकृष्ण आये । इसे सभी जानते हैं परन्तु इससे ऊँचा जो भगवान् के अवतार का एक कारण है, इसीलिए उसे शुकदेवजी आगे कहते हैं –

पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे व्यवस्थितानामनुमृग्यदाशुषे –

(श्रीभागवतजी - २/४/१३)

वस्तुतः मुख्य कारण तो यह है कि जो बड़े-बड़े आत्माराम मुनि आदि परमहंस आश्रम में स्थित हैं, उनके चित्त को रसमय बनाने के लिए, रसमय लीला करने के लिए उन श्रीकृष्ण का इस पृथ्वी पर साक्षात् प्राकट्य होता है और जो लोग श्रीकृष्ण लीला को गौण करके चलते हैं, कृष्ण लीला को आध्यात्मिक ढाल में बाँध देते हैं, उनकी बात लोगों की समझ में नहीं बैठती है क्योंकि कृष्णावतार का मुख्य कारण स्थान-स्थान पर यही बताया गया है कि यह तो रसावतार है और बाकी असुर विनाश तथा संत रक्षण तो स्वतः ही हो जाता है । किन्तु श्रीकृष्ण के अतिरिक्त चाहे कोई भी अवतार है, यह कार्य कोई नहीं कर सकता जैसी श्रीकृष्ण ने ऐसी रसमयी लीला की कि जो लोग परमहंस आश्रम में स्थित थे और परमहंस बनने के बाद भी जो मुख्य रस वस्तु को खोज रहे थे, उस रस

को देने वाला कौन है, वह तो बंसीवारा ही है, उसे हम नमस्कार करते हैं। इसके बाद शुकदेव जी कहते हैं –

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम् ।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥

(श्रीभागवतजी - २/४/१४)

नमस्कार है उन श्यामसुन्दर को, यदुवंश में जो श्रेष्ठ हैं, जो अपने तेज से निरन्तर अपने धाम में रमण करते हैं। उनके बारे में एक बात और है –

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् –

(श्रीभागवतजी - २/४/१५)

जिन भगवान् का कीर्तन करो, चाहे स्मरण करो, चाहे दर्शन करो, चाहे वन्दन करो, श्रवण करो अथवा जिनकी पूजा करो, **लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं** – ये सब क्रियाएं सारे संसार के कल्मष को जला देती हैं। जिन प्रभु का नाम कीर्तन कितना सरल है, इसमें कोई पैसा नहीं खर्च करना पड़ता है।

कबीर दास जी कहते हैं –

भजो रे भैया राम गोविन्द हरि
जप तप साधन कछु नहिं लागत
खरचत नहिं गठरी

भगवन्नाम लेने में एक भी पैसा खर्च नहीं करना पड़ता फिर भी ऐसी जो बिना पैसे की दवा मिल रही है, हम लोग उसका लाभ नहीं उठा पाते हैं। शुकदेवजी कहते हैं जिन प्रभु का कीर्तन - **लोकस्य सद्यो**

विधुनोति कल्मषं - सारे संसार के कल्मष को जला देता है, उन श्रीकृष्ण को नमस्कार है । ऐसी शक्ति है नाम कीर्तन में ।

जय श्री राधे जय नन्द नन्दन

कीर्तन जोर से बोलना चाहिए, जिससे कि पाप जल्दी नष्ट हों ।

जय जय श्यामा नयनन अंजन
जय जय प्यारी नयनन अंजन
जय बरसानो जय गह्वर वन
जय वृन्दावन जय गोवर्धन

जिन भगवान् का कीर्तन सारे संसार के पाप को नष्ट कर देता है, उन श्रीकृष्ण को नमस्कार है ।

विचक्षणा यच्चरणोपसादनात्
सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः ।
विन्दन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमाः
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥

(श्रीभागवतजी - २/४/१६)

बड़े-बड़े विचक्षण (विवेकी) लोग जिनके चरणकमलों में पहुँचकर, आसक्ति को छोड़कर भगवान् को प्राप्त हो जाते हैं, उनको नमस्कार है ।

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥

(श्रीभागवत जी - २/४/१७)

भले ही तुम तपस्या कर लो, दान कर लो, कुछ भी कर लो, किन्तु बिना कृष्ण के अर्पण किये कुछ नहीं होगा, चाहे कितने भी प्रकार के

सत्कर्म कर लो, उनसे कुछ नहीं मिलने वाला है । यही है भागवत का सन्देश कि बिना कृष्ण के कोई सत्कर्म नहीं है, कृष्ण को अर्पित किये बिना सभी सत्कर्म व्यर्थ हैं ।

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कशा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

(श्रीभागवतजी - २/४/१८)

भगवान् की शक्ति को इसी बात से समझ लो कि यदि कोई जीव भगवद् भक्त की शरण में चला जाये तो वह कितना भी भीषण पापी है चाहे किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक अथवा यवन (मुसलमान) ही क्यों न हो, वह शुद्ध हो जाता है । रसखानजी के बारे में भारतेन्दु हरिश्चन्द ने लिखा है कि ऐसे मुसलमान हरि भक्तों के ऊपर तो कोटि-कोटि ब्राह्मणों को न्यौछावर कर दो । चैतन्य महाप्रभुजी के परिकरों में नामाचार्य हरिदासजी यवन (मुसलमान) थे । इसीलिए शुकदेवजी उपरोक्त श्लोक में कहते हैं कि जितने भी अधम से अधम पापी हैं, अन्य भी पामर कोटि के जो प्राणी हैं, वे सभी कृष्ण भक्त की शरण में जाने से शुद्ध हो जाते हैं । ऐसी महिमा है भगवान् के भक्तों की । भगवद्भक्त की शरण में जाने से कितना बड़ा लाभ होता है कि करोड़ों युगों के पाप एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं, इतनी बड़ी शक्ति उनमें होती है । इसलिए वे भगवान्, जो सबके पति हैं, मुझ पर प्रसन्न हो जाएँ, जिनकी कृपा से सरस्वती जी सबसे पहले ब्रह्मा जी के हृदय में प्रकट हुई ।

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताऽजस्य सतीं स्मृतिं हृदि ।

(श्रीभागवतजी - २/४/२२)

जो भगवान् षोडशात्मक अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और एक मन आदि सोलह कलाओं से युक्त होकर समस्त गुणों का भोग कर रहे हैं –

भुङ्क्ते गुणान् षोडश षोडशात्मकः – (श्रीभागवतजी - २/४/२३)

उन भगवान् को नमस्कार है ।

नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे – (श्रीभागवतजी - २/४/२४)

शुकदेवजी कहते हैं – परीक्षित् ! यही बात ब्रह्माजी ने नारदजी से कही थी ।

अध्याय – ५

जैसे कोई छोटा बच्चा होता है, उसको बाहर से आकर कोई व्यक्ति चाहे राजा ही क्यों न हो, यदि डाँट दे तो वह दौड़कर उसकी शिकायत करने सबसे पहले अपनी माँ के पास जायेगा । क्यों जायेगा, क्योंकि वह समझता है कि मेरी माँ से बड़ा कोई दुनिया में नहीं है, मेरी माँ आकर इस डाँटने-फटकारने वाले व्यक्ति को एक चाँटा लगा देगी । इसलिए कोई बच्चा अपने माँ-बाप से अधिक तो किसी को जानता ही नहीं है, अतः उसी प्रकार नारदजी भी अपने पिता ब्रह्माजी से पूछते हैं – 'पिताजी ! एक बात बताइए, आप अकेले ही सारे संसार को बना रहे हैं जैसे मकड़ी स्वाभाविक रूप से अपने मुँह से जाले का निर्माण कर लेती है, उसी प्रकार आपने भी अपने आप ही इतने बड़े संसार की रचना कर डाली तो आप इतने बड़े हैं परन्तु एक बात है कि इतने बड़े होकर भी आप तपस्या करते हैं तो **पराशङ्कां प्रयच्छसि** - मुझे अत्यंत शंका हो रही है कि आपसे बड़ा संसार में कौन है ?' ब्रह्माजी महाराज बोले –

अविज्ञाय परं मत्त एतावत्त्वं यतो हि मे – (श्रीभागवतजी - २/५/१०)

'बेटा ! तुम मुझसे आगे के तत्त्व को नहीं जानते हो, इसलिए ऐसा प्रश्न कर रहे हो ।' ब्रह्माजी बहुत बढ़िया बात कहते हैं – 'जिन भगवान् की दुर्जय माया के प्रभाव से लोग मुझको जगद् गुरु कहते हैं अर्थात् मैं जगद्गुरु हूँ नहीं । यह तो भगवान् की माया की चमत्कृति की ही बात है कि लोग मुझको इतना बड़ा समझते हैं । मैं तो एक तिनका भी नहीं हूँ, जो कुछ हैं, वह कृष्ण हैं ।

तस्मै नमो भगवते वासुदेवाय धीमहि ।
यन्मायया दुर्जयया मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम् ॥

(श्रीभागवतजी - २/५/१२)

इस संसार के लोग मुझे जगद्गुरु कहते हैं, कोई पितामह कहता है, धन्य है ये माया और उस परमात्मा को नमस्कार है । सारा खेल उसी परमात्मा का है, सारी शक्ति उसी की है ।'

ऐसे ही हमलोग हैं । परमात्मा के रहते स्वयं ही बीच में घर के बाप बन जाते हैं, कोई पति बनता है, कोई अपने आपको घर का मालिक समझता है और कहते हैं कि मैं ये हूँ, मैं वो हूँ । अहंकार वश मैं-मैं किया करते हैं जबकि ये सब माया ही है । वस्तुतः इस संसार में जो कुछ भी है, सब प्रभु का ही है । इसके बाद ब्रह्मा जी बोले –

'येन स्वरोचिषा विश्वं रोचितं रोचयाम्यहम्' (श्रीभागवतजी - २/५/११)

मैं तो उन प्रभु से प्रकाशित विश्व को प्रकाश प्रदान करता हूँ ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

(कठोपनिषत् – २/२/१५)

उसके प्रकाशित होने से सारा संसार प्रकाशित हो रहा है, नहीं तो प्रलय के समय यह संसार घोर तम में डूबा हुआ था, इसका कुछ पता नहीं था, ऐसा घोर अन्धकार था ।

ब्रह्मा जी नारद जी से कहते हैं – देखो बेटा ! वासुदेव भगवान् श्यामसुन्दर के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है । जो कुछ वेद है, यज्ञ है, तप है, सब वासुदेव ही है । ये तीनों गुण (सतोगुण, रजोगुण व तमोगुण), उसी निर्गुण गुणातीत पुरुष के हैं ।

स एष भगवाँल्लिङ्गैस्त्रिभिरेभिरधोक्षजः

इस भगवान् ने तीनों गुणों से अपने को ढक रखा है ।

स्वलक्षितगतिर्ब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वरः – (श्रीभागवतजी - २/५/२०)

इसीलिए उनको कोई आदमी देख नहीं पा रहा है ।

जब भगवान् सृष्टि करने चलते हैं तो काल, कर्म व स्वभाव – इन तीन चीजों को ग्रहण करते हैं ।

(इन तीनों को क्यों ग्रहण करते हैं ? इसे समझना कठिन नहीं है । लोग कठिन समझ के इस प्रकरण को छोड़ देते हैं, यह बहुत सरल है, इसे समझो ।)

प्रलय कब होती है ? जब तीनों गुण बराबर मिल जाते हैं तब प्रलय होती है । जैसे शहद और घी को बराबर मिलाकर खा लो तो मर जाओगे । इनकी मात्रा एकदम बराबर होनी चाहिए । एक सुई की नोक का सौवां हिस्सा भी घट-बढ़ नहीं होनी चाहिए और जब वही घी और शहद कम और ज्यादा करके खाओगे तो बहुत ताकत हो जायेगी । घी और शहद की शक्ति कई गुना बढ़ जाती है । ऐसे ही माया है । ये तीनों गुण जब एकदम बराबर मिल जाते हैं तो प्रलय हो जाती है, संसार का नाश हो जाता है और जब तीनों गुण कम और ज्यादा होने लगते हैं तब

सृष्टि बनना शुरू हो जाता है । जब प्रलय होती है तो तीनों गुण एकदम बराबर हो जाते हैं और जब भगवान् को सृष्टि करना होता है तो तीनों गुणों में थोड़ा एक धक्का लगा देते हैं, ये गुण जैसे ही कम-ज्यादा होते हैं तब अपने आप ही संसार की रचना होने लग जाती है । यह कन्हैया जी का एक खेल है, इसमें कोई मेहनत नहीं है । ब्रह्माजी कह रहे हैं कि काल, कर्म और स्वभाव को भगवान् ने अपनाया । क्यों अपनाया ? काल को क्यों अपनाया ? काल-शक्ति से भगवान् ने कहा कि तू इन तीनों गुणों को हिला दे, जिससे कि ये कम-ज्यादा तो हो जायें, इनमें एक झटका लगा, एक दियासलाई की तीली लगा; फिर जैसे लंका जली, उसी प्रकार ये अपने आप ही जलेंगे । भगवान् के आदेश से काल ने तीनों गुणों को एक धक्का लगाया । **'कालाद् गुणव्यतिकरः'** - जब काल ने एक धक्का लगाया तो तीनों गुण कम-ज्यादा हो गए और सृष्टि बनने लग गयी । दूसरी चीज प्रभु ने ली स्वभाव । स्वभाव है - परिणाम । प्रकृति का स्वभाव है हमेशा बदलती हुई वस्तु । यह प्रकृति का स्वभाव है । तीसरी वस्तु भगवान् ने ली कर्म । कर्म से इन तीनों के द्वारा महान या महत्तत्व का जन्म हुआ । इसे ठीक से समझिये । 'प्रभु काल, कर्म और स्वभाव' - ये तीन चीजें लेकर चले तो उससे महान या महत्तत्व बना, फिर महान का बेटा हुआ अहंकार । अहंकार तीन प्रकार का होता है – सात्विक, राजस,तामस । इनके भी नाम होते हैं । सात्विक का नाम है वैकारिक, राजस का नाम है तैजस और तामस को तामस कहते हैं । ये तीन प्रकार का अहंकार क्यों है ? द्रव्य शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति – ये तीन शक्तियाँ हैं । तामस अहंकार से द्रव्य यथा पृथ्वी आदि उत्पन्न हुए, ये जितनी भी दुनिया दिखाई पड़ रही है, यह तामस अहंकार का कार्य है, यह द्रव्यशक्ति है । राजस अहंकार क्या है? क्रियाशक्ति अर्थात् जितनी इन्द्रियाँ हैं, ये राजस अहंकार से उत्पन्न हुई हैं, यही तो

काम कर रही हैं । वैकारिक अहंकार तो सात्विक है, उससे ज्ञानशक्ति अर्थात् मन, बुद्धि आदि उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार ये तीन तरह की शक्तियाँ हैं, इसीलिए अहंकार के तीन भेद हैं । अब तामस अहंकार से सबसे पहले आकाश उत्पन्न हुआ । शब्द तन्मात्रा इसका गुण है । शब्द तन्मात्रा से आकाश हुआ फिर वायु, इसके बाद तेज, फिर जल और इसके बाद पृथ्वी, इस प्रकार इन पंचमहाभूतों की उत्पत्ति हुई । इनमें एक भूत का गुण क्रमशः दूसरे में चलता चला जाता है । जैसे आकाश का गुण शब्द वायु में भी घुस गया, इसलिए वायु के दो गुण हो गए - शब्द और स्पर्श । अब वायु का बेटा हुआ तेज तो तेज में उसका गुण रूप तो है ही साथ में अपने जनक वायु का भी गुण शब्द और स्पर्श भी आ गया । जैसे किसी पिता के पास पाँच बीघा खेत हैं तथा बेटा अलग से पाँच बीघा खेत और कर लेता है तो पाँच और पाँच मिलाकर दस बीघा खेत बेटा के हिस्से में आ गया । ऐसे ही आकाश का गुण वायु में आया तो उसमें दो गुण हुए, एक अपना गुण, एक आकाश का गुण । वायु के दो गुण तेज में गए तो उसके स्वयं के गुण के साथ तीन गुण हो गए । इसके बाद जल में चार गुण आ गये और पृथ्वी में पाँच गुण आ गये । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि पाँच गुण पृथ्वी में आ गए । परन्तु ये सभी तत्त्व पैदा होकर भी सृष्टि को नहीं बना सके । यहाँ बड़े ही ज्ञान का प्रसंग है कि जितने मूलभूत तत्त्व हुए, वे सृष्टि को नहीं बना पाए, इसका क्या कारण था, कारण यह था कि ये आपस में मिल नहीं पाए । बिना संगठन के कोई कार्य नहीं हो सकता । जिस घर में प्रेम है, वहाँ स्वतः उन्नति होगी, प्रगति होगी । जैसा कि रामचरित मानस में कहा गया –

जहाँ सुमति तहाँ सम्पति नाना ।

जिस घर में फ़ूट है, घर में प्रतिदिन सास और बहू में कलह हो रहा है, वहाँ तो अपने आप ही विनाश होगा ।

इसी तरह जितने भी सृष्टि के आधारभूत तत्त्व थे, ये पैदा होकर भी सृष्टि नहीं कर पाये, क्यों नहीं कर पाए क्योंकि इनमें रस नहीं था, प्रेम नहीं था । रस और प्रेम तो भगवान् का स्वरूप है, जब श्यामसुन्दर आयेंगे, इनके भीतर प्रवेश करेंगे तब ये तत्त्व कुछ कार्य कर पायेंगे ।

तुम कुछ भी पाना चाहते हो, लोक-परलोक की सम्पत्ति पाना चाहते हो तो सबसे पहले प्रेम और रस आवश्यक वस्तु है । इसीलिए शुकदेव जी आगे कहते हैं –

यदैतेऽसङ्गता भावा भूतेन्द्रियमनोगुणाः ।
यदाऽऽयतननिर्माणे न शेकुर्ब्रह्मवित्तम ॥

(श्रीभागवतजी - २/५/३२)

ये सभी तत्व सृष्टि को नहीं बना पाए, तब भगवान् की शक्ति से ये इकठ्ठा हुए । इसे ऐसे समझो कि जिस घर में प्रेम है, वहाँ भगवान् की कृपा है और नहीं तो दो आदमी भी साथ रहेंगे तो लड़ेंगे । इसलिए भगवत्कृपा का सबसे बड़ा फल है एकता और प्रेम । अब विचार करो कि सृष्टि उत्पन्न करने के लिए देवता और समस्त तत्व उत्पन्न हो गए किन्तु भगवत्कृपा के बिना आपस में मिल नहीं सके, संगठित नहीं हो पाए । प्रेम ऐसी वस्तु है, 'प्रेम' सबका संगठक तत्व है और बिना इसके कोई भी वस्तु हो, चाहे देवता हो या कोई हो, वह पूर्णतया निष्क्रिय है । इसीलिए तो कहा गया है –

'प्रेम हरि को रूप है, हरि प्रेम को रूप ।'

ये श्रीकृष्ण ही तो प्रेमरूप हैं ।

जब सभी देवता उत्पन्न होकर इधर-उधर डोलते रहे, सृष्टि रचना नहीं कर पाए तो भगवान् श्यामसुन्दर ने उनको प्रेरित किया, उनको

आपस में मिलाया, संगठन किया तब सहस्त्र वर्षों के बाद एक अंडा ब्रह्माण्ड बना, उस 'अण्डे' अर्थात् ब्रह्माण्ड को प्रभु ने जिवाया तब उसमें से विराट पुरुष निकला, जिसकी हजारों भुजाएँ, हजारों चरण और हजारों मस्तक हैं। इस विराट पुरुष की दो प्रकार से भावना की गयी है, एक तो यह कि कटि से नीचे सात लोक और कटि से ऊपर सात लोक। एक तो यह है प्रक्रिया और दूसरी प्रक्रिया यह कि उस विराट पुरुष के चरणों में पृथ्वी लोक और नाभि में भुवर्लोक तथा ऊपर हृदय में स्वर्लोक की भावना की गयी है। इस प्रकार इन दो तरह से विराट पुरुष का वर्णन किया गया है।

अध्याय – ६

जितनी इन्द्रियाँ हैं, उनके उतने ही देवता हैं। इसे ठीक से समझिये जैसे हमारे कान हैं, कान के छेद के भीतर एक श्रोतृ इन्द्रिय है और इस इन्द्रिय के देवता हैं दिशाएँ। इसी प्रकार आँख को समझें, स्थूल आँख तो एक छेद है, आँख के गोलक के भीतर एक अत्यंत सूक्ष्म नेत्र इन्द्रिय है, उस इन्द्रिय का देवता है सूर्य। रसना अथवा जीभ क्या है, लड्डू-पेड़ा या कोई स्वादिष्ट व्यंजन खाते हैं तो बड़े आनन्द का अनुभव होता है और कहते हैं कि यह बर्फी बहुत बढ़िया है तो स्वाद का आनंद लेने के लिए केवल यह स्थूल (मोटी) जीभ ही नहीं है बल्कि यह मोटी अथवा स्थूल जीभ तो कुछ नहीं है, इसके भीतर एक रसनेन्द्रिय होती है और इस इन्द्रिय का देवता है वरुण। इतना लम्बा काम है। वैसे ही विराट पुरुष को समझें। विराट पुरुष किसको कहते हैं ? हर वस्तु की जो समष्टि है, वह विराट है और उसका जो अधिष्ठाता है, उसको वैराज कहा जाता है। कुछ लोग वैराज न कहकर उसे ही विराट कह देते हैं। वस्तुतः तो विराट का अधिष्ठाता पुरुष वैराज है। अब प्रश्न उठता है कि यह विराट पुरुष क्यों पैदा हुआ, इसकी क्या आवश्यकता थी, हजारों हाथों, हजारों पैरों वाला यह विराट पुरुष क्यों बनाया गया ? हजार का

तात्पर्य केवल हजार ही नहीं है, उसके तो अनंत हाथ-पैर हैं, क्यों ? हम लोगों की जो इन्द्रियाँ हैं जैसे हाथ-पाँव की अथवा मुख की अथवा कान की तो ये सब इन्द्रियाँ कहाँ से आई हैं, उसी विराट पुरुष की इन्द्रियों से ये सब इन्द्रियाँ निकली हैं । वे समष्टि इन्द्रियाँ हैं और हमारी व्यष्टि इन्द्रिय है । इस तरह उस विराट के शरीर से अनंत जीवों की समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, देवताओं की उत्पत्ति होती है और उसकी इन्द्रियों का वर्णन करने के बाद ब्रह्मा जी कहते हैं कि सब कुछ भगवान् ही है ।

अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः ।

(श्रीभागवतजी - २/६/१२)

दशांगुल न्याय से सब कुछ भगवान् ही है । पृथ्वी से दस गुना जल है, जल से दस गुना अग्नि, अग्नि से दस गुना वायु, वायु से दस गुना आकाश, आकाश से दस गुना अहंकार, अहंकार से दस गुना महत्तत्व और महत्तत्व से दस गुनी मूल प्रकृति है । वह प्रकृति भगवान् के केवल एक पाद में स्थित है । इस तरह से भगवान् की महिमा को प्रकट किया गया है । इसे ही दशांगुलन्याय कहा जाता है । वही भगवान् इस विराट विग्रह को प्रकाशित करते हुए संसार में स्थित हैं । यह सब उसी की महिमा है । जितने भी लोक हैं, सब उसी के अंश से बने हुए हैं । अंतर केवल इतना है कि ऊपर के जो लोक जन, तप और सत्य आदि हैं, इनमें क्रम से अमृत, क्षेम और अभय का निवास है और बाकी जो नीचे के भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक आदि हैं, इनमें गृहस्थी भोगी लोग जाते हैं, जबकि ऊपर के जन, तप,और सत्य आदि लोकों में वृहद् ब्रह्मचर्य को धारण करने वाले लोग जाते हैं । ये सब भगवान् ही हैं, सकाम और निष्काम गतियाँ भी भगवान् हैं । ब्रह्मा जी कहते हैं कि सबसे पहले मैं भगवान् के नाभिकमल से उत्पन्न हुआ तब मैंने उनका यजन किया । इसके बाद नौ प्रजातियों ने यजन किया । एक विशेष और बात है –

ब्रह्मा जी का स्वरुप यह है कि वे भक्ति के द्वादश आचार्यों में से एक हैं, क्यों हैं वे भक्ति के आचार्य, इसका कारण वे स्वयं बता रहे हैं –

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे
यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः ॥

(श्रीभागवतजी - २/६/३३)

बेटा नारद ! मेरी वाणी कृष्ण से इतर कभी भी मिथ्या विषयों की ओर नहीं जाती है । मेरे मन की भी कृष्ण से इतर मिथ्या विषयों में गति नहीं है ।

(मृषा गति क्या है, जो कृष्ण से इतर गति है, वह मृषा है ।) मेरी इन्द्रियाँ कभी भी असत् पथ की ओर नहीं जाती हैं । (यदि कोई शंका करे कि एक बार तो ब्रह्मा जी अपनी पुत्री के पीछे कामकातर होकर दौड़े थे तो वह तो एक शाप का परिणाम था अन्यथा ब्रह्मा जी की इन्द्रियाँ कभी भी असत् मार्ग की ओर नहीं जाती हैं क्योंकि भागवत का एक-एक श्लोक, एक-एक अक्षर सही है, गलत तो हो ही नहीं सकता)

ब्रह्मा जी कारण बताते हुए कहते हैं कि मेरी इन्द्रियाँ कभी भी असत् पथ की ओर इसलिए नहीं जाती हैं क्योंकि मैंने उत्कण्ठा युक्त हृदय से भगवान् को धारण किया है । जब मैं सृष्टि के आदि में पैदा हुआ तो समझ नहीं पाया कि मुझे उत्पन्न करने वाला कौन है ? क्यों ? अब यहाँ ब्रह्मा जी एक विचित्र बात कह गए कि भगवान् भी अपनी माया का पार नहीं पा सकते हैं –

यो ह्यात्ममायाविभवं स्म पर्यगाद्
यथा नभः स्वान्तमथापरे कुतः ।

(श्रीभागवतजी - २/६/३५)

जैसे आकाश को स्वयं नहीं पता कि मैं कितना बड़ा हूँ, उसी प्रकार भगवान् भी अपनी महिमा का विस्तार नहीं जानते । इसे अतिश्योक्ति नहीं समझना चाहिये । यह तो भगवान् की माया की अनन्तता बताई जा रही है, जब माया की शक्ति इतनी अनन्त है तो भगवान् तो साक्षात् शक्तिमान हैं, उनके बारे में क्या कहा जाए ? यों समझ लो जैसे किसी का बेटा है और लोग उसके पिता से प्रशंसा कर रहे हैं कि अरे ! तुम्हारा बेटा तो आई. ए. एस. ऑफिसर बन गया है, कमाल कर दिया उसने । विचार करिए कि यह प्रशंसा किसके पास जा रही है, पिता के ही पास तो जा रही है अर्थात् यह पिता की ही तारीफ है क्योंकि बेटा तो इन्हीं का है । अतः भगवान् की शक्ति अनंत है तो यह महिमा भगवान् की ही तो महिमा हुई । यह तो वर्णन करने की एक शैली है कि भगवान् की माया अनंत है, स्वयं भगवान् भी अपनी महिमा का, अपनी माया का विस्तार नहीं जानते । इसका मतलब यह नहीं समझना चाहिए कि भगवान् की माया भगवान् से बड़ी हो गयी और स्वयं वे भी इसका पार नहीं पा सकते, ऐसा नहीं है । इसका भाव यह है कि भगवान् की शक्ति इतनी अनंत है कि ब्रह्माजी कह रहे हैं –

नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदुः
न वामदेवः किमुतापरे सुराः ।
तन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं
विनिर्मितं चात्मसमं विचक्ष्महे ॥

(श्रीभागवतजी - २/६/३६)

बेटा नारद ! भगवान् श्यामसुन्दर की महिमा को, उनके स्वरूप को न मैं जान सकता हूँ, न शंकरजी जान सकते हैं, न तुम जान सकते हो, अन्य देवता तो उन्हें जान ही कैसे सकते हैं । सभी लोग उनकी माया से मोहित होकर अपनी बुद्धि के अनुसार ही सब कुछ देखते, विचार करते हैं ।

यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः । (श्रीभागवतजी - २/६/३७)

जिनके अवतार के कर्मों को हम जैसे ब्रह्मादि गाया करते हैं। कथनाशय है कि श्यामसुन्दर की माखन चोरी और अन्य लीलाओं को केवल मनुष्य ही नहीं बल्कि ब्रह्मा-शंकर भी गाया करते हैं और फिर भी उन्हें जान नहीं पाते हैं । इसलिए विराट पुरुष और उसका अभिमानी स्वराट् – ये सब कुछ भगवान् ही हैं। ब्रह्माजी कहते हैं कि हम लोग उनकी अवतार लीलाओं को गाते हैं।

अध्याय – ७

सातवें अध्याय में ब्रह्माजी भगवान् के अवतारों का वर्णन कर रहे हैं। सबसे पहले भगवान् ने प्रलय के जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार करने के लिए वराह अवतार धारण किया और आदि दैत्य हिरण्याक्ष का वध किया। तदनन्तर भगवान् रुचि नामक प्रजापति और उनकी पत्नी आकूति के पुत्र सुयज्ञ के रूप में अवतरित हुए। उस अवतार में तीनों लोकों के बड़े-बड़े संकट हरने के कारण 'मनुजी' ने उन्हें 'हरि' कहा। इसके बाद भगवान् ने कपिल रूप धारण किया, दत्तात्रेय के रूप से प्रकट हुए, सनकादिक बने, नर-नारायण के रूप में प्रकट हुए। भगवान् ने नर और नारायण के दो रूप धारण किये और तपस्या करने लग गये। इनकी महिमा को समझो।

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या
रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम् ।

(श्रीभागवतजी - २/७/७)

देखो, जब महादेवजी समाधि में लीन थे तो कामदेव उन्हें जीतने के लिए उनके पास गया तो महादेव बाबा ने अपना तीसरा नेत्र खोलकर उसे भस्म कर दिया था। भाव यह है कि महादेव बाबा ने काम को तो

जीत लिया किन्तु क्रोध को नहीं जीत पाए। वस्तुतः जीतना तो वह है कि कोई किसी के प्रति दुर्वचन, अपशब्द कह रहा है किन्तु सुनने वाला क्रोध नहीं कर रहा है, उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है, वह शान्त है। वही कामदेव जब नर-नारायण जी के पास उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिए पहुँचा तो उन्होंने क्रोध नहीं किया। उन्होंने तो काम को जीत भी लिया और क्रोध को भी जीत लिया तथा शान्त भाव से बैठे रहे। कामदेव और उसके साथ की अप्सराएँ हार गये और नर-नारायण भगवान् ने उन्हें उपहार स्वरूप त्रिलोक की सर्वाधिक सुन्दरी अप्सरा उर्वशी को और प्रदान किया। भगवान् ने ध्रुव को उत्तम गति देने के लिए भी हरि अवतार धारण किया। इसके बाद भगवान् ने पृथु और ऋषभ के रूप में अवतार लिया। हयग्रीव बनकर भगवान् ने वेद का उद्धार किया। मत्स्यावतार और कच्छप वपु भी धारण किये। भक्त प्रह्लाद के लिए प्रभु नृसिंह बने। जल में डूबते गजराज को भी हरि रूप से प्रभु ने बचाया। देवमाता अदिति और कश्यप ऋषि के पुत्र के रूप में भगवान् छोटे से वामन बने और राजा बलि के यज्ञ में जाकर उन्होंने भिक्षा माँगी, क्यों ? भगवान् ने यह दिखाया कि यदि तुम सन्मार्ग पर हो तो मैं ईश्वर होकर भी तुमको हरा नहीं सकता, भीख भले ही मैं माँग लूँगा परन्तु होना चाहिए सन्मार्ग। सन्मार्ग पर चलने वाले को भगवान् हराते नहीं हैं। भगवान् ने हंस-अवतार धारण किया, मनु बने, धन्वन्तरि बने, परशुराम बने और राम रूप से अवतरित होकर रावण का वध किया। श्रीरामजी की ऐसी महिमा है कि उनके भय से समुद्र ने काँपते हुए उन्हें मार्ग दे दिया था। रावण कैसा था, उसके बारे में वर्णन है कि एक बार जब रावण इन्द्र पर विजय प्राप्त करने के लिए गया तो इन्द्र ने अपने ऐरावत हाथी को आगे कर दिया। ऐरावत के दिव्य चार दाँत थे, अपने चारों दाँतों से रावण की छाती पर जोर से आघात करने के लिए वह आगे बढ़ा कि इसकी छाती फट जाये परन्तु रावण अपने सीने को

ऐरावत के सामने अड़ाकर खड़ा हो गया, जब उसने रावण के वक्षः स्थल पर जोर से दाँतों द्वारा प्रहार किया तो वे मजबूत दाँत पिसकर ऐसे चूर्ण बन गये जैसे कोई दन्त मंजन हो, इस प्रकार पाउडर की तरह हो गये किन्तु रावण स्थिर भाव से खड़ा रहा और जोर-जोर से हँसने लगा । ऐरावत के दाँतों के चूर्ण से समस्त दिशाएं सफेद हो गयीं । इतना शक्तिशाली रावण था परन्तु रामजी ने उसका भी संहार कर डाला । इसके बाद कृष्ण-बलराम के रूप से भगवान् अवतरित हुए । **'सितकृष्णकेशः'** – यहाँ केश का अर्थ बाल नहीं है । कृष्ण-बलराम का वर्ण बताने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है जैसे सफेद और काले रंग के बाल होते हैं, उसी प्रकार कन्हैयाजी की श्याम कान्ति थी और बलरामजी की गौर कान्ति थी । कृष्ण की विशेषता बताते हुए बताया गया है कि इनकी अत्यंत अद्भुत लीलाएं हैं । बाल्यावस्था में जब ये केवल छः दिन के ही थे तो स्तन पानकर भयंकर राक्षसी पूतना को इन्होंने मार डाला । तीन महीने के हुए तो विशाल छकड़े को लात के प्रहार से उलट दिया, जिससे शकटासुर मारा गया । इसके बाद इन्होंने तृणावर्त का वध किया, यमलार्जुन का उद्धार किया । एक बार माखन चोरी करने पर यशोदाजी ने इन्हें ऊखल के सहारे रस्सी से बाँध दिया था और कहा कि यह बालक बड़ा चंचल हो गया है । एक बार इन्होंने गोकुल में यमुना तट पर खेलते हुए मिट्टी खा ली, ग्वालबालों के शिकायत करने पर यशोदा मैया ने डाँटा – 'अरे, तू मिट्टी खाता है, मुँह खोलकर दिखा ।' कन्हैया ने मुँह खोला तो मैया ने देखा कि उसमें तो बड़े-बड़े ब्रह्माण्ड थे । गोकुल से वृन्दावन आने पर श्रीकृष्ण ने कालिय नाग का दमन किया, दावानल का पान किया, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर आदि कई विशाल दैत्यों का संहार किया । वरुण लोक में नन्द बाबा को ले जाए जाने पर उन्होंने नन्द जी को वहाँ से मुक्त कराया, व्योमासुर का वध किया । ब्रजवासियों को अपने धाम वैकुण्ठ का दर्शन

कराया । सात दिनों तक इन्होंने गिरिराज जी को उठाया, गोपिकाओं के साथ रास किया, कंस आदि बड़े-बड़े असुरों का वध किया, महाभारत रचाया । इन्हीं भगवान् ने व्यास अवतार धारण करके वेदों का विभाजन किया । कलियुग में ये बुद्ध बनेंगे और कलियुग के अंत में कल्कि रूप से फिर से धर्म का प्रचार करेंगे । मैं (ब्रह्मा), विष्णु और शिव आदि भी उन्हीं भगवान् की मूर्ति हैं । भगवान् के पराक्रम का वर्णन कौन कर सकता है ? अंत में ब्रह्माजी बता रहे हैं कि किसी जीव पर भगवान् की कृपा है तो इसकी पहचान क्या है ? यह बहुत उत्तम प्रसंग है ।

येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः ।
सर्वात्मनाऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम् ।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां ।
नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये ॥

(श्रीभागवतजी - २/७/४२)

भगवान् की कृपा का पहला लक्षण यह है कि जब मनुष्य सर्वात्म भाव और निष्कपट भाव से भगवान् की शरण में चला जाता है । मन में कोई कपट और सांसारिक कामना नहीं होनी चाहिए । इसे समझना चाहिए कि हम भक्ति करने चले हैं और अपना नाम कमाने के लिए चार पैसे चढ़ा रहे हैं तो यह कपट है, वह कर्म बेकार है, कोई काम करो तो निष्कपट होकर करो । इन शब्दों को पकड़ना चाहिए । भक्ति करने चलते हैं तो वहाँ भी हम लोग दुकानदारी करते हैं, अपने नाम का पत्थर लगवाते हैं क्योंकि हमें भगवान् नहीं चाहिए, दुनिया चाहिए, दुनिया की बड़ाई चाहिए । इस श्लोक के इन शब्दों को पकड़ना चाहिए – **'सर्वात्मनाऽऽश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्'** - अन्य कामनायें तो कैतव हैं, उनको छोड़कर निष्कपट भाव से, सही भाव से यदि कोई भगवान् का आश्रय लेता है तो उस व्यक्ति की पहचान यह है कि ये जो शरीर कुत्ते

और सियारों का भोजन है, इसमें उसकी मैं और मेरापन की बुद्धि हट जाती है। इसके विपरीत यदि हम देहभाव भी बढ़ाते जाएँ और कहें कि हम भगवद्भक्त हैं तो यह गलत है। यह लक्षण घटित नहीं हो रहा है। भगवद्भक्त में देह भाव न होने के कारण ही तो दीनता अपने आप आ जाती है। देहभाव न होने के कारण स्वभाव में दैन्य अपने आप ही हो जायेगा। इसके बाद ब्रह्माजी कहते हैं कि भगवान् की योगमाया को मैं जानता हूँ, मनु, मनु की पत्नी शतरूपा जानते हैं। ब्रह्माजी ने और भी कई भगवद्भक्तों के नाम बताये जो योगमाया को जानते हैं यथा विभीषण, अर्जुन, हनुमान, प्रह्लाद, ध्रुव, भीष्म, बलि, शुकदेव, विदुर और श्रुतदेव तथा अन्य भी कई भक्त। भगवद्भक्तों के नाम बताने के बाद ब्रह्माजी कहते हैं कि भले ही स्त्री योनि खराब है, शूद्र योनि खराब है, इनके अतिरिक्त संसार में बहुत से पापी जीव हैं परन्तु

ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां ।
स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः ।
यद्यद्भुतक्रम परायणशीलशिक्षाः ।
तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये ॥

(श्रीभागवतजी - २/७/४६)

भगवद्भक्त का जो शील स्वभाव होता है, उस स्वभाव की शिक्षा जिसको मिल जाती है, वे भी माया को पार कर जाते हैं अर्थात् बड़ी बात यह है कि भक्ति जिसके अन्दर है, उस भक्त का स्वभाव अत्यंत विलक्षण होता है तभी तो विनयपत्रिका में गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है –

कबहुक हौं यह रहनि रहौंगो ।
श्रीरघुवीर कृपाल कृपा ते भक्त स्वभाव गहौंगो ॥

भक्त का स्वभाव कैसा होता है, यह भगवान् ने गीता के बारहवें अध्याय में बताया है कि भक्त में ऐसे-ऐसे गुण होते हैं –

'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'

अतः विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि सद्गुरुदेव के पास जाकर हमें स्वभाव सीखना चाहिए। केवल हम लोग सद्गुरु के पास से माला जपना सीख आयें या कोई पुस्तक पाठ करने के लिए ले आयें और कहें कि हमें गुरु दीक्षा मिल गयी, गुरु जी ने हमको ऐसा साधन करना बता दिया है, तो ऐसा नहीं होना चाहिए। ब्रह्माजी कहते हैं कि भक्त की शील शिक्षा ग्रहण करना चाहिए अर्थात् भक्त कैसे बोलता है, कैसे उठता-बैठता है, कैसे व्यवहार करता है, किसी ने यदि उसको गाली दी तो वह उसका कैसे जवाब देता है, ये सारी बातें गुरु से सीखनी चाहिए। ये है वास्तविक गुरु और शिष्य का सम्बन्ध जिसे श्रीमद्भागवत जी में बताया गया है। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध केवल इतना ही नहीं है कि साल भर में एक बार गुरुजी के पास जाकर उनको दण्डवत कर आये, थोड़ी सी मिठाई और कुछ रुपये भेंट कर आये तथा समझ लिया कि यही है गुरु भक्ति। ऐसा नहीं है, उनके पास जाकर भागवत के अनुसार **'अद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षा'** ग्रहण करनी चाहिए, यही वह वस्तु है जो माया से पार कराएगी। इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिए। इस श्लोक में कहा गया है – **ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां** अर्थात् देवमाया को कौन पार करेंगे, वही पार करेंगे, जिनके स्वभाव में भक्त का सा शील आ गया है जैसे कि भक्त को यदि कोई गाली देता है – 'अरे, तू बड़ा गधा है।' भक्त उत्तर देता है – 'आप सत्य कह रहे हैं, न जाने कितनी बार मैं ८४ लाख योनियों में गधा बना हूँ। आपने तो मुझे केवल एक ही बार गधा कहा है जबकि मैं तो करोड़ों बार गधा बनकर भटका हूँ। प्रभो !अब कृपा करो, इस गधापन से छुट्टी तो

दिलाओ ।' भक्त ने कितन बढ़िया उत्तर दिया, दुष्ट व्यक्ति तो भक्त को गधा कह रहा है परन्तु वह भक्त कितने प्रेम से कह रहा है – 'हाँ प्रभो ! गधा तो मैं हूँ ही, अब आप कृपा तो करो, इस गधापन से मुक्ति तो दिलाओ और श्यामसुन्दर की भक्ति प्रदान करो ।' विचार करके यदि देखा जाए तो भक्त का उत्तर तो यही होना चाहिए और हम लोगों का क्या व्यवहार होता है, यदि हमसे कोई गधा कहेगा तो हम लोग कहेंगे कि मैं क्यों गधा हूँ, तेरा बाप गधा होगा, तेरा बाबा गधा होगा, तेरी माँ गधी होगी । इस तरह हम लोग उसके सात पुरखों तक हमला कर देंगे । इसका यही अभिप्राय है कि तुम एक पैसा असुर हो तो हम दो पैसा असुर हैं । इसीलिए इस श्लोक में ब्रह्माजी बता रहे हैं कि भक्त के अन्दर जो शील गुण होता है, उसे हमें सीखना चाहिए । यह आसुरी दुर्गुण तो हमारे भीतर बहुत दिनों से चला आ रहा है लेकिन अब हम लोगों को भक्त का जो शील स्वभाव है, भक्त की जिस प्रकार की बोलने-चालने की शैली है, वह सीखनी है तब हम माया के पार जायेंगे । इस श्लोक में इसी बात का निरूपण किया गया है । परमात्मा का वास्तविक स्वरूप शाश्वत, शान्त , अभय और केवल ज्ञान स्वरूप है । उसी को ब्रह्म भी कहा जाता है, उसको प्राप्त करके जितने भी अभेद के साधन हैं, वे छोड़ दिए जाते हैं क्योंकि जब साध्य वस्तु मिल गयी तो साधन की आवश्यकता नहीं रही । आगे ब्रह्माजी ने नारदजी से कहा – 'बेटा ! यह भागवत नामक पुराण है और इसमें विभूतियों का संग्रह है, तुम इसका विस्तार करो । जो इसको बढ़ाता है, माया का वर्णन करता है, वह कभी माया से मोहित नहीं होता है ।'

अध्याय – ८

राजा परीक्षित् ने शुकदेवजी से पूछा – महाराज ! नारदजी ने भागवत का विस्तार कैसे किया और किसको यह सुनाया ? भगवान् की

प्राप्ति कैसे होती है, इसे परीक्षित् जी यहाँ थोड़े से शब्दों में बता रहे हैं –

श्रृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम् ।
कालेन नातिदीर्घेण भगवान् विशते हृदि ॥

(श्रीभागवतजी - २/८/४)

पहली सीढ़ी तो है – **श्रृण्वतः श्रद्धया नित्यम्** – श्रद्धा के साथ नित्य भगवान् की चर्चा सुनो । नित्यं माने नित्य सुनो, एक दिन भी अगर सुनना छोड़ दोगे तो बस, उसी दिन माया चढ़ बैठेगी और काम समाप्त हो जायेगा । ये सब शब्द पकड़ने के, ध्यान देने योग्य हैं । कथा नित्य सुनो । कुमार्ग पर तो आदमी बिना सिखाये चलता है किन्तु यहाँ भगवान् व्यासजी परीक्षित् के माध्यम से कह रहे हैं कि सबसे पहली बात है – **श्रृण्वतः श्रद्धया नित्यम्** । जब श्रद्धा से नित्य ही कृष्ण यश सुनोगे तो स्वयं भी कृष्ण यश गाओगे । इस प्रकार कृष्ण यश गाने और सुनने से वे भगवान् तुम्हारे हृदय में आ जायेंगे ।

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥

(श्रीभागवतजी - २/८/५)

पहली सीढ़ी है कृष्ण यश को सुनना और फिर सुनकर गाना । दूसरी सीढ़ी है कि कन्हैया जी हृदय में आ गये और उनके हृदय में आने पर हृदय की समस्त कालिमा और अंधकार नष्ट हो जायेगा, अंतःकरण स्वच्छ हो जायेगा, उसका यह परिणाम होगा कि मनुष्य फिर भगवान् को कभी नहीं छोड़ेगा । इस संसार का कमल पुष्प की तरह वर्णन किया गया है, जैसे आदमी के हाथ-पाँव होते हैं, उसी प्रकार प्रभु का भी वर्णन किया गया है । परीक्षित् जी शुकदेवजी से प्रश्न करते हैं कि ऐसा कैसे

है क्योंकि भगवान् तो अनन्त हैं फिर उसके अवयवों का कैसे वर्णन किया गया ? इसके अतिरक्त यह बताइए कि युगों का क्या परिमाण है ? साधारण और विशेष धर्म के बारे में बताइए । इस प्रकार परीक्षित् ने शुकदेवजी से बहुत प्रश्न किये । उन प्रश्नों को सुनकर शुकदेवजी ने उस भागवत पुराण का उपदेश किया, जिसको सबसे पहले भगवान् ने ब्रह्माजी को बताया था ।

अध्याय – ९

शुकदेवजी ने कहा – राजन ! तुम्हें ऐसा लगता है कि भगवान् तो अनन्त हैं, उसका सीमित रूप से वर्णन क्यों किया गया, यह बात तो बुद्धि से घटित नहीं हो रही है किन्तु माया की दृष्टि से यह बात घटित हो रही है । ये सब माया के प्रपंच हैं, वस्तुतः स्वरूप से तो भगवान् अनन्त हैं किन्तु माया की दृष्टि से उनका वर्णन ऐसे ही किया जाता है । जितने भी लोक हैं, वे सब भगवान् के अवयव हैं । जब ब्रह्माजी भगवान् के नाभि कमल पर उत्पन्न हुए तो वे यह विचार करने लगे कि मुझे ज्ञान तो है नहीं फिर मैं सृष्टि की रचना कैसे करूँ ? जब ब्रह्माजी ऐसा विचार कर रहे थे, उसी समय प्रलय के समुद्र से आवाज आई । ब्रह्माजी कमल पर बैठे थे तो उनके चारों ओर प्रलय समुद्र में बहुत ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही थीं । व्यंजनों के सोलहवें एवं इक्कीसवें अक्षर 'त' और 'प' की जल में से दो बार आवाज आई – 'तप-तप'(तप करो-तप करो) । यह तपस्या ही गरीबों (निष्किंचनों) का धन है । तपस्या में अनन्त शक्ति है । आज हम लोग निर्वीर्य(निर्बल) इसलिए हैं क्योंकि तप से विहीन हैं । बैठकर चार-छः घंटे गप्प कर लेंगे लेकिन दस मिनट भी तप नहीं कर सकते । जीवन का स्वयं नाशकर श्रीहीन हो गये हैं । अपनी ही कुल्हाड़ी से स्वयं अपना ही सिर काट रहे हैं । तप सभी को करना पड़ता है, तप से ही शक्ति आती है । इसीलिए प्रलय के समुद्र से ब्रह्माजी के लिए आवाज आई – 'तप करो ।' पहले तो उन्होंने विचार किया कि

कोई दिखाई तो नहीं पड रहा है, यह कौन बोल रहा है ? इसके बाद सहस्त्र दिव्य वर्षों तक कमल पर बैठकर ब्रह्माजी ने तपस्या की, तब भगवान् ने प्रसन्न होकर उनको अपना लोक,भगवद् धाम दिखाया । भगवान् के उस वैकुण्ठ धाम में सभी श्याम रंग के हैं, पीताम्बर धारण करते हैं । भगवत् पार्षद भगवान् के ही समान होते हैं, उनका चतुर्भुज रूप होता है । वैकुण्ठ में लक्ष्मीजी हिंडोले (झूले) पर बैठकर झूलती हुई भगवान् के गुण गाती हैं । उनका रूप अत्यन्त सुन्दर है । ब्रह्माजी ने भगवान् का दर्शनकर उन्हें प्रणाम किया । जब ब्रह्माजी ने भगवान् को प्रणाम किया तो वह कुछ मुस्कुराये और प्रेम से ब्रह्माजी का हाथ अपने हाथ में इस प्रकार लिया जैसे एक सखा अपने सखा का हाथ अपने हाथ में लेता है । इस प्रकार से हाथ नहीं पकड़ा जैसे आजकल के युग में लोग एक दूसरे से बराबर के भाव से हाथ मिलाते हैं । भगवान् ने जिस प्रकार से ब्रह्माजी का हाथ अपने हाथ में लिया, वह तो दया का, वात्सल्य का भाव होता है और आधुनिक सभ्यता का हाथ मिलाना तो बड़ा नीरस होता है, इसमें लोग परस्पर बराबर के भाव से हाथ को झटकते हैं, इसमें कोई दिव्य भाव नहीं होता है । भगवान् ने ब्रह्माजी का हाथ अपने हाथ से इस तरह पकड़ा जैसे पिता अपने छोटे से बालक का हाथ पकड़ता है तो उस पकड़ने में दिव्य वात्सल्य भाव होता है । भगवान् ने ब्रह्माजी से कहा – 'मैं तुम्हारी तपस्या से बहुत संतुष्ट हूँ, तुम कुछ वरदान माँगो । तपस्या तो मेरा हृदय है । तपस्या के बल से ही मैं सृष्टि का पालन, संहार और सब काम करता हूँ ।' ब्रह्माजी बोले – 'महाराज ! मैं स्थूल-सूक्ष्म सभी रूपों को जान पाऊँ, ऐसी मुझ पर कृपा कीजिये क्योंकि आपने एक सखा की तरह मुझसे बर्ताव किया है । '

भगवान् ने यहाँ चार श्लोकों में ब्रह्मा जी को समस्त भागवत का उपदेश दिया । इसे चतुःश्लोकी भागवत कहते हैं । यदि कोई इन चार श्लोकों का प्रतिदिन पाठ करता है तो उसे सम्पूर्ण भागवत पढ़ने का फल मिल जाता है । इन चार श्लोकों का भाव समझ लीजिये । भगवान् कहते

हैं – 'मैं ही सृष्टि के पहले था, सृष्टि के समय भी मैं रहता हूँ और सृष्टि के पीछे भी मैं ही रहूँगा । मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ ।' जिसको इतना ज्ञान हो जाए तो यही पूर्ण ज्ञान है कि संसार में सब कुछ प्रभु हैं । जितनी धारणायें हैं, जितनी वस्तुएँ हैं, उनका यही भाव है –

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

(श्रीभागवतजी - २/९/३२)

यह उपदेश भगवान् ने ब्रह्माजी को दिया और फिर ब्रह्माजी ने यह ज्ञान अपने पुत्र नारद को दिया तथा नारदजी ने व्यासजी को इसका उपदेश किया ।

अध्याय – १०

शुकदेवजी बोले – इस भागवत पुराण में दस विषय हैं – सर्ग, विसर्ग, स्थान,पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय । ये दस विषय जिसके अन्दर होते हैं, उसे पुराण कहते हैं । भागवत पुराण के पहले लक्षण 'सर्ग' का वर्णन तीसरे स्कन्ध में किया गया है । दूसरे लक्षण 'विसर्ग' का वर्णन चौथे स्कन्ध में है, तीसरा लक्षण 'स्थान' पाँचवें स्कन्ध में है । चौथा लक्षण 'पोषण' छठवें स्कन्ध में वर्णित है, पाँचवां लक्षण 'ऊति' सातवें स्कन्ध में है, छठवाँ लक्षण 'मन्वन्तर' आठवें स्कन्ध में है, सातवाँ लक्षण 'ईशानुकथा' नवें स्कन्ध में है, आठवाँ लक्षण 'निरोध' दसवें स्कन्ध में है, नौवाँ लक्षण 'मुक्ति' ग्यारहवें स्कन्ध में है, दसवाँ लक्षण 'आश्रय' तत्त्व बारहवें स्कन्ध में है । अब ये दसों लक्षण हैं क्या वस्तु, संक्षेप में इसे भी समझो । भूत, मात्रा आदि का जन्म सर्ग है, ब्रह्माजी की सृष्टि विसर्ग है, माया को जीतकर भगवान् स्थित होते हैं, वह स्थान है । अनुग्रह (कृपा) करना

पोषण है – **पोषणंतदनुग्रहः** । इसी पोषण को वल्लभाचार्य जी ने लिया है, जिससे पुष्टि मार्ग चला है । मन्वन्तर उनके धर्म हैं, कर्म वासनायें ऊति हैं, अवतारों के चरित्र और भक्तों के चरित्र ईश कथा हैं । शक्तियों के सहित जब भगवान् योगनिद्रा में शयन करते हैं, वह निरोध है । भक्तों की दृष्टि से निरोध के दो पक्ष हैं । एक तो वह है जैसा पहले बताया गया कि भगवान् योगनिद्रा में लीन होते हैं । भक्त पक्ष में जो निरोध होता है, उसको वल्लभाचार्य जी ने लिखा है कि जब हमारी मायिक वृत्तियाँ भी सदा के लिए सो जाती हैं अर्थात् भगवान् में लग जाती हैं । अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही मुक्ति है । इन सबका आश्रय है परब्रह्म । इस प्रकार से पुराण के दस लक्षण बताये गये । योगनिद्रा से उठकर भगवान् नारायण ने सबसे पहले तीन प्रकार की सृष्टि रची – अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत । अब इसे समझो कि यह तीन प्रकार की सृष्टि क्या है ? हम लोग प्रतिदिन रोटी-दाल और साग खाते हैं । जिह्वा के द्वारा हमने खीर खायी तो खीर अधिभूत है । खीर जिसके द्वारा खायी गयी तो वह जीभ के अन्दर रसनेन्द्रिय अध्यात्म है और जीभ के भीतर जो रसनेन्द्रिय का देवता विराजमान है, मीठा-खट्टा स्वाद बता रहा है, वह अधिदैव है । इस प्रकार यह तीन प्रकार की सृष्टि हुई – अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैव । यह तीन प्रकार की सृष्टि भगवान् ने रची, कैसे-कैसे रची ? भगवान् के मुख से तालु उत्पन्न हुआ फिर जिह्वा उत्पन्न हुई, इसके बाद अनेकों प्रकार के रस उत्पन्न हुए । स्थान, विषय, इन्द्रिय और देवता उत्पन्न हुए । जब ये सब उत्पन्न हो गये तो ये स्थूल रूप बनाते हैं । इसके आगे सूक्ष्म रूप है । ये दोनों माया द्वारा रचित हैं । जितने भी कर्म हैं, इनकी चौरासी लाख योनियों में गतियाँ हैं । महाकल्प में प्रकृति से सृष्टि होती है तथा अवान्तर कल्प में विकृति से सृष्टि होती है । इन सबका वर्णन हो चुकने के बाद शौनकजी ने प्रश्न किया – सूतजी ! विदुर जी और मैत्रेय ऋषि का कहाँ मिलन हुआ, ये आप बताइए ।

तृतीय स्कन्ध

अध्याय – १

विदुर जी कौन हैं, जिन्होंने मैत्रेय ऋषि से प्रश्न किया तो शुकदेवजी कहते हैं –

पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम् । (श्रीभागवतजी - ३/१/२)

विदुर जी वही हैं, जिनके लिए भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधन के महल को छोड़कर विदुर जी के घर में बिना बुलाये ही चले गये थे । जब श्रीकृष्ण पाण्डवों के दूत बनकर हस्तिनापुर गये थे तो दुर्योधन ने कहा कि कृष्ण दूत बनकर आ रहे हैं, इन्हें दो चीजें चाहिए । कृष्ण चटोरा है अतः उसे स्वादिष्ट बढ़िया भोजन दे दो तथा वह बड़ा रसिया है, सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ उसके स्वागत में भेज दो । उसने आदेश दिया कि हस्तिनापुर की जितनी भी सुन्दर से सुन्दर नगर वधुएँ हैं, वेश्याएं हैं, वे सभी सोलह श्रृंगार करके कृष्ण की अगवानी करने के लिए मार्ग में दोनों तरफ खड़ी हो जाएँ, इससे कृष्ण हमारे पक्ष में हो जायेंगे । यदि स्त्रियों के जाल से वे निकल भी जाएँ तो ऐसे स्वादिष्ट पदार्थ बनाये जाएँ कि कृष्ण अवश्य ही उन्हें खाकर हमारे पक्ष में हो जाएँ । इसके लिए उसने अत्यंत सुस्वादु ५६ भोग बनवाये । भगवान् तो बड़े खिलाड़ी हैं, वे बोले – 'देखो, दुर्योधन अच्छे-अच्छे लड्डू-पेड़ा खिलाकर और सुन्दर स्त्रियों को मेरे पास भेजकर मुझे ठगना चाहता है ।' हस्तिनापुर पहुँचने पर भगवान् दुर्योधन के घर ही नहीं गये । उसके स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ रखे रह गये और दुर्योधन के घर को छोड़कर भगवान् विदुरजी के घर गये तथा विदुरानीजी के केले के छिलके और साग खाये ।

सबसे ऊँची प्रेम सगाई ।
दुर्योधन को मेवा त्यागो, साग विदुर घर खाई ॥

ये तो कन्हैया जी हैं, ये भाव के भूखे हैं, ये चटोरे नहीं हैं । नासमझ लोग ही उन्हें चटोरा समझते हैं ।

शुकदेवजी कहते हैं – परीक्षित् ! विदुरजी ने धृतराष्ट्र को बहुत समझाया कि तुम्हारे पुत्र दुर्योधन के द्वारा पहले लाक्षागृह में पाण्डवों को जलाने का प्रयास किया गया । भरी सभा में दुःशासन ने महारानी द्रौपदी के केश खींचे तब भी तुम उसे रोक नहीं पाए । तुम लोगों ने अन्याय से जुआ में पाण्डवों को जीत लिया और उनका हिस्सा नहीं दिया । विदुर जी समझाते रहे तब भी धृतराष्ट्र की समझ में कुछ नहीं आया । जब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं पाण्डवों के दूत बनकर गये तो उन्होंने धृतराष्ट्र से कहा – इन पाण्डवों को पाँच गाँव ही दे दो, बेचारों को रहने के लिए एक झोंपड़ी तो बन जाएगी किन्तु दुर्योधन नहीं माना । 'विनाश काले विपरीत बुद्धि ।' विदुरजी ने धृतराष्ट्र को जो उपदेश दिया था, उसे 'विदुर-नीति' कहते हैं । जिस समय वह धृतराष्ट्र को समझा रहे थे, दुर्योधन नाराज हो गया । विदुरजी ने धृतराष्ट्र से कहा – 'पाण्डवों को इनका राज्य दे दो । भीमसेन बहुत बली है, वह तुम्हारे पुत्रों को मारने के लिए तैयार है । भगवान् कृष्ण पाण्डवों के सहायक हैं । उस दिन जब तेरा पुत्र दुःशासन भरी सभा में द्रौपदी की साड़ी खींच रहा था, उस समय उसकी दस हजार हाथियों के समान ताकत वाली भुजाओं का पराक्रम कहाँ चला गया, वह तो साड़ी खींचते-खींचते थक कर बैठ गया, साड़ी खींच नहीं पाया, उस समय उस सभा में उपस्थित सभी लोग तेरे पुत्र को धिक्कारने लगे । यह सब भगवान् कृष्ण की महिमा है । **'पार्थास्तु देवो भगवान्मुकुन्दो'** भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवों को अपना चुके हैं ।'

सभी ने द्रौपदी की कथा सुनी है, जब दुःशासन ने द्रौपदी को निर्वस्त्र करने के लिए उसकी साड़ी खींची तो द्रौपदी ने सब ओर से निराश होकर पुकार लगाई –

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव ॥

द्रौपदी ने भगवान् से कहा – महाराज ! ये कौरव मुझे नग्न कर रहे हैं, क्या आप इस बात को जान नहीं रहे हैं, क्या आपसे कोई बात छिपी हुई है ?

हे नाथ हे रमानाथ ब्रजनाथार्तिनाशन ।

द्रौपदी ने कहा – हे नाथ, हे रुक्मिणी रमण ! फिर उन्हें याद आई कि द्वारिका में रुक्मणी जी पर कोई मुसीबत नहीं आई है । चमत्कार तो कन्हैया ने ब्रज में दिखाया । ब्रजवासियों के ऊपर नित्य ही संकट आते थे । कभी अघासुर आता, कभी बकासुर आता, कंस के भेजे असुर नित्य ही कृष्ण को मारने के लिए ब्रज में आते रहते थे और छोटे से कन्हैया जी खेल-खेल में ही असुरों का विनाश कर देते थे ।

इसलिए द्रौपदी जी बोलीं –

हे नाथ रमानाथ ब्रजनाथार्तिनाशन ।
कौरवार्णवमग्नां मां उद्धरस्व जनार्दन ॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥

(महाभारत, सभा पर्व - ६८/४३)

हे जनार्दन ! मेरी रक्षा करो; इन कौरवों के भीषण समुद्र में मेरे जैसी निर्बल नारी डूब चुकी है, कौरवों व उनकी सेना का बल अनन्त समुद्र है ।

विदुरजी धृतराष्ट्र से कह रहे हैं कि उस दिन तुम्हारे पुत्रों का बल कहाँ चला गया था, जिस दुःशासन के ऊपर तुम लोग गर्व करते हो ।

सारी सभा उस समय चिल्लाई थी – 'धिक्कार है कौरवों को, धिक्कार है दुर्योधन को, धिक्कार है इस दुःशासन को, धिक्कार है कर्ण को, इस अन्याय को धिक्कार है ।' उस सभा में पृथ्वी भर के राजा बैठे हुए थे और वे सभी कौरवों को धिक्कार रहे थे । उस दिन तुम लोगों का पराक्रम कहाँ चला गया था ? कृष्ण पाण्डवों के सहायक हैं अतः इनका राज्य दे दो । विदुरजी की बात सुनकर दुर्योधन अत्यधिक नाराज होकर बोला – 'अरे, हमारे पिता धृतराष्ट्र को यह विदुर भड़का रहा है । बड़ी कठिनाई से तो हमने जुआ खेलकर पाण्डवों से राज्य जीता । इस कुटिल दासीपुत्र को यहाँ किसने बुलाया ? (अपने चाचा को दासी पुत्र कह रहा है) इसे हमारे नगर से तुरन्त बाहर निकाल दो ।' विदुरजी भगवान् के भक्त थे, उन्होंने बुरा नहीं माना और अपने धनुष को स्वयं राजद्वार पर रखकर हस्तिनापुर से चले गये । कैसे गये तो वेदव्यास जी बहुत बढ़िया बात लिखते हैं – **'कौरवपुण्यलब्धो'** विदुर जी क्या गये, कौरवों का पुण्य चला गया । अगर विदुर जी हस्तिनापुर में बने रहते तो कौरवों का विनाश न होता । यदि विभीषण को रावण न ठुकराता तो लंका बची रहती । गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है –

रावन जबहिं बिभीषन त्यागा । भयउ बिभव बिनु तबहिं अभागा ॥

रावण तो उसी दिन मर गया, जिस दिन उसने विभीषण का त्याग कर दिया । इसीलिए विदुर जी के बारे में व्यासजी लिखते हैं कि विदुर जी क्या गये, कौरवों के पुण्य को लकर चले गये । विदुरजी बहुत से तीर्थों में गये, कई व्रत उन्होंने किये । भारतवर्ष में विचरण करते हुए एक बार वे यमुना तट पर आये । वहाँ उन्होंने उद्धवजी का दर्शन किया । जब यदुवंश का विनाश होने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण धाम गमन कर गये तो उद्धव जी ने भी द्वारका को छोड़ दिया । ये देवगुरु बृहस्पति के शिष्य हैं । इनको देखते ही विदुर जी ने पूछा – 'अरे उद्धव

जी ! बताइए हमारे कृष्ण कैसे हैं, उनके माता-पिता देवकी-वसुदेव कैसे हैं, बलराम कैसे हैं, उग्रसेन कैसे हैं, सात्यकि, साम्ब और अनिरुद्ध आदि कैसे हैं ?' – इस तरह विदुरजी ने सभी के बारे में पूछा, साथ ही पाण्डवों का समाचार भी पूछा और पाण्डु के बारे में कहा कि उन्होंने तो अकेले ही सारी पृथ्वी को जीत लिया था। मुझे तो कौरवों द्वारा राज्य से निकाल दिया गया। इस समय मैं गुप्त रूप से तीर्थों में विचरण कर रहा हूँ। भगवान् दुष्टों का नाश करने के लिए अवतार ग्रहण करते हैं, इसलिए मुझे उन भगवान् के बारे में बताइए, किस प्रकार वे अपनी लीलायें कर रहे हैं ?

अध्याय – २

जब विदुर जी ने ऐसा पूछा तो उद्धवजी भगवान् श्रीकृष्ण के विरह में विह्वल होकर एकदम शान्त हो गये। उद्धव जी तो बचपन से ही भगवान् के भक्त थे, जैसे आजकल के बालक ऊधम-चंचलता करते हैं, वे ऐसे नहीं थे। उद्धव जी तो बाल्यावस्था से ही श्यामसुन्दर के खेल खेला करते थे। विदुरजी द्वारा उनकी स्मृति दिलाये जाने पर वे श्रीकृष्ण के भाव में पूर्णतया निमग्न हो गये और प्रेम से श्याम-श्याम कहने लगे। बहुत देर बाद उनको होश आया तब उन्होंने आँख खोलकर बाहर देखा कि अरे, ये तो विदुर जी हैं। उद्धवजी बोले – क्या बतायें विदुर जी, श्यामसुन्दर तो अन्तर्धान हो गये और उनकी महिमा को कोई जान नहीं सका। केवल जो उनके विशेष भक्त थे, वे ही उनकी महिमा को जान सके, नहीं तो बाकी सभी लोग उनकी माया से मोहित हो गये। एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात उद्धवजी ने कही कि कृष्ण का रूप क्या है, उनके रूप से ब्रह्मा, विष्णु, शिव, लक्ष्मी आदि मोहित हों, यह तो फिर भी छोटी सी बात है, बड़ी बात तो यह है कि स्वयं कृष्ण अपने रूप से मोहित हो जाते थे।

विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ।

(श्रीभागवतजी - ३/२/१२)

स्वयं श्रीकृष्ण जब किसी दर्पण में अपना रूप देखते तो मोहित हो जाते थे, कृष्ण रूप की ऐसी विशेषता है । जब वे ब्रज में निवास कर रहे थे तो गोपियाँ उनके रूप को देखकर ऐसा मोहित हो जातीं थीं कि यदि कृष्ण उनके सामने से होकर निकलते तो जिस गोपी के हाथ में जल से भरी मटकी होती तो वह वहीं की वहीं रह जाती, न शीश पर मटकी रख पाती और न धरती पर रख पाती, वहीं की वहीं खड़ी हुई एकटक कृष्ण को देखती रह जाती । ऐसा कृष्ण के रूप का जादू था । गाय चलते समय यदि कृष्ण को देख लेती तो स्थिर भाव से खड़ी हो जाती, चलना भूल जाती, ऐसा श्यामसुन्दर का अलौकिक रूप था । और तो क्या, गोपी-ग्वाल, गायें आदि तो चेतन हैं, कृष्ण किसी वृक्ष-लता के सामने से होकर गुजरते तो उनके रूप के जादू से लता-वृक्ष भी रोमांचित हो जाते और श्रीकृष्ण के ऊपर पुष्प वर्षा करने लगते थे । ऐसा कृष्ण का रूप है । उद्धवजी ब्रज में जाकर ब्रजगोपियों के कृपापात्र बन गये थे, इसलिए उन्होंने कहा – 'विदुर क्या बताऊँ, स्वयं कृष्ण ही अपने रूप पर लट्टू थे । वे जब आभूषण पहनते थे तो आभूषण से उनके शरीर की शोभा नहीं होती थी बल्कि स्वयं आभूषण ही उनके शरीर पर धारण किये जाने पर शोभा को प्राप्त होते थे ।'

उद्धवजी ने भगवान् कृष्ण की महिमा का वर्णन करते हुए आगे कहा कि बलराम जी भी उनके साथ पैदा हुए और इन श्रीकृष्ण की लीला देखो कि भय के कारण वे युद्ध छोड़कर भाग गये । कैसी-कैसी लीला करते हैं श्यामसुन्दर ? द्वारका में रहते समय वे प्रतिदिन अपने माता-पिता 'देवकी-वसुदेव' को प्रणाम करते । जो भगवान् अपनी भौहों की मरोड़ से ही पृथ्वी का भार उतार सकते थे, मैंने देखा है कि वे युधिष्ठिर

के राजसूय यज्ञ में सेवक की भाँति सेवा कर रहे थे । उन श्रीकृष्ण का विरह भला कौन सह सकता है ?

दुनिया में कोई गलती करता है तो उसे क्षमा करना तो अधिकतर लोग जानते हैं । गाँधी जी को जब गोली लगी तो अंतिम समय उन्होंने कहा था कि मुझे गोली मारने वाले को क्षमा कर देना, फाँसी की सजा मत देना । ईसा मसीह को भी जब क्रॉस पर लटकाया गया तो उन्होंने भी प्रभु से प्रार्थना किया कि इन्हें क्षमा कर दो । इस प्रकार सभी महापुरुषों ने अपने प्रति अपराध करने वालों को क्षमा किया है किन्तु श्रीकृष्ण के चरित्र में एक ऐसी विलक्षण उदारता है, जिसका उदाहरण सृष्टि में आज तक दिखाई नहीं पड़ता कि उन्हें जो पूतना मारने के लिए आई थी, उसको केवल क्षमा ही नहीं किया अपितु उसे माता की गति प्रदान कर दी अर्थात् कोई हत्यारा जान से मारने के लिए आये और उसको माँ-बाप बना लिया जाए, इतनी दया विश्व के इतिहास में आज तक किसी ने नहीं की है । इसीलिए कृष्ण की इस दया के बारे में उद्धवजी ने कहा –

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२/२३)

जो पूतना श्रीकृष्ण को जान से मारने की इच्छा से आई थी, कालकूट लगे स्तनों का उन्हें पान कराया किन्तु आश्चर्य है उन परम दयालु की लीला को, जो उन्होंने उस हत्यारिन को भी माता की गति प्रदान कर दी । ऐसा दयालुता सम्पूर्ण सृष्टि में कहीं नहीं है । श्रीकृष्ण के अतिरिक्त ऐसा दयालु कौन है, जिसकी शरण में हम जायें ।

हम लोग ऐसा कहते हैं कि कंस बड़ा पापी था किन्तु उद्धव जी कहते हैं – अरे, वे असुर तो बड़े भक्त थे, उन्हें अंतिम समय भगवान् के दर्शन हुए, भगवान् के हाथों उनका संहार हुआ ।

मन्येऽसुरान् भागवतांस्त्र्यधीशे संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्रमंसेसुनाभायुधमापतन्तम् ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२/२४)

वे असुर अब कहाँ रहे किन्तु उनकी बदनामी चली आ रही है परन्तु उद्धव जी के मतानुसार वे असुर परम भागवत थे । भगवान् श्रीकृष्ण ग्यारह वर्ष तक ब्रज में रहे, वहाँ उन्होंने ब्रजलीला की । छोटे-से कन्हैया जी कौमार लीला करते थे, जैसे – छोटा-सा बच्चा हो, कभी रोने लग जाते, अपने नेत्रों से मोटे-मोटे आँसू गिराते, कभी बैठकर अपने आप ही हँसने लगते, सब लोग उनकी मधुर हँसी को देखने लग जाते थे । छोटा बालक हँसता है तो बहुत प्यारा लगता है । कन्हैयाजी भी ऐसे बालचरित्र किया करते थे, क्यों करते थे ? ब्रजवासियों को मोहित करने के लिए ऐसी मधुर लीलाएँ करते थे । बालकृष्ण जब हँसते तब भी प्यारे लगते और जब रोते तब भी बड़े प्यारे लगते थे । उन कृष्ण ने और क्या किया तो उद्धवजी कहते हैं कि उन्होंने वंशी बजाई, वंशी बजाकर गोपियों के साथ रास किया, कालिय नाग का दमन किया, गोवर्धन पर्वत को उठाया ।

अध्याय – ३

कंस को मारने के बाद, विद्याध्ययन करने के लिए प्रभु गुरुकुल गये । गुरुमाता को प्रसन्न करने के लिए यमपुरी जाकर मृतक गुरुपुत्र को वहाँ से वापस लाये । रुक्मिणी जी का हरण किया, सात बैलों को जीतकर सत्या के साथ विवाह किया । सत्यभामा के लिए स्वर्ग से कल्पवृक्ष उखाड़कर ले आये । भौमासुर को हराकर उसके द्वारा बन्दी बनाई गयी १६,१०० राजकुमारियों को मुक्त कर उनके साथ विवाह किया । प्रत्येक राजकुमारी से दस-दस पुत्र उत्पन्न हुए । इसके बाद

उन्होंने कुरुक्षेत्र में भयंकर युद्ध करवाया । दुर्योधन को भीम द्वारा मरवाकर भी भगवान् श्रीकृष्ण ने विचार किया कि अभी तो यदुवंश बाकी है, इसलिए उन्होंने यदुवंश का संहार कराया । अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से उत्तरा के गर्भ में परीक्षित् की रक्षा की । युधिष्ठिर का यज्ञ करवाया और अंत में शिक्षा देने के लिए दिखाया कि उन्हें भी संसार से वैराग्य हो गया है ।

अध्याय – ४

एक बार सभी यदुवंशी प्रभासक्षेत्र को गये । वहाँ मदिरापान करके वे आपस में ही लड़कर-लड़कर समाप्त हो गये । मदिरा कितनी खराब चीज होती है । यदुवंशियों की लड़ाई सूर्यास्त के समय हुई थी । अंत में भगवान् सरस्वती नदी के जल से आचमन करके एक वृक्ष के नीचे बैठ गये । वे अपनी बायीं जाँघ पर दायाँ चरणकमल रखकर बैठे हुए थे । उद्धवजी कहते हैं कि उसी समय मैं वहाँ पहुँचा और उतने में ही वहाँ मैत्रय मुनि भी आ गये । भगवान् मुझसे बोले – 'हे उद्धव ! मैं इस बात को जानता हूँ कि तुम ज्ञान प्राप्ति के लिए मेरे पास आये हो और यह तुम्हारा चरम जन्म है । (चरम जन्म उसे कहते हैं जो अंतिम जन्म होता है, उसके बाद मनुष्य भगवान् के पास पहुँच जाता है, उसके बाद फिर पुनर्जन्म नहीं होता है ।) मैं तुम्हें भागवत का ज्ञान प्रदान करूँगा ।' जब भगवान् ऐसे बोले तो उद्धव जी ने कहा – 'प्रभो ! आप अनीह हैं, आपको कोई इच्छा नहीं है, बड़े आश्चर्य की बात है कि फिर भी आप कर्म करते हैं । अजन्मा होकर आप जन्म लेते हैं तथा एक अन्य आश्चर्य की बात है कि कभी-कभी आप भय के कारण मैदान छोड़कर भागते भी हैं । जब जरासन्ध और कालयवन ने मथुरा पर चढ़ाई की, तब आप भाग गये थे । काल भी आपसे डरता है फिर भी आप समुद्र के भीतर किला बनाकर रहते हैं । आपकी इस तरह की विपरीत लीलाओं को दुनिया के लोग कैसे समझ सकते हैं, फिर आप

आत्माराम होकर गोपिकाओं के साथ विहार करते हैं, इन चरित्रों से भला कोई आपके वास्तविक स्वरूप को कैसे समझ सकता है, आप आत्माराम हैं, ऐसा कोई कैसे जान पायेगा ? हे प्रभो ! आप मुझे बुलाकर राज्य के छोटे-छोटे कार्यों में मेरी सम्मति लिया करते थे, यह कैसे आश्चर्य की बात है । अब आप मुझे अपने स्वरूप का ज्ञान प्रदान कीजिये । तब भगवान् ने मुझे अपने स्वरूप का ज्ञान दिया और उनसे ज्ञान प्राप्तकर अब मैं यहाँ आया हूँ ।' शुकदेवजी कहते हैं – उद्धवजी के मुख से अपने प्रिय बन्धुओं के विनाश का समाचार सुनकर विदुरजी को बहुत दुःख हुआ, उन्होंने उद्धवजी से कहा – 'महाराज ! आप तो भगवान् के भक्त हैं, प्रभु ने जो ज्ञान आपको दिया था, कृपा करके वह ज्ञान आप मुझे भी प्रदान करें ।' उद्धवजी ने कहा – 'विदुरजी ! आप धैर्य रखिये, आपके लिए तो भगवान् ने मैत्रेय जी को ज्ञानोपदेश करने की आज्ञा दी है । धाम गमन के समय प्रभु ने आपको याद किया था, आप भगवान् के परम भक्त हैं । भगवान् के दिए ज्ञान को प्राप्त करने के लिए अब आप मैत्रेय ऋषि से मिलिए ।' उद्धवजी की बात सुनकर विदुरजी को बड़ी शान्ति मिली और रात भर वह उद्धवजी के मुख से भगवान् की कथा सुनते रहे तथा प्रभु का गुण गाते रहे । प्रातःकाल होते ही विदुरजी वहाँ से चले गये । राजा परीक्षित् ने शुकदेवजी से पूछा – 'महाराज ! यदुवंश का विनाश होने पर उसके सभी सदस्य नष्ट हो गये थे फिर उद्धवजी कैसे बचे रहे ?' श्रीशुकदेवजी ने कहा – 'वे भगवान् की इच्छा से बच गये । यदुवंश के विनाश का ऋषियों ने शाप दिया था परन्तु कोई भी शाप भगवान् से बड़ा तो हो नहीं सकता है । अपने धाम को जाते समय भगवान् ने विचार किया कि अब मैं तो इस संसार से जा रहा हूँ, ऐसी स्थिति में मेरा ज्ञान किसके पास रहेगा ? इसलिए उन्होंने उद्धवजी को ज्ञान दिया और ज्ञान देने के पश्चात् उन्हें बद्रिकाश्रम भेज दिया ।' इधर विदुर जी उद्धवजी की आज्ञा से गंगा किनारे पहुँचे, जहाँ मित्रा के पुत्र श्रीमैत्रेय जी रहते थे । मैत्रेय

जी की माँ का नाम मित्रा तथा पिता का नाम कुशारु था । इसलिए उनका एक नाम कौशारव भी है ।

अध्याय – ५

मैत्रेयजी गंगा तट पर बैठे थे, विदुरजी उनके पास पहुँचे और उन्हें प्रणाम करके बड़ी सुशीलता से प्रश्न पूछा । विदुर जी ने पूछा – महाराज ! संसार में लोग कर्म करते हैं सुख पाने के लिए कि इस कर्म से हमें सुख मिलेगा, धन-सम्पत्ति, स्त्री और संतान आदि के द्वारा हमें सुख की प्राप्ति होगी किन्तु उन्हें इन चीजों से दुःख ही मिलता है, इसका कारण क्या है ? भगवान् ने किस प्रकार सृष्टि की रचना की, किस प्रकार उन्होंने अवतार लिए, लोकों की स्थिति क्या है ? श्रीकृष्ण के गुणों का भी वर्णन कीजिये, जो कानों में प्रवेश करने के बाद भवसागर के बन्धनों को काट देते हैं । जो मनुष्य श्यामसुन्दर की कथा सुनता है, उसे स्वतः ही संसार खट्टा लगेगा । एक बहुत ही बढ़िया बात विदुर जी कह रहे हैं –

हरेः पदानुस्मृतिनिर्वृतस्य समस्तदुःखात्ययमाशु धत्ते ।

(श्रीभागवतजी - ३/५/१३)

भगवान् की स्मृति, दिन-रात उनकी सेवा-परिचर्या से समस्त दुःख जड़ से नष्ट हो जाते हैं, दुःख नाश का और कोई उपाय नहीं है । इसलिए महाराज ! श्यामसुन्दर की कथाओं में जो सारभूत हैं, उन्हें आप मुझे सुनाइए । मैत्रेय जी विदुर जी का प्रश्न सुनकर अत्यधिक प्रसन्न हुए और बोले – ऐसा प्रश्न तो जो करता है, वह बड़ा बड़भागी है । ऐसा प्रश्न करने वाला भी पवित्र होता है और जो इसे सुनता है, वह भी पवित्र होता है । इसके अलावा बेकार की बातों में तो जीवन का नाश करना ही नहीं चाहिए । ऐसा प्रश्न जो आपने किया तो आप इसके योग्य ही हैं

क्योंकि आप तो व्यासजी के वीर्यज पुत्र हैं । आप तो साक्षात् भगवान् यम ही हैं, धर्मराज हैं, माण्डव्य ऋषि के शाप से आपने पृथ्वी पर अवतार लिया है । (माण्डव्य ऋषि को सूली पर चढ़ाने के कारण उन्होंने यमराज को शाप दे दिया था, इसकी विस्तृत कथा महाभारत में है) आपको उपदेश देने के लिए मुझे स्वयं भगवान् ने आज्ञा दी कि तुम विदुर जी को मेरा सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान करना । अब सृष्टि के बारे में आपके प्रश्न का उत्तर मैं देता हूँ । पहले जब सृष्टि नहीं थी, केवल प्रलय की स्थिति थी, उस समय अकेले केवल भगवान् ही थे । भगवान् की तब अकेले रहने की ही इच्छा थी, अब उनकी ऐसी इच्छा क्यों थी, भगवान् कोई कार्य क्यों करना चाहते हैं तो उनके बारे में 'क्यों' नहीं किया जा सकता । जो मनुष्य भगवान् के बारे में क्यों करता है कि भगवान् ने ऐसा क्यों किया तो समझ लो कि वह बड़ा नासमझ है । अस्तु, बड़े आश्चर्य की बात है कि जब कन्हैयाजी अकेले थे तो अपने को असत् मानने लगे । लीला दृष्टि से बात सही भी है, ये तो रसिया ठाकुर हैं, अकेले इनका मन कैसे लगेगा ? संसार के नाटक के लिए इनको अकेला रहना पड़ता है । वे तो नित्य रास-विलास करने वाले हैं । 'माया' जो उनकी शक्ति है, उन्होंने उसमें क्षोभ उत्पन्न किया और अपना वीर्य आधान किया । अब ये सब बातें समझने की हैं, देखने में तो यह कथा ऐसी प्रतीत होती है कि जैसे संसारी स्त्री-पुरुष सहवास करते हैं और पुरुष स्त्री में अपने वीर्य का आधान करता है परन्तु भगवान् के सम्बन्ध में इसका क्या रहस्य है, इसे समझो । जैसे मनुष्य का वीर्य होता है, ऐसा वीर्य भगवान् का नहीं होता है और न ही संसार के मनुष्यों की भाँति भगवान् माया में वीर्य का आधान करते हैं ।

कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः ।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ॥

(श्रीभागवतजी - ३/५/२६)

भगवान् ने माया में क्षोभ उत्पन्न करके उसमें अपना वीर्य स्थापित किया । भगवान् का वीर्य क्या है, इसे समझो । भगवान् का वीर्य है उनका चिद् अंश । प्रकृति के पास जाकर भगवान् उसमे अपना चिदंश रूपी वीर्य स्थापित करते हैं । उससे अनन्त सृष्टि की उत्पत्ति होती है । वह चिदंश शक्ति रूप होता है । भगवान् के द्वारा प्रकृति में चिदंश रूपी वीर्य स्थापित करने से महत्तत्त्व की उत्पत्ति हुई और उससे तीन वस्तुएँ उत्पन्न हुईं – अंश, गुण और काल । अंश क्या है ? यह चेतना है, जो चैतन्य अंश है ।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

हर एक महत्तत्त्वादि का जो अधिष्ठाता देवता होता है, उसमें चेतना होती है । गुण का फल क्या है, यह है विक्षेप । काल का परिणाम क्या है, काल का परिणाम है विकार । काल हमेशा परिवर्तन कराता रहता है । इस प्रकार अंश, गुण और काल – इन तीन चीजों को लेकर महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ और यही तीन बातें सबमें चलती चली जाएँगी । महत्तत्त्व के विकृत होने पर तीन प्रकार का अहं तत्त्व पैदा हुआ – वैकारिक, तैजस और तामस । वैकारिक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता उत्पन्न हुए, तैजस अहंकार से इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं और तामस अहंकार से भूत सूक्ष्मादि उत्पन्न हुए । पाँच तन्मात्रायें हैं – शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध तथा पाँच महाभूत हैं – आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी । इनकी जब रचना हो गयी तो इन सबके देवता भगवान् की स्तुति करने लगे । देवताओं ने कहा –

नमाम ते देव पदारविन्दं प्रपन्नतापोपशमातपत्रम् ।

(श्रीभागवतजी - ३/५/३८)

हे देव ! हम आपके चरणारविन्दों की वन्दना करते हैं, जिन चरणों में पहुँचकर लोग सांसारिक दुखों को फेंक देते हैं ।

हे प्रभो ! आपके चरणों के बिना सुख नहीं है और ये चरण गंगाजी के उत्पत्ति स्थान हैं । बड़े-बड़े धीर लोग वैराग्य और ज्ञान के बल से आपके चरणकमलों की आराधना करते हैं ।

एक बात यहाँ समझने योग्य है कि भगवान् हम सबके हृदय में बैठे हुए हैं फिर भी हमें क्यों नहीं मिल रहे हैं, हम लोग उनसे क्यों दूर हैं तो देवता लोग अपनी स्तुति में इसका कारण बताते हुए कह रहे हैं –

यत्सानुबन्धेऽसति देहगेहे
ममाहमित्यूढदुराग्रहाणाम् ।
पुंसां सुदूरं वसतोऽपि पुर्यां
भजेम तत्ते भगवन् पदाब्जम् ॥

(श्रीभागवतजी - ३/५/४३)

इस शरीर और घर में जो हम लोगों का अहंता-ममता का मूढ़ दुराग्रह, हठ बुद्धि है, इसी कारण से भगवान् हमसे दूर हैं । इसीलिए हठ की आदत नहीं रखनी चाहिए । ये बातें छोटी-छोटी हैं किन्तु याद रखो, हम लोग जो छोटे-छोटे कार्यों में हठ करते हैं, उससे बड़ा नुकसान होता है । परिवार में पुरुष कहता है कि मेरी बात क्यों नहीं मानी, स्त्री कहती है कि मेरी ही बात माननी चाहिए, बेटा कहता है कि मेरी बात मानो, इस प्रकार का हठ बहुत हानिप्रद (नुकसान करने वाला) होता है । इसीलिए श्रीरामचरितमानस में भी कहा गया है – **'भगति पच्छ हठ नहिं सठताई ।'** किसी का कल्याण करना है तो सर्वप्रथम उसमें से हठ को निकाल दो । अपनी बात को नीची करना सीखो । अपनी स्तुति में यहाँ देवगण कह रहे हैं कि यह जो अहं और मम् का दुराग्रह है, इसी के कारण भगवान् हृदय में रहते हुए भी हमसे दूर हैं, ऐसे प्रभु, आपके चरणारविन्दों में हम प्रणाम करते हैं । देवताओं ने भगवान् से एक बात और कही – जो बहिर्मुखी लोग हैं, वे आपके

चरणकमलों की उपासना नहीं कर सकते । जो लोग तीव्र समाधि योग करते हैं किन्तु यदि उनको आपकी भक्ति का रस नहीं मिला तो उनका सारा श्रम बेकार है । हे प्रभो ! हम देवगण सृष्टि का कोई कार्य नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि अलग-अलग हैं इसलिए आप ऐसी कृपा कीजिये कि हम कुछ कार्य करने के योग्य हो जाएँ । आप ही ने तो सर्वप्रथम प्रकृति में अपने चिदंश रूपी वीर्य का आधान किया था । इसलिए आप आज्ञा दीजिये कि अब हम क्या करें ?

अध्याय – ६

जब भगवान् ने देवताओं की स्तुति सुनी तो

त्रयोविंशतितत्त्वानां गणं युगपदाविशत् । (श्रीभागवतजी - ३/६/२)

वे इन तेईस तत्त्वों के बीच में एक साथ प्रवेश कर गये । तेईस तत्त्व वही हैं – महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्च तन्मात्रा, पञ्चभूत और मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ । अब ये समझो कि भगवान् के इन तेईस तत्त्वों में प्रवेश करने से क्या हुआ ? यह बात बारम्बार ध्यान देने योग्य है कि कृष्ण हैं – प्रेमरूप, रसरूप । बिना 'कृष्ण' के कोई वस्तु संगठित नहीं हो सकती । जहाँ 'कृष्ण' हैं, वहीं प्रेम है, वहीं संगठन है । कोई यदि कहे कि ये बड़े भगत जी हैं लेकिन इनके घर में कलह है तो समझ लेना चाहिए कि अभी उनके यहाँ कृष्ण का निवास नहीं है । अगर घर में बेटा-बेटी माता-पिता से लड़ रहे हैं या लड़की माँ से लड़ रही है तो उस घर में कृष्ण का निवास नहीं है । जहाँ कृष्ण हैं, वहाँ पर संगठन है, वहाँ कलह नहीं होता और जहाँ कलह होता है, वहाँ कृष्ण नहीं हैं । यही इस कथा का सारांश है । इसलिए जब भगवान् कृष्ण देवताओं के बीच में घुसे तो क्या हुआ ?

भिन्नं संयोजयामास सुप्तं कर्म प्रबोधयन् । (श्रीभागवतजी - ३/६/३)

भगवान् ने उनके बीच में प्रवेश करके सबको इकठ्ठा कर दिया क्योंकि कृष्ण प्रेमरूप हैं, अतः सभी तेईस तत्त्व और और उनके देवता संगठित हो गये और जब वे संगठित होने लगे तब सृष्टि का कार्य होने लगा एवं विराट की उत्पत्ति हुई एक, दस और तीन के भेद से। पहला भेद है हृदय, प्राणादि दस प्रकार के भेद हैं और अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीन प्रकार के भेद हैं। अब यहाँ चार-चार चीजें एक साथ बनी हैं – स्थान, देवता, इन्द्रिय और विषय। जैसे मुँह स्थान है, इस मुँह के भीतर जीभ इन्द्रिय है, उस इन्द्रिय पर लड्डू रखा तो वह विषय है, उस लड्डू को खाया जाता है। अब उस लड्डू का स्वाद मीठा है कि कैसा है, यह रसनेन्द्रिय का देवता बताता है। इस प्रकार ये चार वस्तुयें हैं। ये चार-चार वस्तुएँ भगवान् के द्वारा हर जगह से एक साथ उत्पन्न हुई। जैसे पहले विराट पुरुष के मुख प्रकट हुआ, उसमें लोकपाल अग्नि प्रवेश कर गये, 'वाणी' इन्द्रिय है और उसका विषय है - वक्तव्य (बोलना)। इस प्रकार चार-चार के क्रम से सब बातें बनती गयीं। इस तरह सृष्टि रचना के बाद सभी वर्णों की उत्पत्ति हुई, लोकों की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि की उत्पत्ति हुई। शूद्र की सब लोग निन्दा करते हैं किन्तु भागवत में उसकी प्रशंसा की गयी है – **'यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः'** - शूद्र की वृत्ति सेवा से भगवान् प्रसन्न होते हैं। शूद्र का काम है सेवा करना। इसलिए बहुत से लोग आक्षेप करते हैं कि सनातन धर्म में शूद्रों को बहुत गिरा दिया गया है किन्तु ऐसी बात नहीं है। शूद्रवृत्ति अर्थात् सेवावृत्ति आ जाए तो भगवान् उससे बहुत प्रसन्न होते हैं। ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य और शूद्र का विभाग कर्मों के अनुसार किया गया है, इसमें कोई अन्याय की बात नहीं है। एक प्रकार से देखा जाये तो अन्याय ही तो है कि कोई आदमी बहुत गरीब है और कोई बहुत अमीर है। अब इस भेद को कौन मिटा सकता है। कोई आदमी बहुत

बलशाली है, कोई आदमी ठीक से चल भी नहीं पाता, लड़खड़ाता हुआ चलता है तो इस भेद को कौन मिटा सकता है ? अतः जाति व्यवस्था के जितने भी भेद हैं, वे अन्याय नहीं हैं, हमें ये अन्याय इसलिए प्रतीत होते हैं क्योंकि हम लोग बहुत स्थूल बुद्धि के हैं और पिछले कर्मों को नहीं जानते हैं। एक तो कर्म होता है और एक होते हैं कर्म के फल। अतीत के, पिछले जन्मों के कर्मों के अनुसार जाति व्यवस्था का विभाजन किया गया है और शूद्र वर्ण की तो प्रशंसा की गयी है कि यदि शूद्र वृत्ति (सेवा वृत्ति) आ जाये तो भगवान् उस मनुष्य पर बहुत शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं। मैत्रेयजी आगे कहते हैं कि विदुरजी ! वाणी का यही लाभ है कि भगवान् श्रीकृष्ण के यश को गाओ और कानों का लाभ यही है कि विद्वानों के मुख से भगवान् की कथा सुनो। अपनी अनन्त महिमा को स्वयं भगवान् भी नहीं जानते हैं।

अध्याय – ७

मैत्रेय जी की बात सुनकर विदुर जी ने पूछा – महाराज ! भगवान् तो निर्गुण हैं फिर गुणमयी लीलायें क्यों करते हैं ? उन्होंने यह संसार क्यों बनाया जबकि वे तो स्वतः तृप्त हैं फिर क्यों संसार बनाते हैं, पालन करते हैं और अंत में इसका विनाश कर देते हैं। शुकदेवजी कहते हैं कि विदुरजी की बात सुनकर मैत्रेयजी बोले – यही तो भगवान् की माया है –

सेयं भगवतो माया यन्न्येन विरुध्यते। (श्रीभागवतजी - ३/७/९)

जिसको तुम तर्क से नहीं समझ सकते हो। जो बुद्धि से समझ में आता है, वह भगवान् नहीं हैं। यह सारी सृष्टि प्रपंच माया का खेल है, भगवान् का वास्तविक स्वरूप इससे अलग है। यह संसार तो माया का विलास है।

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः ।

(श्रीभागवतजी - ३/७/१४)

जितने भी कष्ट हैं, उनका शमन श्रीकृष्ण के गुणानुवाद का श्रवण करने से होता है, अतः मनुष्य को उनके गुणानुवाद का श्रवण करना चाहिए । केवल कृष्ण गुण सुनने से ही समस्त क्लेश समाप्त हो जाते हैं । इतना सुनते ही विदुर जी मैत्रेय जी से बोले – महाराज ! आपके उपदेश से मेरी शंका दूर हो गयी । एक बात यह है कि भक्त सेवा बहुत कठिन है, किसी को यदि भगवद्भक्त की सेवा मिल जाये तो उसके भाग्य का वर्णन नहीं किया जा सकता है । अब आप मुझे भगवान् की विभूतियों के बारे में बताइए, समस्त लोकों का प्रमाण बताइए । सबसे अंत में विदुर जी ने अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही –

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ ।
जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ॥

(श्रीभागवतजी - ३/७/४१)

सारे वेद पढ़ लिए जाएँ, सारे यज्ञ कर लिए जाएँ, जितनी भी तपस्यायें हैं, वे सब कर ली जाएँ, जितने भी दान हैं, वे सब दे दिए जाएँ परन्तु किसी जीव को अभय मार्ग, कृष्ण शरण में लगा देना, उपरोक्त समस्त सत्कर्मों से बड़ा है, सर्वोत्तम है अर्थात् किसी को भगवत्कीर्तन, नाम-गुण में लगा देने से बड़ा न दान है, न इससे बड़ा कोई तप है, न इससे बड़ा कोई यज्ञ और न ही वेदाध्ययन है । इसलिए सभी लोगों को चाहिये कि अपने बच्चों को भोजन पीछे दो, पहले यह देखो कि तुम्हारा बालक नित्य श्रीकृष्ण स्मरण करता है कि नहीं । इस बात को समझो, नहीं तो तुम केवल पशु के समान हो । पुरुष को चाहिए कि वह पहले यह

देखे कि उसकी पत्नी नित्य श्रीकृष्ण- स्मरण करती है या नहीं और स्वयं तुम भी नित्य भगवत्स्मरण करते हो या नहीं । यदि तुम इस बात पर ध्यान नहीं दोगे तो सब कार्य अधर्म हैं । सबसे बड़ा धर्म यही है कि जीव को अभय मार्ग अर्थात् श्रीकृष्ण शरण के बारे में बताया जाये । विदुरजी मैत्रेयजी से कहते हैं –

महाराज ! आप तो श्रेष्ठ महापुरुष हैं, अतः मुझे इन सब बातों के बारे में सदुपदेश प्रदान कीजिये ।

अध्याय – ८

विदुर जी की बात सुनकर मैत्रेयजी बोले – जब कोई ज्ञान का उपदेश दिया जाता है तो सर्वप्रथम अपने गुरुदेव का, किसी सच्चे भक्त का स्मरण किया जाता है । इसलिए अब यहाँ मैत्रेयजी अपनी परम्परा का स्मरण करते हुए बता रहे हैं कि मैंने श्रीमद्भागवत का अध्ययन किनके द्वारा किया ? श्रीमद्भागवत की दो परम्पराएँ हैं । एक परम्परा तो यह है कि भगवान् नारायण ने चतुःश्लोकी के रूप में सर्वप्रथम ब्रह्माजी को इसका उपदेश किया फिर ब्रह्माजी ने इसका उपदेश नारदजी को दिया, नारदजी ने व्यासदेव को तथा व्यासजी ने शुकदेवजी को श्रीमद्भागवत का उपदेश दिया । दूसरी परम्परा यह है कि शेषजी, जिनका एक नाम संकर्षण भी है, वे पाताळ लोक में निवास करते हैं । एक बार सनत्कुमारादि चारों भाई उनके पास गये । उस समय शेषजी अपने इष्ट भगवान् श्यामसुन्दर का ध्यान कर रहे थे । सनत्कुमारादि मुनिगण श्रीमद्भागवत का ज्ञान उनसे सीखकर आये और उन्होंने सांख्यायन मुनि को श्रीमद्भागवत का श्रवण कराया । सांख्यायनजी के दो शिष्य हुए – पराशरजी और बृहस्पतिजी । पराशर जी के शिष्य हुए मैत्रेयजी । इस प्रकार मैत्रेयजी व्यासजी के गुरु भाई भी हुए और मित्र भी । मैत्रेयजी ने अब विदुरजी को अपने गुरुदेव से प्राप्त भागवत पुराण

का उपदेश करते हुए कहा – सृष्टि के पूर्व जब प्रलय हुई थी तब भगवान् ने अपनी काल रूपी शक्ति को जगाया तो उनकी नाभि में से एक कमल उत्पन्न हुआ । उस समय केवल कमल ही था, उस पर ब्रह्माजी की उत्पत्ति नहीं हुई थी । अब कमल में भगवान् स्वयं घुसे ।

तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः प्रावीविशत्सर्वगुणावभासम् ।

(श्रीभागवतजी - ३/८/१५)

यह भगवान् विष्णु का दूसरा रूप है । कमल में भगवान् के प्रवेश करने के बाद उस कमल पर ब्रह्माजी का प्राकट्य हुआ और वह चारों ओर गर्दन घुमाकर देखने लगे कि यह सब क्या है, चारों ओर देखने के कारण उनके चारों दिशाओं में चार मुख हो गये । ब्रह्माजी स्वयं को भी नहीं जान पाए कि मैं कौन हूँ और यह कमल कहाँ से प्रकट हुआ है । कमल के चारों ओर उस समय केवल प्रलयकालीन समुद्र था, केवल जल ही जल था । ब्रह्माजी सूक्ष्म रूप धारणकर कमल की नाल के भीतर घुसे, यह विचारते हुए कि आखिर यह कमल कहाँ से उत्पन्न हुआ है, मैं भी तो जानूँ कि मैं कहाँ से पैदा हुआ हूँ, न मुझे अपनी माँ का पता, न पिता का पता और न ही इस स्थान का कुछ पता है कि यह कैसा तमाशा है ? ब्रह्माजी ऐसा विचारते हुए कमल नाल के भीतर घुस गये और हजारों वर्षों तक वह कमल की नाल के भीतर ही प्रवेश करते चले गये और उन्हें कुछ भी पता नहीं पड़ा कि इस कमल का ओर-छोर कहाँ है ? अंत में पुनः कमल के ऊपर लौट आये और उस पर बैठकर सौ दिव्य वर्षों तक उन्होंने तपस्या की । तपस्या करने पर ब्रह्माजी को अपने अंतःकरण में ही भगवान् के दर्शन हो गये । भागवत में ब्रह्माजी और नारायण भगवान् का यह प्रसंग दो बार आया है । एक प्रसंग तो दूसरे स्कन्ध में है, उसमें वर्णन किया गया है कि ब्रह्माजी ने हजारों वर्षों तक तप किया तब भगवान् ने उन्हें साक्षात् अपने धाम का दर्शन कराया और

तीसरे स्कन्ध में भगवान् ने ब्रह्माजी को उनके अंतःकरण में अपना दर्शन कराया । ब्रह्माजी ने अपने अंतःकरण में देखा कि जल के ऊपर शेषशैय्या पर भगवान् लेटे हुए हैं, उनकी बहुत सुन्दर कान्ति है, अत्यंत सुन्दर कौंधनी है, वक्षः स्थल पर श्रीवत्स का चिह्न है और भगवान् के चारों ओर समस्त शक्तियाँ उनकी सेवा कर रही हैं । ऐसा देखकर ब्रह्माजी ने भगवान् की स्तुति की ।

अध्याय – ९

ब्रह्माजी ने भगवान् से कहा – महाराज ! आपकी गति का कुछ पता नहीं पड़ता है और आपका जो रूप है, यह अनेक अवतारों का बीज है, आपको नमस्कार है परन्तु आपके इस रूप का नारकीय लोग तिरस्कार करते हैं ।

कैसे तिरस्कार करते हैं ? भगवान् को छोड़कर संसारी कामों में लगे रहते हैं, खाने-पीने, अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनने, वस्त्रों को साबुन से धोने और शरीर को सजाने में लगे रहते हैं । प्रत्येक क्षण को श्रीकृष्ण का स्मरण करने में लगाना चाहिए, उस समय को हम लोग मल-मूत्र के पिण्ड इस शरीर के ही भरण-पोषण, इसी के निर्वाह में ही बिता देते हैं । यह भगवान् का तिरस्कार करना ही तो है । श्यामसुन्दर को छोड़कर हम लोग नारकीय कार्यों में फँसे हुए हैं ।

ब्रह्माजी कहते हैं – प्रभो ! जीव को संसार में तभी तक शोक है, भय है, जब तक वह आपके चरणों की छाया में नहीं आता है । जिन लोगों की इन्द्रियाँ श्यामसुन्दर को छोड़कर संसार में फँस रही हैं, उनकी बुद्धि नष्ट हो गयी है । औरों की क्या चलाई, चाहे ऋषि बन जाओ, चाहे बाबाजी बन जाओ, **'युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति'** – यदि ऋषि-मुनि अथवा साधु-संत बनकर भी आपके प्रसंग से, आपके गुण से, नाम कीर्तन से विमुख हैं तो कोई तो आश्रम बनाने के लिए धन-संग्रह

हेतु घूमता रहता है, कोई भण्डारे में बढ़िया भोजन और दक्षिणा के लिए भटकता है । ऐसी दयनीय स्थिति हो जाती है, ऐसी हालत में फिर आप मिलेंगे कैसे ?

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।

(श्रीभागवतजी - ३/९/११)

'भावयोग' – भगवान् की भावना हृदय में करो, प्रयत्न तो करो । अभ्यास करो, तुम्हारे हृदय में प्रभु अवश्य आयेंगे । एकांत स्थान में बैठ जाओ, जरूरी नहीं कि जंगल में जाओ, अपने घर के कोने में एक-दो क्षण भावना करो । 'श्रुतेक्षित पथो' – भगवान् से मिलने का रास्ता क्या है ? संतों के पास जाकर सुनो । सुनोगे तो वे बात बतायेंगे जैसे तुमने कथा सुनी, अब भावना करो । यदि भावना करोगे तो सच में तुम्हारे हृदय में भगवान् आ जायेंगे । भावना करो तो सही । इसके अतिरिक्त एक बहुत बड़ी बात ब्रह्माजी ने यह कही है कि भक्त लोग जैसी भावना करते हैं, हे प्रभो ! आप वैसा ही शरीर बना लेते हैं । भगवान् के लिए ऐसा नहीं है कि उनका इतना ही रूप है । भक्त जैसी भावना करते हैं, भगवान् उनके लिए वैसा ही रूप धारणकर दिखाते हैं । केवल ऐसा ही नहीं है कि वह शूकर बन गये, मत्स्य बन गये या अन्य अवतार धारण किये ।

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारैराराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः ।
यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैको नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ॥

(श्रीभागवतजी ३/९/१२)

हे प्रभो ! आप एक हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरणों में स्थित उनके परम हितकारी अन्तरात्मा हैं । इसलिए यदि देवता लोग

भी हृदय में तरह–तरह की कामनाएँ रखकर अनेक प्रकार की विपुल सामग्रियों से आपका पूजन करते हैं, तो उससे आप उतने प्रसन्न नहीं होते, जितने सब प्राणियों पर दया करने से होते हैं किन्तु समस्त प्राणियों पर होने वाली वह दया असत् पुरुषों को अत्यन्त दुर्लभ है ।

इस बात को ध्यान से समझो कि हम खूब घंटी हिला रहे हैं, १६ उपचारों से भगवान् की पूजा कर रहे हैं किन्तु सब प्राणियों पर दया नहीं कर रहे हैं तो भगवान् प्रसन्न नहीं हो सकते ।

दया बिन सन्त कसाई ।

हर प्राणी पर दया करो । हम प्रभु की आराधना कर रहे हैं, घंटी हिला रहे हैं किन्तु किसी से कड़वी वाणी बोल रहे हैं, गाली-गलौज कर रहे हैं, लड़ रहे हैं तो यह कैसी भक्ति हैं ? आगे चलकर कपिल भगवान् ने इसका खण्डन किया है, यह तो राख में हवन करने के समान है । ये सब बातें सद्गुरु से सीखनी पड़ती हैं ।

यस्यावतार गुणकर्मविडम्बनानि ।
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
ते नैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा ।
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥

(श्रीभागवतजी - ३/९/१५)

जो मनुष्य प्राण छोड़ते समय भगवान् के नाम को ग्रहण करता है, भगवान् के नाम को सुनता है, भगवान् का नाम लेता है, वह अनेक जन्मों के पापों को जला देता है, ऐसी नाम की महिमा है । उन प्रभु को नमस्कार है ।

जय जय राधे गोविन्द । जय जय राधे गोविन्द ॥

आगे ब्रह्माजी कह रहे हैं – 'हे प्रभो ! आपके नाम में ऐसी शक्ति है । आप काल रूप हैं, अनेक अवतार धारण करते हैं । इस समय योगनिद्रा को धारण करके आप ही स्थित हैं । अपनी आत्मशक्ति रमा के साथ आप जो अवतार लेंगे, लीला करेंगे तो मैं यह चाहता हूँ कि जब मैं सृष्टि बनाऊँ तो मुझे कर्मबन्धन न व्यापे । आप परम करुणामय हैं, अपनी प्रेममयी मुस्कान के साथ आप अपने नेत्र खोलिए और शेषशय्या से उठकर विश्व के उद्भव के लिए अपनी मधुर वाणी से बोलिए और मेरा विषाद दूर कर दीजिये ।'

मैत्रेयजी कहते हैं कि जब स्तुति करके ब्रह्माजी रुक गए तो भगवान् बोले – ब्रह्माजी ! तुम घबराओ नहीं, फिर से तप करो और तप करने के बाद तुम सारे लोक अपने में ही देखोगे । तुम आद्य ऋषि हो ।

ऋषिमाद्यं न बध्नाति पापीयान् त्वां रजोगुणः ।
यन्मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते ॥

(श्रीभागवतजी - ३/९/३५)

तुमको जो रजोगुण नहीं बाँधता है, यह मेरी ही कृपा है ।

तुम जो तप कर रहे हो, यह भी मेरी कृपा है । तुमने जो मेरी स्तुति की है, यह मेरी कथाओं से अंकित है ।

यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथा अभ्युदयाङ्कितम् ।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/९/३८)

तुम जो भी कर्म करो, मेरी प्रीति के लिए ही करो, फिर तुम्हें कोई दोष नहीं लगेगा ।

ब्रह्माजी से ऐसा कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये । अब ब्रह्माजी सृष्टि करने लगे । विदुरजी ने पूछा कि ब्रह्माजी ने सृष्टि कैसे

करी ? मैत्रेयजी बोले कि ब्रह्माजी ने देखा कि चारों ओर प्रलय का दृश्य है, बड़ी तेज हवा चल रही है, प्रलयकालीन सुमद्र की एक-एक लहर इतनी ऊँची आ रही है कि उसका वेग एक-दो लोक नहीं, असंख्य लोकों को डुबा दे, ऐसा पानी है और ऐसा हवा का बवंडर है । ब्रह्माजी ने सोचा कि ऐसी स्थिति में सृष्टि कैसे की जा सकती है ? अगर मैं एक-दो लोक बनाऊँगा तो यह प्रलय का समुद्र है, इसकी एक भी लहर आएगी तो सारे लोक को नष्ट कर देगी । इसलिए सृष्टि तो मैं पीछे करूँगा, पहले तप करता हूँ, ऐसा विचारकर ब्रह्माजी तप करने लगे । देखो, तप में कैसी शक्ति होती है ।

अध्याय – १०

तपसा हि एधमानेन विद्यया चात्मसंस्थया ।
विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद् वायुं सहाम्भसा ॥

(श्रीभागवतजी - ३/१०/६)

ब्रह्माजी ने तपस्या की, केवल तप नहीं किया, विद्याश्रय – भगवद्भक्ति से संबलित और ज्ञानशक्ति से युक्त होकर के तप किया । अब ब्रह्माजी पुष्ट हो गये । भगवद्भक्ति और तप के प्रभाव से उन्होंने देखा और विचार किया – अच्छा, यह प्रलय का समुद्र है, यह सांवर्तक हवा है । ब्रह्माजी ने अपना मुख खोला और समुद्र का सारा जल तथा हवा को पी लिया, यह शक्ति है तप और उपासना में । ब्रह्माजी वायु को पानी के साथ-साथ एकदम पी गये । जब ब्रह्माजी प्रलयकालीन समुद्र के जल को पी गये तो बहुत-से लोग कन्हैया के दावानल पान करने पर व्यर्थ ही शंका करते हैं, जबकि वे तो परमब्रह्म हैं, उनके लिए क्या चीज कठिन है ? ब्रह्माजी जो श्रीकृष्ण के अंश हैं, जब उन्होंने ही इतना बड़ा चमत्कार दिखा दिया कि अनन्त समुद्र के जल और वायु को मुख फाड़कर ऐसे पी गये कि वहाँ कुछ नहीं रहा ।

तदनन्तर अपने उत्पत्ति स्थान कमल में से ही ब्रह्माजी ने तीन भेद किये अथवा चौदह लोक बनाए ।

विदुरजी ने मैत्रेयजी से कहा – महाराज ! अब काल का वर्णन करिए । मैत्रेयजी ने कहा कि काल रूपान्तर करता रहता है, सब चीजें बदलता रहता है । ब्रह्माजी ने सबसे पहले नौ प्रकार की सृष्टि की और दसवीं प्राकृत-वैकृत सृष्टि की । 'सृष्टि' कैसी है, इसे समझो । पहली सृष्टि है महत्तत्व की, दूसरी सृष्टि है अहंकार की, तीसरी सृष्टि है भूतसर्ग की, इसे तन्मात्रा समझ लो । चौथी सृष्टि इन्द्रियों कीहै । पाँचवी सृष्टि है वैकारिक देवताओं की, जो इन्द्रियों के देवता हैं; छठवीं है तामस सृष्टि, इसमें अविद्या, अस्मिता आदि हैं । ये छः प्राकृत सृष्टियाँ हैं । सातवीं सृष्टि छः प्रकार के अचर जीव, वनस्पति आदि की है । आठवीं सृष्टि है अट्ठाईस प्रकार के जीवों की । नौवीं सृष्टि है मनुष्य की तथा दसवीं सृष्टि है सनत्कुमार आदि चार कुमारों की, प्राकृत और वैकृत मिलाकर के । इस प्रकार की तो सृष्टि है । अब 'काल' का हिसाब समझो कि काल कैसे है ?

अध्याय – ११

'काल' का सबसे छोटा भाग है – परमाणु । जितनी देर तक परमाणु का काल होता है, वह है परमाणु-काल तथा काल की सबसे बड़ी सीमा है परम महान । कैसे ? दो परमाणु मिलकर एक 'अणु' होता है, तीन अणु होकर एक 'त्रसरेणु' होता है । तीन त्रसरेणु मिलकर एक 'त्रुटि' और सौ त्रुटि मिलकर एक 'वेध' तथा तीन वेध मिलकर एक 'लव' होता है । तीन लव मिलकर एक 'निमेष', तीन निमेष मिलकर एक 'क्षण' तथा पाँच 'क्षण' मिलकर एक 'काष्ठा', पन्द्रह काष्ठा मिलकर एक 'लघु' होता है । पन्द्रह लघु मिलकर एक 'दण्ड' होता है, दो दण्ड का एक 'मुहूर्त' होता है, छः मुहूर्त का एक

'याम' और चार याम मिलकर मनुष्य के एक 'दिन' या 'रात' होते हैं । पन्द्रह दिन मिलकर एक 'पक्ष' होता है तथा दो पक्ष मिलकर एक 'महीना' होता है । दो महीने मिलकर एक 'ऋतु' बनती है तथा तीन ऋतु मिलकर एक 'अयन' बनता है अर्थात् साल का आधा भाग तथा दो अयन मिलकर मनुष्य का एक 'वर्ष' बनता है । यह काल का विभाग है ।

अंग्रेजी हिसाब से समझ लो कि एक दण्ड चौबीस मिनट का होता है तथा एक दण्ड में १२२५ क्षण होते हैं, अंग्रेजी हिसाब से एक दण्ड में १४४० सेकण्ड होते हैं । सेकण्ड और क्षण मिलते-जुलते से हैं । सेकण्ड थोड़ा और हल्का पड़ता है, क्षण थोड़ा सा और भारी पड़ता है । वर्ष (साल) पाँच प्रकार का होता है ।विदुरजी ने मैत्रेयजी से कहा – महाराज ! त्रिलोकी के आगे जो लोग रहते हैं, उनके बारे में भी कुछ बताइये । मैत्रेयजी ने कहा – चार युग हैं और देवताओं के १२०० दिव्य वर्ष हैं । इनमें गुणा करते चले जाओ । १२०० दिव्य वर्षों का कलियुग होता है, २४०० दिव्य वर्षों का द्वापर, ३६०० दिव्य वर्षों का त्रेता तथा ४८०० दिव्य वर्षों का सतयुग होता है । अब इनमें ३६० का गुणा कर दो क्योंकि मनुष्यों का एक साल देवताओं के एक दिन के बराबर होता है । इस प्रकार ४,३२००० वर्षों का कलियुग हुआ, ८,६४००० वर्षों का हुआ द्वापर, १२,९६००० वर्षों का हुआ त्रेता तथा १७,२८००० वर्षों का सतयुग हुआ । ये चार युग हैं और जब १००० युग बीत जाते हैं तो वह ब्रह्माजी का एक दिन होता है । ब्रह्माजी का एक दिन होता है ४ अरब २९ करोड़ ४० लाख ८० हजार वर्ष के बराबर (४,२९,४०,८०,००० वर्ष) । यह ब्रह्माजी का एक दिन है, इसे कल्प कहते हैं और इतनी ही बड़ी ब्रह्माजी की रात होती है । इस तरह ८,५८,८१,६०,००० वर्ष अर्थात् लगभग ९ अरब वर्षों का ब्रह्माजी एक

दिन–रात होता है । ब्रह्माजी का एक दिन एक कल्प कहलाता है । ब्रह्माजी के एक दिन अर्थात् एक कल्प के चौदह टुकड़े करो । जैसे कोई बच्चा स्कूल में जाता है तो छः घंटे के टुकड़े किये जायें तो आठ पीरियड होते हैं । इसी तरह ब्रह्माजी के एक दिन के चौदह हिस्से किये जायें तो एक–एक हिस्से के राजा एक मनु होते हैं । यानी ब्रह्माजी के एक दिन अर्थात् एक कल्प में चौदह मनु होते हैं । एक मनु इकहत्तर चौकड़ी (चतुर्युगी) से कुछ अधिक काल (७१ सही ६/१४ चतुर्युगी) तक राज्य करता है । अब ब्रह्माजी की रात के बारे में समझो । जैसे बनिया अपनी दुकान दिन में खोलता है और रात को बंद करके सोता है । वैसे ब्रह्माजी जब दिन में अर्थात् एक कल्प में अपनी दुकान खोलकर अर्थात् सृष्टि का विस्तार कर रात में सोते हैं तो त्रिलोकी नष्ट हो जाती है । जब त्रिलोकी नष्ट हो जाती है तो ऊपर जो महर्लोक वाले हैं, वे नष्ट नहीं होते हैं क्योंकि वे ब्रह्माजी के क्षेत्र वाले हैं, ब्रह्माजी के बराबर समय तक जीते हैं, उनका दिन–रात भी ब्रह्माजी के बराबर होता है । वे देखते हैं कि त्रिलोकी जल रही है तो विचार करते हैं कि इन लोगों ने भगवान् का भजन नहीं किया । शेषनाग के मुख से अग्नि निकली और सब त्रिलोकी जल रही है तब कष्ट के कारण भृगु आदि मुनि ऊपर के लोक में चले जाते हैं । ब्रह्माजी की आयु है सौ वर्ष । उनकी आधी उम्र को एक परार्ध कहते हैं । ब्रह्माजी के पचास वर्ष तो बीत गये । इस समय उनकी आयु है ५१ वर्ष । अब पूर्वार्ध तो बीत गया । पूर्वार्ध के पहले 'ब्राह्म' नामक कल्प हुआ था, जिसमें ब्रह्माजी उत्पन्न हुए थे । उसके अंत में जो कल्प हुआ, उसे 'पाद्म' कल्प कहते हैं; इस कल्प में भगवान् ने वराहरूप धारण किया, यह 'श्वेत वाराह कल्प' बोला जाता है । यह सारा जो काल है द्विपरार्ध, ब्रह्माजी की इतनी बड़ी जो आयु है, इसको भगवान् का एक क्षण

समझो । जब विष्णु भगवान् का एक क्षण बीतता है तब ब्रह्माजी समाप्त हो जाते हैं । अब विचार करो कि काल का कैसा स्वरूप है । आठ प्रकृति और सोलह विकारों से मिलकर ५० करोड़ योजन विस्तार का यह ब्रह्माण्ड बना है ।

अध्याय – १२

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – अब ब्रह्माजी ने सृष्टि रचना कैसे की, उसे सुनो । सबसे पहले उन्होंने पाँच प्रकार की सृष्टि की – तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र । किन्तु इस प्रकार की सृष्टि को देखकर ब्रह्माजी प्रसन्न नहीं हुए । अब यहाँ यह समझने की बात है कि हमारे मन में जैसे विचार आते हैं, वैसे ही हमारी संतान बनती है । हम लोग दुखी होते हैं कि हमारे बेटा–बेटी बड़े नालायक हैं, उसके पहले हम यह नहीं सोचते हैं कि हमारे मन में जो अशुद्धि है, वही तो हमारे पुत्र में आई है । इसी तरह ब्रह्माजी ने जो सृष्टि रची, वह पहले ऐसे ही रची । उससे अज्ञान की उत्पत्ति हुई, उसको देखकर ब्रह्माजी सोचने लगे कि यह तो गड़बड़ काम हुआ, यह ठीक नहीं है ।

भगवद्ध्यानपूतेन मनसान्यां ततोऽसृजत् ।

(श्रीभागवतजी - ३/१२/३)

तब उन्होंने भगवान् का ध्यान किया और बोले कि यह तो बड़ी भूल हुई । बिना भगवान् का ध्यान किये कोई काम करने से ऐसा ही होता है । श्रीकृष्ण का ध्यान करके जब ब्रह्माजी ने रचना की तो सनकादिक मुनि उत्पन्न हुए । ब्रह्माजी को सृष्टि बढ़ाने की बहुत चिन्ता रहती है, अतः वे अपने इन चार पुत्रों से बोले – 'तुम लोग विवाह करो ।' चारों कुमार बोले – 'पिताजी ! हम विवाह के चक्कर में नहीं पड़ेंगे, हम तो भगवान् का भजन करेंगे ।' ब्रह्माजी बड़े क्रोधित हुए

और बोले कि हमारे ही पुत्र होकर तुम हमारी बात नहीं मानते हो । ब्रह्माजी को बड़ा क्रोध हुआ और उस क्रोध से रुद्र की उत्पत्ति हुई, महादेव जी उत्पन्न हुए । उनका नाम हुआ नील लोहित । बच्चा पैदा होते ही रोता है, वैसे ही ये भी उत्पन्न होते ही रोने लगे, अतः इनका नाम रुद्र रखा गया । इनको ब्रह्माजी ने ग्यारह स्थान दिए । इनके ग्यारह नाम हैं – मन्यु, मनु, महिनस, महान, शिव, ऋतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत । ब्रह्माजी ने इन्हें ग्यारह स्त्रियाँ दीं । ब्रह्माजी रुद्र से बोले कि तुम प्रजा निर्माण करो । महादेव जी भूत–पिशाच आदि की रचना करने लगे । सबकी विचित्र आकृतियाँ थीं । ब्रह्माजी रुद्र से बोले – 'बस–बस, तुम सृष्टि मत बनाओ । तुम जाकर तपस्या करो ।' इसके बाद ब्रह्माजी ने भगवान् की शक्ति से युक्त होकर ध्यान किया और दस पुत्र उत्पन्न किये । उनके नाम थे मरीचि, अत्रि,अंगिरा,पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और नारद । नारद जी ब्रह्माजी की गोद से उत्पन्न हुए । इसी प्रकार ब्रह्माजी के शरीर के अन्य अंगों से शेष नौ पुत्र उत्पन्न हुए । ब्रह्माजी की छाया से कर्दम जी उत्पन्न हुए, अधर्म ब्रह्माजी की पीठ से उत्पन्न हुआ । ब्रह्माजी की पुत्री वाणी (सरस्वती) पैदा हुई, वह अत्यधिक सुन्दर थी । ब्रह्माजी उसको देखकर मोहित हो गये और गलत अभिप्राय से उसके पीछे दौड़ने लगे । अब यहाँ भागवत के टीकाकार आचार्य लोग बताते हैं कि ब्रह्माजी अपनी पुत्री के पीछे क्यों दौड़े जबकि ब्रह्माजी ने नारद जी से कहा था –

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते
न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।

(श्रीभागवतजी - २/६/३३)

मेरा मन कभी भी गलत रास्ते पर नहीं जाता है, **'न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे'** – मेरी इन्द्रियाँ कभी गलत रास्ते पर नहीं

जातीहैं । जब ब्रह्माजी ने ऐसा कहा है किन्तु अपनी पुत्री के पीछे दौड़ना गलत रास्ते पर जाना ही तो हुआ । ऐसा क्यों हुआ ? इस पर टीकाकार आचार्य कहते हैं कि इसमें ब्रह्माजी का दोष नहीं है । जो लोग ब्रह्माजी को दोष देते हैं, वे नामसझ हैं । वे अपने बड़ों की बात को समझते नहीं है और चमड़े की जीभ को ऐसे ही व्यर्थ हिलाते हुए निन्दा करते रहते हैं । ब्रह्माजी की इस घटना के पीछे कथा यह है कि एक बार तारकासुर के अत्याचार से पीड़ित सभी देवता भगवान् शिव के पास कैलाश पर्वत पर पहुँचे । वहाँ पर गरुड़ जी एक हंसिनी के साथ विहार कर रहे थे । ब्रह्माजी उन्हें ऐसा करते देखकर हँसने लगे और बोले कि ये भगवान् के पार्षद होकर भी ऐसा विहार करते हैं । ऐसा इनको नहीं करना चाहिए । गरुड़ जी बोले – अरे ब्रह्मा ! तुम मेरे बारे में ऐसा सोच रहे हो । भगवान् के भक्तों के सभी कार्य भगवदिच्छा से होते हैं ।

गरुड़ जी कोई हम लोग जैसे थोड़े ही हैं । वे भगवान् के पार्षद हैं । भगवदिच्छा से किसी अधिकारी जीव के साथ वे विहार कर रहे थे, इसे हमलोग क्या समझ सकते हैं । गरुड़ जी बोले – 'ब्रह्माजी ! मैं तो फिर भी अपनी जाति वाले के साथ विहार कर रहा हूँ । (गरुड़जी भी पक्षी हैं और हंसिनी भी पक्षी है) अतः मेरा कार्य कोई अधर्म तो नहीं है किन्तु तुम्हें मैं शाप देता हूँ कि तुम्हारी बुद्धि ऐसी विकृत होगी कि जहाँ नहीं जाना चाहिये, ऐसे अधर्म में तुम्हारी बुद्धि चली जायेगी और तुम्हारे ऊपर कलंक लगेगा ।' गरुड़ जी के शाप से पीड़ित होने के कारण ब्रह्माजी की बुद्धि अपनी पुत्री के प्रति दूषित हो गयी । इस कथा का फल ये है कि किसी भी जीव में दोष मत देखो । अगर कोई भगवद्भक्त है और उसके दोष देखोगे तो अपराध लगेगा । केवल अपना ही दोष देखो और अपने ही कल्याण में लगे रहो । यह इस कथा का सारांश है । अतः 'ब्रह्माजी' जो काम मोहित होकर अपनी

पुत्री के पीछे दौड़े, जबकि वह नहीं चाह रही थी परन्तु ब्रह्माजी शाप के कारण उसके प्रति मोहित हो गये थे । ब्रह्माजी तो जगत्पिता हैं, भक्ति के आचार्य हैं, जैसे हम लोग कामी हैं, वैसे वह थोड़े ही हैं । कभी भी उनके बारे में ऐसा मत सोचना कि वे कामी थे । जब ब्रह्माजी अपनी पुत्री के प्रति काम मोहित हो गये थे, तब उनकी अधर्ममय बुद्धि को देखकर उनके मरीचि आदि पुत्रों ने समझाया – 'पिताजी ! आपकी बुद्धि कैसी हो गयी है, अपनी पुत्री के साथ तो पूर्वजों ने भी ऐसा नहीं किया और आगे भी कोई ऐसा नहीं करेगा । **'तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यम्'** – कोई कितना भी तेजस्वी हो जाए किन्तु यह कर्म प्रशंसनीय नहीं है ।' अपने पुत्रों की बात सुनकर ब्रह्माजी लज्जा से 'श्रीहरि-श्रीहरि' कहने लगे और फिर उन्होंने अपने उस शरीर को छोड़ दिया । ब्रह्माजी के उस शरीर को दिशाओं ने ले लिया । वही कुहरा हुआ । यह शरीर छोड़ना क्या है क्योंकि ब्रह्मा का शरीर तो दिव्य है । शरीर छोड़ने का मतलब यह नहीं है कि ब्रह्माजी की मृत्यु हो गयी । शरीर छोड़ने का यह मतलब है कि हम लोगों के स्थूल शरीर के भीतर दो शरीर और हैं । एक तो है सूक्ष्म शरीर, जिसके अन्दर इन्द्रियाँ है और उसके भीतर एक कारण शरीर है, जो वासनामय है । ब्रह्माजी ने अपनी उन भावनाओं को छोड़ दिया । इसका यह अभिप्राय है । इसके बाद ब्रह्माजी ने चार वेदों की उत्पत्ति की, इतिहास–पुराण आदि पाँचवें वेद हैं । ब्रह्माजी ने अपने हर मुख से दो–दो यज्ञ उत्पन्न किये । सावित्र, प्राजापत्य, ब्राह्म और बृहत् नामक चार प्रकार के ब्रह्मचर्य बनाए । 'सावित्र ब्रह्मचर्य' उसे कहते हैं जो गायत्री मंत्र के समय तीन दिन तक धारण किया जाता है । प्राजापत्य ब्रह्मचर्य उसे कहते हैं, जो एक वर्ष के लिए धारण किया जाता है । 'ब्राह्म ब्रह्मचर्य' उसे कहते हैं कि जब तक विद्या पढ़नी होती है तब तक

विद्यार्थी ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसके बाद वह विवाह करता है । 'बृहत् ब्रह्मचर्य' वह है जो सारे जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य धारण किया जाता है । इस तरह ब्रह्माजी ने चार प्रकार के ब्रह्मचर्य बनाए, चार प्रकार की गृहस्थ की वृत्तियाँ बनाईं, वानप्रस्थ की चार प्रकार की और सन्यास की भी चार प्रकार की वृत्तियाँ बनाईं । इसके बाद ब्रह्माजी के शरीर से गायत्री आदि सात छन्द उत्पन्न हुए । 'ब्रह्माजी' शब्द ब्रह्मस्वरूप हैं, उनसे सब प्रकार की वाणी उत्पन्न हुई, फिर भी ब्रह्माजी सोचने लगे कि सृष्टि बढ़ नहीं रही है । तब उनके शरीर के दो भेद हो गये, जिनसे मनु और शतरूपा प्रकट हुये । उन्हीं से मैथुनी सृष्टि चली, इसके पहले मैथुनी सृष्टि नहीं होती थी, मानसिक रचना होती थी । मनुमहाराज और शतरूपाजी ने मैथुन के द्वारा सृष्टि की, जैसे कि आजकल मैथुनी सृष्टि चल रही है । मनुजी के पांच संतानें उत्पन्न हुईं, जिनमें दो पुत्र प्रियव्रत और उत्तानपाद हुए तथा तीन पुत्रियाँ आकूति, देवहूति तथा प्रसूति थीं ।

अध्याय – १३

विदुरजी ने मैत्रेयजी से कहा – महाराज ! अब आप मनुजी का चरित्र सुनाइये ।

यहाँ पर एक बात समझने योग्य है । बहुत से लोग ऐसा कहते हैं कि अरे, भागवत में क्या है, भागवत में तो राजा–रानियों की कथा है । ऐसे लोग ऐसा इसलिए कहते हैं क्योंकि उन्होंने भागवत ठीक से नहीं सुनी । विदुरजी कह रहे हैं कि भागवत में राजा–रानी की कथा नहीं है । वह कहते हैं –

यत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्दपादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ।

(श्रीभागवतजी - ३/१३/४)

भागवत भक्तों की कथा है । क्या राजा भक्त नहीं हो सकते हैं, क्या स्त्रियाँ भक्त नहीं हो सकती हैं, क्या हम लोग ही भक्त बन गये हैं ? कैसे मूर्ख लोग हैं जो भागवत को राजा–रानी की कथा बताते हैं । विदुरजी कहते हैं कि जो भगवान् के भक्त हैं, उनके गुण मैं सुनना चाहता हूँ । इसलिए मनु जी की कथा सुनाइये । मैत्रेयजी बोले – जब मनु जी उत्पन्न हुए तो हाथ जोड़कर ब्रह्माजी से बोले– 'हे पिता जी ! आप आज्ञा करिए, मैं क्या करूँ ?' ब्रह्माजी बोले – 'तुमने मुझे प्रसन्न कर दिया ।'

अन्य जो पुत्र हुए, वे ब्रह्माजी की दृष्टि से नालायक निकले क्योंकि सनत्कुमारों ने विवाह नहीं किया, नारद जी ने विवाह नहीं किया, उन सबने ब्रह्माजी की आज्ञा का पालन नहीं किया । ब्रह्माजी मनु से बोले – 'तुमने मेरे हृदय को शीतल कर दिया । अब तुम संतान उत्पन्न करो, सृष्टि बढ़ाओ और इस तरह मेरे कार्य में सहयोग करो ।' मनु जी बोले – 'अच्छा महाराज ! मैं सृष्टि तो बढ़ाऊँगा किन्तु पृथ्वी तो प्रलय के जल में डूबी हुई है । मेरी संतानें कहाँ रहेंगी ?' ब्रह्माजी सोचने लागे कि बात तो ठीक है । वह विचार कर ही रहे थे कि इतने में उनकी नाक के छेद से एक वराह (शूकर) का छोटा सा बच्चा निकला और बाहर आकर सबके देखते ही देखते वह तो विशाल हाथी के आकार का हो गया । ब्रह्माजी और उनके पुत्र मरीचि आदि विचार करने लगे कि यह तो बड़े आश्चर्य की बात है, नाक में से यह कौन जीव निकला, यह क्या बात है ? ये कोई और नहीं, स्वयं भगवान् हैं । तब तक भगवान् गर्जना करने लगे । बोलो वाराह भगवान् की जय । भगवान् की गर्जना सुनकर ब्रह्माजी प्रसन्न हो गये और बोले वाह, अब तो समस्या हल हो गयी । जब प्रभु ही आ गये फिर चिंता की क्या बात है ? भगवान् की गर्जना को सुनकर जनलोक, तपलोक और

सत्यलोक के निवासीगण उनकी स्तुति करने लगे । भगवान् अपनी स्तुति सुनकर गजराज की तरह जल को चीरकर उसमें प्रवेश कर गये । अपनी पूँछ उठाकर, खुरों से खोदते हुए, उछलते हुए जल में घुसे । उनके सफ़ेद दाँत हैं, नेत्रों से ज्योति निकल रही थी । जिस समय उन्होंने जल में प्रवेश किया तो उनके प्रबल वेग से समुद्र चिल्ला उठा – **'चुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति'** (श्रीभागवतजी - ३/१३/२९) 'हे यज्ञेश्वर ! मेरी रक्षा करो ।' भगवान् के वेग को कौन सहन कर सकता है ? भगवान् समुद्र की रक्षा करते हुए आगे निकल गये और रसातल में पहुँचे, वहाँ उन्होंने पृथ्वी को देखा । फिर पृथ्वी को अपने दाँतों की नोक पर रखकर प्रभु चले । प्रभु जब चले तो हिरण्याक्ष नामक दैत्य, जो अपने को पृथ्वी का मालिक मान रहा था, उनके सामने गदा लेकर आया ।

वह बोला – 'अरे, मेरे रहते पृथ्वी को यह कौन ले जा रहा है ?' भगवान् ने उसका वध कर दिया । उस समय उसके रक्त से सने हुए शूकर भगवान् पृथ्वी को अपने दाँतों पर रखकर जल के बाहर आये और समस्त ऋषिगण उनकी स्तुति करने लगे ।

ऋषियों ने कहा – जय हो, जय हो ! हे प्रभो, आप अजित हैं, आपको कौन जीत सकता है ? आप यज्ञस्वरूप हैं । आपका रूप अत्यंत दुर्दर्श है । आपके शरीर में ही सब यज्ञ के पात्र हैं । स्रुक है, इडा है, चमस है । प्रभो, यह पृथ्वी आपके दाढ़ों की नोक पर अत्यंत शोभित हो रही है । अब आप इसे स्थापित कीजिये तथा अपना तेज इसमें धारण कीजिये । आप जो पृथ्वी को रसातल से निकालकर ला रहे हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है ।

जब ऋषियों ने इस प्रकार वाराह भगवान् की स्तुति की तो उन्होंने पृथ्वी को जल पर स्थापित कर दिया और अन्तर्धान हो

गये । श्री मैत्रेयजी कहते हैं – जो 'भगवान्' इस प्रकार पृथ्वी को रसातल से बाहर निकालकर लाये, यह उनकी कितनी प्यारी कथा है, मनुष्य के अतिरिक्त कोई पशु ही होगा, जो इस कथा का आदर नहीं करेगा, उसे छोड़ देगा ।

अध्याय – १४

विदुरजी ने कहा – मुनिवर ! हिरण्याक्ष दैत्य को भगवान् ने क्यों मारा, उनके बीच लड़ाई किस कारण हुई, हिरण्याक्ष और भगवान् के बीच में वैर क्यों हुआ ?

श्रीमैत्रेयजी ने कहा – हे वीर ! तुम ठीक प्रश्न पूछ रहे हो । मृत्यु भगवान् के भक्त की भी होती है और अभक्त 'संसारी मनुष्य' की भी मृत्यु होती है किन्तु दोनों की मृत्यु में अन्तर है ।

आया है सो जायेगा, राजा रंक फ़कीर ।
एक सिंहासन चढ़ चला, दूजा बँधा जंजीर ॥

एक 'भक्तिहीन प्राणी' तो मृत्यु की टाँग के नीचे घुसकर जाता है तथा 'भक्त' मृत्यु के सिर पर पाँव रखकर जाता है । अब हिरण्याक्ष कैसे पैदा हुआ, यह कथा सुनो । एक बार दक्ष की पुत्री 'दिति' अपने पति 'कश्यप' ऋषि के पास पहुँची और बोली – 'महाराज ! मेरे पिताजी ने हम तेरह बहिनों का आपके साथ विवाह कर दिया । आप योग्य थे तभी तो उन्होंने आपके साथ हमारा विवाह किया ।'

यहाँ एक बात और समझने योग्य है कि 'दिति' कोई आजकल की स्त्रियों की तरह साधारण स्त्री नहीं थी; ये सब ऋषि पत्नियाँ थीं, उनके मन में कभी कोई कामना उत्पन्न नहीं होती थी, निरन्तर वे भजन में लगी रहती थीं और वैसे ही उनके पति थे । कामवासना की तृप्ति और संतानोत्पत्ति हेतु पति से कहने के लिए कितनी शक्ति

चाहिए, अन्यथा ऐसी बात स्त्रियाँ अपने पति से कहती नहीं हैं । यहाँ दितिजी के अंतःकरण की निष्कपटता, निश्छलता के बारे में विचार करो; इनके गुण को देखो ।

दिति बोली – 'मैं कामवेदना से व्याकुल हो रही हूँ और संतान चाहती हूँ । आप मेरी इस इच्छा को पूरी कीजिए ।' कश्यपजी बोले कि मैं तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा । यदि अच्छी स्त्री मिल जाए तो मनुष्य गृहस्थाश्रम को जीत लेता है परन्तु यह संध्या का समय है, गर्भाधान के लिए यह समय ठीक नहीं है । चार काम संध्या के समय नहीं करने चाहिए – आहार, निद्रा, मैथुन और स्वाध्याय ।

चत्वारि इमानि कर्माणि संध्यायां परिवर्जयेत् ।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायं च चतुर्थकम् ॥
आहाराज्जायते व्याधिः क्रूरगर्भश्च मैथुने ।
निद्राश्रियो निवर्तन्ते स्वाध्याये मरणं ध्रुवम् ॥

(यमस्मृति)

एक तो संध्या के समय भोजन न करे । संध्या समय भोजन करने से उदर रोग हो जाता है । संध्या समय मैथुन करने से खराब संतान उत्पन्न होती है, संध्या को सोने से आँख की ज्योति नष्ट हो जाती है और संध्या को स्वाध्याय करने से सब भूल जाएगा । उस समय केवल भजन करना चाहिए ।

कश्यपजी ने दिति से कहा कि प्रिये ! बहुत घोर वेला आ गयी है । संध्या को महादेव जी विचरण करते हैं । तुम्हारे वे देवर हैं । (यद्यपि महादेवजी 'देवर' नहीं, 'श्वसुर' हैं किन्तु यहाँ 'देवर' का अर्थ श्वसुर लगाया जाएगा । यह अर्थ आचार्यों ने किया है) देखो, तुम्हारे श्वसुर घूम रहे हैं । तुम्हारे श्वसुर महादेवजी के तीन नेत्र हैं । तीन नेत्र से वे सब देखते हैं । उनके तीन नेत्र कौन–कौन हैं ? एक तो सूर्य उनकी आँख है, एक चन्द्रमा उनकी आँख है और एक अग्नि

देवता उनकी आँख हैं । जहाँ भी जाओगे, महादेवजी इन नेत्रों के द्वारा सब कुछ देखते रहते हैं ।

कश्यपजी कहते हैं कि हम लोग उनकी भुक्त भोगा माया को चाहते हैं । मूर्ख लोग महादेवजी की हँसी उड़ाते हैं, जो कुत्ते के भोजन अपने 'मनुष्य शरीर' को ही सब कुछ मानते हैं । मैत्रेयजी कहते हैं – कश्यपजी ने दिति को बहुत समझाया किन्तु होनहार की बात थी, दिति ने ब्रह्मर्षि कश्यप के वस्त्र को पकड़ लिया । कश्यपजी ने देखा कि जब दिति का इस निन्दित कर्म में इतना हठ है तो फिर क्या किया जाए । उन्होंने दिति के साथ सम्पर्क किया और फिर वह स्नान करके जप करने बैठ गये । यदि कोई अशुभ कर्म हो जाए, भोग किया जाए तो उसके बाद भजन अवश्य करना चाहिए । अपने आचरण के द्वारा कश्यप जी ने यह शिक्षा दी । भोग से मनुष्य का तेज नष्ट होता है, भोग के बाद निराश मत हो, तुरन्त तेज को इकट्ठा करने बैठ जाओ, तुरन्त भजन करने बैठ जाओ । भोग से तेज का नाश हो गया, अब उस तेज की पूर्ति कैसे होगी, इसीलिए कश्यपजी तुरन्त जप करने बैठ गये, देर नहीं लगाई । भोग के बाद दिति को बड़ा पश्चाताप हुआ । वह अपने पति से बोली – 'मुझसे तो यह बड़ा अपराध हुआ, मैंने शिव जी का अपराध किया । वे मुझ पर दया करें ।' कश्यप जी बोले – 'तुम्हारी मूर्खता अर्थात चित्त की मलिनता से तुम्हारे जो पुत्र पैदा होंगे, वे बड़े अधम होंगे । तुम्हारे दो पुत्र होंगे और उन दोनों का संहार भगवान् करेंगे ।' दिति बोली – 'महाराज ! यह तो अच्छा है कि मेरे पुत्रों का वध भगवान् के हाथों होगा । ब्राह्मण शाप न दें, क्रुद्ध ब्राह्मण की तुलना में भगवान् संहार करे तब तो कोई हानि नहीं है ।' कश्यपजी बोले –

'कृतशोकानुतापेन सद्यः प्रत्यवमर्शनात् ।'

(श्रीभागवतजी - ३/१४/४३)

'तुमने जो पश्चात्ताप किया और तुरन्त ही तुम्हें अपनी भूल मालूम हो गयी, इसी पुण्य के प्रभाव से तुम्हारे पुत्र का पुत्र अर्थात् तुम्हारा पौत्र तुम्हारे नाम को उज्जवल कर देगा ।'

संसार में कोई हम लोगों की गलती पर टोक दे तो हम लोग बहुत बुरा मानते हैं जबकि भलाई इसी में है कि अपनी गलती को तुरन्त मान लो । अपनी गलती को तुरन्त मान लोगे तो तुमको पुण्य मिलेगा और पुण्य से तुम्हारा पाप नष्ट हो जाएगा । यह कितनी बढ़िया बात है परन्तु हम लोगों की हालत यह है कि रस्सी जल जाए पर ऐंठ न जाए । अपनी गलती को एक छोटा-सा बच्चा भी नहीं मानेगा ।
कश्यप जी ने दिति से बहुत बढ़िया बात कही कि हे देवी ! तुमने अपनी गलती समझ करके बड़ी जल्दी पश्चात्ताप किया इसलिए तुम्हारा पौत्र बड़ा भारी भगवद्भक्त होगा । कश्यप जी ने उसकी बहुत प्रशंसा की कि वह अलम्पट होगा, शीलधर होगा और भगवान् का दर्शन करेगा ।

अध्याय – १५

श्रीमैत्रेयजी ने कहा – अब कश्यप जी का तेज (वीर्य) दिति के गर्भ में बढ़ने लगेगा । उस गर्भस्थ तेज के प्रभाव से सारे संसार में अन्धकार हो गया । सब देवता ब्रह्माजी के पास गये और बोले – 'महाराज ! सारे विश्व में यह अन्धकार कहाँ से आ रहा है ?' ब्रह्माजी बोले कि एक बार मेरे चारों पुत्र सनकादिक वैकुण्ठ गये थे । ब्रह्माजी ने वैकुण्ठ का बड़ा सुन्दर वर्णन किया और बताया कि वैकुण्ठ में नैःश्रेयस नामक एक वन है, जहाँ भँवरे भी हरि कथा का गान करते हैं और जहाँ पार्षदों के हृदय में कभी काम उत्पन्न नहीं होता है । उस लोक में लक्ष्मी जी साक्षात् रूप से सदा विराजमान रहती हैं । वहाँ के पार्षदों का जैसा शील स्वभाव है, उसे हम देवता लोग भी चाहा करते है । उस वैकुण्ठ धाम में पहुँचकर सनकादिक मुनियों को बड़ा आनंद

हुआ । भगवद्दर्शन की लालसा से जब वे वैकुण्ठ की छः ड्योढ़ियों को पार करके सातवीं पर पहुँचे तो वहाँ उन्हें चतुर्भुज रूप धारी दो पार्षद दिखाई पड़े । सनकादिक मुनि तो भगवद्भाव में मग्न होकर बिना उनसे पूछे भीतर जाने लगे तो उन्हें नंगे देखकर भगवान् के उन दोनों पार्षदों जय और विजय ने उन्हें बेंत अड़ाकर रोक दिया, जबकि वे मुनिजन इस प्रकार बेंत लगाकर रोके जाने के योग्य नहीं थे । उस समय सनकादिक मुनियों को क्रोध आ गया और वे बोले – 'अरे तुम लोग कौन हो, जो इस वैकुण्ठ धाम में भेद देख रहे हो ।' यहाँ सनकादिक मुनियों ने बहुत महत्वपूर्ण बात कही –

'लोकानितो व्रजतमन्तरभावदृष्ट्या' (श्रीभागवतजी - ३/१५/३४)

अभावदृष्टि करना बहुत बड़ा पाप है । जय-विजय की इतनी ही गलती थी कि उन्होंने सनत्कुमारों में अभाव कर लिया; इसे समझो । महात्मा लोग भावदृष्टि सिखाते हैं । भावदृष्टि क्या है, जैसे महापुरुषों ने ब्रजवासियों के बारे में कहा है – **'अवगुण अनेक भरे तऊ ब्रजवासी हैं** ।' ब्रजवासियों में हजार अवगुण दिखाई दें, तब भी उनमें भाव रखो । ब्रजवासी चाहे चोरी कर रहे हैं, चाहे अन्य बुरा कर्म कर रहे हैं; तब भी उनमें भाव रखो, यह भावदृष्टि है और अभावदृष्टि वाले मंदिर में भी जाते हैं तो कहते हैं – अरे ब्रज में क्या जायें, वहाँ मंदिर में ब्रजवासी लोग बहुत माँगते हैं, बड़ा परेशान करते हैं, वहाँ तो चोर हैं । अरे, उनमें अभाव क्यों करते हो, ये सब विकृतियाँ तो सब जगह हैं, ऐसा कौन-सा स्थान है, जहाँ ये दोष नहीं हैं । ब्रज में भाव लेकर आओ, अभाव से तो तुम्हारा नुक्सान होगा, कोई सुधार तो यहाँ होगा नहीं । इसलिए अभाव दृष्टि करना पाप है । भले ही कोई पापी है, चोर-डाकू है, दुराचारी है, हमारा धर्म यही है कि हम सबमें भाव रखें । सबको कृष्ण जानकर प्रणाम करें । कोई पापी होगा तो अपने लिए होगा, बेचारा हमारा क्या नुक्सान करेगा ।

सनकादिक मुनियों ने जय-विजय से कहा कि तुम लोगों ने जो अभाव दृष्टि की है इसलिए जाओ, पापियों के लोकों में जाओ । शाप सुनकर जय-विजय सनत्कुमारों के चरणों में गिर पड़े और बोले – 'महाराज ! ऐसी कृपा कीजिए कि आसुरी योनि में जाने पर भी हमें अपने प्रभु की याद न भूले ।' इसी समय वहाँ भगवान् पैदल चलकर आये । भगवान् कितने दयालु हैं । उनकी बड़ी सुन्दर शोभा है । नितम्बों पर पीताम्बर है, कानों में कुण्डल हैं । जब भगवान् आ रहे थे तो सबसे पहले उनके चरणों में अर्पित तुलसी की दिव्य गन्ध सनकादिकों के नाक के छिद्रों में पहुँची । उस सुगन्ध से वे ब्रह्मानन्द भूल गये । वे चारों भैया भगवान् से बोले – 'हे प्रभो ! यदि आपमें हमारा मन लगा रहे तो भले ही हमारा जन्म नरक में हो जाए, कोई हर्ज नहीं । (कितनी बढ़िया बात सनकादिक कह रहे हैं कि नरक भी बढ़िया है यदि वहाँ पर श्रीकृष्ण गुणगान है ।) हे प्रभो ! हम आपको नमस्कार करते हैं ।'

अध्याय – १६

ब्रह्माजी बोले कि सनकादिक मुनियों की बात सुनकर भगवान् ने कहा –

यस्यामृतामलयशः श्रवणावगाहः
सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विविकुण्ठः ।
सोऽहं भवञ्च उपलब्धसुतीर्थकीर्ति -
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ॥

(श्रीभागवतजी - ३/१६/६)

हे मुनियो ! मैं आप लोगों को प्रसन्न करता हूँ । मेरे यश में ऐसी शक्ति है कि उसके श्रवण से चाण्डालपर्यन्त सारा जगत तुरन्त पवित्र

हो जाता है, ऐसा मैं, किन्तु यह पवित्रकीर्ति मुझे आप लोगों से ही प्राप्त हुई है, इसलिए यदि मेरी भुजा भी आप लोगों का अपराध करेगी तो मैं उसे काट डालूँगा ।

यत्सेवया चरणपद्मपवित्ररेणुम्
सद्यः क्षताखिलमलं प्रतिलब्धशीलम् ।
न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः
प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान् वहन्ति ॥

(श्रीभागवतजी - ३/१६/७)

जिन आप जैसे भक्तों की सेवा से मेरी चरणरज में वह शक्ति आई है कि सारे पापों को नष्ट कर देती है तथा मुझे शीलगुण भी आप जैसे भक्तों से मिला है । 'शील' बहुत बड़ा गुण है । उस शील का यह प्रभाव है कि मैं विरक्त हूँ, लक्ष्मी को नहीं चाहता हूँ तब भी लक्ष्मी मुझे नहीं छोड़ती है ।

भगवद्भक्तों को जब कोई भोजन कराता है तो उससे मैं जैसा प्रसन्न होता हूँ, वैसा यज्ञादि से नहीं होता हूँ ।

जो क्रोध करके मेरे भक्तों को देखता है तो यमपुरी में बहुत से गिद्ध हैं, वे उसकी आँखों को फोड़ते हैं, उसको नोच-नोचकर खाते हैं ।

कोई भक्त यदि रूठ भी जाए तो उसको मना लेना चाहिए, पिता या बेटे की तरह, जो ऐसा करता है, वह मुझे वश में कर लेता है ।
ब्रह्माजी बोले – भगवान् की ऐसी बातें सुनकर सनकादिक मुनि बड़े आश्चर्य में पड़ गये और सोचने लगे कि देखो, ये भगवान् होकर हमसे कह रहे हैं कि मेरी चरणरज में पापों को नष्ट करने की जो शक्ति आई है वह आप लोगों की सेवा से आई है । ऋषियों ने भगवान् से कहा – हे प्रभो ! आपके द्वारा सनातन धर्म की रक्षा होती है, लक्ष्मी जी आपके

पीछे घूमा करती हैं और आप कह रहे हैं कि ब्राह्मणों (भक्तों) की चरणरज मुझे पवित्र करती है, यह आप कैसी विचित्र बात कह रहे हैं । आप तो जो कुछ भी कहें, वह ठीक है । आपने ही मर्यादा स्थापित की है, आप ही इसकी रक्षा नहीं करेंगे, ब्राह्मण कुल की रक्षा नहीं करेंगे तो आपका स्थापित किया कल्याण मार्ग नष्ट हो जाएगा, इसीलिए आप ब्राह्मणों को सम्मान देते हैं, जिससे कि दूसरे लोग भी आपका अनुकरण करें । हम लोगों ने आपके अनुचरों को शाप दिया है, अब आप बदले में हमें दण्ड दीजिये या इन पर कृपा कीजिये, आपकी जो इच्छा हो, वह करिये ।

अब यहाँ भागवत के टीकाकार आचार्य कहते हैं कि भगवान् के पार्षद तो भगवान् के ही समान हैं फिर उन्होंने सनकादिक मुनियों को बेंत लगाकर क्यों रोका ? दूसरी बात यह है कि यदि पार्षदों ने ऐसा किया तब भी सनकादिक मुनियों को क्रोध क्यों आया, वे भी ईश्वर हैं, नित्यमुक्त हैं । तीसरी बात यह है कि भगवान् इस बात को जानते थे फिर भी उन्होंने इसकी उपेक्षा क्यों की, वे चाहते तो पहले से जाकर अपने पार्षदों को अपराध करने से रोक देते । चौथी बात यह कि भगवान् के पार्षदों का तो कोई जन्म-मरण होता ही नहीं है फिर उनका पृथ्वी पर जन्म क्यों हुआ ? इन चार बातों का उत्तर क्या है ? इसका उत्तर भागवत में ही है । भगवान् सनकादिकों से बोले – मुनिगण ! ये मेरे पार्षद असुरगति को प्राप्त होकर के और क्रोध के कारण दिन-रात मेरा ही चिन्तन करके फिर मुझे ही प्राप्त हो जायेंगे तथा **'शापो मयैव निमितस्तदवैत विप्राः'** (श्रीभागवतजी - ३/१६/२६) यह जो शाप आपने दिया है, वह आपने नहीं दिया है, मेरे द्वारा ही इस शाप का विधान बनाया गया है अर्थात् मैं ही संसार में अवतार लेना चाहता हूँ, क्यों, अपने भक्तों को सुख देने के लिए । भगवान् ने अपने पार्षदों से भी

कहा कि यह शाप मेरे द्वारा ही निर्मित है, अतः तुम लोग चिन्ता मत करो । भगवान् ने उनसे एक बात यह भी कही कि यद्यपि मैं इस शाप को मिटा भी सकता हूँ किन्तु **'नेच्छे मतं तु मे'** (श्रीभागवतजी - ३/१६/२९) मुझे यह बात पसन्द है कि तुम लोग नीचे जाओ । मुझसे कौन लड़ सकता है, मेरे ही पार्षद मुझसे लड़ सकते हैं ।

भगवान् को एक बार युद्ध करने की इच्छा हुई कि मैं संसार में जाकर कुछ पराक्रम दिखाऊँ, जिससे कि लोग मेरा गुण गा सकें किन्तु अब भगवान् से कौन लड़ेगा; अतः उन्होंने कहा कि मेरी ही इच्छा है कि मेरे पार्षद नीचे जायें । एक बात और है कि एक बार लक्ष्मीजी भगवान् के पास जा रही थीं, तब भी जय-विजय ने उन्हें रोक दिया था, ऐसा अपराध किया था । उस समय लक्ष्मी जी ने उन्हें पहले ही असुर बनने का शाप दे दिया था । अतः यह सब पहले से ही रचित है ।

अध्याय – १७

श्रीमैत्रेयजी ने कहा – जब जय–विजय का शाप के कारण वैकुण्ठ से पतन हुआ और वे इस संसार में आये तो बहुत हाहाकार मचा । दिति के गर्भ से जय-विजय का जन्म हुआ । उनके जन्म लेते ही त्रिलोकी में चारों ओर बड़े उत्पात होने लगे । बड़े वेग से हवा बहने लगी, मूर्तियाँ आँसू बहाने लगीं, समुद्र में बहुत ऊँची–ऊँची लहरें उठने लगीं, सियारियाँ अमंगल शब्द करने लगीं, गधे जोर-जोर से चिल्लाने लगे और चारों ओर दौड़ने लगे । ये दोनों दैत्य पैदा होने के बाद शीघ्र ही बहुत बड़े और पराक्रमी हो गये । हिरण्यकशिपु दिति के गर्भ में पहले स्थापित हुआ किन्तु उदर से पहले निकला हिरण्याक्ष । जो बालक गर्भ में पहले स्थापित हो जाता है, वह विपरीत क्रम से गर्भ के बाहर निकलता है । हिरण्याक्ष ब्रह्माजी से वर प्राप्त करके अपने बड़े भाई का प्रिय करने के लिए हाथ में गदा लेकर विजय

करने के लिए निकला । उसे देखकर सभी देवता भयभीत होकर भाग गये और छिप गये जैसे गरुड़ को देखकर साँप छिप जाते हैं । जब हिरण्याक्ष को अपने सामने युद्ध के लिए कोई नहीं मिला तो वह समुद्र में घुस गया और उसकी प्रचण्ड लहरों पर अपनी गदा से प्रहार करने लगा । बहुत वर्षों तक वह समुद्र पर ही गदा मारता रहा । अंत में वह वरुण की राजधानी विभावरीपुरी में जा पहुँचा और जैसे कोई किसी का मजाक उड़ाता है, इस प्रकार वरुण जी का उपहास करता हुआ बोला – 'दण्डवत महाराज वरुण जी ।' वह बहुत जोर से हँसा और बोला कि मेरी भुजाओं में बहुत जोर से खुजार चल रही है तो आप इसे शान्त कर दीजिये । वरुण जी ने सोचा कि यह तो बड़ी आफत आ गयी, किसी तरह बवाल टले, अतः उन्होंने हिरण्याक्ष से कहा – 'मैं तो अब शान्ति ले चुका हूँ किन्तु पुराणपुरुष ही तुमसे लड़ सकते हैं और कोई तुमसे लड़ नहीं सकता ।' यह सुनकर हिरण्याक्ष बोला – 'यह पुराणपुरुष कौन है ? क्या मुझसे भी बड़ा कोई है ?'

अध्याय – १८

श्रीमैत्रेयजी ने कहा – हिरण्याक्ष को रास्ते में नारदजी मिल गये, उसने उनसे पूछा – 'पुराण पुरुष कौन है, वह कहाँ रहता है ?' नारद जी बोले – 'चला जा, वह इस समय रसातल से पृथ्वी को उठाकर ला रहे हैं, वही पुराण पुरुष हैं ।' हिरण्याक्ष रसातल में पहुँच गया । वहाँ वराह भगवान् को देखकर वह बहुत हँसा और बोला – 'यही पुराण पुरुष है । ये भला मेरा मुकाबला क्या करेगा ? खोदा पहाड़ और निकली चुहिया । मैं तो पुराण पुरुष से लड़ने जा रहा था और यह तो वनगोचर मृग निकला ।' हिरण्याक्ष वराह भगवान् से बोला – 'ए सुराधम (अधम देवता) ! तूने शूकर की आकृति बना ली है, हमारे शत्रुओं ने तुझे पाला है ।'

हिरण्याक्ष की बातों के दो अर्थ हैं । ऊपर से यह निन्दा मालूम हो रही है किन्तु आचार्यों ने टीका में कहा है कि उसके निन्दासूचक वचनों में स्तुति भी है । हिरण्याक्ष भगवान् से कहता है कि तेरे अन्दर योगमाया की शक्ति है, मैं तुझे मारकर अर्थात् तुझे संस्थापित करके तेरी कीर्ति को बढ़ाऊँगा । (ये उसके वचनों के दो अर्थ हैं) तुझे मारकर मैं अपने भाइयों का शोक दूर करूँगा । भगवान् ने उसकी बात को सुनकर कहा कि पहले मैं पृथ्वी को जल के ऊपर रख आऊँ तब तुझसे बात करूँगा । हिरण्याक्ष बोला – 'अरे निर्लज्ज, मैं तुझसे बात कर रहा हूँ और तू भागा जा रहा है ।' वराह भगवान् बोले – 'अरे भाई, मैं तो वनगोचर हूँ ही किन्तु तुझ जैसे ग्राम सिंह (कुत्ता) को मैं भी ढूँढ़ा करता हूँ । मैंने तुझसे वैर किया है और अब मैं तेरे सामने खड़ा हूँ, आ और मुझको मार ।' भगवान् के ऐसा कहने पर उस दैत्य ने उनके ऊपर गदा से प्रहार किया । भगवान् ने गदा के प्रहार से अपने को बचा लिया । फिर भगवान् ने उसके ऊपर गदा चलाई किन्तु उसने भी अपनी गदा से उनकी गदा को रोक दिया । इस प्रकार दोनों में बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया । उसे देखने के लिए ब्रह्माजी अन्य देवताओं और ऋषियों के साथ आकाश में आ गये । ब्रह्माजी ने भगवान् से कहा – महाराज ! आप इसके साथ खिलवाड़ न करें क्योंकि रात्रि की बेला आ रही है, उसमें इसका बल और अधिक बढ़ जाएगा । इस समय अभिजित नामक मंगलमय मूहूर्त का भी योग आ गया है । अब आप शीघ्र ही इसे समाप्त करिए ।

अध्याय – १९

मैत्रेयजी बोले – भगवान् ने असुर के ऊपर गदा से प्रहार किया किन्तु उस असुर ने भगवान् की गदा पर अपनी गदा से इस प्रकार आघात किया कि भगवान् के हाथ से गदा छूट गयी और लट्टू की तरह

चक्कर काटते हुए वह धरती पर गिर गयी किन्तु हिरण्याक्ष ने उस समय भगवान् के ऊपर आक्रमण नहीं किया, वह बड़ा बली था परन्तु धर्मयुद्ध कर रहा था । भगवान् की गदा गिर जाने से चारों ओर हाहाकार मच गया कि अरे, प्रभु की गदा छूट गयी । उस समय देवता लोग छिपकर चिल्लाने लगे – 'अरे प्रभो ! इसके साथ खेल मत करिये, इसे शीघ्र ही मार डालिए, नहीं तो कहीं इसने हम पर हमला कर दिया तो हम लोग समाप्त हो जायेंगे ।' इसके बाद हिरण्याक्ष ने बड़ी जोर से भगवान् की ओर गदा चलाई और बोला – 'अब तू बच नहीं सकता ।' भगवान् ने अपने बायें पैर से उसकी गदा को गिरा दिया और बोले – 'अपनी गदा उठा ले और मुझ पर चला ।' अबकी बार उस दैत्य ने पुनः गदा से प्रहार करके बड़े जोर से गर्जना की । जब उसने गर्जना की तो भगवान् ने उसकी गदा को पकड़ लिया और स्वयं उसे गदा देते हुए कहा – 'अपनी गदा को ले ले, फिर से चला ।' किन्तु अब वह गदा क्यों लेता, उसने इसमें अपना अपमान समझा और बोला – 'अच्छा, तूने मेरी गदा तो पकड ली ।' अबकी बार उसने अपना त्रिशूल उठाया, उसमें से अग्नि निकल रही थी, त्रिशूल को उठाकर उसने बड़ी जोर से आकाश में घुमाया, जब वह ऐसा कर रहा था , उसी समय भगवान् ने अपने तीखी धार वाले चक्र से उसके त्रिशूल को काट डाला । जब हिरण्याक्ष का त्रिशूल कट गया तो उसने भगवान् के पास आकर बड़ी तेजी से उनकी छाती पर एक घूँसा मारा और जब घूँसे से कुछ नहीं हुआ तो वह असुर अन्तर्धान हो गया और अपनी माया रच दी । माया के प्रभाव से बड़े जोर से आँधी चलने लगी, अनेकों राक्षसियाँ प्रकट हो गयीं, जो त्रिशूल चला रही थीं । भगवान् ने उस समय अपना सुदर्शन चक्र चला दिया और सारी आसुरी माया नष्ट हो गयी । वह दैत्य फिर से भगवान् के सामने आया

और उन्हें घूँसों से मारने लगा । तब भगवान् ने उसकी कनपटी पर एक झाँपड़ मारा और इतने से ही हिरण्याक्ष चक्कर खाकर निष्प्राण होकर गिर पड़ा । बोलो – 'शूकर भगवान् की जय ।' जब हिरण्याक्ष गिर पड़ा तो ब्रह्मादि देवता भगवान् की प्रशंसा करने लगे और कहने लगे – 'इस असुर के भाग्य देखो, प्रभु सामने खड़े हैं और इनको देखते हुए इसने अपना शरीर छोड़ा ।' देवता बोले – 'प्रभो ! आपको नमस्कार है ।' मैत्रेयजी बोले – इस प्रकार हिरण्याक्ष का वध करके भगवान् अपने धाम को चले गये । विदुरजी को भगवान् की यह कथा सुनकर बड़ा आनन्द हुआ । ऐसा कौन मनुष्य है, जो भगवान् श्यामसुन्दर की सेवा नहीं करेगा ? सूत जी कहते हैं कि भगवान् वराह की इस कथा को जो सुनता है, वह ब्रह्महत्या जैसे महापाप से भी छूट जाता है ।

अध्याय – २०

शौनकजी ने सूतजी से पूछा – मनुजी ने आगे क्या किया तथा विदुरजी ने मैत्रेयजी से और क्या पूछा ? उन दोनों के सम्वाद में भगवान् की निर्मल कथायें हुई होंगी, जो गंगाजी के समान सभी को पवित्र करने वाली होती हैं । रस को जानने वाला ऐसा कौन होगा, जो भगवान् की कथाओं से तृप्त हो जाएगा ? सूतजी कहते हैं कि विदुरजी ने मैत्रेयजी से पूछा कि आगे चलकर ब्रह्माजी ने सृष्टि की वृद्धि के लिए कैसे आदेश दिया, सृष्टि को कैसे चलाया ? मैत्रेयजी बोले – सबसे पहले महत्तत्व उत्पन्न हुआ, महत्तत्व से तीन प्रकार का अहंकार उत्पन्न हुआ, तन्मात्राएँ हुई, पञ्च महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और उनके पाँचों देवता उत्पन्न हुए । इसके बाद एक अंडकोश (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हुआ । यह समझ लेना चाहिए कि पहले महत्तत्त्व आदि की सृष्टि होती है, पीछे जाकर कमल प्रकट होता है और ब्रह्मा भी

पीछे उत्पन्न होते हैं । ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ब्रह्माजी पहले उत्पन्न होते हैं । जब कमल प्रकट हुआ तब उसमें ब्रह्माजी उत्पन्न हुए । ब्रह्माजी ने सबसे पहले अपनी छाया से अविद्या उत्पन्न की परन्तु अपना वह शरीर ब्रह्माजी को अच्छा नहीं लगा, अतः उन्होंने उसे छोड़ दिया तब वह शरीर रात्रिरूप बन गया और उसे यक्ष–राक्षसों ने ग्रहण कर लिया । वे ब्रह्माजी को ही खाने दौड़ पड़े । ब्रह्माजी ने उनसे कहा कि तुम लोग मुझे मत खाओ । मेरी रक्षा करो । ब्रह्माजी ने कहा – '**मा मां जक्षत रक्षत** ।' इसी से वे यक्ष और राक्षस कहलाये । ब्रह्माजी की प्रभा से देवता बने, जाँघ से असुर बने । असुर उत्पन्न होते ही कामासक्त होकर ब्रह्माजी की ओर मैथुन के लिए चले । इसका भाव यह है कि काम इतना अन्धा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में ही यह नहीं देखता कि कौन पिता है, कौन माँ है ? असुर किसे कहते हैं, जो 'असु' अर्थात् प्राण या इन्द्रियों में रमण करता है, उसे असुर कहते हैं । जो इन्द्रिय-प्रेमी होता है, वह धर्म-अधर्म कुछ नहीं सोचता है । जब असुर मैथुन करने के लिए ब्रह्माजी की ओर चले तो वह भाग गये और भगवान् के पास जाकर कहा – 'हे परमात्मा ! मेरी रक्षा कीजिये ।' ब्रह्माजी ने अपना वह शरीर छोड़ दिया, वह शरीर 'संध्या' रूपी सुन्दरी बन गई । उसको देखकर सब असुर मोहित हो गये और कहने लगे – 'अरे, यह स्त्री तो बहुत सुन्दर है, इसकी नई अवस्था है, इसके रूप का कैसा धन है, यह गेंद से खेल रही है ।' इस प्रकार असुर 'संध्या' रूपी स्त्री से मोहित हो गए और उन्होंने उसे ग्रहण कर लिया । इसके बाद ब्रह्माजी की कान्ति से गन्धर्व और अप्सरा उत्पन्न हुए । तदनन्तर ब्रह्माजी ने ज्योत्स्ना रूप अपने शरीर को छोड़ दिया, उसको विश्वावसु आदि गन्धर्वों ने ग्रहण कर लिया । ब्रह्माजी की तन्द्रा से पिशाच उत्पन्न हुए । ब्रह्माजी ने उस शरीर को छोड़ दिया और उसे भूत-पिशाचों ने ग्रहण कर लिया । ब्रह्माजी ने अपने अदृश्य रूप से साध्यगण एवं पितृगण की रचना की । तिरोधान शक्ति से सिद्ध और

विद्याधरों की रचना की । उनके प्रतिबिम्ब से किन्नर और किम्पुरुष उत्पन्न हुए । ब्रह्माजी अपने शरीर छोड़ते गये और उनके द्वारा रचित जीव उनके शरीर को ग्रहण करते गये ।

एक बार भोगमय वपु से सृष्टि नहीं बढ़ रही थी तो ब्रह्माजी क्रोधित हो गये और उस भोगमय शरीर का त्याग कर दिया, उससे जो बाल झड़कर गिरे, उससे सर्प उत्पन्न हुए । एक बार ब्रह्माजी अपने आप को बड़ा कृतकृत्य समझने लगे तो उस समय उनके मन से पुरुष उत्पन्न हुआ । उसे देखकर सब बड़े प्रसन्न हुए । इस सारे प्रसंग का भाव यह है कि हमारी भावना ही हमारी सृष्टि है और इसमें भावना शक्ति का चमत्कार बताया गया है, यद्यपि यह कथा साधारण-सी लगती है परन्तु इसका विचार करने पर पता पड़ेगा कि 'भावना' वह शक्ति है जो कि ब्रह्मा से लेकर साधारण कीट-पतंग आदि जीवों के लिए भी सब कुछ है । 'भावना' ही फल है । तुम्हारे जैसे भाव हैं, वैसे ही तुमको फल मिलेगा । यह बात ब्रह्माजी तक पर घटित होती है, फिर भला हम लोगों की तो बात ही क्या है ? यह इस प्रसंग का रहस्य है ।

अध्याय – २१

विदुरजी ने पूछा – महाराज ! मनुजी का जो वंश है, हमने ऐसा सुना है कि उसमें देवहूतिजी हुई हैं, उनसे कर्दमजी का विवाह हुआ था । देवहूति से महायोगी कर्दमजी ने कैसे सृष्टि उत्पन्न की ? मैत्रेयजी बोले – कर्दमजी ने दस हजार वर्षों तक बहुत एकाग्रता से भगवद् ध्यान करते हुए समाधि लगाकर तप किया । उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् ने उन्हें दर्शन दिया । भगवान् को देखकर कर्दम जी ने साष्टांग प्रणाम किया । कर्दमजी को ब्रह्माजी ने आदेश दिया था कि तुम प्रजा की रचना करो, इसलिए पहले उन्होंने तप किया ।

प्राचीनकाल में ऋषिगण प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में भजन करते थे । प्रजा की रचना करनी है अथवा विवाह करना है तो सबसे पहले ऋषि लोग भगवान् की आराधना करते थे । इसीलिए हमारे सनातन धर्म में विवाह के पहले कई प्रकार की पूजाओं का विधान है, सभी देवताओं की पूजा और कर्मकाण्ड की प्रथा है क्योंकि हमारे यहाँ विवाह आदि को बड़ी पवित्र दृष्टि से देखा जाता है, जिसे आजकल की सभ्यता के लोग समझ नहीं सकते । हमारे यहाँ विवाह को यज्ञ माना गया है ।

'कन्यादान' एक यज्ञ है तथा पति-पत्नी का सम्बन्ध इतना सुन्दर, आध्यात्मिक, पवित्र और मंगलमय बनाया गया है कि इसकी पवित्रता का आज का सारा विश्व कल्पना ही नहीं कर सकता है । स्त्री के लिए पति को ईश्वररूप बनाया गया है ताकि हर कार्य में उसे ईश्वर की अनुभूति हो । हमारे यहाँ सभी कार्य ईश्वरीय भावना से अनुप्राणित होकर किये गये हैं चाहे वे घोर से घोर सांसारिक कार्य ही क्यों न हो । इसीलिए प्राचीनकाल में ऋषि लोग हर कार्य में तप के द्वारा ईश्वर की आराधना करते थे; ऐसा नहीं जैसा कि आजकल विदेशों में है कि स्त्री-पुरुष का आपस में मन मिल गया तो विवाह हो गया, यह तो पशुवृत्ति है ।

जब कर्दमजी को भगवान् का दर्शन हुआ तो उन्होंने भगवान् की स्तुति की और एक बहुत अच्छी बात कही । कर्दम जी बोले– हे प्रभो ! आपका दर्शन नेत्रों की सबसे बड़ी सिद्धि है और यह निश्चय है कि जिन लोगों की बुद्धि नष्ट हो गयी है, वे तुच्छ कामनाओं की पूर्ति के लिए आपका भजन करते हैं । 'भगवान् की आराधना' कामना-पूर्ति के लिए करना तो ऐसा है जैसे कोई मनुष्य कल्पवृक्ष के पास जाकर कहे कि हे कल्पवृक्ष ! मुझे मल-मूत्र की एक हाँड़ी दे दो । उसकी प्रार्थना पर

कल्पवृक्ष मल-मूत्र की हाँड़ी तो दे देगा लेकिन उस मनुष्य ने कल्पवृक्ष से कितनी तुच्छ वस्तु माँगी । इसीलिए कर्दमजी कहते हैं कि जो लोग भगवान् से तुच्छ कामनाओं की पूर्ति चाहते हैं, उनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, इसमें कोई संदेह नहीं है । मैं भी उनमें से एक हूँ (यह कर्दमजी की अत्यधिक दीनता है) क्योंकि मैं भी विवाह का इच्छुक हूँ ।

यद्यपि कर्दमजी ब्रह्माजी की आज्ञा का पालन कर रहे हैं, स्वतः उनकी विवाह की कोई इच्छा नहीं है क्योंकि वह महापुरुष हैं, उनके स्वरूप को हमें समझना चाहिए; वे हम लोगों की तरह नहीं हैं ।

कर्दमजी कहते हैं कि प्रभु से तो जो माँगो, वही मिलेगा । नरक के भोग माँगो तो वे भी मिलेंगे । किन्तु क्या करूँ, मैं लौकिक धर्मों का अनुगमन कर रहा हूँ क्योंकि ब्रह्माजी की ऐसी ही आज्ञा है ।

लोकांश्च लोकानुगतान् पशूंश्च
हित्वा श्रितास्ते चरणातपत्रम् ।
परस्परं त्वद्गुणवादसीधु
पीयूषनिर्यापितदेहधर्माः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२१/१७)

हे प्रभो ! लौकिक और लोकानुगत जितने भी धर्म हैं, उनका अनुगमन करने वाले सब पशु हैं । आपके भक्त इन पशुओं को छोड़ के एकमात्र अनन्यवृत्ति से आपका गुणगान करते हैं । (जैसे – गोपियों ने लौकिक-पारलौकिक धर्मों का पूरी तरह त्याग कर दिया था, उनके जैसा उदाहरण कोई है ही नहीं । पशुओं को त्यागना ठीक ही है ।)

आपके भक्त आपकी कथारूपी अमृत से अपने जीवन को व्यतीत करते हैं ।

अब प्रश्न यह होता है कि जब वे इतने बड़े संसार को पशु समझकर छोड़ देते हैं तो क्या उन भक्तों को कोई नुक्सान होता है ? संसार को पशु समझकर छोड़ने का फल यह होता है कि वे काल के चंगुल से छूट जाते हैं और जो इस संसार के बंधन को, इन पशुओं के दबाव को मानता है, वह काल के चंगुल में फँसा रहता है ।

न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषाम्
त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व ।
षण्नेम्यनन्तच्छदि यत्त्रिणाभि
करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत् ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२१/१८)

यह जो विकराल काल है, सारे संसार को काट-काट करके, नष्ट करके दौड़ रहा है । इस विकराल काल की दाढ़ों से, इसके चंगुल से वही बच सकता है, जो कृष्ण का अनन्य हो जाता है, लोकादि सब छोड़ देता है, वह तो बच जाएगा और बाकी कोई नहीं बचेगा । बाकी संसार तो पशु ही बना रहेगा ।

हे प्रभो ! आप तो अकेले ही मकड़ी की तरह सारे संसार की रचना करते हैं । जैसे मकडी स्वयं ही जाले को फैलाती, उसकी रक्षा करती और अंत में उसे निगल जाती है, इसी प्रकार आप भी अकेले ही जगत की रचना, पालन और संहार करते हैं ।

भोग अंत में सदा ही दुखदायी है चाहे कोई आदमी समझे कि हम धर्मपूर्वक भोग भोग रहे हैं तो भी भोग आसक्ति में डालने वाला है अतः वह जहर ही है । यहाँ कर्दमजी भगवान् से नारकीय भोग नहीं माँग रहे हैं, विवाहिता स्त्री सम्बन्धी भोग माँग रहे हैं इसलिए कर्दम जी कह रहे हैं कि भगवान् कभी नहीं चाहते कि मेरा भक्त इन्द्रियों के भोगों में डूबे । (यह कर्दमजी की घोषणा है) भले ही धर्मपूर्वक विवाहिता स्त्री

के साथ भोग हो, भगवान् नहीं चाहते कि मेरा भक्त इसमें गोता लगाए; यह धोखा है । स्पष्ट रूप से कर्दमजी कह रहे हैं –

नैतद्वताधीश पदं तवेप्सितं यन्माययाऽनस्तनुषे भूतसूक्ष्मम् ।

(श्रीभागवतजी - ३/२१/२०)

स्थूल भोग से ऊपर है – योगियों का सूक्ष्म भोग, प्रभु नहीं चाहते कि हमारा भक्त उसे भी ग्रहण करे परन्तु हे प्रभो ! एक बात अवश्य है कि जो आपका दिया हुआ भोग है, उसका ऐसा विलक्षण प्रभाव होता है कि उससे नारकीयता नहीं मिलती ।

देखो – भोग, भोग में अन्तर होता है । गह्वरवन के सिद्ध संत पंडित हरिश्चन्द्रजीमहाराज बताते थे कि भगवद्भक्तों को ईश्वर-इच्छा से भोग की प्राप्ति होती है । यह महापुरुषों की बात है, हम लोगों की बात नहीं है, हम लोग तो कीड़े-मकौड़े हैं, अपने ऊपर यह बात नहीं लगानी चाहिए । भक्तों को जिस भोग की प्राप्ति होती है, वह परिणाम में उनके लिए और जिस जीव में उनकी आसक्ति होती है, दोनों को ईश्वर की प्राप्ति अर्थात् भक्ति की प्राप्ति होती है ।

इसीलिए कर्दमजी कह रहे हैं – हे प्रभो ! आपका दिया हुआ जो भोग है, वह हमें आपकी प्राप्ति कराने वाला है क्योंकि मुझे आपका दर्शन प्राप्त हो रहा है ।

सब लोगों को यह नहीं सोचना चाहिए कि हमें भी ईश्वर-प्रदत्त भोग मिल रहा है । यह तो उनकी बात है, जिन्हें साक्षात् प्रभु का दर्शन हो रहा है । यदि हम लोग इसे अपने ऊपर घटायेंगे तो बड़ा अनर्थ हो जाएगा । अपनी हैसियत हमें समझ लेना चाहिए । यह तो महापुरुषों की बात है क्योंकि महापुरुषों के बारे में यदि हम लोग ऐसा नहीं समझेंगे तो अपराध कर बैठेंगे । पराशर आदि बड़े-बड़े मुनियों को भी भोग-प्रवृत्त होते हुए देखा गया है किन्तु यदि उनके भोग को

ईश्वर-प्रदत्त नहीं मानेंगे तो अपराध कर बैठेंगे और अपने ऊपर घटायेंगे तो नष्ट ही हो जायेंगे ।

जब कर्दमजी ने भगवान् की स्तुति की तो वे प्रेम से मुस्कुराये अर्थात् ठाकुरजी ने कर्दमजी की बात को स्वीकृति प्रदान कर दी कि हे मुने ! तुम्हारी सब बात ठीक है । मैं जो भोग दूँगा, वह तो मुझसे ही मिलाएगा । यदि कोई डॉक्टर जुकाम में तुम्हें ठण्डी वस्तु देगा तो कुछ सोचकर देगा, उसका कुछ ऐसा अनुपान बनाकर देगा कि तुम्हें नुक्सान नहीं करेगा ।

भगवान् मुस्कुराकर कर्दमजी से बोले – हे प्रजापते ! मेरी पूजा कभी व्यर्थ नहीं जाती है । एक सम्राट हैं मनु, वे परसों तुमसे मिलने के लिए आयेंगे और अपनी कन्या को लायेंगे । मैंने तुम्हारे लिए वही कन्या चुनी है । तुम्हारे वीर्य से नौ कन्यायें उत्पन्न होंगी और मैं स्वयं अपने अंश से तुम्हारे वीर्य में प्रविष्ट होकर आऊँगा, तुम्हारा पुत्र बनूँगा तथा कपिल के रूप में सांख्य शास्त्र की रचना करूँगा । ऐसा कहकर भगवान् बिन्दुसर तीर्थ से चले गये । उस तीर्थ का नाम बिन्दुसर कैसे पड़ा, यह भी समझो । भक्त तो भगवान् के लिए रोता ही है । भक्त का एक आँसू गिरता है तो भगवान् के साठ आँसू गिरते हैं क्योंकि समस्त करुणा के भण्डार तो वे ही हैं, करुणा तो उन्हीं से निकली है । हम लोग तो आसुरी सम्पत्तियों से घिरे हुए हैं । हम लोगों का चित्त तो बड़ा दूषित, बड़ा कठोर है । प्रभु जब कर्दमजी के पास आये तो उनका हृदय कृपा से ऐसा द्रवित हुआ कि उनकी आँखों से इतने आँसू गिरे कि वहाँ एक सरोवर बन गया । इतना कौन रो सकता है ? प्रभु तो भक्तों से मिलने के लिए रोया करते हैं ।मनुजी कर्दमजी से मिलने के लिए बिन्दु सरोवर पर आये । कर्दमजी का शरीर हृष्ट–पुष्ट था क्योंकि भगवान् ने उन्हें प्रेमभरी चितवन से देखा था, जिस पर सरकार की

कृपा दृष्टि पड़ जाए, वह तो सब प्रकार से पुष्ट ही रहता है । कर्दमजी ने अपनी कुटी में मनुजी की पूजा की और उनसे कहा – 'महाराज ! आप तो संसार के लिए राजा हैं, प्रभु की शक्ति हैं और सारे संसार का आप पालन कर रहे हैं । आप जैसे राजा पृथ्वी पर न हों तो दुनिया रुक जाए, दस्यु लोग प्रजा को लूट लें ।'

अध्याय – २२

कर्दमजी की बात सुनकर मनुजी बोले – भगवान् ने सर्वप्रथम तो ब्राह्मणों की रचना की । हम तो क्षत्रिय हैं । आप अपनी महिमा क्यों छिपा रहे हैं ? आपने जो मेरी प्रशंसा की, ऐसा तो बड़े लोग छोटे लोगों की किया ही करते हैं । इस प्रशंसा के बहाने आपने मुझे मार्ग बताया है ।

बड़े लोग छोटों की प्रशंसा इसलिए करते हैं ताकि तुम ऐसे बनो । मान लो तुम किसी महात्मा से मिलने गये और उन्होंने कहा– अरे, आप तो बड़े भक्त हैं और आपके घर में भी सब लोग बड़े भक्त हैं । इस प्रशंसा के कारण यह मत समझो कि वास्तव में हम भगत जी हैं । इसे ऐसा समझो कि इन संत ने कहा कि तुम्हारे हृदय में कुछ भी भक्ति नहीं है, कुछ तो भक्त बनो, अपनी पत्नी और बच्चों को कुछ तो भक्तिमार्ग पर चलाओ; ऐसा समझना चाहिये ।

मनुजी ने कर्दमजी से कहा कि आपने जो मेरी प्रशंसा की, इसके द्वारा आपने मुझे मार्ग दिखाया है । महर्षे ! यह मेरी कन्या है । इसने नारदजी के मुख से आपकी प्रशंसा सुनी तो आपको ही पति बनाने का निश्चय कर लिया । जो वस्तु स्वतः प्राप्त हो रही है, उसको यदि कोई ग्रहण न करे जबकि उसे ग्रहण करना चाहिए । यदि स्वतः प्राप्त वस्तु को नहीं ग्रहण करेगा तो उससे उसका मान घटेगा, फिर वह दूसरी जगह जाएगा धक्का खाने के लिए । इसलिए जो वस्तु स्वतः प्राप्त

हो रही हो, उसे स्वीकार कर लेना चाहिये अतः आप मेरी कन्या को छोड़िये नहीं, इसे आप ग्रहण करिए ।

कर्दम जी बोले – ठीक है, मैं इसे स्वीकार करता हूँ । यह पृथ्वी पर हमारा प्रथम विवाह होगा क्योंकि मनु–शतरूपा तो अपने आप जोड़ा बनकर उत्पन्न हुए थे । अतः प्रथम विवाह तो हमारा ही होगा । आपकी कन्या इतनी सुन्दर है कि एक बार यह अपनी हवेली के ऊपर गेंद खेल रही थी तो इसकी सुन्दरता को देखकर विश्वावसु गन्धर्व विमान से अचेत होकर गिर पड़ा था । अरे, यह तो प्रभु की माता बनने वाली है; अतः सब प्रकार से, भाग्य से, शील से, रूप-सौंदर्य से यह भगवज्जननी है, साधारण नहीं है । कहाँ तक कहें, ऐसा मालूम पड़ता है कि यह अपनी शोभा से लक्ष्मीजी को भी तिरस्कृत कर रही है यद्यपि लक्ष्मीजी को कोई तिरस्कृत नहीं करता किन्तु भाव यह है कि मानो शोभा को तिरस्कृत कर रही है जैसे कवि लोग उपमा कहते हैं । परन्तु एक बात ये है कि विवाह करके ऐसा नहीं है कि मैं सारा जीवन गृहस्थ में समर्पित कर दूँगा । जब तक इसके संतान नहीं होगी तब तक मैं इसके साथ रहूँगा, उसके बाद तो फिर मैं भगवान् का ही होकर रहूँगा । यह तो मैं ब्रह्माजी की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ ।
इतना कहकर कर्दम जी मौन हो गये । मनुजी ने देखा कि मेरी कन्या देवहूति भी कर्दमजी को देखकर बड़ी लुलोभित हो रही है तब उन्होंने बहुत से दहेज़ के साथ अपनी कन्या कर्दमजी को प्रदान कर दी ।

दहेज़ प्राचीन काल से ही दिया जा रहा है । वर्तमान काल में इसका स्वरूप बिगाड़ दिया गया है, इसीलिए यह बदनाम हो गया है । आजकल दहेज़ को क्रय–विक्रय के रूप में बदल दिया गया है, नहीं तो यह बहुत पवित्र वस्तु है । जब कन्या को कोई व्यक्ति देता है तो अपनी सामर्थ्यानुसार कन्या के सुख के लिए कुछ न कुछ देता है, उससे धर्म होता है । कन्या के लिए दामाद को देना कोई अधर्म की बात नहीं है परन्तु यह अवश्य है जैसे आजकल दहेज़ का रूप बिगाड़ दिया गया

है तो इस तरह अच्छी वस्तु भी दूषित हो जाती है । किसी बढ़िया चित्र पर कोई गोबर लगा दे तो चित्र गन्दा हो जाएगा । 'दहेज़' तो प्रेम-स्थापन के लिए और बड़ी मंगलमयी भावनाओं के लिए है क्योंकि शास्त्र में कोई बात गलत नहीं लिखी है । दहेज़ के रूप में कन्या के प्रति पिता का वात्सल्य भी होता है, भावना है, सौहार्द्र है, प्रेम है, बहुत-सी बातें इसमें छिपी हुई हैं । इस तरह मनुजी ने कर्दमजी को बहुत सा धन दिया और अपनी बेटी के विरह में रोने लगे तथा फिर अपनी राजधानी में लौट आये ।

आगे बहुत अच्छी बात कही गयी है कि मनु जी ने अपना जीवन कैसे बिताया ? देखो, जीवन दो प्रकार से बीतता है । एक तो यातयाम और दूसरा अयातयाम । यातयाम को ऐसा समझो कि जैसे तुमने खीर बनायी और खीर बनाकर उसे रख दिया । यदि तुमने उस खीर को ठीक समय पर खा लिया तब तो ठीक है और यदि तुमने उसे दो दिन पीछे खाया तो खीर बिगड़ जायेगी तथा वह यातयाम हो जाएगी क्योंकि उसका खाने का समय तो बीत गया, वह जहर बन गयी । घी भी यदि दस–बीस साल पुराना है तो वह जहर है, उसे खाकर मर जाओगे । इसे कहते हैं यातयाम, जिसका समय बीत गया और अयातयाम उसे कहते हैं, जिस वस्तु को समय पर खा पी लिया, उसका सदुपयोग कर लिया । श्लोक (श्रीभागवत ३/२२/३५) में बताया गया है कि या तो कृष्ण को गाओ या तो कृष्ण को सुनो या कृष्ण का ध्यान करो, वह तो है अयातयाम, यानी तुम्हारा समय नष्ट नहीं होगा । इसके अतिरिक्त जितने भी कार्य हैं, वे हैं यातयाम यानी जो जीवन को नष्ट कर देते हैं । जैसे बहुत से लोग अखण्ड कीर्तन करते हैं, अखण्ड रामायण करते हैं, अखण्ड भागवत करते हैं, इसका रहस्य क्या है, इसे समझो, यह प्रथा क्यों चलाई गयी है ? इसका भाव यह है कि अखण्ड जो वस्तु चल रही है, उसमें चार आदमी बैठेंगे, ड्यूटी करेंगे, दो आदमी कीर्तन कर रहे हैं, दो आदमी सो रहे हैं । उस समय जो

आदमी सो रहे हैं तो उनका सोना भी भजन माना जाएगा क्योंकि वे कृष्ण नाम सुन तो रहे हैं । इसलिए यही भाव श्लोक (श्रीभागवत ३/२२/३५) में बताया गया है कि चाहे श्रवण करो, चाहे ध्यान करो, चाहे कुछ बोलो – भगवान् का नाम या स्वयं कथा करो, ये सब तुम्हारे जीवन को अयातयाम बनायेंगे; इसीलिए तब से भक्ति के अखण्ड अनुष्ठान की परिपाटी चली है ।

अयातयामाः तस्यासन् यामाः स्वान्तरयापनाः ।
श्रृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२२/३५)

मनु महाराज का सारा समय भगवान् की कथा सुनने, ध्यान करने, सेवा करने और स्वयं कथा-कीर्तन करने में लगा रहता था । इसलिए उनका सारा समय अयातयाम बीता ।

राजा को ऐसा ही होना चाहिए फिर प्रजा अपने आप ही सात्विक बन जायेगी । चाहे कृष्ण को सुनो या कहो, इस तरह तुम्हारा सारा समय अयातयाम हो जाएगा । इसलिए अखण्ड परिपाटी बड़ी सुन्दर है । इसे चलाना चाहिए । इस तरह मनुजी ने इकहत्तर चौकड़ी बिताई और इस तरह जो सतत् कृष्ण के पास में है, उसके पास कभी कोई क्लेश नहीं आ सकता है । लोगों को विश्वास करना चाहिए । बड़े–बड़े साधुओं के आश्रम में जाओ । वे अखंड कीर्तन चलाते है तो थोड़े ही समय में उनके आश्रम का वैभव बढ़ता जाता है । इसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है , कहीं भी इसे करके देख लो, कुछ दिन इसको करके देखो और फिर इसका परिणाम देख लो ।

शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः ।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम् ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२२/३७)

इस प्रकार जो मनुष्य सदा भगवान् के आश्रय में रहता है, उसे शारीरिक, मानसिक, दैविक, मानुषिक अथवा भौतिक क्लेश कभी बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं ।

अध्याय – २३

श्रीमैत्रेयजी ने कहा – देवहूतिजी अपने पति कर्दमजी की प्रतिदिन प्रेमपूर्वक सेवा करने लगीं ।

यहाँ यह समझने की बात है कि सेवा कैसे करनी चाहिए ?

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च ।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२३/२)

देवहूतिजी विश्वास, अन्तःकरण की पवित्रता, गौरव, इन्द्रियों के संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुर वाणी के साथ पतिदेव की सेवा करती थीं । इस श्लोक में सेवा की परिपाटी समझाई गयी है । सेवा इसी तरह करनी चाहिए । सेवा ही सीखनी चाहिए । जो मनुष्य सेवा को सीख गया, वह प्रभु को वश में कर लेता है । सेवा का उपदेश सुमित्राजी ने भी रामायण में लक्ष्मणजी को दिया ।

रागु रोषु इरिषा मद मोहू । जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू ॥

(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड - ७५)

उसी प्रकार इस श्लोक में भी बताया गया है कि सेवा करने वाले के लिए सबसे पहला गुण है विश्वास । उसे बड़े विश्वास के साथ सेवा करनी चाहिए । सेवा करने वाले को प्रायः लोग बहका दिया करते हैं । किसी आश्रम में तुम सेवा करने जाओ तो चार आदमी तुमको बहकायेंगे कि तू मूर्खता में क्यों फँस गया है, अपने परिवार के लिए कुछ कमाई कर, यहाँ सेवा करने से तेरे दो घंटे बेकार चले गए । इस प्रकार सेवा करने वाले के निष्ठा या विश्वास को लोग नष्ट कर देते हैं ।

इसलिए सबसे पहला गुण सेवा के लिए है विश्रम्भ अर्थात् बड़े विश्वास के साथ सेवा करनी चाहिए। यदि आस्था ही नहीं है तो फिर कोई क्या सेवा करेगा ? हर व्यक्ति आस्था को नष्ट कर देता है, किसी में यदि आस्था होगी भी तो वह उसके सेवा भाव को बिगाड़ देगा, नास्तिक बना देगा, काला बना देगा, अपनी तरह होशियार बना देगा और कहेगा कि देखो, हम बिना पैसे के काम नहीं करते हैं। अतः विश्वास, पवित्रता, गौरव, इन्द्रियदमन, शुश्रूषा, प्रेम और मधुरवाणी के साथ सेवा करनी चाहिए। इसी के साथ सेवा करते समय त्याज्य दोष हैं, जिन्हें छोड़ना पड़ता है। वे हैं कामना, दम्भ, द्वेष, लोभ, पाप, मद तथा प्रमाद।

विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम्।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत्॥

(श्रीभागवतजी - ३/२३/३)

देवहूतिजी ने सेवा के लिए काम,दम्भ, द्वेष, लोभ, पाप, मद और प्रमाद का सर्वथा त्याग कर दिया था और बड़ी सावधानी के साथ पतिदेव की सेवा करती थीं।

सेवा के लिए कामादि दोषों को जीतना होता है, नहीं तो बहूरानी खींच ले जायेगी और सेवा नहीं करने देगी। दम्भ (दिखावे) को छोड़ दे, ऐसा नहीं कि कथा में २५ रुपये चढ़ाने हैं तो जब सब लोग देखें तभी चढ़ायेंगे। यह तो दम्भ है। दम्भ लेकर तुम चले आये तो यह सेवा ही नहीं रहेगी। इसके अतिरिक्त द्वेष को छोड़ो, लोभ को छोड़ो, पाप, मद और प्रमाद को छोड़ो, इन सब दुर्गुणों को छोड़ो तब उसका नाम है सेवा। ये सब दुर्गुण मन में हैं तो सेवा कहाँ है, वह तो मात्र एक आडम्बर है, बाह्य क्रिया है। सच्ची सेवा तो लोग करना ही नहीं जानते हैं, बड़े अचम्भे की बात तो यह है। सेवा कैसे की जाए, इसको सीखना चाहिए।

देवहूतिजी ने इस प्रकार से कर्दमजी की सेवा की । उनकी सेवा से प्रसन्न होकर कर्दमजी बोले– 'मैं आपकी सेवा से बहुत प्रसन्न हूँ । आपने इतनी निष्ठा के साथ मेरी सेवा की । मैंने वर्षों तक जो तपस्या की, उसका फल आपको मेरी सेवा के प्रभाव से स्वतः ही मिल जाएगा ।'

सेवा इतनी बड़ी वस्तु है कि यदि कोई हजारों, लाखों वर्षों तक तप करे तो उसका फल सेवक थोड़ी ही देर में प्राप्त कर लेता है लेकिन सेवा इस ढंग से होनी चाहिए, जैसे – देवहूति ने की थी; जिसका वर्णन भागवत के श्लोक '३/२३/२,३' में किया गया है ।

कर्दमजी ने देवहूति से कितनी बढ़िया बात कही कि दीर्घकाल तक अपने धर्म का पालन करते हुए तपस्या, समाधि,उपासना और योग के द्वारा जो भगवत्प्रसाद स्वरूप विभूतियाँ मुझे प्राप्त हुई हैं, वह सब मैं तुम्हे प्रदान कर रहा हूँ और ये सब जो ईश्वर प्रदत्त दिव्य भोग हैं, इन्हें कोई मनुष्य तो प्राप्त ही नहीं कर सकता । ये तो सेवक को प्राप्त होते हैं ।

देवहूतिजी कर्दमजी से बोलीं – यद्यपि मैंने इन्द्रियभोग के लिए आपसे प्रेम किया परन्तु मैं मोक्ष की अधिकारिणी हूँ । जैसे कोई गंगाजी में चाहे क्रोध करके भी कूद पड़े तो भी उसका गंगा स्नान तो हो ही जायेगा ।

अध्याय – २४

कर्दमजी बोले – 'राजपुत्री ! तुम किसी प्रकार का खेद मत करो और अब श्रद्धापूर्वक भगवान् का भजन करो । प्रभु अब तुम्हारे गर्भ में आने वाले हैं ।' ऐसा ही हुआ । भगवान् पहले कर्दम ऋषि के वीर्य में आये । अब यहाँ पर ये समझना चाहिए कि भगवान् कैसे वीर्य में आये ? कोई विचार करेगा तो मन में यह भाव आयेगा कि वीर्य तो

बहुत अशुद्ध वस्तु है । महापुरुषों ने अपने वैष्णव सिद्धांत में स्पष्ट लिखा है कि भगवान् का विग्रह वीर्य के द्वारा पैदा नहीं होता है, वह तो दिव्य चिन्मय होता है । लीला की दृष्टि से प्रकट होने के लिए भगवान् गर्भ में चले जाते हैं जैसे भगवान् उत्तराजी के गर्भ में गए तो क्या वे अशुद्ध हो गए ? गर्भ तो बहुत गन्दा होता है चाहे उत्तरा जी का हो चाहे गाय का हो । गर्भ के भीतर तो बालक मल-मूत्र में ही रहता है । ईश्वर तो वही है, जो सब जगह रहते हुए भी उससे अतीत हो । जैसे भगवान् संसार के कण–कण में व्याप्त हैं लेकिन यहाँ रहते हुए भी वे सबसे अलग हैं । इसे ऐसे समझो कि हम लोग किसी छोटे से छिद्र में नहीं घुस सकते किन्तु हवा घुस जायेगी क्योंकि वह अत्यधिक सूक्ष्म है । हवा से भी अधिक सूक्ष्म है आकाश, आकाश से भी अधिक सूक्ष्म है अहं तत्त्व, उससे भी अधिक सूक्ष्म है महत्तत्व और उससे भी अधिक सूक्ष्म है प्रकृति । प्रकृति से भी अनन्त गुना सूक्ष्म हैं भगवान् । वे इतने सूक्ष्म हैं कि उनके पास कोई गंदगी पहुँच ही नहीं सकती । सब जगह रहते हुए भी वे उससे अलग हैं । इसलिए भगवान् कर्दमजी के वीर्य में जाकर देवहूतिजी के गर्भ में प्रवेश कर गए । उस समय देवता लोग आकाश में स्थित होकर बाजे बजाने लगे । ब्रह्माजी देवताओं से बोले कि अब प्रभु आ रहे हैं, इसलिए अब हम लोगों को चलकर उनकी स्तुति करनी चाहिए । ब्रह्माजी कर्दमजी के पास आकर बोले – 'बेटा, मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, तुमने मेरी आज्ञा का अच्छी तरह पालन किया ।' ब्रह्माजी को इस बात की बड़ी चिंता रहती है कि विवाह करके संतान उत्पत्ति की जाए, जिससे सृष्टि बढ़े । ब्रह्माजी कर्दमजी से बोले कि तुम्हारी जो कन्यायें हैं, इन्हें मरीचि आदि प्रमुख ऋषियों को सौंप दो । देवहूति से ब्रह्माजी बोले – 'हे मानवी ! भगवान् तुम्हारे गर्भ में आ गए हैं । इनका नाम कपिल होगा ।'

अब यहाँ समझना चाहिए कि क्या प्रमाण है कि भगवान् का शरीर दिव्य है तो ब्रह्माजी कहते हैं – '**हिरण्यकेशः पद्माक्षः**

पद्ममुद्रापदाम्बुजः ।' (श्रीभागवतजी - ३/२४/१७) आचार्य लोग लिखते हैं कि हिरण्यकेश उनके श्रीविग्रह की चिन्मयता है । वेद में भगवान् के लिए मंत्र आता है –

'यः एषो अन्तरादित्यो हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेशः ।'

इस प्रकार वर्णन आता है । हिरण्य का अर्थ सोना होता है किन्तु यहाँ पर हिरण्य का अर्थ है दिव्य । भगवान् का सारा विग्रह दिव्य, प्रकाश बहुल है । इसीलिए यहाँ पर हिरण्यकेश लिखा है । ब्रह्माजी ने कहा कि देवहूति के पुत्र का नाम होगा 'कपिल' । कपिल का भाव समझ लो । 'क' कहते हैं सुख को, 'कं' माने सुख को जो पीते हैं और संसार में लाते हैं, वे हैं कपिल । भगवान् कपिल ने तत्वज्ञान का उपदेश दिया । कर्दमजी ने अपनी नौ पुत्रियों का विवाह ब्रह्माजी के पुत्रों के साथ कर दिया । प्रभु को अपने यहाँ अवतरित जानकर कर्दमजी एकांत में उनके पास गए और उनकी स्तुति करने लगे । कर्दमजी बोले – हम लोगों की अवज्ञा का कुछ भी विचार न करके प्रभु अपने वात्सल्य के कारण आज हमारे घर में अवतरित हुए हैं ।

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव ।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानां अरूपिणः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२४/३१)

प्रभु अनेक रूप धारण करते हैं, उनके रूप अनन्त हैं, उन रूपों में कौन से रूप उपासनीय हैं, इसका निर्णय इस श्लोक में किया गया है । भगवान् ने अनेकों अवतार धारण किये, उनके गुणावतार भी हैं, जैसे नारायण हैं,शिव हैं, कच्छप, मत्स्य आदि जितने भी अवतार हैं तो इस श्लोक में कर्दमजी कहते हैं कि उपासना के योग्य भगवान् के वे ही रूप हैं, जो उनके भक्तों को अच्छे लगते हैं ।

सुबोधिनीकार श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज लिखते है –

पूर्वं यानि रूपाणि कृतवान् तानि भगवतौ वेद आह यानि पश्चाद्भक्तानुरोधेन कृतवान् तान्यप्यनुरूपाणयेव

(श्रीमद्वल्लभाचार्यकृतसुबोधिनी)

पहले भगवान् ने जितने रूप धारण किये, उनका वर्णन तो वेद में हो गया है और पीछे अपने भक्तों के अनुरोध पर उन्होंने जो रूप धारण किये, वे उपासनीय हैं । जैसे – श्रीनाथजी की उपासना अष्टछाप के संत कवियों ने नराकार रूप में की । जिस प्रकार मनुष्य का बालक होता है, उसी प्रकार गोविन्दस्वामी के साथ श्रीनाथजी खेला करते थे । एक बार वे शौच कर रहे थे तो श्रीनाथ जी उनके पास पहुँच गए और कंकड़ लेकर उन्हें मारने लगे । श्रीमद्भागवत के अनुसार ये लीलायें उपास्य हैं, कोई मनमानी बात नहीं है । इसीलिए तो वल्लभाचार्यजी ने सुबोधिनी में लिखा है कि भक्त के अनुरोध से भगवान् ने जो लीला की है, वही उपास्य है और ऐसा केवल वल्लभाचार्य जी या वैष्णवाचार्यों ने ही नहीं लिखा है । यहाँ तक कि श्रीधरस्वामी जी ने भी अपनी भागवत टीका में लिखा है कि भगवान् के अनेक रूप हैं, नारायण रूप भी उनका है, शिव रूप भी उनका है लेकिन श्रीधरस्वामी लिखते हैं – **'मनुष्यस्वरूपाणि'** । भगवान् का 'मनुष्य–स्वरूप' रूप है जैसे कृष्णलीला, यह उपासनीय है । जैसे – बरसाने आने पर श्रीकृष्ण को गाली दी जाती है कि इसकी मैया यशोदा कैसी है तो कहते हैं कि **'याने काऊ नहीं छोड़े लला, मीर मुग़ल मोहराज'** और इसका फल बताया गया है कि जो यह गारी कृष्ण को सुनाता है, वह परमपद पाता है । बरसाने वाले कृष्ण से कहते हैं – 'तेरी मैया ऐसी है कि सब छैल इसके पीछे लगे डोल रहे हैं । ये ऐसी है, वैसी है ।' यदि कोई सोचे कि ये ब्रजवासी कैसी बात बकते हैं, ये लोग अशास्त्रीय बात बोलते हैं भगवान् के लिए, ये कैसे

हैं ? अरे, ये अशास्त्रीय नहीं है । यह बात इसी श्लोक '३/२४/३१' में कही गई है – **'यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिण: ।'** यह बात तो शास्त्र में कही गई है । हम लोगों को शास्त्र का ही ज्ञान नहीं है । भगवान् तो अपने भक्तों की रुचि के अनुसार रूप धारण करते हैं । आचार्यों ने और भी लिखा है कि यहाँ 'यानि यानि रोचन्ते स्वजनानामरूपिण:' क्यों लिखा है, यहाँ तो लिखना चाहिए था 'स्वजनेभ्य:' । पाणिनिजी ने जो संस्कृत-व्याकरण बनायी है, उसमें एक सूत्र है – **'रुच्यर्थानाम् प्रियमाणे'** अर्थात् रुचि धातु के साथ चतुर्थी विभक्ति लगती है, जैसे – मुझको लड्डू अच्छे लगते हैं तो कहा जाएगा 'मह्यं मोदकानि रोचन्ते' क्योंकि 'मेरे लिए' में चतुर्थी विभक्ति लगेगी तो यहाँ श्लोक (३/२४/३१) में भगवान् के भक्तों में चतुर्थी होनी चहिये थी – 'स्वजनेभ्य: यानि यानि च रोचन्ते' – व्याकरण के हिसाब से यह श्लोक इस प्रकार होना चाहिए था परन्तु यहाँ पर आचार्य श्रीविजयध्वजतीर्थजी लिखते हैं –

'रुच्यर्थानां प्रीयमाण" इति सूत्रात् स्वजनेभ्य इति वक्तव्ये स्वजनानामिति षष्ठी स्वस्वामित्वज्ञापनायेति ज्ञातव्यम्' –

(श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावली)

जो 'स्वजनेभ्यः' में चतुर्थी हटाकर के 'स्वजनानाम्' लिखा गया है, यह व्याकरण के हिसाब से अशुद्ध लग रहा है किन्तु यह अशुद्ध नहीं है । आचार्य श्रीविजयध्वजतीर्थजी कहते हैं –

'षष्ठी स्वस्वामित्वज्ञापनाय'

'स्वामित्व' दिखाने के लिए ऐसा कहा गया है । 'भगवान्' स्वामी हैं और 'भक्त' उनके धन हैं अथवा 'भक्त' स्वामी हैं तथा 'भगवान्' उनके सेवक हैं । षष्ठी जो सम्बन्ध होता है, वह

'स्वस्वामित्व' दिखाने के लिए होता है । (इस बात को साधारण लोग नहीं समझ सकते ।) भक्त और भगवान् का जो सम्बन्ध होता है, वह मालकियत का होता है । 'भक्त' मालिक है और 'भगवान्' दास हैं तथा 'भगवान्' मालिक हैं तो 'भक्त' दास है । कन्हैयाजी को तुम जैसा कह दोगे, उनको वैसा ही बनना पड़ेगा; जैसे – सखियों ने कहा कि श्यामसुन्दर आ रहे हैं, इन्हें पकड़ लो और छोरा से छोरी बना दो । गोपियों ने श्यामसुन्दर का पीताम्बर उतारकर फिर उन्हें लंहगा–फरिया और चोली पहनाकर नारीरूप बना दिया । श्यामसुन्दर को वैसा ही बनना पड़ा क्योंकि 'स्वस्वामित्व' है, इसलिए यहाँ कहा गया – **'यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिण: ।'** इस तरह कर्दमजी कपिल भगवान् की स्तुति कर रहे हैं, आगे उन्होंने कहा – 'हे प्रभो ! आप परम प्रधान पुरुष, महान हैं, सब कुछ आप ही हैं । मुझको अब आप साधु बनने की आज्ञा दे दीजिये ताकि मैं अब सन्यासी बन जाऊँ और इस गृहस्थाश्रम का त्याग करूँ ।'

अब यहाँ पर एक शंका होती है कि जब कर्दम जी के घर भगवान् ने अवतार ग्रहण किया तब वे प्रभु की सन्निधि का आनन्द छोड़कर सन्यास लेकर वन में क्यों जा रहे हैं । इसका मतलब क्या सन्यास, तपस्या या भजन 'भगवान्' की प्राप्ति से भी बड़ा हो गया ? वन में जाकर तो नेत्र मूँदकर निर्गुण-निराकार ब्रह्म का चिन्तन वे करेंगे अर्थात् दास्य युक्त शान्त भाव की उपासना करेंगे । कर्दमजी के इस गृहत्याग में एक रहस्य है । आचार्य लोग लिखते हैं कि रति अर्थात् भगवान् का प्रेम कई प्रकार का होता है । इसके मुख्य पाँच भेद माने गए हैं, जैसे – शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और श्रृंगार । शान्त भाव में लोग भगवान् का ज्योतिरूप से अपने हृदय में ध्यान करते हैं, कोई दास्य भाव से भक्ति करते हैं कि भगवान् हमारे स्वामी हैं, मैं

उनका दास हूँ, कुछ भक्त सख्य भाव में अपने को सखा मानकर कन्हैया के कंधे पर चढ जाते हैं, कुछ भक्त वात्सल्य भाव में भगवान् को अपना पुत्र मानते हैं जैसे यशोदाजी और नन्दबाबा । वल्लभकुल में वात्सल्य भाव की ही सेवा होती है कि लाला है, इसके लिए भोग रखो, न जाने कब इसे भूख लग जाए । अतः रात को शयन के समय भी बंटा (विशेष प्रकार का लड्डू) का भोग रख देते हैं, जो बहुत बड़ा होता है, इस आशय से रखते हैं कि कन्हैया बालक है, यदि रात को भूख लग गयी तो खा लेगा । श्रृंगार रस को देखें तो वृन्दावन के सभी मंदिरों में श्रृंगाररस-प्रधान सेवा होती है । जिसकी जैसी रति की भावना होती है, वह उसी भावना से रति में प्रवेश करता है । जैसे – दास्य रति वाले को दास्य भाव ही अच्छा लगेगा, वह सख्य को नहीं ग्रहण करेगा, सख्य भाव वाले को सख्य रस ही अच्छा लगता है । नन्दगाँव वालों के सामने श्रृंगार-रस की बात करो तो वे घूम-घुमाकर सख्य भाव पर ही पहुँचेंगे, उनका सख्य विशेष श्रृंगार-भाव है । 'प्रियाजी का विशुद्ध श्रृंगार रस' वे समझ ही नहीं पाते हैं अर्थात् जो जिस रति का है, वह वहीं पहुँचता है । इसीलिए भागवत के टीकाकार आचार्य लिखते हैं –

'रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते क्वापि कस्य चित्'

(श्रीराधारमणदास गोस्वामी)

शास्त्र के इस न्याय से कर्दमजी दास्यनिष्ठ भक्त थे, इसीलिए वे वात्सल्य रति का अनुभव नहीं कर सके । वात्सल्य रति में उनका अधिकार नहीं था । जो दास्यभाव का भक्त है, वह प्रभु को बेटा बनाने में संकोच करेगा । शुद्ध माधुर्य वाला ही भगवान् को बेटा बना सकता है । उदाहरण के लिए जब यशोदाजी को श्यामसुन्दर ने अपना ऐश्वर्य दिखाया तो वे घबरा गयीं, घबरा जाने पर श्यामसुन्दर मुस्कुराने लगे,

हँसने पर जो ऐश्वर्यशक्ति बीच में विघ्न रूप से आ गयी थी, वह भाग गयी । माधुर्य शक्ति ने उसे दबा दिया, दो डंडा लगा दिए और कहा कि यहाँ तुम्हारा काम नहीं है । यहाँ कन्हैया बेटा है, भगवान् का भाव लेकर तू कहाँ से आ गयी, भाग यहाँ से । इसलिए जो शुद्ध वात्सल्य रति है, उसमें सबका अधिकार कैसे हो जाएगा; चाहे कर्दमजी हों, चाहे कोई हो । भागवत में दशम स्कन्ध में कहा गया है कि यशोदाजी के सौभाग्य को तो ब्रह्मा, शिव और लक्ष्मीजी भी नहीं पा सके । इसीलिए कर्दमजी ने भगवान् से सन्यास के लिए वन जाने की आज्ञा माँगी तो भगवान् बोले – 'मैं माता देवहूति को सांख्य शास्त्र का उपदेश करके जो आत्मपथ नष्ट हो गया है, उस अध्यात्म विद्या को उन्हें प्रदान करूँगा । आप वन को जाइए ।' भगवान् की आज्ञा लेकर कर्दमजी वन को चले गए और उन्होंने परम वैष्णवी गति को प्राप्त किया ।

अध्याय – २५

शौनकजी ने सूतजी से कहा कि अब आप मुझे भगवान् कपिल की कथा सुनाइये ।

सूतजी कहते हैं – मैत्रेयजी ने विदुरजी से कहा कि कर्दमजी तो वन में चले गए और भगवान् कपिल उसी बिंदु सरोवर तीर्थ में रहने लगे । एक दिन देवहूतिजी अपने पुत्र भगवान् कपिल से बोलीं – 'हे प्रभो ! आप मुझे घोर अज्ञान के अन्धकार से पार कीजिये । आप तो नेत्र-स्वरूप हैं, मैं आपकी शरण में हूँ ।'

कपिल भगवान् बोले – 'आध्यात्मिक योग से ही जीव का कल्याण होता है ।'

हम सब लोग अपने को आध्यात्मिक समझते हैं किन्तु आध्यात्मिक किसे कहते हैं, इसे समझो ।

भगवान् कपिल ने कहा कि अध्यात्म योग में मनुष्य का प्रवेश तभी होता है, जब दुःख और सुख से मनुष्य की अत्यन्त उपरति हो जाती है । न तो उसे दुःख व्यापता है और न सुख में प्रसन्नता होती है, तब उसका अध्यात्मयोग में प्रवेश होता है । बात बनाना तो अलग है लेकिन अगर किसी के घर में मौत हो जाए या कोई रोग हो जाए अथवा धन का गम्भीर घाटा हो जाए तो सबके चेहरे उदास हो जायेंगे । अतः अभी तो हमलोगों का आध्यात्मिक योग में प्रवेश ही नहीं हुआ है, शुरुआत ही अभी नहीं हुई है और भगवान् कपिल ने जो अपने उपदेश का सबसे पहला श्लोक बोला, वह यही बोला कि यदि तुम्हें आध्यात्मिक योग में प्रवेश पाना है तो उसके लिए पहली आवश्यकता यह है कि तुम सुख–दुःख से ऊपर उठ जाओ । ईश्वर प्रेम भी इसी को कहते हैं कि जो कुछ भी हमारा प्यारा कर रहा है, हम उसी में सुखी रहें किन्तु संसार के लोग तो जरा–जरा सी बात पर दुखी होते रहते हैं कि चार पैसे का घाटा हो गया, बेटा–बेटी बीमार हो गए ।

कपिल भगवान् ने कहा –

योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे ।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२५ /१३)

भगवान् ने यह पहला ज्ञान अपनी माँ को दिया । इसके बाद भगवान् बोले कि यह चित्त ही बन्धन कराता है और चित्त ही मुक्ति कराता है । कोई दूसरा नहीं कराता है ।

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२५/१५)

'चेतः' अर्थात् चित्त; 'चित्त' किसे कहते हैं, इसे समझो । हम लोगों का चित्त बन्धन क्यों करा रहा है ? चित्त की परिभाषा है–

'चिनोति आत्मनि मलं इति चेतः'

हम लोगों का चित्त केवल गंदगी, मल–मूत्र का भोग इकट्ठा कर रहा है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं करता । जबकि जो महापुरुषों का चित्त होता है, वह क्या करता है –

'चिनोति आत्मनि भगवत्तत्वम्'

उनका चित्त श्रीकृष्ण को इकट्ठा करता है । **'चिनोति आत्मनि श्रीकृष्ण तत्त्वम्'** – 'तत्त्वम्' से अभिप्राय है – श्रीकृष्ण-तत्त्व । इस हिसाब से महापुरुषों का चित्त भी चित्त है और हमारा चित्त भी चित्त है लेकिन इकट्ठा करने वाली जो वस्तु है, वह अलग-अलग है । कोई हीरा इकट्ठा कर रहा है और कोई मल-मूत्र इकट्ठा कर रहा है । इसे चित्त कहते हैं, यही मन है । जो बात देवहूतिजी ने कही थी, उसी सिद्धान्त को '३/२५/२०' में भगवान् दोहरा रहे हैं –

प्रसङ्गमजरं पाशं आत्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारं अपावृतम् ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२५/२०)

आसक्ति 'आत्मा' का अजर बन्धन है, ऐसा विवेकीजन मानते हैं । जैसे – स्त्री-पुरुष की परस्पर कामासक्ति होती है, वह बन्धन है; किन्तु वही आसक्ति यदि महापुरुषों के प्रति हो जाती है तो मोक्ष का दरवाजा खुल जाता है ।

महापुरुष भी कर्दमजी जैसा होना चाहिए, गड़बड़ी तभी होती है, जब हम जैसे लोग अपने मल-मूत्र के शरीर को घोषित करते हैं कि

हम महापुरुष हैं । आसुरी भाव में हम लोग जो महापुरुष होने का ढोंग करते हैं, गड़बड़ी वहीं से शुरू होती है । यह बात खोल के इसलिए समझाई जा रही है ताकि हम लोग महापुरुषों की महिमा को जानें, दुरुपयोग के लिए नहीं ऐसा कहा जा रहा है । इस बात को लोग छिपाते हैं । यह छिपाने की बात नहीं है, महापुरुषों की महिमा हम लोग नहीं जानेंगे तो भक्ति कैसे जानेंगे ? **राम ते अधिक राम कर दासा** – महापुरुष की महिमा तो तुम्हें जानना ही होगा, इसे छिपाने से क्या होगा ?

आगे कपिल भगवान् कहते हैं कि साधु कैसे होते हैं ?

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२५/२१)

वे अजातशत्रु होते हैं, शान्त होते हैं । तीन गुण भौतिक बताये तथा चार गुण आध्यात्मिक बताये । आध्यात्मिक भी कई गुण बताये हैं । इन गुणों की संख्या वल्लभाचार्यजी ने अपनी भागवत की टीका में बहुत अच्छी लिखी है ।

भगवान् कहते हैं कि महापुरुष लोग हर समय मेरी कथा को सुनते और कहते हैं, वे कृष्ण संग से इतर (बाहर) नहीं जाते हैं । जो व्यक्ति कृष्ण संग से इतर जाएगा, वह तो धोखा खा जाएगा, चाहे कोई आचार्य हो चाहे गोस्वामी हो, कृष्ण चर्चा से जो इतर है, उसका तो पतन निश्चित है । अब आगे भगवान् भक्ति का लक्षण बता रहे हैं ।

देवानां गुणलिङ्गानां आनुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२५/३२)

यहाँ देवानां का अर्थ है इन्द्रियाँ । यद्यपि देव शब्द का अर्थ होता है देवता । हमारी जो ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं, ये बिना प्रयास के कृष्ण में लगी रहें, इसी का नाम भक्ति है । हमारा जो मन है तथा ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जैसे आँख से देखना, कान से सुनना, जीभ से बिना प्रयास के ही 'भगवन्नाम' निकलता रहे, जैसे गोपियों के बारे में लिखा है –

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितो–क्षणमार्जनादौ ।

गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(श्रीभागवतजी - १०/४४/१५)

हर कार्य को करते समय, बिना प्रयत्न के ही उनकी वाणी से हर समय कृष्ण गुणगान होता रहता था । हम लोगों को तो अभी भक्ति में मन लगाना पड़ता है कि इतनी देर माला करेंगे, इतनी देर कीर्तन करेंगे किन्तु ऐसा अभ्यास पड़ जाना चाहिये कि अपने आप जीभ सदा भगवन्नाम लेती रहे । कर्मेन्द्रियाँ भी अपने आप ही कृष्ण में लगें, मन भी अपने आप कृष्ण में लगे, उसका नाम भक्ति है यानी लगाना न पड़े, स्वयं ही बिना प्रयास के कृष्ण में लगा रहे, उसका नाम भक्ति है । वल्लभाचार्यजी ने 'देवानाम्' का बड़ा सुन्दर अर्थ किया है । वे लिखते हैं कि जो इन्द्रियाँ कृष्ण में लगती हैं, वे तो देव हैं, वहाँ उन्होंने उपनिषदों का भी प्रमाण दिया है । जो इन्द्रियाँ कृष्ण में नहीं लग रही हैं, वे असुर हैं । इसीलिए यहाँ पर देवानां लिखा है । ग्यारह इन्द्रियाँ हैं, अब यहाँ पर एक प्रश्न उठता है और यह आचार्यों ने लिखा है कि आँख से दर्शन करेंगे, कान से कथा सुनेंगे, वाणी से कीर्तन करेंगे, हाथ

से सेवा करेंगे अर्थात् सभी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तो कृष्ण भक्ति में लग जायेंगी किन्तु मल–मूत्र की इन्द्रिय भगवान् की सेवा में कैसे लगेगी ? आचार्य कहते हैं कि मल–मूत्र की इन्द्रिय भी कृष्ण में लगेगी, कैसे लगेगी ? विष्णुधर्मोत्तर पुराण में लिखा है –

मलमूत्रपरित्यागाच्चित्तस्वास्थ्यं यतो भवेत् ।
अतः पायुरुपस्थश्च तदाराधनसाधनम् इति

मल–मूत्र की इन्द्रिय यदि गड़बड़ करती है तो शरीर का स्वास्थय खराब हो जाता है । यदि शौच न हो तो दूषित वायु निकलती रहेगी और भगवान् में भी मन नहीं लगेगा । इसलिए मल–मूत्र की इन्द्रिय को भी संयम चाहिए, उपस्थ इन्द्रिय को भी संयम चाहिए, नहीं तो अधिक भोग के कारण कृष्ण से विमुख हो जाओगे, प्रह्लादजी ने यह बात कही है । अतः इन्द्रियों का संयम करना ही, इन्हें कृष्ण में लगाना है । (भा.३/२५/३२) में 'सत्त्व' का अर्थ 'मन' है । वल्लभाचार्यजी ने लिखा है कि दो प्रकार की इन्द्रियाँ है – देवरूपाणि, असुररूपाणि – **'एकानि देवरूपाणि एकान्यसुररूपाणि ।'** 'भगवद्भक्ति' में लगने वाली इन्द्रियाँ देवरूपाणि हैं । भक्ति कैसी होनी चाहिए, अनिमित्त निष्काम होनी चाहिए । किसी मतलब से भक्ति नहीं करनी चाहिए ।

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।

(श्रीभागवतजी - ३/२५/३३)

ऐसी 'भक्ति' मुक्ति से भी बड़ी है । मुक्ति से कैसे बड़ी है ? इस तरह बड़ी है कि क्या भगवान् कभी किसी ब्रह्मज्ञानी का रथ हाँकने गए हैं, केवल अर्जुन का ही रथ उन्होंने हाँका था । क्या भगवान् किसी ब्रह्मज्ञानी की सेवा करने गये हैं किन्तु ब्रज में गोपी कहती है – 'कन्हैया, मेरी गोबर की हेल उँचा जा, गगरी उँचवा जा, मैं तुझे

माखन का लौंदा दूँगी ।' कन्हैया पूछते हैं कि कितने लौंदा देगी ? गोपी कहती है जितनी हेल उँचवायेगा, उतना लौंदा दूँगी । कन्हैया ने पूछा कि मुझे कैसे पता पड़ेगा कि कितनी हेल उँचवायी । गोपी बोली – 'जितनी हेल उँचवायेगा, उतना गोबर का ठप्पा तेरे गाल पर लगा दूँगी ।' कृष्ण बोले – 'ठीक है, शर्त मंजूर है ।' गोपी ने कहा कि बेईमानी नहीं होनी चाहिए । अब कन्हैया ने गोबर की हेल उँचवाई तो गोपी ने एक ठप्पा उनके गाल पर लगा दिया और बोली कि अब तुझे एक लौंदा मिल जाएगा । जब दो–चार हेल हो गयी तो कन्हैया ने कुछ बेईमानी की और एक–दो ठप्पा गाल पर अपनी ओर से अधिक लगा लिए ताकि माखन ज्यादा मिल जाए । गोपी ने देखा तो बोली – 'लाला, बेईमानी करता है, अब एक भी लौंदा नहीं मिलेगा, मैंने तो छः (६) हेल गिन रखे हैं और तूने तीन अपनी ओर से बढ़ा लिए ।' अब श्रीकृष्ण इस तरह क्या किसी ब्रह्मज्ञानी की दासता कर सकते हैं ? ग्वाललीला में कृष्ण श्रीदामा को अपने कंधे पर बिठाकर ले जाते हैं, क्या कभी किसी ब्रह्मज्ञानी को भगवान् ने अपने कंधे पर बिठाया है । इसीलिए कपिल भगवान् कहते हैं कि भक्ति मुक्ति से भी बड़ी है । मेरे भक्त आपस में मिलकर दिन–रात मेरे रूप की, मेरी लीला की चर्चा करते हैं, इसलिए बिना चाहे ही भक्ति उनको परम पद दे देती है, मुक्ति उनको अपने आप मिल जाती है ।

अथो विभूतिं मम मायाविनस्तामैश्वर्यमष्टांगमनुप्रवृत्तम् । (३/२५/३७)

सत्य आदि लोक की विभूति भी उन्हें मिल जाती है । मेरे वैष्णव धाम का ऐश्वर्य भी उन्हें स्वतः प्राप्त हो जाता है ।

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।

काल मेरे भक्तों को नहीं चाट सकता है । वे काल के ऊपर उठ जाते हैं । जो भगवान् की भक्ति करता है, काल उसका कुछ नहीं कर सकता, कैसे भक्त ? जिनका मैं ही सब कुछ हूँ ।

येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२५/३८)

मैं ही जिनका प्रिय हूँ (जैसे लक्ष्मीजी के प्रिय हैं भगवान्) । मैं ही जिनका आत्मा हूँ (जैसे सनकादिक मुनियों की आत्मा हैं भगवान्)। मैं ही जिनका बेटा हूँ, (जैसे यशोदाजी के बेटा हैं भगवान्), मैं ही सखा हूँ, (जैसे अर्जुनजी के सखा हैं भगवान्), मैं ही पिता हूँ (प्रद्युम्न के पिता श्रीकृष्ण हैं), मैं ही सुहृद हूँ (जैसे पाण्डवों के सुहृद थे), मैं ही भक्तों का दैव हूँ, मैं उनका सब कुछ हूँ, मैं ही गुरु हूँ; ऐसे भक्तों का काल कुछ नहीं बिगाड़ सकता है ।

विसृज्य सर्वान् अन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम् ।
भजन्ति अनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२५/४०)

जो भक्त मेरे लिए अपना घर, धन, पशु तथा अन्य सभी वस्तुओं को छोड़ देते हैं, उन्हें मैं मृत्युरूप संसार सागर से पार कर देता हूँ ।

भगवान् के लिए सब कुछ छोड़ना पड़ता है तभी तो चैतन्य महाप्रभु ने कहा है–

'बिना सर्वत्यागं न हि भवति भजनं यदुपतेः ।'

सर्वत्याग के बिना कृष्ण भजन नहीं हो सकता है । भगवान् कहते हैं कि जो मेरे लिए सब कुछ छोड़ देता है,

तान्मृत्योरतिपारये – उसे मैं अपने कंधे पर उठाकर मृत्यु के पार ले जाता हूँ, **अतिपारये** – पार ही नहीं अतिपार अर्थात् बड़े लाड़–प्यार से

ले जाता हूँ । अति शब्द लगा दिया, पार होना तो छोटी चीज है । मैं कौन हूँ ?

मद्भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निः मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२५/४२)

मेरे भय से वायु चल रही है, मेरे भय से सूर्य तपता है, मेरे भय से इन्द्र वर्षा करता है, अग्नि जलाती है तथा मेरे ही भय से काल दौड़ रहा है । काल क्या चीज है ? ये सब तो मेरे नौकर–चाकर हैं ।

एतावान् एव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२५/४४)

संसार में मनुष्य के लिए सबसे बड़ा कल्याण का उपाय यही है कि तीव्र भक्तियोग के द्वारा मन को स्थिर भाव से मुझमें लगाए ।

मैं ही आत्मा हूँ । 'आत्मा' माने क्या होता है

'अतति व्याप्नोति इति आत्मा'

जो सबको व्याप्त किये बैठे हैं, सर्वव्यापक प्रभु हैं, उसी का नाम है आत्मा । तब फिर काल आदि तो उसके भीतर आ गए ।

अध्याय – २६

आगे श्रीकपिल भगवान् बोले – सृष्टि के पहले निर्गुण पुरुष था, उसके पास प्रकृति जो सूक्ष्म देवी है, गुणमयी है, अपने आप गयी ।

अब यहाँ एक समझने की बात है कि यह लीला देखने में सांसारिक लगती है जैसे पुरुष के पास कोई स्त्री मोहित होकर जाती है । प्रकृति दैव इच्छा से पुरुष के पास गयी, यहाँ तक तो ईश्वर का

वर्णन है, इसके आगे जीव का वर्णन है; दोनों को एक में मिलाकर वर्णन नहीं करना चाहिए । ऐसा सब महापुरुषों ने लिखा है । श्लोक '३/२६/३' तक तो ईश्वर का वर्णन है, उसके बाद जीव का वर्णन है । श्लोक '३/२६/४' में सर्वव्यापक पुरुष के पास प्रकृति पहुँची – **'यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ।'** उस सर्वव्यापक पुरुष ने उस प्रकृति को लीला से ग्रहण किया, अब यहाँ से कोटि अलग हो जाती है । श्लोक ३/२६/५ में – **'विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ॥**''स' अर्थात् वह जीव उस प्रकृति को देखकर मोहित हो गया । ईश्वर तो प्रकृति के साथ खेल कर रहा था, वह मोहित नहीं हुआ किन्तु जीव मोहित हो गया ।

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् ।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२६/६)

'पराभिध्यान' का अर्थ है – दूसरे की वस्तु को अपना स्वरूप समझ लेना, दूसरे की वस्तु को अपनी वस्तु मान लेना यानि जो प्रकृति है, शरीर है, यह अपना नहीं है, परायी वस्तु है और इसको अपना स्वरूप समझ लेना पराभिध्यान है । जैसे तुम कहीं जा रहे हो, उसी समय एक आदमी बड़ा भारी सन्दूक लाया तथा तुम्हारे सिर पर रख गया और बोला कि मैं अभी आता हूँ, तुम मेरे सन्दूक को सँभालकर रखना । ऐसा कहकर वह चला गया और लौटकर नहीं आया । अब तुम सोचने लगे कि यह आदमी नहीं आया तो अच्छा है, अब यह सन्दूक और इसका सारा माल मेरा है, ऐसा सोचकर तुम सन्दूक उठाकर अपने घर को चल दिए लेकिन रास्ते में पुलिस आ गयी और तुमको पकड़ लिया, क्योंकि उस सन्दूक में कटी हुई लाश थी, जो आदमी सन्दूक दे गया, वह डाकू था । अब पुलिस ने तुमको गिरफ्तार

कर लिया और जेल में बंद कर दिया तथा डंडे भी लगाए । दूसरे की वस्तु को अपनी समझ लेने से इस तरह तुम दण्डित हुए । इसी प्रकार यह प्रकृति है, इसके शरीर को हम लोगों ने झूठे ही अपना समझ लिया और इसीलिए डंडा खा रहे हैं, जूता खा रहे हैं, कष्ट भोग रहे हैं किन्तु पराभिध्यान नहीं छोड़ रहे हैं । 'पराभिध्यान' अर्थात् प्रकृति के अभ्यास से ही हमें यह मोह हो जाता है कि हम करने वाले हैं, हम देखने वाले हैं । हर समय चौबीस घंटे हम लोग यही अनुभव कर रहे हैं । इसीलिए हमें बन्धन हो गया है ।

तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् ।
भवति अकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२६/७)

'ईश' को भी बन्धन हो गया है । 'ईश' का अर्थ यहाँ ईश्वर नहीं लगाना चाहिये, क्यों ? महापुरुष लोग लिखते हैं कि जैसे – राजा का सिपाही भी राजा बोला जाता है, तुम्हारे नाम कोई वारन्ट आ जाए तो कहा जाएगा कि राजाज्ञा हुई है, इसीलिए यहाँ इस श्लोक के अनुसार जीव का बन्धन हुआ है, ईश्वर का बन्धन नहीं हुआ है । जो जीव है, उसको बन्धन हो जाता है ।

देवहूतिजी ने कहा – हे पुरुषोत्तम ! आप मुझे प्रकृति और पुरुष के अलग-अलग लक्षण बताइये ।

भगवान् बोले – प्रधान को ही प्रकृति कहते हैं, वह भी वस्तुतः निर्विशेष है जैसे भगवान् निर्विशेष हैं, सविशेष हैं, वैसे ही भगवान् की शक्ति होने के कारण प्रकृति को भी समझ लो । पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रा, चार अन्तःकरण और दस इन्द्रिय – ये चौबीस इसके गण हैं । काल को पच्चीसवाँ तत्त्व बताया गया है । जब प्रकृति क्षुभित होकर भगवान् के पास गयी, कामवती होकर गयी तो भगवान् ने उस प्रकृति रूप योनि में अपना वीर्य स्थापित किया ।

दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२६/१९)

अब इसे ध्यान से समझो कि प्रकृति क्षुब्ध होकर भगवान् के पास गयी और भगवान् ने उसमें अपना वीर्य आधान किया, ये क्या चक्कर है ? यह तो बड़ी साधारण सी बात लग रही है । साधारण सी बात का रहस्य समझो । आचार्य लोग लिखते हैं –

प्रकृतेः क्षोभकं रूपं दैवं नारायणाभिधम् ।
प्रकृतौ महतः सृष्टा परमः पुरुषोत्तम इति ॥

(श्रीविजयध्वजतीर्थजी)

प्रकृति में जो क्षोभक तत्त्व दैव है, वह भी नारायण ही है और जो भगवान् परम पुरुषोत्तम हैं, वही महत्ततत्व की रचना करते हैं । प्रश्न है कि नारायण की प्रेरणा से प्रकृति में क्षोभ क्यों हुआ, क्या प्रकृति को साधारण स्त्री की तरह भोग की इच्छा हो गयी ? नहीं, इसका कारण लौकिक मत समझो जैसे साधारण स्त्री कामवती होकर पुरुष के पास जाती है । आचार्यों ने लिखा है –

नारायणस्य प्रेरणया सिसृक्षुत्वविशेषधर्मवत्याः प्रधानाभिमानिन्या लक्ष्म्या अभिव्यक्तायां नाम्ना श्रियां प्रागुक्तविशेषवत्यां स्वभार्यायां रेतोलक्षणं वीर्यमधादिति ।

(श्रीविजयध्वजतीर्थजी)

समस्त अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की रचना करनी है तो वह कैसे होगी ? प्रकृति और पुरुष दोनों मिलकर उसे करेंगे । अतएव जब अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की रचना करनी है, इसीलिए प्रकृति के अन्दर क्षोभ उत्पन्न किया गया । हम लोग भी यदि धर्म से चलें तो विषय

भोग की दृष्टि से भार्या का संग नहीं किया जाता है । यह तो हम लोगों के चित्त की गन्दगी है । वही परम्परा नीचे तक चलाई गयी है । जो इन्द्रियाँ बहिर्मुख होती हैं, वे कृष्ण से अलग कर देती हैं । विवाह का मतलब यह नहीं है कि अब प्रमाण पत्र मिल गया है कि दिन–रात भोग में डूबे रहें । महाशक्ति लक्ष्मीजी नारायण के पास गयीं तो उन्होंने वीर्य का आधान किया । वीर्य क्या है ? श्रीधर स्वामी कहते हैं – **'वीर्यं चिच्छक्तिम्'** वीर्य है चिच्छक्ति या सृष्टि- सामर्थ्य अथवा श्रीसम्प्रदाय के एक आचार्य हैं श्रीराघवाचार्यजी, वे लिखते हैं – **'वीर्यं महदादिप्रपञ्चसृष्टिसामर्थ्यं चेतनसमष्टिम्'** चेतन समष्टि ही परम पुरुष परमात्मा का वीर्य है ।

विश्वनाथ चक्रवर्तीजी महाराज लिखते हैं –

'वीर्य्यं जीवशक्त्तयाख्यं चैतन्यम्'

जीवशक्ति, चैतन्यशक्ति ही भगवान् का वीर्य है, तभी तो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की रचना होगी । यह कोई साधारण खेल थोड़े ही है । वीर्य का आधान किये जाने से 'महत्तत्व' उत्पन्न हुआ, उसी को चित्त कहते हैं, वासुदेव कहते हैं । अब चित्त क्या है, इसे समझो । चित्त का स्वरूप कैसा है ? हमारे भीतर जो चित्त है, वह वासुदेव है । चित्त का स्वरूप यह है कि वह बड़ा कोमल है, अपने सहज स्वरूप में अत्यन्त स्वच्छ है । जब चित्त के स्वरूप को समझोगे तभी अपने आपको समझ पाओगे । जिसका चित्त स्वच्छ हो जाता है, उसका चित्त फ़ैल जाता है, विशाल हो जाता है ।

अयं निजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम् ।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम ॥

छोटे चित्त वाले मेरा–तेरा में ही मरते रहते हैं और जिनका चित्त विशाल हो गया है, उनके लिए सारा विश्व ही परिवार के समान है । जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो फैलकर अति विशाल हो जाता है जैसे भक्तों को कोई गाली दे तो वे यही भाव रखते हैं कि इसके शरीर में भी तो कृष्ण बैठे हैं । उनका चित्त इतना विशाल हो जाता है कि वे हर समय प्रभु को ही देखते हैं और जो छोटे चित्त का, स्थूल देह दृष्टि वाला होता है, उसको कुछ कह दो तो वह क्रोधित हो जाएगा, कहेगा कि अरे, मुझे ऐसे क्यों कह दिया ?

चित्त का स्वरूप कपिल भगवान् बताते हैं –

स्वच्छत्वं अविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः ।
वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिः परा ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२६/२२)

चित्त स्वच्छ है, अविकारी है, शान्त है । जल के हिसाब से चित्त की वृत्ति बतायी गयी है जैसे जल अपनी स्वाभाविक अवस्था में अत्यन्त स्वच्छ होता है, बहता रहता है, उसी प्रकार चित्त भी अपनी स्वच्छ वृत्ति से प्रवाहित होता है । भक्ति भाव, करुणा आदि चित्त को द्रवीभूत करते हैं । यही बात मधुसूदन सरस्वतीजी ने लिखी है कि भक्ति क्या करती है, जैसे लाख की चूडी बनाई जाती है तो पहले लाख को पिघलाया जाता है, पिघलते समय उसमें रंग डाला जाता है और वह रंग पक्का हो जाता है फिर वह छूटता नहीं है । उसी प्रकार भक्ति भी चित्त को पिघलाती है, द्रवीभूत करती है और फिर पिघला हुआ चित्त कृष्ण रंग में ऐसा रंग जाता है कि फिर प्रेम छूटता नहीं है । इसीलिए कपिल भगवान् ने कहा कि चित्त जल की वृत्तिरूप से प्रवाहित होता है । स्वरूपतः चित्त शान्त है । हमलोगों का चित्त सिकुड़कर विकृत हो गया है, कठोर हो गया है और इसीलिए अशान्त

हो गया है । जितने भी विकार हैं, ये हमारे विकृत चित्त में आ गए हैं । इसीलिए योगसूत्र में चित्त का एक ही फल बताया गया है – **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** योग केवल चित्त का शोधन करता है, ताकि चित्त अपने स्वरूप में आ जाए और जीव मुक्त हो जाए । भगवान् कपिल ने भी आरम्भ में अपनी माता देवहूति से कहा था – **चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।** चित्त ही बन्धन करता है और चित्त ही मुक्ति करता है । अपनी माता को यह सब बताने के बाद कपिल भगवान् ने अहंकार की उत्पत्ति बतायी । यह तीन प्रकार का होता है । चित्त के अधिष्ठाता वासुदेव हैं, महत्तत्व को प्रकाशयुक्त बताया गया है, हिरण्यमय बताया गया । महत्तत्व को प्रकाशयुक्त बताया; क्यों बताया गया है, इसे समझो । इस सम्बन्ध में महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी बहुत अच्छी बात लिखते हैं –

तस्येन्द्रियाणि भगवत इवानन्दमयानि रेतस्तु सच्चिदंशः चिदंश एवेत्येके सदंशस्तु प्रकृतेः सकाशात् सम्बध्यते ततः सा प्रकृति महत्तत्त्वमसूत तस्य शरीरं हिरण्मयं यथासूर्यान्तर्गतस्य नारायणस्य आनन्दतनोः ऐक्ये हिरण्यरूपता भवति ॥

(श्रीमद्वल्लभाचार्यकृत सुबोधिनी)

भगवान् के वीर्य से उत्पन्न होने के कारण महत्तत्व वस्तुतः प्रकाशबहुल है, साधारण नहीं है, इसीलिए महत्तत्त्व का उपास्य कृष्ण को माना गया । अहंकार के उपास्य संकर्षण माने गए हैं । इन्द्रियों के अधीश्वर अनिरुद्धजी हैं, जिनको मन का उपास्य समझो । उसके बाद तैजस अहंकार से बुद्धि तत्व पैदा हुआ । इसके उपास्य 'प्रद्युम्न' माने गये हैं । वृत्तियों के भेद से बुद्धि के पाँच लक्षण हैं । इन्द्रियाँ भी तैजस अहंकार का कार्य हैं । तामस अहंकार से तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं । अब यहाँ पर फिर इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी गयी, ऐसा क्यों? अब यहाँ पर

विरोध आ जाता है । इन श्लोकों में एक जगह '३/२६/३१' में इन्द्रियों को तैजस अहंकार से उत्पन्न बताया गया और फिर '३/२६/३२' में तामस अहंकार से उत्पन्न बताया गया; इसमें विरोध नहीं है । तैजस अहंकार से इन्द्रियाँ उत्पन्न अवश्य हुई हैं किन्तु जब इनका सम्बन्ध पुन: विषय से हुआ है तब फिर से उनकी उत्पत्ति तामस अहंकार से गिना दी गयी; यहाँ विरोध नहीं है । पैदा होकर जब विषयों से सम्बन्ध होता है तो वह भी एक प्रकार का जन्म माना गया है । शब्दतन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति हुई । यहाँ पर पाँचों तत्वों के लक्षण बताये गए हैं । इसके बाद कपिल भगवान् ने सभी इन्द्रियों के लक्षण बताये । उसके बाद ब्रह्माण्ड का निरूपण किया । इन सबकी समष्टि ही ब्रह्माण्ड है । ब्रह्माण्ड में भगवान् प्रवेश कर गए । यहाँ क्रम से तीन–तीन वस्तुओं की उत्पत्ति बतायी गयी है । एक तो छिद्र जैसे आँख रूपी छिद्र में इन्द्रिय रह रही है और उसका देवता रह रहा है । ये तीन चीजें उत्पन्न हुईं । अब ये सब देवता मिलकर उठाने लगे फिर भी विराट पुरुष उठा नहीं । सब देवता उसे उठाने लग पड़े । ब्रह्माजी भी लगे, रुद्रजी भी लगे, भगवान् विष्णु चरणों में घुसकर लगे, जो जिस जगह का देवता था, वहाँ घुसकर विराट पुरुष को उठाने में लगा किन्तु वह नहीं उठा; तब अन्त में चित्त के अधिष्ठता, क्षेत्रज्ञ 'भगवान्' वासुदेव ने चित्त के सहित हृदय में प्रवेश किया तो विराट पुरुष खड़ा हो गया अर्थात् महत्त्व यहाँ पर चित्त का ही है, इसीलिए योगशास्त्र में सबसे पहले चित्त का निरोध बताया गया है । इस कथा का भाव ये है कि केवल हम लोग जैसे भजन करते हैं तो भजन के साथ–साथ अपने चित्त को भी झाँको । केवल ऐसा नहीं कि माला से जप कर लिया और सेवा कर ली । अपने चित्त को झाँको कि हमारा चित्त कैसा है ? सद्गुरु लोग यही सिखाते हैं । यह देखो कि

तुम्हारे चित्त की वृत्ति कहाँ जा रही है ? चित्त स्वरूप में स्थित हो जाएगा तो स्वयं उत्थित हो जाओगे और चित्त स्वरूप में स्थित नहीं है तो हजार बार अन्य इन्द्रियों को हाँथ-पाँव को हिलाते रहो तो जैसे विराट पुरुष सोता रहा, वैसे तुम भी सोते रहोगे, इस मोहनिद्रा से नहीं जाग सकोगे । इसलिए जो सच्चा भजनानन्दी होता है, वह अपने चित्त को झाँकता है तब जाकर वह उठता है ।

अध्याय – २७

भगवान् कपिल बोले कि जो पुरुष है, वह प्रकृति में स्थित होने पर भी उससे लिप्त नहीं है, केवल अहंकार से मोहित होकर इसने अपने को कर्ता मान लिया है । चित्त शुद्ध कैसे होगा, इसका साधन बताया है कि भक्ति करो, विरक्ति करो, मौन रहो, शान्त रहो, सन्तुष्ट रहो । इन सब साधनों को करो । जैसे जल में सूर्य की परछाईं पड़ती है और जल उस परछाईं को किसी दीवार पर फेंकता है तो ऐसा मासूम पड़ेगा कि सूर्य दीवार पर आ गया है, वैसे ही परमात्मा या ब्रह्म है, उसका प्रतिबिम्ब अहंकार पर पड़ा और अहंकार से भासित होकर फिर इन्द्रियों पर प्रतिबिम्ब पड़ा तो एक प्रतिबिम्ब को देखकर दूसरे मूल प्रतिबिम्ब का अनुमान लगाया जाता है एवं दूसरे प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब का अनुमान लगाया गया । इस प्रकार से ईश्वर का अनुमान लगाया जाता है । ये इन्द्रियाँ कैसे काम कर रही हैं, चैतन्य कहाँ से आया, ये सब भगवान् की ही तो बात है । जैसे केनोपषद् में लिखा है कि कौन देखता है, कौन बोलता है ? आँखों में देखने वाला कौन है ? ध्यान से यदि विचार करो तो पता पड़ेगा कि आँखों के भीतर देखने वाला परमात्मा है । बिजली का प्रकाश कहाँ से आता है, मकान में बिजली का बल्ब जलता है तो उसमें प्रकाश कहाँ से आता है, बिजली कहाँ से आ रही है, इसका विचार करते जाओ तो पता पड़ेगा कि जहाँ

बिजली बनाई जाती है, जल से हाइड्रोइलेक्ट्रिक पद्धति के द्वारा बिजली बनती है और वहीं से उसकी धारा सब तरफ प्रवाहित होती है तब उसी से घर–मकान में बल्ब आदि में प्रकाश आता है । वैसे ही परमात्मा ही संसार की सभी वस्तुओं का प्रकाशक है । इस प्रसंग को गोस्वामी तुलसीदासजी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से लिखा है ।

विषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तें एक सचेता ॥

अब जैसे तुमने लड्डू खाया और मन में सोचने लगे कि लड्डू बड़ा मीठा है लेकिन वास्तव में लड्डू मीठा नहीं है, इसी धोखे में ही तो हम लोग मारे जा रहे हैं, इसी प्रकार स्त्री मीठी नहीं है । संसार के जितने भी विषय हैं, इनमें मिठास श्रीकृष्ण की है । विषय में प्रकाश कहाँ से आया, हमारी इन्द्रिय ने लड्डू खाया तभी तो मिठास का अनुभव हुआ लड्डू में, अतः इन्द्रियों का ही प्रकाश लड्डू में गया । तुम्हे लड्डू अच्छा लगता है और दूसरे व्यक्ति को लड्डू अच्छा नहीं लगता, कढ़ी अच्छी लगती है क्योंकि तुम्हारी इन्द्रिय दूसरे ढंग की है और उन व्यक्ति की इन्द्रिय दूसरे ढंग की है । किसी को खट्टा अच्छा लगता है, किसी को नमकीन अच्छा लगता है लेकिन विषय में प्रकाश कहाँ से आया, वह इन्द्रिय से आया । मिठास हमारी जीभ में ही है, इसे विषय करण कहते हैं और इन्द्रिय में प्रकाश कहाँ से आया तो इन्द्रियों का प्रकाशक है देवता । अगर किसी की इन्द्रिय का देवता प्रकाश न करे तो इन्द्रिय काम नहीं करेगी । कितने ही लोगों की नाक होती है किन्तु उन्हें सुगन्ध – दुर्गन्ध का अनुभव नहीं होता क्योंकि नाक के भीतर की इन्द्रिय मर गयी है । किसी व्यक्ति का कान ऊपर से ठीक–ठाक है लेकिन उसकी सुनने की शक्ति समाप्त हो गयी है, कान के छिद्र हैं परन्तु उसे सुनाई नहीं देता क्योंकि कान की इन्द्रिय का देवता रूठ गया है । देवता के पास प्रकाश कहाँ से आया, जीवात्मा के पास से

आया और जीवात्मा के पास प्रकाश कहाँ से आया, ईश्वर के पास से आया । इसीलिए गोस्वामी जी ने कहा –

विषय करन सुर जीव समेता । सकल एक तें एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ग्यान गुन धामू ॥

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड - ११७)

उसी बात को कपिल भगवान् ने श्लोक '३/२७/१२' में कहा है कि प्रतिबिम्ब के प्रतिबिम्ब को देखकर मूल प्रतिबिम्ब को समझो फिर उससे बिम्ब अर्थात् स्थानीय ब्रह्म को समझो । अतः सब जगह जो मिठास है, रस है, सुख है, वह ब्रह्म का ही है । यह धोखा है जो हमलोग समझते हैं कि लड्डू मीठा है, स्त्री मीठी है । सब जगह मिठास ब्रह्म से आ रही है ।

अब देवहूतिजी ने पूछा – प्रकृति और पुरुष एक दूसरे को नहीं छोड़ रहे हैं तो मुक्ति कैसे होगी ? जैसे हम भजन करके मुक्ति प्राप्त कर लें किन्तु प्रकृति तो पास में ही बैठी है तो फिर मुक्ति कहाँ से होगी ? पानी में रहकर कोई कब तक नहीं भीगेगा । देवहूतिजी ने कहा कि महाराज ! इस संसार में मुक्ति तो हो ही नहीं सकती । मान लो, थोड़ी देर के लिए हम बन्धन से छूटकर आ गए लेकिन बाद में प्रकृति फिर लिपट जायेगी क्योंकि प्रकृति तो पास में ही बैठी है, इसलिए मुक्ति नहीं हो सकती है । भगवान् ने कहा कि आप ठीक प्रश्न पूछ रही हैं परन्तु बात यह है कि प्रकृति अथवा माया बन्धन नहीं है और न ही पुरुष बन्धन है । आचार्य लोग लिखते हैं कि प्रकृति से सम्बन्ध होना बन्धन नहीं है, प्रकृति पास में है चाहे लड्डू है, पेड़ा है, चाहे स्त्री है, उससे हमारा सम्बन्ध है तो वह सम्बन्ध बन्धन नहीं है । हम लोग ऐसा समझते हैं जैसे कोई संत है, वह लड्डू खा रहा है, लड्डू उसकी जीभ पर

गया तो वह लड्डू में बँध गया क्योंकि प्रकृति से सम्बन्ध हो गया किन्तु आचार्य श्रीधरस्वामीजी लिखते हैं –

"न हि प्रकृतिसम्बन्धमात्रं बन्धहेतुः
किन्तु गुणबुद्ध्या तदासक्तिर्बन्धः ।"

(श्रीधरस्वामीजी)

स्थूल बुद्धि के लोग समझते हैं कि प्रकृति से सम्बन्ध हो गया तो बन्धन हो गया लेकिन सम्बन्ध बन्धन नहीं है परन्तु गुण बुद्धि से जो विषय में हमारी आसक्ति हो जाती है, वह बन्धन है । प्रकृति का सम्बन्ध बन्धन नहीं है । प्रकृति का सम्बन्ध बना रहे, जैसे – कमल का पत्ता जल में रहकर भी जल से अलग रहता है, जल में है किन्तु जल से अलग है; वैसे ही जब गुण बुद्धि से हमारी आसक्ति हो जाती है तब बन्धन है । एक आसक्ति होती है भगवद्-बुद्धि से, वह तो मुक्ति का मार्ग है किन्तु गुणबुद्धि से जो आसक्ति होती है, वह बन्धन है । इसलिए जो भी जीव भजन कर रहा है, जब वह आसक्तिरहित हो जाएगा तब मुक्त हो जाएगा, इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है । एक बात और बहुत अच्छी कही गयी है कि जब मनुष्य आसक्ति तोड़कर जाग जाता है तब संसार में रहते हुए भी मुक्त हो जाता है । कब जागता है वह, जब उसे वैराग्य हो जाता है । संसार में लोग वैराग्य को बुरा समझते हैं । किसी घर के बालक के मन में वैराग्य उदय हो जाए तो उसके घर वाले यही समझते हैं कि इसके कर्म फूट गए, भाग्य नष्ट हो गया । किसी बालिका के मन में भजन करने की प्रवृत्ति हो जाए तो लोग कहते हैं कि इसका तो जीवन ही नष्ट हो गया । किन्तु भगवान् कपिल ने कहा –

यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२७/२७)

सौ, दो सौ, पाँच सौ, हजार, लाख, करोड़ों वर्षों के जब पुण्य इकट्ठा होकर आते हैं तब जीव को वैराग्य की प्राप्ति होती है । वैराग्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जैसा कि हम लोग समझते हैं कि कर्म फूट गया । वैराग्य बहुत बड़ी वस्तु है । करोड़ों–अरबों वर्षों से जो माया का बन्धन चला आ रहा है, उससे जब जीव छूटने के लिए चलता है तो लोग समझते हैं कि इसका कर्म फूट गया है, भाग्यहीन हो गया है, अब यह भिक्षा माँगकर खायेगा । ऐसा नहीं है । वह जीव तो ऐसा धन प्राप्त कर रहा है, जो करोड़ों सेठ नहीं पा सकते । जितने बड़े-बड़े सेठ हैं, इनको अरबों वर्ष लग जायेंगे तब शायद इन्हें वैराग्य मिले, नहीं तो पैसा गिनने में ही इनके कई जन्म बीत जायेंगे । पैसा समेटते–समेटते ही ये मर जायेंगे और फिर छोड़कर चले जायेंगे फिर भी ऐसे ही लोग दुनिया में बड़े आदमी बोले जाते हैं । जिस आदमी के पास जितना पैसा बँधा पड़ा है, जितनी अधिक वस्तुयें इकट्ठा हैं, वही आदमी दुनिया में ज्यादा बड़ा माना जाता है । दुनिया का पैमाना अलग है । भगवान् कपिल कहते हैं कि जब अनेक जन्मों के पुण्य इकट्ठा होते हैं तब उस मनुष्य को ब्रह्मलोक तक के भोगों से वैराग्य हो जाता है । ये है वैराग्य, ये नहीं कि थोड़ी देर के लिए लंगोटी लगा ली और भस्म लगा लिया तो हो गया वैराग्य, ये वैराग्य नहीं है । वस्तुतः मुझे धन नहीं चाहिए, कीर्ति नहीं चाहिए, किसी प्रकार का भोग नहीं चाहिए, स्त्री आदि नहीं चाहिए, ये जो हृदय में इच्छा है कि इन वस्तुओं से राग हट जाए, ये है वैराग्य । इस प्रकार का जो वैराग्यवान भक्त है, वह उस वस्तु को प्राप्त कर लेता है, जहाँ मृत्यु का हास्य नहीं है ।

यदा न योगोपचितासु चेतो
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग ।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्याद्
आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२७/३०)

मृत्यु हास्य का मतलब मृत्यु अट्टहास करती है । मृत्यु देवता अट्टहास करते हैं । हम लोग जब कोई सांसारिक वस्तु इकट्ठा करते हैं तो मृत्यु देवता हँसते हैं कि देखो, यह मेरा भोजन है, मेरी दाढ़ के नीचे आकर मरने वाला है फिर भी जोड़–जोड़कर वस्तुओं का, धन का संग्रह कर रहा है; किन्तु विरक्त जिस वस्तु को प्राप्त कर लेता है, वहाँ मृत्यु का हास्य नहीं है ।

अध्याय – २८

कपिल भगवान् कहते हैं – अब मैं तुम्हें योग का लक्षण बताता हूँ ।भगवान् ने बहुत से साधन बताये । उन्होंने बताया कि सबसे पहले अपने स्वधर्म का पालन करो, ग्राम्य धर्मों से हटो और परिमित (थोड़ा) भोजन करो ।

साधन का और भोजन का बड़ा सम्बन्ध है । जो व्यक्ति अधिक भोजन करता है, वह कभी साधन नहीं कर सकता । इसे निश्चय समझ लो । शास्त्र में लिखा है कि कितना खाना चाहिए । चार रोटी की भूख है तो दो रोटी खाओ, एक रोटी की जगह पानी पीने के लिए छोड़ दो और एक रोटी की जगह छोड़ दो हवा के लिए ताकि प्राण वायु अच्छी तरह से आये–जाये ।

द्वौ खादो पूरयेद अन्नैः तोयनैकं प्रपूरयेत् ।
मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थं अवशेषेत् ॥

इस तरह से यदि भोजन करोगे तो तुम कभी बीमार नहीं पड़ सकते । तुम्हारी बुद्धि शुद्ध सात्विक रहेगी । जितने भी रोग हैं चाहे शरीर के अथवा मन के, ये अधिक भोजन करने से उत्पन्न होते हैं । जो साधक है, वह सदा नियमित भोजन करेगा । इसके साथ ही सर्वदा भगवान् की लीलाओं का श्रद्धा के साथ ध्यान करो । ऐसा नहीं कि इतने ऊँचे महात्मा बन जाओ कि मीराजी की आलोचना करने लग जाओ और इस तरह छुरी लेकर अपना ही गला काटने की तैयारी करने लगो । इतने ऊँचे भी मत बन जाना । भगवान् लीला करते हैं अपने भक्तों के लिए, यदि कोई ज्ञान के मद में आकर उसकी आलोचना करे तो समझो कि वह तो विनाश के रास्ते में जा रहा है । जब साधन करने बैठो तो प्राणायाम करो, प्राणायाम करते हुए ध्यान करो । यहाँ प्राणायाम क्यों बताया गया है, इसे समझ लो । भक्ति अनेक प्रकार की होती है जैसे विशुद्धाभक्ति, योगमिश्राभक्ति, ज्ञानमिश्राभक्ति आदि । भक्ति के अनेक भेद हैं । आचार्यों ने लिखा है कि ब्रज में अनन्य विशुद्धाभक्ति चल रही है और यहाँ पर आकर उनका मत अलग हो जाता है । पुराणों के जो आचार्य हैं, वे इन सब साधनों को भी ग्रहण करके चलते हैं जैसे योग, ज्ञान आदि । वे इन्हें क्यों ग्रहण करते हैं, इसलिए ग्रहण करते हैं कि एक कहावत है कि मन हमेशा एक सी चीज में नहीं लगता है, यह एक क्रियात्मक (practical) अनुभव की चीज है कि मन हमेशा परिवर्तन चाहता है । यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है, इसे कोई काट नहीं सकता । मन सदा परिवर्तन चाहता है, इसलिए आचार्यों ने अनेक साधनों को जीव के लाभ की दृष्टि से अपनाया क्योंकि प्रारम्भ के साधक का मन केवल लीला ध्यान में नहीं लगेगा । यह बड़ा कठिन है, सतत् लीला चिन्तन खेल नहीं है । यह तो बड़ी सिद्धावस्था की बात है । आचार्यों ने

इसीलिए अनेक साधनों को अपनाया क्योंकि अनेक साधनों के प्रयोग से जल्दी से जल्दी जीव को लाभ हो । उनका लक्ष्य कोई नुक्सान करने का नहीं है । रसिक महापुरुषों ने अपनी स्थिति के अनुसार अनन्य विशुद्धा भक्ति का उपदेश दिया, वह भी ठीक है । किन्तु इन पुराणों के आचार्यों का भी दृष्टिकोण समझना चाहिए, इनका लक्ष्य यह है कि जीव को जल्दी से जल्दी लाभ हो । दोनों के दृष्टिकोण सही हैं । जिसको जिसमें अनुकूलता पड़े, वह उसे करे । किसी की भी बात को गलत नहीं कहा जा सकता । अब इनमें ऊँचा कौन है क्योंकि विशुद्धा भक्ति वाले बहुत से लोग अपने को ऊँचा बताते हैं और शास्त्र पढ़ने वाले अपने को ऊँचा बताते हैं । इनमें बड़ा विवाद होता है । इनमें ऊँचा कौन है तो इसका एक नमूना समझो । कहीं पर इन्टरव्यू हो रहा था, कोई राजा का बेटा किसी इन्टरव्यू में गया । इन्टरव्यू वाले ने पूछा – 'तुम कौन हो ?' राजपुत्र बोला – 'मैं एक राजा का बेटा हूँ ।' इन्टरव्यू वाले ने कहा – 'मैं यह नहीं पूछ रहा हूँ कि तुम्हारे पिता कौन हैं, मैं पूछ रहा हूँ कि तुम क्या हो ?'

इसलिए यदि कोई कहे कि हम इसलिए ऊँचे हैं क्योंकि ऊँचे घर के हैं या ऊँचे अनन्य हैं, हम अमुक रसिकाचार्य की परम्परा के हैं तो यह बात अधूरी है । तुम क्या हो, तुम्हारे मन की स्थिति क्या है ? हम ऊँचे घर के हैं, ऊँचे सम्प्रदाय के हैं, ऐसा कहकर बहिर्मुखता में डोल रहे हैं, यह पोल है, खोखलापन है, इससे कल्याण नहीं होगा, यह केवल अन्धता है ।

बहुत से लोग जो अपने को रसिक बनते हैं, उनके बारे में हरिदासी सम्प्रदाय के आचार्य श्रीबिहारिन देवजी तथा श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य श्रीसेवकजी आदि महापुरुषों ने लिखा भी है, जैसे –

कांचे धर्मिन के सुनो धर्म ।
धर्मी धर्म मर्म न जानत ॥

तुम्हारी स्वयं की स्थिति क्या है, तुम रसिक बन गए हो किन्तु हो काँचे धर्मी (धर्म में कच्चे), इससे कल्याण नहीं होगा । इसलिए महापुरुषों का लक्ष्य है कि जीव किसी तरह जल्दी से जल्दी प्रभु में लगे, इसके लिए शास्त्रों में अनेक साधनों को बताया गया है; उसको आँख मूदकर एकदम से काटना नहीं चाहिए । यह सब इसीलिए विस्तार से कहा गया है क्योंकि बहुत से लोग व्यर्थ की आलोचना किया करते हैं कि अरे ! भागवत में तो बहुत-सी बातें लिखी हुई हैं । अब क्यों लिखी हैं ? कल्याण के लिए तो ही लिखी हैं । मान लो, तुम बड़े ऊँचे अधिकारी हो, लीला में तुम्हारा मन लग रहा है, दिन-रात भगवद्-रस (भगवान् की लीलाओं) में तुम डूब गए हो तो तुम वास्तव में ऊँचे अधिकारी हो परन्तु जो साधारण जीव हैं, उनके लिए तो भागवत के सिद्धान्त लाभकारी हैं । आजकल पहले ही पहले लोग कहने लग जाते हैं कि हम तो ऐसे रस में आ गए हैं कि नवधा भक्ति से ऊपर उठ गए हैं । भागवत कथा को तो हमने वमन (उल्टी) कर दिया । अपनी स्थिति को बिना विचारे लोग ऐसा कह देते हैं । इसलिए भागवत के इस प्रसंग में कपिल भगवान् ने जो प्राणायाम की बात कही है, वह बहुत कल्याणकारी है । मेरा तो स्वयं का अनुभव है कि किसी के मन में कितना भी बड़ा दोष है, काम विकार आदि हैं, उस समय तुम साँस खींचकर बैठ जाओ, प्राणायाम करो । थोड़ी देर तक प्राणायाम करोगे तो तुमको मृत्यु दिखाई देने लगेगी और सब विकार गायब हो जायेंगे; यह तो मैंने स्वयं अनुभव किया है । जो साधन नहीं करेगा, उसके लिए यह सब कठिन है किन्तु इन सब साधनों को जिसने

किया है, वह समझ जाएगा कि हाँ, ये सब चीजें लाभ करती हैं । अब जैसे प्राणायाम के बारे में आचार्यों ने टीका में लिखा है –

"यथा शकुनिस्सूत्रेण प्रतिबद्धो दिशं दिशम् पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवं मनोऽपि ।"
"प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनं हि सौम्य ! मन ।"

(श्रीवीरराघवाचार्यजी)

छान्दोग्य उपनिषद् का यह मन्त्र आचार्यों ने प्रमाण में लिखा है । इसका अर्थ है – जैसे एक चिड़िया बुलबुल होती है । बुलबुल पालने वाले एक T(टी) के आकार का अड्डा रखते हैं, उस पर एक डोर से बाँधकर बुलबुल को रखते हैं, कभी बुलबुल को उँगली पर बिठाते हैं, कभी अड्डे पर बिठाते हैं; वह बुलबुल नामक चिड़िया जो पहले बहुत उड़ने वाली थी, अब उस डोर के कारण उसकी गति रुक गयी, अब वह ज्यादा दूर नहीं जा सकती है, अड्डे से हटेगी तो उँगली पर बैठ जायेगी; वैसे ही वायु एक प्रकार की डोर है, वायु में ऐसी शक्ति है कि जो वायु को रोककर प्राणायाम करता है तो मन रूपी चिड़िया ज्यादा दूर तक नहीं जा पाती है, इसके पंख कट जाते हैं और बहुत जल्दी वश में हो जाती है । इस रहस्य को मन्त्रों में ऋषियों ने बताया है, जैसे – **'यथा शकुनिस्सूत्रेण प्रतिबद्धः'** वैसे ही **'प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः'** हे सौम्य ! हे बेटा !! ये जो मन है, यह प्राण बन्धन है यानि प्राणवायु में बँधा हुआ है, जिसने प्राणवायु को रोक लिया, उसका मन बहुत जल्दी रुक जाएगा; साधना करने के लिए यह उपाय बहुत अनुकूल है । लोहार 'वायु और अग्नि' के द्वारा लोहा को शुद्ध कर लेता है । 'लोहा, चाँदी, सोना' इसी प्रकार शुद्ध किये जाते हैं; वैसे ही ध्यान करते समय मनुष्य यदि अपनी प्राणवायु को रोके तो इससे मन शुद्ध हो जाता है, यह कोई खराब बात नहीं है । जब भी तुम ध्यान करो तब

शुरू में तो कुछ देर तक प्राणवायु को रोको, वह तुम्हारे मन में अनुकूलता ही लाएगा ।

इसके बाद बहुत सुन्दर भगवान् का ध्यान बताया गया है, अति मनोरम भगवान् के रूप का वर्णन किया है व भगवान् के एक-एक अंग का ध्यान बताया है । पहले भगवान् के चरणारविन्दों का ध्यान करना चाहिये, उसके बाद जानु (घुटनों) का ध्यान करे । उसके बाद यह बताया गया है कि लक्ष्मीजी अपने हाथों में लेकर भगवान् के चरणों का लालन कर रही हैं । **'करपल्लवरोचिषा यत् संलालितं हृदि'** – यहाँ समझो कि लक्ष्मीजी चरणों को कैसे दाब रही हैं, हाथों की उँगली से नहीं दाब रही हैं, उँगली से दबाना बढ़िया नहीं होता है । **'करपल्लवरोचिषा'** – इतनी मधुरता से सहला रही हैं, चरण दबाने की ऐसी चतुरता है कि जिससे भगवान् को बड़ा आनन्द होता है; इस तरह यह श्रंगार रस की लीला लिखीहै । क्यों लिखी है ? लक्ष्मीजी जगन्माता हैं और नारायण जगत्पिता हैं । कोई कल्पना कर सकता है कि यहाँ जगन्माता और जगत्पिता के विहार का वर्णन क्यों किया गया है ? शंकालुओं के लिए यह उत्तर है कि भगवान् की श्रृंगार-लीला इसलिए गाई जाती है क्योंकि एक न्याय है – **'अरणेरेवोत्पन्न अग्निः तद् दाहकः'** अरणि की लकड़ी घिसने से जो आग पैदा होती है, वह अरणि को ही जला देती है । इसी प्रकार भगवान् की श्रृंगार-रस की लीला कुछ दिन श्रद्धा से गाओगे तो तुम्हारे हृदय का जो काम है, वह जल जाएगा, इसमें बड़ी विलक्षण शक्ति है । ठाकुरजी की माखनचोरी लीला को गाते रहोगे तो तुम्हारे हृदय की सब चोरी अपने आप चली जायेगी; इसमें एक विलक्षण शक्ति है ।

भगवान् की लीलाओं में एक ऐसी वैचित्री है, एक ऐसी गूढ़ शक्ति है कि जिस पर प्रभु कृपा करते हैं, वही उसे जान सकता है ।

इसीलिए यहाँ लक्ष्मीजी द्वारा भगवान् के चरण-संवाहन के बारे में कपिल भगवान् ने बताया है । इसके बाद भगवान् की नाभि का वर्णन है, फिर प्रभु के दोनों स्तनों का चिन्तन करें, उनके दक्षिण स्तन के ऊपर दक्षिणावर्त का चिन्ह है, श्वेत रोमावलि है तथा श्रीवत्स की रेखा है वक्ष:स्थल के बीच में, उस रेखा के रूप में वहाँ लक्ष्मीजी रहती हैं । भगवान् के गले में कौस्तुभमणि हैं । चार भुजायें हैं जिनमें 'चक्र, गदा, शंख और कमल' सुशोभित हैं । इस प्रकार भगवान् के चरणकमलों से लेकर उनके मुख की मुस्कुराहट तक का ध्यान बताया है ।

अब यहाँ पर यह बड़ा विचित्र श्लोक है –

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२८/३४)

भक्ति के द्वारा ध्यान करते-करते जब शरीर में रोमांच होने लग जाए, तब साधक चित्त रूपी बडिश (काँटा) को ध्येय वस्तु से अलग कर ले । इस श्लोक का शब्दार्थ कुछ लोग इस प्रकार करते हैं – (गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित भागवत की हिंदी टीका में इस श्लोक का अर्थ इसी प्रकार किया गया है ।)

इस श्लोक में जो कहा गया है कि साधक चित्त रूपी बडिश को अलग कर ले तो प्रश्न उठता है कि अलग क्यों कर ले ? जो अद्वैतवादी होते हैं, वे भगवान् का भजन क्यों करते हैं, वे भक्ति को एक कपड़े धोने का साबुन मानते हैं । उनका मत है कि केवल चित्त को शुद्ध करने के लिए भक्ति की जाती है और चित्त को भक्त के द्वारा शुद्ध करके फिर

निर्गुण निराकार ब्रह्म का ध्यान करो । वे भक्ति का इतना ही उपयोग समझते हैं । अब यह शंका होती है कि यहाँ जो चित्त को ध्येय वस्तु से अलग करने की बात कही गयी है तो क्या यह भी अद्वैतवादियों वाली बात है । नहीं, ऐसा नहीं है, इसे समझो । आचार्य लोग बताते हैं कि यहाँ चित्त को बडिश क्यों कहा गया है ? जो भक्ति को साबुन मानकर चित्त को शुद्ध करके फिर उसे भगवान् से अलग करेगा, उसके चित्त को बडिश (काँटा) ही समझ लो । काँटा वाला चित्त ही भगवान् से अलग किया जाएगा अर्थात् जिसका लक्ष्य निर्विशेष-निराकार है, उसका चित्त बडिश (काँटा) है । भक्तों का चित्त बडिश नहीं है । आचार्य लोग लिखते हैं कि बहुत से लोगों के चित्त बडिश होते हैं, उनकी प्रकृति लीला राज्य में जाने की नहीं होती है ।

आचार्य लिखते हैं – **'बडिशेन काठिन्यम् ।'** उनके चित्त को बडिश (काँटा) क्यों बताया गया ? ज्ञानियों का चित्त काँटा इसलिए होता है क्योंकि चित्त में पाँच दोष होते हैं –

'अत एव बडिशशब्देन काठिन्यमरसवित्त्वं कौटिल्यं दाम्भिकत्वं स्वार्थमात्रसाधकत्वञ्च' –

(श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भः)

पहला दोष है 'काठिन्य' अर्थात् चित्त कठिन हो गया है, भगवल्लीला से पिघल नहीं रहा है । दूसरा दोष है – 'अरसवित्त्वम्' – चित्त रसीला नहीं है, कोई ब्रह्मज्ञानीजी हैं, रूखे बैठे हैं, इनको किसी पर दया से मतलब नहीं है, इनके लिए सब ब्रह्म है; ये रसिक नहीं हैं, भक्तों के लिए ऐसा चित्त बडिश है । तीसरा दोष है 'कौटिल्य' – चित्त कुटिल हो जाता है । चौथा दोष है –'दाम्भिकत्व', पाँचवा दोष है – 'स्वार्थमात्र साधकत्वम्' – स्वार्थ मात्र साधकत्व हो जाता है, मुक्ति भी एक स्वार्थ है । किसी ने कहा कि तुम ऐसा कैसे कह रहे हो ।

श्रीधरस्वामीजी ने जब भागवत की टीका लिखी तो प्रथम स्कन्ध के प्रारम्भ में यह श्लोक है ।

'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सताम्' –

(श्रीभागवतजी - १/१/२)

यहाँ पर श्रीधरस्वामीजी ने लिखा है कि मुक्ति की इच्छा भी कैतव (कपट) है, यह भी धूर्तता है । अतः यह धूर्तता जिनके चित्त में है, वे हैं काँटा । जो भक्त 'मुक्ति' नहीं चाहता, उसका चित्त काँटा नहीं है । अतः श्रीधरस्वामी इस प्रमाण से लिखते हैं कि जिसको निर्विशेष वाली मुक्ति चाहिए, वह अपने काँटा रूपी चित्त को भगवान् के सगुण रूप से अलग करके फिर निर्विशेष ब्रह्म में लीन हो जाए । निर्विकार-निर्विशेष ब्रह्म में लीन होने वाला 'ज्ञानी' ही मन को सगुण भगवान् के ध्यान से अलग करेगा, 'भक्त' नहीं करता है, इसका कोई प्रमाण है ? इसका प्रमाण है, भागवत में ही परीक्षितजी कहते हैं –

'धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति' –

(श्रीभागवतजी - २/८/६)

जिस भक्त का हृदय शुद्ध हो गया है, वह श्रीकृष्ण के चरणों को कभी नहीं छोड़ता है अथवा भागवत दशम स्कन्ध के स्तुति प्रकरण में देवताओं ने कहा है –

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः
त्वयि अस्तभावात् अविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

(श्रीभागवतजी - १०/२/३२)

जो ज्ञानी बनकर, ज्ञान के मद में श्रीकृष्ण के चरणकमलों को छोड़ देते हैं, उनका तो पतन हो जाता है । भागवत '३/२८/३४' में जो कपिल भगवान् ने कहा है –

'चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते'

श्रीधरस्वामी अद्वैतवादी थे फिर भी उन्होंने इस श्लोक में प्रयुक्त शब्द 'वियुङ्क्ते' का अर्थ किया है कि भक्त अपने चित्त को भगवान् से अलग नहीं करता है, उन्होंने 'वियुङ्क्ते' का अर्थ किया है – 'शिथिलप्रयत्नो' - शिथिल प्रयत्न करता है अर्थात् बिना प्रयत्न के ही 'भक्त' का मन स्वतः 'भगवान्' में लग जाता है, उसकी मुक्ति हो गयी । मुक्त का लक्षण क्या है ? बहुत से लोग कहते हैं कि हम तो माया छोड़ आये । माया से मुक्त होने की पहचान है –

देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२८/३७)

जो मुक्त पुरुष है, ब्रह्मानन्द में डूबा रहता है, उसे अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रहता है कि हम जीवित हैं कि मर गये हैं जैसे कोई शराब पीकर मदान्ध हो जाता है तो उसे अपने शरीर के वस्त्र के रहने या गिरने का कोई होश नहीं रहता है । उसी प्रकार जो ब्रह्मानन्द में डूबा हुआ मुक्त पुरुष है, उसे अपने शरीर का ही ध्यान नहीं रहता कि हम जीवित हैं कि मर गए हैं । उसका नाम है जीवन्मुक्त । उनके लिए शास्त्रविहित कर्म की भी आवश्यकता नहीं रहती कि वे मर गए हैं तो उनका दाह संस्कार करो, श्राद्ध करो, उनकी मुक्ति के लिए कुछ करो ।

उदाहरण के लिए बरसाना के मानपुर ग्राम में एक वृद्ध ब्रजवासी रहते थे । वे बताते थे कि जब हम लोग छोटे थे तो बरसाने की मोरकुटी पर स्वामिनी शरण नामक एक महात्मा रहते थे । वे चौबीस घंटे लीला की भावना में डूबे रहते थे । ब्रजवासी बालक मोरकुटी पर जाकर व्यायाम, दण्डबैठक आदि करते थे, आपस में कुश्ती भी लड़ते थे परन्तु स्वामीजी सदा अपनी लीला भावना में डूबे रहते थे । उनका एक शिष्य उनकी बहुत सेवा करता था । एक बार वह दोहनीकुण्ड के पास शौच के लिए गया तो वहीं उसकी मृत्यु हो गयी । ब्रजवासी भी जब वहाँ पहुँचे तो देखा कि मोरकुटी वाले बाबा के शिष्य का शव वहाँ पड़ा है । उन्होंने सोचा कि चलो बाबा को बता आवें । ब्रजवासियों ने बाबा से कहा कि आपका चेला तो मर गया है । दोहनी कुण्ड के पास उसका शव पड़ा है । बाबा बोले कि उसकी मृत्यु तो यहीं मोर कुटी पर हुई थी फिर मैं उसके मृतक देह को अपने शरीर पर लादकर दोहनी कुण्ड पर रख आया । ब्रजवासी बोले – 'अरे बाबा ! आपने हमें क्यों नहीं बताया, हम उसका दाह-संस्कार कर देते ।' बाबा ने कहा – 'अरे भैया ! मैं तो पवन दाग(वायु संस्कार) कर आया । ब्रज की हवा उसको लग गयी, यही कर्मकाण्ड हो गया । कौन जाए कंडा माँगने ? तुम लोग ब्रजवासी हो, अब जो चाहे करो ।' यह क्या है ? एक वेदमन्त्र में बताया गया है कि जो वस्तुतः जीवन्मुक्त है, उसके लिए आवश्यक नहीं कि उसकी मृत्यु के बाद उसके उद्धार के लिए कर्मकाण्ड करो, शास्त्रोक्त क्रिया करो । वह तो अपने भगवत्स्मरण से स्वतः पवित्र है । 'श्रीकृष्ण-स्मरण' से बढ़कर दुनिया में कोई कर्मकाण्ड नहीं है । भागवत में इस प्रकार की मुक्ति क्यों लिखी है ? इसलिए क्योंकि 'भक्त' कृष्ण-स्मरण करते हैं, कृष्ण-लीला को गाते हैं; इससे बड़ा कर्मकाण्ड और क्या होगा ?

अध्याय – २९

देवहूतिजी ने कहा – 'भगवन् ! अब मुझे भक्तियोग का लक्षण बताइए ?' कपिल भगवान् बोले कि 'भक्तियोग' तो अनन्त प्रकार का है –

'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते'

(श्रीभागवतजी - ३/२९/७)

मोटे हिसाब से समझो तो भक्तियोग चार प्रकार का होता है; इसे ठीक से समझना चाहिए, न समझने पर थोड़े में ही भक्ति सात्विक, राजस और तामस हो जाती है, पता नहीं पड़ता है । जैसे कि १० रुपये में शून्य को हटा दो तो एक रुपया ही बचेगा । कपिल भगवान् कहते हैं कि जब मन में हिंसा का भाव आ जाता है, दम्भ (दिखावा) आ जाता है, मात्सर्य आ जाता है तो समझो कि भक्ति तामस हो गयी ।

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा ।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२९/८)

जैसे – हम भजन कर रहे हैं और हमारी किसी से लड़ाई हो गयी तथा वह व्यक्ति बीमार पड़ गया । अब यदि हम सोचते हैं कि अच्छा हुआ जो यह बीमार पड़ गया; ऐसा भाव आया तो भक्ति तामस हो गयी, चाहे हम अपने मन में अपने को बहुत ऊँचा भक्त समझते रहें और सोचें कि हम तो इतनी अधिक संख्या में नाम जप करते हैं । दम्भ का भाव क्या है ? जैसे हमने किसी को देखा कि कोई आ रहा है तो तुरन्त माला जपने लग गये या कोई भी सेवा अथवा पाठ हम दूसरों को दिखाने के लिए कर रहे हैं तो इससे भक्ति तामस हो जाएगी;

इन बातों से बचना बड़ा कठिन है । कोई बहुत विशाल हृदय वाला ही इन दोषों से बच सकता है । दम्भ हर आदमी के अन्दर रहता है । लड़का, लड़की, बूढ़े, जवान सब दम्भ करते हैं । हम लोग संसार में अच्छे कपड़े क्यों पहनते हैं ? दूसरों को दिखाने के लिए, अपनी इज्जत के लिए, जबकि महात्मा लोग कभी दम्भ नहीं करते हैं । अवधूत नंगे ही रहते हैं । कोई महात्मा टाट लपेटे रहते हैं, वे क्यों बड़े माने जाते हैं इसलिए क्योंकि वे अपने स्वरूप में स्थित रहते हैं और हम लोग दिन-रात दम्भ में ही लगे रहते हैं । क्या लड़का, क्या लड़की, क्या बूढ़ा-जवान, सब अपने शरीर को ही सजाने में लगे रहते हैं । यह सब दम्भ है । जो वस्तु दिखाने के लिए की जाती है तो उसकी भक्ति तामस हो जाती है और आजकल सब जगह यही चल रहा है । इसलिए हिंसा, दम्भ और मात्सर्य को लेकर जो भक्ति की जाती है, वह तामसी भक्ति होती है । राजस भक्ति क्या है ?

विषयान् अभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।
अर्चादौ अर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२९/९)

जब हम विषय चाहते हैं, यश चाहते हैं, ऐश्वर्य चाहते हैं, धन-सम्पत्ति, सोना-चाँदी, भोग आदि की इच्छा मन में लेकर जब भक्ति करते हैं तब वह भक्ति राजस हो जाती है, चाहे हम कितनी ही मेहनत क्यों न करें । सात्विक भक्ति क्या है ?

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् ।
यजेद् यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२९/१०)

कर्मों का नाश करने के लिए, भगवान् को अर्पण करने के लिए और कर्त्तव्य समझकर जो भक्ति की जाती है, वह सात्त्विक भक्ति

है । इन सबसे ऊँची जो भक्ति है, वह निर्गुणा भक्ति है । निर्गुणा भक्ति क्या है ?

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२९/१२)

'भक्ति' कर रहे हैं, क्यों कर रहे हैं, इसमें कोई हेतु नहीं है, बिना किसी स्वार्थ के, अहैतुकी और बिना रोक-टोक के जो 'भक्ति' की जाती है, वह 'निर्गुणा भक्ति' है । मन में कोई राजसी, तामसी इच्छा नहीं होती है; ऐसे लोगों का दुनिया में कोई सम्मान नहीं है । चौबीस घंटे यदि तुम भजन करो तो तुम्हारे घर वाले ही इसका विरोध करेंगे और कहेंगे कि कौन-सी बात है कि तू दिन-रात भजन में ही लगा रहता है, भजन तो समय-समय से किया जाता है ।

इस तरह जो भक्ति 'अहैतुकी' अर्थात् जिसमें कोई कामना नहीं है और 'अव्यवहित' अर्थात् बिना किसी रोक-टोक के दिन-रात की जाती है, वह सबसे ऊँची 'निर्गुणा भक्ति' है; ऐसी भक्ति जो करता है, वह पाँच प्रकार की मुक्ति नहीं चाहता है ।

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२९/१३)

पाँच प्रकार की मुक्ति है – 'सालोक्य' – भगवान् के धाम में रहना, 'सार्ष्टि' – भगवान् के समान ऐश्वर्य होना, 'सामीप्य' – निरन्तर भगवान् के पास रहना, सारूप्य – भगवान् के समान रूप होना, 'एकत्व' – भगवान् में लीन हो जाना । ये पाँच प्रकार की मुक्तियाँ हैं, इन्हें दिए जाने पर भी 'भक्त' नहीं लेते हैं, चाहते हैं तो केवल 'भगवान्

की सेवा' चाहते हैं; इसलिए यही सबसे प्रधान भक्तियोग है । वह कैसे होगा तो इसका उपाय कपिल भगवान् बताते हैं कि निरन्तर सत्संग तथा मेरे दर्शन, महापुरुषों की सेवा, मैत्री, आर्जव आदि बहुत से गुण हैं जिनका अनुष्ठान करने से निर्गुणा भक्ति प्राप्त होती है ।

एक विशेष बात और समझने की है और अत्यन्त महत्वपूर्ण है । बहुत से लोग बहुत पूजा करते हैं, घंटी हिलाते हैं, कहते हैं कि हमारे यहाँ भगवान् के श्रीविग्रह की सेवा होती है परन्तु वे लोग पूजा से अलग होते ही अपने से निम्न स्तर के लोग जैसे अपने नौकर से या कोई बड़ा अफसर है तो अपने नीचे के कर्मचारी से पशुओं जैसा व्यवहार करते हैं । ऐसा करने से उनकी सारी पूजा का सफाया हो जाता है । यदि हम किसी व्यक्ति का अपमान करते हैं तो उस व्यक्ति के भीतर भी तो भगवान् ही बैठा हुआ है । संसार में सभी प्राणियों के शरीर भगवान् के मंदिर हैं, यह सबसे ऊँची बात है कि हर शरीर को अपने प्रभु का मंदिर समझो । किसी भी मंदिर का यदि तुम अपमान करते हो तो भगवान् तो वहाँ भी बैठे हुए हैं । यही भगवान् ने बताया है –

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तं अवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः ॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/२९/२१-२४)

कपिल भगवान् ने चार चीजें बतायी हैं, जो हमारी भक्ति को नष्ट कर देती हैं, वे हैं – अनादर, उपेक्षा, द्वेष और अपमान । भगवान्

कहते हैं कि जो मनुष्य दूसरों का अनादर करता है और मेरी प्रतिमा की पूजा करता है तो उसकी वह पूजा मात्र ढोंग है ।

वल्लभकुल में ऐसी बहुत-सी वार्तायें हैं, जैसे – 'दो सौ बावन वैष्णववार्ता' में एक कथा है कि गोवर्धन में श्रीनाथजी का बगीचा था, उसमें एक बालक प्रतिदिन आकर फूल तोड़ ले जाता था । मंदिर के एक वैष्णव जो उस बगीचे की सेवा करते थे, उन्होंने एक दिन उस बालक को पकड़कर बहुत फटकारा तो उनको अपने मन में जो लीला की अनुभूति होती थी, वह बन्द हो गयी । इसी प्रकार भक्तमाल में श्रीरूपगोस्वामीजी की कथा है, वे ध्यान में राधा-माधव की लीला देख रहे थे कि राधारानी एक पुष्पों के वृक्ष को देखकर श्यामसुन्दर से कहती हैं कि इसकी डाल को झुकाओ, मैं फूल तोड़ूँगी । श्यामसुन्दर ने डाल झुकायी और फिर उसे छोड़ दिया तो श्रीजी इतनी सुकुमारी हैं कि वे डाल को पकड़े-पकड़े ही डाल के साथ ऊपर उठ गयीं । इस लीला को देखकर रूप गोस्वामी जी हँस रहे थे । इतने में ही सामने से एक विकलांग ब्राह्मण जा रहा था, उसकी चाल ऐसी थी कि उसे देखकर सब हँसने लगते थे । जब उसने रूप गोस्वामी जी को हँसते हुए देखा तो सोचा कि ये भी मेरी चाल देखकर मुझ पर हँस रहे हैं तो उसे बहुत दुःख हुआ । इस प्रकार जब उसे दुःख हुआ तो रूप गोस्वामी जी को लीला की अनुभूति होनी बन्द हो गयी । भक्तमाल में ऐसे बहुत से उदाहरण हैं । इसलिए हमको यह भी विचार करना चाहिए कि जितनी देर हम भजन करते हैं केवल वही भजन नहीं है । प्रत्येक नराकार शरीर रूपी मंदिर के भीतर प्रभु बैठे हुए हैं । यदि उसका हम तिरस्कार करेंगे तो भगवान् कहते हैं कि पूजा करना केवल विडम्बन अर्थात् ढोंग ही रहेगा । इसी प्रकार जो किसी की उपेक्षा करता है तो उसका पूजन या भजन ऐसा है जैसे राख में घी डालकर हवन किया जाये । उसकी सारी पूजा बेकार हो गयी । इसी प्रकार जो

मनुष्य दूसरे जीवों से द्वेष करता है, उसके मन को कभी भी शांति नहीं मिल सकती है । जो दूसरे जीवों का अपमान करता है किन्तु बहुत से बढ़िया-घटिया पदार्थों से मेरे श्रीविग्रह की पूजा करता है तो उस पूजा से मैं प्रसन्न नहीं होता हूँ ।

अब यहाँ यह शंका होती है कि अर्चना-पूजा तो कल्याणकारी होती है फिर भगवान् इस तरह इसका खण्डन क्यों कर रहे हैं ? कबीरदासजी ने भी ऐसी बहुत-सी बातें कही हैं, जैसे –

माला फेरत जुग भया, गया न मन का फेर ।
कर का मनका डार दे, मन का मनका फेर ॥

भगवान् या महापुरुष लोग ऐसी बातें क्यों कहते हैं ? भगवान् ने गीता में भी कहा है –

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

(श्रीगीताजी - ३/६)

जो मनुष्य कर्मेन्द्रियों को, हाथ-पाँव रोककर उपासना के लिए बैठ जाता है किन्तु मन से विषयों का चिन्तन करता है तो वह मिथ्याचारी है । माला जप रहा है किन्तु उसका मन भगवान् में न होकर विषय चिन्तन करता है तो भगवान् के अनुसार वह पाखण्डी है ।

अब यह प्रश्न उठता है कि इस तरह भगवान् अपनी सेवा-पूजा की, भजन की निन्दा क्यों कर रहे हैं ? महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने तो कलियुग में घर-घर में ठाकुरजी की सेवा-पूजा पधरायी । भगवत्सेवा घर में करना तो अच्छी चीज है फिर भागवत में भगवान् इसकी आलोचना क्यों करते हैं, ऐसी स्थित में जीव का कल्याण कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है –

'अनिन्द्ये निन्दा निन्दयतुं न प्रवर्तते किन्तु विधेयं स्तोतुम्'

यह न्याय का सूत्र है, इसका अर्थ है – 'अनिन्द्ये' जो चीज निन्दा के योग्य नहीं है, अनिन्द्य है फिर भी 'अनिन्द्य की निन्दा' निन्दा के लिए नहीं की जाती किन्तु और कोई बात, आगे वाली मंजिल बताने के लिए ऐसा किया जाता है । जैसे – किसी पिता ने अपने पुत्र से कहा – 'अरे बेटा ! तू उस व्यक्ति के पास जाकर पचास रुपये की नौकरी कर रहा है । दूसरे अमुक व्यक्ति के पास जा । मैंने उससे बात कर ली है, वहाँ तुझे २५० रूपये की नौकरी मिलेगी ।' अब यहाँ पचास रुपये की निन्दा क्यों की गयी, २५० रुपये वाली नौकरी की प्राप्ति के लिए ऐसा किया गया । इसका मतलब यह तो नहीं है कि धनोपार्जन करना गलत है । भाव यह है कि धनोपार्जन करो किन्तु अधिक करो । ५० रुपये छोटी चीज है, २५० रुपये बड़ी चीज है । इसीलिए प्रभु कह रहे हैं कि तुम भजन तो कर रहे हो, तुम्हारी क्रिया तो ठीक है किन्तु किसी की उपेक्षा, अनादर आदि से वह राख में हवन करने के समान व्यर्थ हो जाता है । जैसे निम्बार्काचार्य जी ने लिखा है –

"विरोधिनोरूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया"

निम्बार्क भगवान् कहते हैं कि विरोधी तत्त्व को भी अवश्य जानना चाहिए । नहीं जानोगे तो जैसे किसी घड़े में छेद है और उसे बिना जाने कोई घड़े में पानी भर रहा है तो सारा पानी चू जायेगा । एक बूँद पानी भी घड़े में नहीं टिकेगा । उसी प्रकार तुम्हारी उपासना भी व्यर्थ हो जाएगी । भगवान् ने उपासना का खण्डन नहीं किया है । एकादश स्कन्ध में भी भगवान् ने क्रियायोग – मूर्ति पूजा को स्थापित किया है । इसलिए एक जगह के लिखे वचन को पढ़कर व्यर्थ की शंका नहीं करना चाहिए । सब तरह की बात को समझ-बूझकर के समन्वय करके समझना चाहिए और समन्वय करके बोलना चाहिए । भगवान् ने मूर्ति पूजा का यहाँ खण्डन नहीं किया है क्योंकि एकादश स्कन्ध में

वे स्वयं मूर्ति पूजा – क्रिया योग का विधान करते हैं । हम लोग जितने भी भजन करने वाले हैं, हमारा कर्त्तव्य है कि न तो किसी की निन्दा करें, न सुनें, न उपेक्षा करें, न द्वेष करें । हमने भगवान् का खूब नाम लिया किन्तु किसी से द्वेष करने पर वह व्यर्थ हो जाता है ।

इसके बाद भगवान् बताते हैं कि अचर जीवों से चर जीव श्रेष्ठ हैं, उनमें भी प्राणधारी, चित्त वाले, इन्द्रिय वृत्ति वाले, स्पर्श वेदी, रस वेदी, गन्ध वेदी, शब्द वेदी, रूप वेदी प्राणी श्रेष्ठ हैं । जैसे भँवरा गन्ध वेदी जीव है, उससे श्रेष्ठ सर्प आदि प्राणी हैं, उनसे श्रेष्ठ कौवा आदि पक्षी हैं । उनसे श्रेष्ठ हैं चार पाँव वाले पशु जैसे कुत्ता, घोड़ा आदि । उनसे श्रेष्ठ हैं मनुष्य, मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, ब्राह्मण में भी जो वेद को जानने वाला है, वह उत्तम है और जो वेद के अर्थ को जानता है, वह उससे भी श्रेष्ठ है तथा जो दूसरे को समझा सके, वह और भी अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि वह दूसरों को लाभ देता है, जो मुक्त हो जाये, वह उससे भी श्रेष्ठ है ।

कुछ लोग कहते हैं कि हम दूसरों के आगे सिर नहीं झुकाते हैं, हम ऐसे नहीं हैं कि हर आदमी के सामने झुक जाएँ किन्तु ऐसा लक्षण आसुरी है । भगवान् कपिल कहते हैं –

'मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन् ।' –

(श्रीभागवतजी - ३/२९/३४)

भक्तिमार्ग यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह समझकर प्रणाम करो कि इसके अन्दर भगवान् हैं । यदि ऐसा तुम करने लग जाओगे तो बड़ी जल्दी भक्ति प्राप्त हो जाएगी, सबके प्रति भगवद् भाव हो जायेगा ।

इसके बाद फिर भगवान् ने काल का लक्षण बताया । भगवान् कपिल कहते हैं – यह काल मेरा ही स्वरूप है, इसी के भय से सूर्य-चन्द्रमा आदि गतिशील हैं ।

अध्याय – ३०

श्रीकपिल भगवान् कहते हैं कि यह जीव मोह के कारण घर, बेटा-बेटी, धन आदि को अपना माने बैठा है जबकि ये अपने नहीं हैं ।

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति ।
नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः ॥

(श्रीभागवतजी - ३/३०/५)

यदि यह जीव नरक में पहुँच जाता है । यहाँ नरक से तात्पर्य है कि जैसे मल का कीड़ा होता है, उसे यदि मल से अलग कर दिया जाये तो वह छटपटायेगा और मर जाएगा ।

भगवान् की ऐसी माया है कि यदि नरक में भी जीव को पटक दो तो थोड़े दिनों में यह वहाँ का अभ्यासी बन जाता है और उसी में सुखी होने लगता है, यही माया है । आज हम लोग बड़े दुःख में हैं, पराधीन हैं देह-गह में आसक्त होने के कारण किन्तु हम लोग इसी में सुख माने हुए हैं कि यह हमारा पिण्ड (शरीर) कहीं नष्ट न हो जाए, जैसे संत रामकृष्ण परमहंस जी ने उदाहरण दिया कि नदी के किनारे एक मालिन रहती थी । उसकी कोठरी में फूल ही फूल भरे रहते थे । नदी के उस पार एक भंगिन रहती थी । वह इस मालिन की सहेली थी । एक दिन वह कहीं दूर से आई, उसे अपने गाँव जाना था तो मालिन ने भंगिन से कहा कि आज रात तुम मेरी कोठरी में रुक जाओ । ऐसा कहकर उसने भंगिन को अपनी कोठरी में रुका लिया, जिसमें फूल ही फूल भरे थे । अब भंगिन को रात भर नींद नहीं आई । फूलों की सुगन्ध के कारण उसके सिर में दर्द होने लगा । भंगिन के लिए तो फूलों की सुगन्ध दुर्गन्ध है । उसने सोचा कि अब क्या करूँ तो वह बाहर गयी, वहाँ पर वह अपनी मल साफ़ करने वाली टोकरी रख आई थी, उस टोकरी को लाकर उसने अपने मुख पर ढँक लिया, अब

उससे जो मल की दुर्गन्ध आयी तब भंगिन को नींद आई और वह सुख से सो गयी । भगवान् इसीलिए कह रहे हैं कि यह जीव ऐसा ही है, हम सब लोग उसी भंगिन के समान हैं । जो मनुष्य जहाँ भी रहता है जैसे कोई दिल्ली में रहता है, कोई बम्बई में रहता है, कोई कलकत्ता में रहता है और सभी लोग ब्रज में आना चाहते हैं लेकिन जब ब्रज से वे अपने घर में पहुँचते हैं तो बड़े सुखी होते हैं और कहते हैं कि हम अपने घर में आ गये । आराम से वे अपने कमरे में सुखी हो जाते हैं जबकि कहते हैं कि ब्रज में रहना चाहिए, ब्रज हमारा घर है किन्तु जब अपने घर पहुँचते हैं तब चैन की साँस लेते हैं । नरक में पड़े हैं परन्तु उसको छोड़ना नहीं चाहते हैं, ऊपरी तौर से कहते रहते हैं कि हम तो ब्रज में मरेंगे, ब्रज में जियेंगे लेकिन उनको नरक ही प्यारा लगता है । यह माया है । मनुष्य बात बनाता है, परन्तु नरक को, नारकीय सुखों को छोड़ना नहीं चाहता क्योंकि वह अपनी नारकीयता में ही मस्त है, इसी का नाम माया है ।

एक बार ब्रज के प्रसिद्ध संत श्री प्रियाशरण बाबा महाराज के पास आगरा से एक व्यक्ति आया और बोला कि मैं ब्रजवास करना चाहता हूँ और ऐसा कहकर वह रोने लगा । महाराजजी ने उससे पूछा कि तुम आगरा में क्या करते हो तो वह बोला कि मेरा मकान है और यदि मकान ब्रज-वृन्दावन में होता तो मैं वृन्दावन वास कर लेता । महाराजजी ने पूछा कि मकान कितने का है तो वह बोला कि पचास हजार रुपये का है । (बहुत पुराने जमाने की बात है तब पचास हजार रुपये बहुत होते थे) श्रीबाबा ने कहा कि आगरा के मकान को बेचकर वृन्दावन में मकान खरीद लो तब वह व्यक्ति बोला कि यहाँ ३५ हजार में बिक रहा है, १५ हजार का नुकसानहै । बाबा महाराज ने कहा कि तू १५ हजार के नुकसान की सोच रहा है, बीस हजार का भी नुकसान हो जाए तो भी ब्रज जैसे अमूल्य धाम की प्राप्ति तो तुझे हो जाएगी

किन्तु तेरी आसक्ति तो मकान में है, इसलिए आसक्ति वाली चीज को लाकर ब्रज में रख दे तो स्वतः तेरा ब्रजवास हो जायेगा परन्तु तुझे ब्रज नहीं चाहिए, तुझे तो पैसा चाहिए; ऐसे में तू ब्रजवास नहीं कर सकता ।

इसीलिए कपिल भगवान् ने कहा – नरकस्थोऽपि... (३/३०/५) देवमाया के कारण जीव को नरक में रहना अच्छा लगता है, जैसे – भंगिन को फूल की कोठरी में दुर्गन्ध आ रही थी और मल की टोकरी मुख पर रखने से सुगन्ध का अनुभव हुआ । ऐसे लोगों के लिए ब्रजभूमि नहीं है । यह मूढ़ पुरुष जब घर में जाता है तो इसके सामने इसकी पत्नी हँसती हुई आती है, उसे देखते ही यह प्रसन्न हो जाता है । स्त्री-बच्चों की आसक्ति से बँधकर जीवन भर मनुष्य उनका पालन-पोषण करता हुआ वृद्ध हो जाता है । वृद्धावस्था में खाट पर पड़ा रहता है और तरह-तरह के मनोरथ करता रहता है फिर थोड़े दिनों में इसकी मृत्यु हो जाती है । जो मूढ़ पुरुष इन्द्रियों को न जीतकर निरन्तर अपने परिवार के ही पालन-पोषण में लगा रहता है, वह रोते हुए परिवारीजनों के बीच अत्यन्त कष्ट से अचेत होकर मृत्यु को प्राप्त होता है । उस समय उसको लेने के लिए अत्यन्त भयंकर यमदूत आते हैं और उसके सूक्ष्म शरीर को बाँधकर नरक में ले जाते हैं । वे यमदूत उस जीव से कहते हैं कि तू न तो विरक्त हो पाया, न कुछ छोड़ पाया, अब हम तुझे माया से छुड़ाते हैं । इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं –

ममता तू न गयी मेरे मन ते ।
अंतहि तोहि तजेंगे पामर, तू न तजे अबही ते ॥

यह जीव जीते जी ममता-मोह को नहीं छोड़ेगा, जब अन्त काल में यमदूत आकर छुड़ायेंगे तभी छोड़ेगा । इसीलिए गोस्वामीजी कहते

हैं कि यदि तू पहले ही मोह-ममता छोड़ता तो प्रभु की शरण में जाता लेकिन पहले कैसे छोड़ेगा, जब यमदूत आकर शरीर पर कोड़े बरसायेंगे, खाल खींचेंगे तब ममता-मोह छोड़ेगा । यमदूत जीव को पकड़कर नरक में ले जाते हैं । यमलोक का मार्ग निन्यानबे हजार योजन का है, इतने लम्बे रास्ते को दो-तीन मुहूर्त में ही तय करके जीव को यमदूत खींचते हुए ले जाते हैं । वहाँ उसके शरीर को धधकती हुई लकड़ियों के बीच में डालकर जलाया जाता है, कहीं उसके ही माँस को काट-काटकर यमदूत उसे खिलाते हैं । नरक में जीव को यातना शरीर मिलता है, उस यातना शरीर के द्वारा ही जीव को भयंकर यातनायें दी जाती हैं, वहाँ उसे बहुत कष्ट मिलता है । ऐसा क्यों होता है तो कपिल भगवान् कहते हैं –

'भूतद्रोहेण यद् भृतम्' –

(श्रीभागवतजी - ३/३०/३१)

हर आदमी दूसरों से द्रोह करके अपने शरीर को पालता है । दो पड़ोसी हैं, वे आपस में लड़ते हैं, क्योंकि एक के पास एक हाथ जमीन ज्यादा है, अधिक धन है, इसलिए द्वेष करते हैं । ज्यादा-कम क्या होता है, मृत्यु आने पर दोनों को ही सब कुछ यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा । इसलिए भगवान् का भजन करो । उसको इतनी आमदनी हो रही है, हमें कम हो रही है, यह सब भूतद्रोह है । तामिस्र, अन्धतामिस्र तथा रौरव आदि नरकों में भयंकर यातनायें भोगकर जीव फिर से मनुष्य-योनि में जन्म लेता है ।

अध्याय – ३१

श्रीभगवान् कहते हैं – जब जीव को मनुष्य योनि की प्राप्ति होती है तो पिता के वीर्य द्वारा माता के उदर में वह प्रवेश करता है । वहाँ

एक रात में ही घोरुआ (कलल) बन जाता है, पाँच रात में बुलबुला बन जाता है, दस दिन में बेर की तरह हो जाता है फिर अण्डाकार हो जाता है । एक महीने में उसके सिर बन जाता है, दो महीने में हाथ-पाँव बन जाते हैं, तीन महीने में नाख़ून, रोम, अस्थि, चर्म, स्त्री-पुरुष के चिह्न बन जाते हैं, चौथे महीने में उसके माँस आदि सातों धातुएँ बन जाती हैं, पाँचवें महीने में उसे भूख-प्यास लगने लगती है तथा छठे महीने में वह माता के पेट में घूमने लगता है तब माता को पता चल जाता है कि मेरे गर्भ में शिशु है । माता के गर्भ में जीव को कीड़े काटते हैं । उसका सिर नीचे की ओर झुका रहता है तथा पीठ और गर्दन कुण्डलाकार मुड़े रहते हैं । सातवें महीने में उसे कुछ ज्ञान होता है, ज्ञान होने के बाद वह भगवान् की स्तुति करता है । एक बात ध्यान देने योग्य यह है, आचार्य लोग लिखते हैं कि गर्भ में सभी जीव भगवान् की स्तुति नहीं करते हैं क्योंकि सबको इतना ज्ञान नहीं होता है । चार-पाँच प्रकार के जीव ही गर्भ में ज्ञान प्राप्त करते हैं । एक तो देवता लोग, उनको भी गर्भ में ज्ञान हो जाता है या उत्तम ऋषि लोग या अन्य बहुत से जन्म के पुण्य वाले लोग । उत्तम से मतलब है भक्त लोग । आज जो तुम भगवद्भक्ति कर रहे हो तो यदि तुम्हारा अगला जन्म भी होगा तो तुमको गर्भ में ही ज्ञान हो जायेगा और तुम गर्भ में ही भगवान् कृष्ण को पुकारने लगोगे । भक्ति बेकार नहीं जाएगी । बाकी जो संसारी लोग हैं, उन्हें गर्भ में ज्ञान नहीं होता है जैसे मल-मूत्र का पिण्ड पेट के भीतर पड़ा रहता है, वैसे ही वे भी पड़े रहते हैं । जिनको ज्ञान हो जाता है, वे जीव गर्भ के भीतर भगवान् की स्तुति करते हैं – 'हे प्रभो ! मैं आपकी शरण में हूँ ।'

श्रीधरस्वामीजी अपनी टीका में लिखते हैं कि जीव गर्भ में कृष्ण की स्तुति करता है, ऐसा क्यों ? क्योंकि कृष्ण मनुष्य के सबसे समीप में हैं; कैसे ? श्लोक को देखो –

तस्योपसन्नमवितुं जगदिच्छयात्तनानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम् ।

(श्रीभागवतजी - ३/३१/१२)

नंगे चरण भगवान् अपने कृष्णावतार में ही दौड़ते हैं ब्रज में । श्रीधर स्वामीजी और भागवत के समस्त टीकाकार आचार्यों ने 'चलच्चरणारविन्दम्' का अर्थ लिखा है – 'हे कृष्ण ! मैं तेरी शरण में हूँ ।' क्यों ? क्योंकि इनसे बड़ा दयालु और कौन है ? इसलिए जीव गर्भ में श्रीकृष्ण की स्तुति करता है और कहता है कि मैं इस गर्भ के भीतर जल रहा हूँ । हे प्रभो ! तुम्हारी शरण में हूँ । आप प्रकृति-पुरुष से परे हैं, मैं आपकी वन्दना करता हूँ ।

बिना महापुरुषों की कृपा, बिना महापुरुषों का संग किये जीव भगवान् को नहीं पा सकता है । इसलिये जाओ संतों के पास, जो भगवद्भक्त हैं । संत का मतलब यह नहीं है कि जिन्होंने वेष धारण कर लिया है । जो सच्चे भक्त हैं, उनके चरणों में नाक रगड़ो, भवसागर के पार चले जाओगे ।

संतन के संग लाग रे, तेरी अच्छी बनेगी ।
संतन के संग हरि बिचरत हैं;
ज्यों बछरा गौ लागि रे, तेरी..... ।

'युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण' –

(श्रीभागवतजी - ३/३१/१५)

महापुरुषों की कृपा बिना कल्याण नहीं होगा, इसलिए उनके पास जाओ ।

जीव गर्भ में भगवान् की स्तुति करता हुआ आगे कहता है – 'हे प्रभो ! मैं आपका भजन करता हूँ । मैं दूसरे शरीर (माता के शरीर) में पड़ा हुआ हूँ, पास में जठराग्नि जल रही है ।'

यह गर्भ क्या है, मल-मूत्र का कुआँ है । जैसे पुराने जमाने में शौचालय होते थे, उसमें नीचे एक अंधकूप बना दिया जाता था । उसमें जीवन भर मल त्याग करने पर भी उस अन्धकूप का गड्ढा कभी भरता ही नहीं था । इसी प्रकार यह गर्भ कूप है, इस गर्भ कूप में जो प्राणी पड़ा रहता है, वह नौ महीने तक उसी मल के कूप में पड़ा रहता है, ऐसा कुआँ जो कभी भरता नहीं है ।

जीव कहता है – मैं अपने दिन गिन रहा हूँ कि इस कुएँ से बाहर कब निकाला जाऊँगा ? आपने मुझे जो ज्ञान दिया है, इसका ऋण मैं कैसे चुका पाऊँगा ?

स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः
को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात् ।

(श्रीभागवतजी - ३/३१/१८)

आपने जो कृपा की है, यह कृपा ही आपके उपकार का बदला है, इस कृपा से ही आप सन्तुष्ट हो जाइये । आपको हाथ जोड़ने के सिवाय मैं और क्या कर सकता हूँ ?

इस प्रकार स्तुति करता हुआ जीव अन्त में एक बात और बोला कि कितना भी कष्ट इस गर्भ के भीतर मुझे है फिर भी इस गर्भ के बाहर आप मुझे मत निकालिए ।

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदुःखवासम्
गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे ।

(श्रीभागवतजी - ३/३१/२०)

भगवन् ! मुझे इस गर्भ में ही पड़ा रहने दीजिये क्योंकि बाहर तो और भी ज्यादा अँधेरा है । उससे तो यह मल का घर ही अच्छा है क्योंकि इसमें पड़ा हुआ मैं किसी चीज में आसक्त तो नहीं हो रहा हूँ

और बाहर तो लड्डू-पूडी-कचौड़ी, स्त्री-पुत्र, धन-मकान आदि आसक्ति की कितनी जगहें हैं कि मनुष्य उनसे छूट ही नहीं सकता । यहाँ गर्भ में तो मैं सोच रहा हूँ कि माया के बन्धन से छूट जाऊँ और आपकी याद कर रहा हूँ । बाहर आकर तो स्त्री-पुत्र में आसक्त होकर मैं आपको भूल जाऊँगा और यही कहूँगा – 'जय-जय बेटा जय-जय बहू' अर्थात् दिन-रात इन्हीं के मोह पाश में जकड़ा रहूँगा, उससे छूट नहीं पाऊँगा, इसलिए प्रभो ! मुझे इसी गर्भ में पड़ा रहने दीजिये । मैं व्याकुलता को छोड़कर अपना उद्धार करूँगा, जिससे कि मुझे पुनः यह दुःख न मिले । हृदय में भगवान् विष्णु के चरणों को स्थापित कर बहुत शीघ्र मैं अपना उद्धार कर लूँगा ।

भगवान् कपिल कहते हैं – जीव जब इस प्रकार भगवान् की स्तुति करता है तो प्रसूति वायु उसे गर्भ से ढकेल कर बाहर फेंक देती है और इस प्रकार गर्भ से बाहर आकर उसका जन्म हो जाता है । बाहर वह मल-मूत्र और खून में लिपटा रहता है क्योंकि जब जीव गर्भ के बाहर आता है तो उसके साथ गर्भ की सब गन्दगी भी बाहर निकलती है । जिस प्रकार मल का कीड़ा मल में रेंगता है, उसी प्रकार वह जीव भी उसी गन्दगी में रेंगता है और जोर-जोर से बहुत रोता है । उस समय गर्भ का उसका सारा ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह विपरीत गति को प्राप्त हो जाता है, फिर जब उसका पालन-पोषण होता है तब भी उसे बहुत कष्ट होता है । छोटे बच्चे (शिशु) के कान में दर्द होता है, इसलिए वह रोता है किन्तु माँ समझती है कि भूखा है, इसलिए रो रहा है, अतः उसे स्तन पान कराने लग जाती है । ऐसा करने से बच्चे का कान का दर्द तो ठीक होगा नहीं बल्कि उसे दस्त होने लगते हैं और माँ लाड़ में बच्चे को और अधिक दूध पिला देती है । इस तरह जो लोग उस बच्चे के अभिप्राय को नहीं जान पाते, ऐसे लोगों के द्वारा उसका पालन-पोषण होता है । शैशव, पौगंड अवस्था में भी बालक को बड़ा कष्ट मिलता है । थोड़े दिन की जो जवानी आती है,

उसी में मनुष्य मस्त हो जाता है, नहीं तो बुढापा भी कष्ट में बीतता है और शैशव तथा पौगंड अवस्थायें भी कष्ट से बीतती हैं । बीच की युवावस्था में मनुष्य को साधन करना चाहिए किन्तु इसी अवस्था में जीव माया में बुरी तरह जकड़ जाता है । भगवान् कौन हैं, उनसे उसे कोई मतलब नहीं रहता, अपने जीवन को विषय-भोगों में नष्ट कर लेता है । मैं-मेरेपन का झूठा दुराग्रह करता है । उन्हीं लोगों को यह अपना मित्र बनाता है, जिनके संग से यह भोग सीखता है और स्त्री प्रसंग की चर्चा करता है कि अमुक पुरुष की स्त्री किसी दूसरे के पास गयी, अमुक स्त्री बड़ी सुन्दर है, बड़े अच्छे कपड़े पहनती है । स्त्री लम्पट लोगों के साथ यह बैठता है और स्त्री प्रसंग की ही बात करता है । इसका यह परिणाम होता है कि जिस गर्भ से बाहर निकला, अब उसी गर्भ में घुसने की फिर से तैयारी करता है । मल-मूत्र के गर्भ में लिपटा रहा, अब पुनः इसी मल-मूत्र में घुसना चाहता है । यह क्या है, यह माया है ।इसलिए

सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ।

(श्रीभागवतजी - ३/३१/३४)

ऐसे स्त्री लम्पटों का संग नहीं करना चाहिये, जो सदा स्त्रियों की ही बातें करते हैं । गृहस्थ पुरुष को भी स्त्रियों की चर्चा नहीं करनी चाहिए । विषय भोग तो तुम करते ही हो किन्तु उसकी बात करने से क्या लाभ ? भोग की क्रिया भी नहीं होती, फिर भी मनुष्य भोग की बातों के द्वारा बन्धन में बँधता रहता है । ऐसे भोगी लोगों के पास नहीं बैठना चाहिए, न ही उनकी बात सुननी चाहिए क्योंकि जीव को किसी और का संग करने से ऐसा मोह और बन्धन नहीं होता जैसा स्त्री और स्त्रियों के संगियों का संग करने से होता है । प्रजापति ब्रह्माजी की क्या हालत हो गयी थी ? एक बार अपनी पुत्री सरस्वती के रूप को देखकर ब्रह्माजी इस प्रकार काम मोहित हुए कि उसके हिरनी बनकर भागने

पर उसके पीछे हिरन बनकर निर्लज्जता पूर्वक दौड़ने लगे । भगवान् कहते हैं – 'मेरी स्त्री रूपिणी माया का बल तो देखो, जो बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राटों को अपने पैरों से कुचल देती है ।' यह नियम है । एक महात्मा ने कहा है कि पुरुष सोचता है कि स्त्री मेरे अधीन है, मैं स्त्री को भोगता हूँ । पुरुष तो एक क्षण को स्त्री को भोगता है किन्तु स्त्री चौबीस घंटे पुरुष की छाती पर चढ़ी रहती है । स्त्री सभी को पदाक्रान्त करती है । जो भी पुरुष स्त्री को भोगने जाता है तो अपने चरणों से वह उसे पदाक्रान्त कर देती है । यह प्रकृति का नियम है । चाहे वह चक्रवर्ती राजा है, कितना भी ऊँचा है, स्त्री को भोगने जो भी जायेगा, उसके चरणों से आक्रांत होकर जायेगा । यह माया है । एक बात और है, पुरुष लोग बड़े प्रसन्न होते हैं कि हमने बहुत सी स्त्रियों को भोगा । भगवान् कपिल बता रहे हैं कि स्त्री भोगने का परिणाम क्या होता है ?

'स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो' (श्रीभागवतजी - ३/३१/४१)

जो अधिक स्त्री भोगी हैं, अगले जन्म में वे ही स्त्री बनते हैं । यह निश्चय समझ लो । आज जो पुरुष स्त्री भोग कर रहे हैं, वे ही अधिक भोग के कारण अगले जन्म में स्त्री बनेंगे । स्त्री बनकर फिर किसी दूसरे पुरुष को अपना पति मानेंगे । इसमें एक बहुत बड़ा गूढ़ रहस्य है कि संसार में जितने भी शरीर हैं, वे सब प्रकृति हैं । जैसे आज कोई स्त्री है और उसका कोई पति है तो वह पति नहीं है । भगवान् कपिल कहते हैं –

यां मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम् । (श्रीभागवतजी - ३/३१/४१)

मेरी माया है, वह प्रकृति है । उसको स्त्री ने अपना पति मान रखा है अर्थात् जो पति का शरीर है, वह माया है । इसका मतलब यह है कि वास्तव में श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं और वे ही पति हैं ।

इसीलिए भागवत में पाँचवें और दशम स्कन्ध में यह प्रसंग आता है कि जो स्त्रियाँ श्रीकृष्ण को ही अपना पति मानती हैं, उन्हीं को सच्चा ज्ञान है। वैदिक धर्म में इसीलिए स्त्रियों के लिए सती धर्म बनाया गया है कि तुम्हारा पति ही भगवान् है, अतः ये सब धर्म अप्राकृत नहीं माने गये हैं। गोपीजन ने अपने पति क्यों छोड़ दिए, इसलिए क्योंकि वैष्णव धर्म अप्राकृत भागवत धर्म है, उसके आगे बाकी सब धर्म त्याज्य हो जाते हैं –

बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रज बनितन्हि,
भये मुद मंगलकारी।

भगवान् कपिल भागवत में यहाँ कहते हैं कि मेरी माया ही है, जो पति के रूप में आचरण करती है किन्तु है वह माया, पति नहीं है, पति तो भगवान् हैं, इसलिए यह निश्चित हो जाता है कि संसार में कोई पति नहीं है। पति तो केवल परमात्मा हैं। पति का जो शरीर है, वह पति नहीं है। वह भगवान् की माया है। स्वयं भगवान् कपिल ने कहा – **'मन्मायामृषभायतीम्'** मेरी माया पति की तरह आचरण कर रही है, जबकि वह पति है नहीं। 'जीव' स्त्री क्यों बना है, तो यह समझो कि 'स्त्री' शब्द कैसे बना ? **स्त्यै ष्टयै शब्दसङ्घात इति धातोः** – यह धातु है। संस्कृत में प्रत्येक शब्द धातु से बनता है। यह शब्दसंघात धातु है। इसका मतलब है शब्द आदि विषयों का समुदाय। आचार्य श्रीविजयध्वजतीर्थजी लिखते हैं –

शब्दादिष्वासक्तितः कारणात् स्त्रीत्वे प्रमदाभावं प्राप्तामृषभायतीं रतौ पुरुषीकरणं नामारोपितपुरुषधर्मः।

(श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावली)

चाहे कोई स्त्री है अथवा पुरुष, यह शरीर हम लोगों को क्यों मिला है ? शब्द आदि जो पाँच विषयों में आसक्ति है, इसीलिए यह शरीर मिला है । **'रतौ पुरुषीकरणं आरोपितम्'** – रति प्रसंग में प्रकृति पुरुष की तरह नाटक करती है । जैसे स्त्री और उसका पति है । एक तो पुरुष की तरह आचरण कर रहा है, स्त्री का आचरण तो स्त्री की तरह है ही । जो शरीर पुरुष की तरह आचरण कर रहा है, वह नकली है, वह पुरुष नहीं है । **'पुरुषीकरणं आरोपितम्'** – वह है 'स्त्री' किन्तु पति (पुरुष) की तरह नाटक कर रहा है । इसलिए परम पुरुष भगवान् ही पति हैं । यह स्वयं भगवान् कह रहे हैं – **'मन्मायामृषभायतीम्'** इस श्लोक के प्रति भागवत के टीकाकार आचार्यों ने यह भाव लिखा है ।

जीव इस संसार में भोग भोगकर मरता है, फिर जन्म लेता है ।

'पञ्चत्वमहं मानाद्' (श्रीभागवतजी - ३/३१/४५)

जीव जिस शरीर के प्रति अहं बुद्धि रखता है और मानता है कि यह मैं हूँ, यही जन्म है । भाव यह है कि मृत्यु आदि से भय नहीं करना चाहिए ।

बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह ।

(श्रीभागवतजी - ३/३१/४७)

भगवान् कहते हैं कि यह मैं इसलिए बता रहा हूँ कि जीव गति को समझकर धैर्यपूर्वक निःसंग भाव से मनुष्य विचरण करे,

मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम् । (श्रीभागवतजी - ३/३१/४८)

माया विरचित इस संसार में अपने शरीर को धरोहर समझो, धरोहर किसकी, प्रभु की । प्रभु की धरोहर समझकर तब इस संसार में आचरण करो तो माया से मुक्त हो जाओगे ।

अध्याय – ३२

इस अध्याय में कपिल भगवान् ने धूमयान मार्ग बताया है, अर्चिरादि गति बताई और फिर सत्य लोक आदि की स्थिति बताकर भक्तियोग की स्थिति बतायी है । ब्रह्माजी का कैसे जन्म हुआ, फिर भगवत्कृपा से उन्होंने कैसे सृष्टि बनाई ? सारा उपदेश देने के बाद अन्त में कपिल भगवान् बोले कि मैंने जो यह ज्ञानोपदेश दिया है, उसे उन लोगों को मत बताना जो भक्तों से द्वेष करते हैं, जो दुष्ट हैं, घमण्डी और दुराचारी हैं ।

अध्याय – ३३

कपिल भगवान् की वाणी सुनकर देवहूति माता ने उनकी स्तुति की । देवहूतिजी ने कहा –

प्रभो ! आपके पेट में सारा संसार है । बड़े आश्चर्य की बात है कि आप मेरे पेट में कैसे आ गये ?

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद् यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥

(श्रीभागवतजी - ३/३३/६)

आपके नाम का श्रवण करने से, कीर्तन करने से तथा आपको प्रणाम करने व स्मरण करने से चाण्डाल भी उसी समय सोम यज्ञ करने का अधिकारी हो जाता है ।

यदि कहीं पर कीर्तन हो रहा हो और मुँह से तुम कीर्तन नहीं कर सकते हो तो वहाँ जाकर बैठ जाओ तथा कान से कीर्तन सुन लो । घंटाकर्ण मत बनो । हिरण्यकशिपु का एक मंत्री था घंटाकर्ण । उसने अपने कान में घंटा बाँध रखे थे । कहीं से यदि वह भगवान् का नाम सुन लेता तो जोर-जोर से अपने कानों को हिलाता, ऐसा करने से

उसके घंटे बजने लग जाते थे, जिससे कि कान में भगवान् का नाम न घुस जाये । इसलिए घंटाकर्ण नहीं बनना चाहिए । भगवान् का नाम यदि मुख से नहीं ले सकते हो तो जहाँ कीर्तन हो रहा हो, वहाँ जाकर सो जाओ ।

भारत के एक प्रसिद्ध विद्वान् संत ने इस श्लोक का बड़ा गलत अर्थ किया था । उनकी कर्मकाण्ड में निष्ठा थी इसलिए उन्होंने सद्यः का अर्थ घुमाकर किया कि कई जन्म लगेंगे फिर जब ब्राह्मण बनेगा तब सोमयज्ञ का अधिकारी होगा । ऐसा अर्थ उन्होंने इसलिए किया क्योंकि उनके मन में इतना दुराग्रह था कि वह भक्ति की महिमा समझ ही नहीं सके ।

आगे देवहूति जी ने कहा –

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥

(श्रीभागवतजी - ३/३३/७)

वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है, जिसकी जीभ पर आपका नाम है । उस ब्राह्मण से क्या लाभ, जो भगवान् का नाम नहीं लेता है ।

अभयराम ये हू बड़भागी, बामन हैं कि रावन ।

रावण भी ब्राह्मण था ।

देवहूतिजी कहती हैं कि जो लोग आपका नाम उच्चारण करते हैं, उन्होंने तपस्या, हवन, तीर्थ स्नान, सदाचार का पालन और वेदों का अध्ययन आदि सब कुछ कर लिया ।

मैं आपको प्रणाम करती हूँ ।

भगवान् कपिलदेव अपनी माताजी की बात सुनकर उनकी आज्ञा लेकर चले गये । देवहूतिजी वन में त्रिकाल स्नान करती थीं । बार-बार स्नान करने से उनके बालों में जटायें पड़ गयीं ।

जब अध्यात्म पथ का ज्ञान उदय हो जाए या भगवान् की कृपा हो जाए, भक्ति आ जाये तब इस शरीर को कोई नहीं सजाता है । कुत्ता और सियार के भोजन इस शरीर में भक्तों की मैं और मेरेपन की बुद्धि नहीं रहती है । देवहूतिजी ने अपने पति कर्दमजी के तप और योगबल से प्राप्त गार्हस्थ्य सुख और देवताओं को भी दुर्लभ वैभव को त्याग दिया था । हम लोग तो दो-चार पैसे के मकान, फ्रिज और टेलीविजन ही नहीं छोड़ पाते हैं । देवहूतिजी ने तो देवताओं से भी प्रार्थित दिव्य विमान तक को छोड़ दिया । अब जब भगवान् जैसे उनके पुत्र विदा होने लगे तो वे थोड़ी सी उदास हो गयीं, अधिक उदास नहीं हुईं । बहुत से लोग बढ़ाकर कहते हैं कि वह बहुत रोयीं, यह बात गलत है । जिनको स्वयं भगवान् ने ज्ञान दिया, उनमें कोई कमी रह सकती है । **'किञ्चिच्चकार'** – थोड़ी उदासी अवश्य हुई क्योंकि भगवद्-विग्रह से वियोग हो रहा था । कितना भी ब्रह्मज्ञान हो जाये, ब्रह्मज्ञान क्या कर लेगा, सगुण-साकार भगवान् की लीला ही ऐसी है । जनकजी से बड़ा ब्रह्मज्ञानी कौन हो सकता था, राम जी को जब उन्होंने देखा तो गोस्वामीजी लिखते हैं – **'बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा'** जनकजी ने ब्रह्मसुख को छोड़ दिया । इसीलिए देवहूतिजी भी भगवान् कपिल के वियोग से थोड़ा उदास हुईं और फिर वे भगवान् के ही रूप का चिन्तन करने लगीं । निरन्तर समाधि में लीन रहने के कारण उन्हें अपने शरीर की भी सुधि नहीं रही । उस समय उनके शरीर का पोषण दूसरों के द्वारा होता था, दूसरे लोग ही उनके शरीर को नहलाते-धुलाते थे क्योंकि उन्हें अपने शरीर की सुध-बुध ही नहीं रहती थी । उनकी शोभा ऐसी हुई जैसे धुआँ से युक्त अग्नि । उनका शरीर एक नदी के रूप में परिणत हो गया । जिस स्थान पर उन्हें

सिद्धि प्राप्त हुई, वह परम पवित्र स्थान 'सिद्धपद' नाम से विख्यात हुआ ।

भगवान् कपिल भी गंगा सागर की ओर चले गये । वहाँ स्वयं समुद्र ने उनका पूजन करके उन्हें स्थान दिया । इस प्रकार यहाँ तीसरे स्कन्ध की कथा समाप्त होती है ।

चतुर्थ स्कन्ध

अध्याय – १

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – मनु महाराज की तीन पुत्रियाँ थीं – आकूति, देवहूति और प्रसूति । आकूति का विवाह उन्होंने रुचि प्रजापति के साथ पुत्रिका धर्म का आश्रय लेकर किया । पुत्रिका धर्म यह है कि किसी मनुष्य के पुत्र नहीं है, केवल पुत्रियाँ ही हैं तो वह जब अपनी पुत्री का विवाह करता है तो इस आशा के साथ करता है कि पुत्री का जो बेटा होगा उसे हम गोद ले लेंगे । पुत्री के बेटे को ही वह अपना बेटा मानता है । इस शर्त के साथ मनुजी ने आकूति का विवाह किया था, पर उन्होंने ऐसा क्यों किया क्योंकि आकूति के तो दो भाई थे प्रियव्रत और उत्तानपाद, फिर मनुजी ने आकूति का विवाह पुत्रिका धर्म के अनुसार क्यों किया ? ऐसा उन्होंने भगवदिच्छा से किया था, शतरूपाजी ने भी इसका अनुमोदन किया । मनु-शतरूपा दोनों भक्त थे । वे जानते थे कि आगे लक्ष्मी-नारायण एक साथ प्रकट होने वाले हैं तो नारायण को अलग से लेकर उनका लक्ष्मी के साथ विवाह कर देंगे । प्रजापति रुचि के जो पुत्र हुआ, वह साक्षात् विष्णु थे, यज्ञ स्वरूप धारण करने वाले थे और जो स्त्री थी, वह साक्षात् लक्ष्मीजी की अंशस्वरूपा थी । मनुजी अपनी पुत्री के पुत्र यज्ञ भगवान् को अपने घर ले आये, कन्या दक्षिणा जी को रुचि प्रजापति ने अपने पास ही रखा । आगे चलकर उन्हीं रुचि प्रजापति की कन्या दक्षिणा के साथ मनुजी ने अपने पुत्र यज्ञ भगवान् का विवाह कर दिया । इसीलिए

मनुजी ने पुत्रिका धर्म के अनुसार आकूति का विवाह रुचि प्रजापति के साथ किया था । यज्ञ भगवान् ने बारह पुत्र उत्पन्न किये । वे ही स्वायम्भुव मन्वन्तर में 'तुषित' नाम के देवता हुए । मनुजी ने अपनी कन्या प्रसूति का विवाह दक्ष प्रजापति के साथ किया । कर्दमजी ने अपनी नौ कन्याओं का विवाह ब्रह्माजी के पुत्र नौ ब्रह्मर्षियों के साथ किया था । कला से मरीचि ऋषि का विवाह हुआ, उनसे कश्यप और पूर्णिमा नामक दो पुत्र हुए । पूर्णिमा के विरज और विश्वग नाम के दो पुत्र तथा देवकुल्या नाम की एक कन्या हुई । यही दूसरे जन्म में गंगाजी बनी । अत्रि ऋषि की पत्नी अनसूया से तीन पुत्र हुए, जिनके नाम थे – दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा । दत्तात्रेयजी विष्णु भगवान् के अंश से, दुर्वासाजी शिवजी के अंश से तथा चन्द्रमा ब्रह्माजी के अंश से उत्पन्न हुए थे । श्रीमैत्रेयजी कहते हैं कि जब ब्रह्माजी ने महर्षि अत्रि को सृष्टि रचने के लिए आज्ञा दी तब वे अपनी धर्मपत्नी अनसूयाजी के साथ तप करने के लिए ऋक्ष नामक कुलपर्वत पर गये । वहाँ उन्होंने सौ वर्षों तक तप किया । एक पाँव पर खड़े होकर उन्होंने तप किया था । उनके तप से प्रसन्न होकर भगवान् तीन रूप से उनके सामने प्रकट हुए । अत्रि मुनि ने कहा – 'भगवन् ! मैंने तो आपके एक रूप का भजन किया फिर आप तीन रूपों में एक साथ कैसे आ गये ?' तीनों देवों ने कहा – 'तुम जिस 'जगदीश्वर' का ध्यान करते थे, वह हम तीनों ही हैं । हम तीनों एक ही हैं । हमारे अंश से तुम्हारे तीन पुत्र उत्पन्न होंगे ।'

अंगिरा ऋषि की पत्नी श्रद्धा से सिनीवाली, कुहू, राका और अनुमति नामक चार कन्यायें उत्पन्न हुई । पुलस्त्यजी की पत्नी हविर्भू से महर्षि अगस्त्य और महातपस्वी विश्रवा नाम के दो पुत्र हुए । अगस्त्य जी अगले जन्म में जठराग्नि हुए । विश्रवा मुनि की पत्नी इडविडा के गर्भ से कुबेरजी का जन्म हुआ तथा उनकी दूसरी पत्नी केशिनी से रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण का जन्म हुआ । इसलिए

रावण और कुबेर भाई-भाई हुए । महर्षि पुलह की स्त्री गति से कर्मश्रेष्ठ, वरीयान और सहिष्णु नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए । इसी प्रकार क्रतुजी की पत्नी क्रिया से बालखिल्यादि साठ हजार ऋषि उत्पन्न हुए । वसिष्ठजी की पत्नी अरुन्धती से चित्रकेतु आदि सात ब्रह्मर्षियों का जन्म हुआ । भृगुजी की पत्नी ख्याति से धाता और विधाता नामक पुत्र तथा श्री नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई । मनुजी की पुत्री प्रसूति का विवाह दक्ष प्रजापति के साथ हुआ था । उनकी सोलह कन्यायें उत्पन्न हुई । दक्षजी ने उनमें से तेरह धर्म को, एक अग्नि को, एक पितृगण को और एक महादेवजी को दे दिया । धर्म की तेरह पत्नियों के नाम थे – श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति । मूर्ति से नर-नारायण ऋषियों का जन्म हुआ, वे भगवान् के अवतार हैं । उनका जन्म होने पर देवताओं ने आकर उनकी स्तुति की । दक्ष की पुत्री स्वधा का विवाह पितरों के साथ हुआ था । इनकी धारिणी और वयुना नाम की दो कन्यायें हुईं, वे दोनों ही ज्ञान-विज्ञान में पारंगत और ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने वाली हुईं । अग्निदेव की पत्नी स्वाहा से पावक, पवमान और शुचि नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए । इन्हीं तीनों से पैंतालीस प्रकार के अग्नि और उत्पन्न हुए । ये ही अपने तीन पिता और एक पितामह को साथ लेकर उनचास अग्नि कहलाये । दक्ष ने अपनी पुत्री सती का विवाह महादेवजी के साथ किया, उनके कोई सन्तान नहीं हुई । सती ने अपने पिता के अपराध के कारण क्रोधवश योग के द्वारा स्वयं ही अपने शरीर का त्याग कर दिया था ।

अध्याय – २

विदुरजी ने पूछा – महाराज ! दक्ष ने महादेवजी से द्वेष क्यों किया ? यह तो ठीक नहीं है ।

दक्ष प्रजापति और महादेवजी की कथा बहुत महत्वपूर्ण है । इससे बहुत बड़ी शिक्षा मिलती है । संसार में तो आमतौर पर लोग

इतना ही जानते हैं कि परायी स्त्री से भोग करना और पराये धन को चुराना ही पाप है । द्वेष कितना बड़ा पाप है, इस बात को लोग नहीं समझते हैं । किसी को देखकर, किसी के सुख, उसकी उन्नति को देखकर द्वेष करना कितना बड़ा दुर्गुण है, इसे महादेवजी और दक्ष प्रजापति की कथा से समझो ।

श्रीमैत्रेयजी ने कहा – पहले एक बार प्रजापतियों के यज्ञ में सब बड़े-बड़े ऋषि, देवता आदि आये हुए थे । उसी समय प्रजापति दक्ष ने भी उस सभा में प्रवेश किया । वे बड़े ही तेजस्वी थे, उनको देखकर सभी लोग खड़े हो गये । केवल ब्रह्माजी और महादेवजी बैठे रहे । जब दक्ष ने देखा कि महादेवजी बैठे हैं और मेरा कुछ भी आदर नहीं कर रहे हैं तो उन्होंने महादेवजी की ओर टेढ़ी नजर से देखा और क्रोधित होकर बहुत सी ऊटपटांग बातें कहने लगे कि यह शिव बड़ा ही निर्लज्ज है, मैंने अपनी कन्या का इसके साथ विवाह किया तो मुझसे यह छोटा है और मेरे शिष्य जैसा है । मेरी कन्या मृग के से नेत्रों वाली है और यह तो बन्दर के से नेत्रों वाला है । इस प्रकार दक्ष ने महादेवजी को क्रोध में भरकर बहुत कुछ बुरा-भला कहा किन्तु महादेवजी शान्त रहे । इससे दक्ष का क्रोध और भी अधिक बढ़ गया और उन्होंने महादेवजी को शाप दे दिया कि इसे देवताओं के साथ यज्ञ का भाग न मिले । सब लोग दक्ष को रोकते रहे किन्तु दक्ष ने किसी की नहीं सुनी, महादेवजी को शाप दे ही दिया । इस पर भी महादेवजी शान्त ही बैठे रहे क्योंकि वे ईश्वर हैं, उनके लिए मान-अपमान दोनों ही समान हैं । हम लोगों की वृत्ति तो कुत्ते के समान है जैसे कुत्ते को डंडा दिखाओ तो दूर भाग जायेगा और रोटी का टुकड़ा दिखाओ तो खुश हो जायेगा और पूँछ हिलाएगा । ऐसे ही हम लोग जरा से मान में प्रसन्न हो जाते हैं, कहते हैं कि मैं उसके घर गया तो उसने मेरा बड़ा

ही सत्कार किया, इस तरह पूँछ हिलाने लग जाते हैं । यह छोटे लोगों का स्वभाव है, जो थोड़े से मान और अपमान में प्रसन्न और नाराज होते रहते हैं । जो ईश्वर हैं, उन्हें मान-अपमान से क्या, उन्हें गाली दे दो तो भी वे शान्त रहेंगे । महादेव बाबा पर तो हजारों लोटा जल डाल दो तब भी उन पर क्या असर होने वाला है किन्तु महादेवजी के अनुचर नन्दीश्वरजी को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने कहा – 'यह दक्ष भगवान् शिव से द्रोह कर रहा है, यह तत्त्व ज्ञान से विमुख हो जाए । इसका मुख बकरे के समान हो जाये । इसका समर्थन करने वाले ये ब्राह्मण कितना भी शास्त्र का अध्ययन कर लें किन्तु ये सदा याचक ही बनें रहेंगे ।' इस प्रकार नन्दीश्वरजी ने शाप दे डाला ।

जो ब्राह्मण भगवद्भक्त हैं, उन पर नन्दीश्वरजी के शाप का प्रभाव नहीं होगा । उनकी महिमा का तो कोई ठिकाना ही नहीं है । एक तो वे ब्राह्मण हैं और दूसरे भगवद्भक्त हैं । उनके तेज को कोई नहीं पा सकेगा ।

नन्दीश्वरजी के शाप को सुनकर बदले में भृगुजी ने भी शाप दे दिया – 'शिव जी के जितने भी अनुगामी हैं, उनमें कोई पवित्रता नहीं रहेगी और वे पाखण्ड पथ में चले जाएँ । 'इसीलिए आजकल शैव मत से सम्बंधित बहुत से पाखण्ड पथ पर जाने वाले वाम मार्गी और सिद्धि वाले चल रहे हैं ।

जब दोनों पक्षों में इस प्रकार झगड़ा होने लगा तो भगवान् शिव वहाँ से चले गये । वे थोड़ा सा उदास हो गये – **'किञ्चिद्विमना इव सानुगः'** – (श्रीभागवतजी - ४/२/३३) । यह विचित्र बात है । थोड़ा- सा उदास क्यों हुए या तो ज्यादा होते या बिलकुल न होते । यह बीच का सा काम उन्होंने क्यों किया ? जो मनुष्य बिलकुल उदास नहीं होता तो वह पूर्ण ज्ञानी समझा जाता है और यदि पूर्ण रूप से उदास होता है तो

ऐसा समझा जाता है कि वह करुणा के कारण उदास हो रहा है या आसक्त है । परन्तु यहाँ श्लोक में शिवजी के बारे में किञ्चित् क्यों लिखा है कि वे थोड़ा सा उदास हुए तो इसकी टीका में आचार्य श्रीधरस्वामीजी लिखते हैं –

भगवदनुगृहीतानांनाशोनस्यादितिभावः । (श्रीधर स्वामी)

थोड़ा सा उदास शिवजी इसलिए हुए क्योंकि उन्होंने सोचा कि दक्ष का पूर्ण नाश तो होगा नहीं क्योंकि भगवान् इस पर कृपा करेंगे किन्तु थोड़ी देर के लिए तो इस पर कष्ट आ ही गया है । इसलिए शिवजी थोड़े से उदास हो गये । यह सब झगड़ा गंगा-यमुना के संगम तट पर प्रयाग में हुआ था, जहाँ यज्ञ हो रहा था ।

अध्याय – ३

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – विदुरजी ! इस प्रकार दक्ष का महादेवजी के प्रति द्वेष बढ़ता गया और उधर ब्रह्माजी ने उसे प्रजापतियों का अधिपति बना दिया तो उसका मद बढ़ गया । पहले तो उसने वाजपेय यज्ञ किया और फिर बृहस्पति सव नाम का महायज्ञ आरम्भ किया । उस यज्ञोत्सव में सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर, देवता आदि अपनी-अपनी पत्नियों के साथ जाने लगे । सतीजी ने आकाश मार्ग से अपने पिता के यज्ञ में जाते हुए देवताओं को देखा तो वह महादेवजी से बोलीं – 'भगवन् ! आपके जो श्वसुर हैं, उनके यहाँ बहुत बड़ा यज्ञ हो रहा है । वहाँ मेरी बहनें आयेंगी, इसके अतिरिक्त मेरी मौसियाँ आयेंगी, मौसियों की पुत्रियाँ भी आयेंगी । पीहर में जाकर मैं उन सबसे मिलूँगी । मेरी समस्त बहनों के पति भी आएंगे । वहाँ आप और मैं चलेंगे तो माता-पिता के दिए हुए गहने, कपड़े आदि उपहार भी मिलेंगे । मैं अपनी जन्म भूमि देखना चाहती हूँ । अपने पीहर में

तो बिना बुलाये भी जाना चाहिए । माता-पिता और गुरु के यहाँ तो बिना बुलाये जाना चाहिये ।' इस प्रकार सतीजी शिवजी से कहने लगीं तो महादेवजी को स्मरण हो आया कि दक्ष मुझसे कितना अधिक द्वेष करता है । भगवान् शंकर ने कहा – 'देवि ! तुमने बात तो बहुत अच्छी कही परन्तु चाहे वे माता-पिता हैं अथवा कोई भी हैं किन्तु **यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयो** – जो लोग दोष दृष्टि रखते हैं, उनके यहाँ नहीं जाना चाहिए क्योंकि दोष दृष्टि वाले अपने पिता के घर तुम जाओगी तो मेरे कारण वे तुमसे भी द्वेष करेंगे । इसलिए वहाँ जाने से दुर्भाव और बढ़ेगा, उनकी बातें सुनकर कटुता और वैर बढ़ेगा ।

विद्यातपोवित्तवपुर्वयः कुलैःसतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः ।
स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/३/१७)

विद्याध्ययन करना, तपस्या करना, धन होना, अच्छा शरीर होना, अच्छी जवानी होना, उत्तम कुल होना – ये छः चीजें संतों के लिए तो अच्छी हैं किन्तु दुष्ट पुरुषों के लिए अवगुण हैं ।'

दुष्ट यदि विद्या भी पढ़ लेगा तो दूसरों को परेशान करेगा । विद्या के द्वारा वह अपनी अनेक वासनाओं की पूर्ति करेगा । दुष्ट यदि तपस्या भी कर लेगा तो तामसी काम करेगा कि अमुक व्यक्ति मर जाये, उसका नुकसान हो जाये । इसलिए दुष्ट का तप करना भी बेकार है । दुष्ट के पास ज्यादा धन हो जाए, बढ़िया शरीर हो, अच्छी युवावस्था हो, उत्तम कुल में उसका जन्म हो जाए तो इन सबके द्वारा वह दूसरों का नुकसान ही करेगा । इन छः चीजों से जिसको मद हो जाता है, वह भक्तों अथवा संतों का महत्व नहीं जान सकता है । ऐसे लोगों के घर में नहीं जाना चाहिए । शिवजी ने सतीजी से कहा – 'हे देवि ! अपने पिता के घर जाने पर तुम कटु वाणी सुनोगी तो तुम्हारे हृदय में

दिन-रात जलन पैदा होगी और तुम अपने पीहर में सम्मान भी प्राप्त नहीं करोगी क्योंकि दुष्ट लोगों का स्वभाव होता है कि वे अकारण ही द्वेष करते हैं । क्यों द्वेष करते हैं क्योंकि भगवद्भक्तों के पास स्वतः ही वैभव आता है ।'

कोई भी संत हो यदि उसके पास वैभव है तो उससे द्वेष नहीं करना चाहिए । कुछ लोग बहुत बुराई करते हैं कि अमुक मण्डलेश्वर के पास बहुत वैभवशाली आश्रम है, उनके यहाँ बड़ा ऐश्वर्य है । इसका उत्तर यह है कि उन्होंने भजन किया तो भजन के प्रभाव से उनके पास ऐश्वर्य आ गया । हम लोग क्यों उनसे द्वेष करें, उनकी निन्दा करें ?

शिवजी सतीजी से कहते हैं कि तुम सोचती होगी कि यदि आप प्रजापतियों की सभा में मेरे पिता का आदर कर देते तो उनका आपके प्रति अकारण द्वेष न बढ़ता तो इसका उत्तर यह है कि

'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्' (श्रीभागवतजी - ४/३/२३)

विशुद्ध अन्तःकरण ही 'वसुदेव' है ।

इस श्लोक का बहुत महत्त्व है । आचार्यों ने इसका अलग-अलग अर्थ किया है ।

यदीयते तत्र पुमानपावृतः
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो
ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते ।

(श्रीभागवतजी - ४/३/२३)

पहले इस श्लोक का साधारण अर्थ समझो ।

जो विशुद्ध सत्त्व है अन्तःकरण, इसी को वसुदेव कहा गया है । जहाँ पर भगवान् निरावरण रूप से रहते हैं, उसी अन्तः करण में हम भगवान् वासुदेव को नमस्कार करते हैं । हम केवल कृष्ण को

नमस्कार करते हैं, जो भगवान् वासुदेव हैं – ऐसा महादेव जी ने कहा ।

इस श्लोक में शुद्ध अन्तः करण को वसुदेव बताया गया है । ऐसा कैसे है ? इसका एक कारण तो यह है कि उसमें भगवान् रहते हैं । उदाहरण के लिए समझो जैसे कोई तुम्हारा मित्र है, उसका नाम रामचन्द्र है । बाहर से कुछ लोग आये और पूछा कि रामचन्द्र का घर कौन सा है ? जिससे पूछा गया, उसने कहा कि यहाँ से नहीं बतायेंगे, नहीं तो वह चिढ़ेगा, दूर से बतायेंगे । दूर से उसने घर का संकेत करते हुए कहा – 'देखो, ये है रामचन्द्र अर्थात् रामचन्द्र यहीं रहता है ।' जैसे बरसाना में लोग कहते हैं कि हम श्रीजी जा रहे हैं । अब यह बात तो गलत है । श्रीजी के मंदिर जा रहे हैं, ऐसा कहना चाहिए था । वृन्दावन में कुछ लोग कहते हैं कि बिहारीजी जा रहे हैं जबकि कहना चाहिए था कि बिहारीजी के मन्दिर जा रहे हैं । आशय यह है कि जो जहाँ रहता है, वह स्थान उसी के नाम से पुकारा जाता है । इसी तरह भगवान् शुद्ध अन्तःकरण में रहते हैं, इसलिए चित्त को भी 'वसुदेव' कहा गया है । विशुद्ध सत्त्व क्या वस्तु है ? यह बात भागवत में भगवान् ने आगे कही है – **'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्'** अर्थात् मत्सम्बन्धी जो ज्ञान है, वह निर्गुण है । वह तीनों गुणों से अलग होता है । इसलिए जो लोग ज्ञान को सतोगुण मानते हैं तो यह बात वैष्णव सिद्धांत से गलत है । ज्ञान सतोगुण अवश्य है परन्तु वही ज्ञान जब कृष्णनिष्ठ बन जाता है तो वह निर्गुण हो जाता है, गुणातीत हो जाता है । अप्राकृत चिच्छक्ति से युक्त हो जाता है भक्ति के कारण से । वह सब वस्तु अप्राकृत बन जाती है । शुद्ध अन्तः करण को वसुदेव क्यों कहा गया ? **'वासयति देवम्'** या **'वसति अस्मिन् वा'** – चित्त को वसुदेव इसलिए कहा गया क्योंकि इसमें भगवान् रहते हैं या

यह भगवान् को रुकाता है अथवा वसुदेव इसलिए कहा गया क्योंकि **'वसुभिः' पुण्यै प्रकाशिते** – पुण्य करोगे तो चित्त अपने स्वरूप में आकर प्रकाशित होगा, नहीं तो काला ही बना रहेगा, जैसे – शीशे पर तारकोल पोत दो तो काला हो जाएगा और तारकोल हटा दिया जाए तो शीशा उज्जवल हो जाएगा, इसलिए चित्त का स्वरूप भी पुण्य से ही प्रकाशित होता है ।

इस प्रकार बताने के बाद महादेवजी सतीजी से बोले कि यदि तुम अपने पिता के घर जाना चाहती हो तो जाओ किन्तु वहाँ तुम्हारे जाने से कल्याण तो होगा नहीं क्योंकि जो व्यक्ति अपमान की जगह जाता है, वहाँ उसे मरना ही पड़ता है ।

अध्याय – ४

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – इतना कहकर भगवान् शंकर मौन हो गये । महादेवजी ने सती को अपने बन्धुजनों से मिलने से मना किया तो वह बड़ी उदास हो गयीं और रोने लगीं । रो भी रही थीं और क्रोधित होकर महादेवजी की ओर देख भी रही थीं । वे शिवजी को क्रोधपूर्ण दृष्टि से इस प्रकार देख रही थीं, मानो उन्हें जला देंगी । अन्त में मोह की लीला जीती । **स्त्रैणविमूढधी** – स्त्रीस्वभाव के कारण उनकी बुद्धि मूढ़ हो गयी । श्रीधर स्वामीजी लिखते हैं कि यहाँ स्त्री स्वभाव की लीला हो रही है । स्त्री स्वभाव से मोहित होकर सतीजी अपने पिता के घर को चली गयीं । दूसरी बात यह कि वैष्णव आचार्य लिखते हैं – **स्त्रैण** कौन, माया अथवा जीव । जो लोग मोहित हो जाते हैं ऐसी देवी से, सतीजी ऐसी ही देवी हैं । वे यहाँ लीला कर रही हैं । वे जब पिता के घर चलीं तो उनके पीछे-पीछे महादेवजी के सहस्त्रों परिकर भी चले तथा सतीजी को बैल पर सवार करा दिया और उन्हें गेंद खिलाते हुए ले गये । वे सभी दक्ष की यज्ञशाला में पहुँच गये ।

वहाँ पर सतीजी का कोई सम्मान नहीं हुआ । माता और बहनें अवश्य उनसे प्रेम से मिलीं, उन्हें सम्मानपूर्वक उपहार तथा सुन्दर आसन आदि दिया किन्तु जब पिताजी ही उन्हें नहीं देख रहे थे तो उन्होंने उन उपहार और आसनादि को स्वीकार नहीं किया । सतीजी ने देखा कि यज्ञ में भगवान् शंकर के लिए कोई भाग ही नहीं दिया गया है, तब उन्हें याद आई शंकरजी की बात कि अनादर की जगह नहीं जाना चाहिए । सतीजी को बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने कहा – दुष्टों की क्या पहचान है ? दुष्टों की सभा में बैठ जाओ तो वहाँ निन्दा ही निन्दा सुनने को मिलेगी, किसकी निन्दा मिलेगी, सन्तों की निन्दा मिलेगी ।

नाश्चर्यमेतद्यदसत्सु सर्वदा महद्विनिन्दा कुणपात्मवादिषु ।
सेर्ष्यं महापूरुषपादपांसुभिर्निरस्ततेजःसु तदेव शोभनम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/४/१३)

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, यही उनकी पहचान है । ऐसे लोगों को मुर्दा के समान समझो, जो महापुरुषों की निन्दा करते हैं, क्यों ? क्या महापुरुष उनकी कोई हानि करते हैं, नहीं, महापुरुष तो उनको क्षमा कर देते हैं परन्तु महापुरुषों के चरणों की धूल अवश्य ही ऐसे निन्दकों को तेजहीन कर देती है । वे बिना मारे ही मर जाते हैं ।

कर्णौ पिधाय निरयाद्यदकल्प ईशे
धर्मावितर्यसृणिभिर्नृभिरस्यमाने ।
छिन्द्यात्प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चेत्
जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/४/१७)

जहाँ पर भगवान् की, शिवजी की और भगवान् के भक्तों की निन्दा हो रही हो, यदि शक्ति है तो ऐसे निन्दकों की जीभ काट ले और

इतनी शक्ति नहीं है तो अपने कान बन्द करके वहाँ से चला जाये, बेकार में वहाँ अपना तेज क्यों नष्ट करे ?

सतीजी ने अपने पिता से कहा – आपके शरीर से उत्पन्न अपने शरीर को मैं अब धारण नहीं करूँगी क्योंकि आप शिव द्रोही हैं । आप जो शिवजी को भ्रष्ट बताते हैं कि महादेव श्मशान में घूमते हैं तो शिव तो ब्रह्म हैं । ब्रह्म प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों प्रकार के कर्मों से अलग है । ब्रह्म को कर्मों का बन्धन नहीं होता । वह तो कैसे भी रहे, उसे क्या दोष लगेगा ? अब मैं इस शरीर को धारण नहीं करूँगी क्योंकि आप भगवान् शिव के अपराधी हैं ।

'तज्जन्म धिग् यो महतामवद्यकृत्' (श्रीभागवतजी - ४/४/२२)

उस जन्म को धिक्कार है, जिस जन्म में संतों-महापुरुषों की निन्दा हुई है, उनके प्रति अपराध हुआ है ।

यहाँ पर वैष्णव आचार्यों ने बड़ी अच्छी बात लिखी है क्योंकि वैष्णव तो सब जगह भगवान् को देखते हैं, उनके हृदय में विष्णु और शिव में भेद की बात नहीं होती । यह तो मूर्खों ने बाद में चलकर शैवों और वैष्णवों के मध्य राग-द्वेष फैला दिया । विश्वनाथ चक्रवर्तीजी लिखते हैं – ये सतीजी कौन हैं, जो शरीर छोड़ रही हैं ।

सर्वसामर्थ्याच्च ब्रह्माण्डकोटीरपि हन्तुं शक्नुवत्यपि ।

(श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीजी)

ये वही देवी हैं, जो एक बार देख दें तो करोड़ों ब्रह्माण्ड जल जायेंगे । दक्ष बेचारे की क्या चलाई परन्तु वे अपने शरीर को क्यों छोड़ रही हैं, इसलिए छोड़ रही हैं कि यदि मैं अपने पिता को जला दूँगी तो इससे महादेवजी की निन्दा होगी, वे भी दुखी होंगे क्योंकि उनकी इच्छा नहीं है कि मैं दक्ष को जलाऊँ और लोग भी निन्दा करेंगे कि

देखो, सती ने पति के लिए अपने पिता का वध कर दिया । इसलिए चलो, मैं ही अपने शरीर को छोड़ दूँ । महादेवजी का यश मैं कलंकित नहीं करूँगी ।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – ऐसा कहकर सतीजी मौन होकर उत्तर दिशा में भूमि पर बैठ गयीं तथा योग पथ पर आविष्ट होकर अपने शरीर में अनिल (वायु) और अग्नि की धारणा की । जगद्गुरु भगवान् शिव के चरणों का स्मरण करते हुए इस प्रकार सतीजी ने अपने शरीर को छोड़ दिया । उनका शरीर तुरन्त ही योगाग्नि से जल उठा । कुछ लोग स्कन्द पुराण की कथा भी बताते हैं कि सतीजी के मृत शरीर को शिवजी कन्धे पर रखकर उन्मत्त की भाँति विचरण करने लगे तब भगवान् विष्णु ने सतीजी के शरीर को चक्र की धार से खण्ड-खण्ड कर दिया । इन कथाओं के भेद के पीछे रहस्य ये है कि कल्पभेद से सभी लीलायें सत्य हैं । यह जितना भी नाटक होता है, यह केवल एक लीला है । हम लोग अपनी मानवीय बुद्धि से जो जन्म-मृत्यु सोचते हैं, ऐसा ईश्वर के प्रति नहीं सोचना चाहिए । देह का त्याग करना तो सतीजी की एक लीला है । हम लोग तो कर्म बन्धन से ग्रसित होकर अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं किन्तु ईश्वर तथा उनकी शक्ति स्वेच्छा से लीला करते हैं ।

सतीजी का देहत्याग देखकर शिवजी के पार्षद क्रोधित होकर दक्ष को मारने के लिए दौड़े । उस समय भृगुजी ने यज्ञ कुण्ड से 'ऋभु' नाम के हजारों तेजस्वी देवता प्रकट किये और उन्होंने शिवजी के पार्षदों पर हमला करके उन्हें भगा दिया ।

अध्याय – ५

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – नारदजी कैलाश पर्वत पर पहुँचे और शिवजी को बताया कि दक्ष की यज्ञशाला में सतीजी ने शरीर का त्याग

कर दिया है । नारदजी से यह समाचार सुनते ही शिवजी बहुत क्रोधित हुए । उन्होंने दाँतों से अपने होठ दबाते हुए अपने हाथ से बिजली के समान चमकती हुई एक जटा उखाड़ ली और अट्टहास करते हुए खड़े हो गये । जटा को उन्होंने पृथ्वी पर पटक दिया । उसी समय उस जटा से महादेवजी का प्रतिरूप एक विकराल पुरुष प्रकट हुआ, उसके गले में मुंडों की माला और हाथों में अनेक हथियार थे । बादल के समान उसका श्याम रंग था, सूर्य के समान जलते हुए तीन नेत्र थे, उसके दाढ़-दाँत बड़े भयानक थे । उसने हाथ जोड़कर शिवजी से पूछा – 'भगवन् ! क्या आज्ञा है ?' शिवजी बोले – 'जाओ, दक्ष तथा उसके यज्ञ को समाप्त कर दो । तुम आज से मेरे पार्षदों के अधिनायक माने जाओगे ।' जब भगवान् शंकर ने उसे ऐसी आज्ञा दी तो वीरभद्र ने अपने स्वामी की परिक्रमा की और हाथ में त्रिशूल लेकर चल दिये । उस समय उन्हें ऐसा मालूम होने लगा कि मेरे वेग का सामना करने वाला संसार में कोई नहीं है । इधर दक्ष की यज्ञशाला में बैठे हुए लोगों ने जब उत्तर दिशा की ओर बड़ी धूल उड़ती हुई तब वे सोचने लगे – 'अरे, यह धूल कैसी उड़ रही है, कहीं इसी समय प्रलय तो नहीं होने वाली है ?' कुछ लोग बोले – 'यहाँ पर दक्ष की पुत्री सती का अपमान हुआ है, उस अपराध का कुछ परिणाम तो सामने आएगा ही ।' इतने में ही आकाश और पृथ्वी में सब ओर भयंकर उत्पात होने लगे और उसी समय शिव जी की सेना ने उस यज्ञशाला पर आक्रमण कर दिया । रुद्र के अनेकों अनुचर और भूत-पिशाच यज्ञशाला के यजमानों को तंग करने लगे । कुछ ने यज्ञकुण्डों में पेशाब कर दिया । कोई-कोई मुनियों को डराने लगे । मणिमान् ने भृगु ऋषि को बाँध दिया, वीरभद्र ने प्रजापति दक्ष को कैद कर लिया, चंडीश ने पूषा देवता को और नन्दीश्वर ने भग देवता को पकड़ लिया । जिस समय दक्ष की

सभा में महादेवजी का अपमान हो रहा था, उस समय भृगुजी अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए हँसे थे, इसलिए वीरभद्र ने उनकी दाढ़ी-मूँछ नोच ली और कहा – 'तू बहुत दाढ़ी-मूँछ पर हाथ रखकर हँसा था, अब इसका दण्ड भोग ।'

हम लोगों को इस कथा से शिक्षा लेना चाहिए कि जब किसी की निन्दा होती है तो हम लोग बड़े प्रसन्न होते हैं, बहुत आँख मटकाते हैं लेकिन इसका दण्ड यह मिलेगा कि हमारी आँख फोड़ दी जाएगी । दूसरे की निन्दा होने पर कुछ लोग प्रसन्न होकर हाथ सहलाते हैं तो विधाता की ओर से उनके हाथ तोड़ दिए जायेंगे । प्राणियों से द्रोह मत करो । किसी के प्रति द्रोह और निन्दा से प्रसन्न मत हो । वीरभद्रजी ने भग देवता की आँखें निकाल लीं क्योंकि जब देवसभा में दक्ष 'महादेवजी' को शाप दे रहा था तो उस समय भग देवता ने आँखों से इशारा करके दक्ष को उकसाया था । वीरभद्र बोले – 'तूने बहुत आँख मटकाई थी, अब ले इसका मजा ।' जिस समय दक्ष ने महादेवजी को गालियाँ दीं थीं, उस समय पूषा देवता दाँत दिखाकर बहुत हँसे थे, इसलिए वीरभद्र ने उसके दाँत तोड़ दिए और अन्त में वीरभद्र ने दक्ष को पकड़कर उसे पृथ्वी पर पटक दिया तथा एक तेज धार वाली तलवार से उसका सिर काटने लगे परन्तु उसका सिर नहीं कटा ।

यह द्वेष का परिणाम है । कहाँ तो दक्ष सूर्य के समान तेजस्वी थे और अब उनका सिर काटा जा रहा था । यज्ञमण्डप में यज्ञ-पशु को जिस प्रकार यज्ञ-विधि से मारा जाता था, श्रीधर स्वामीजी लिखते हैं कि उसी प्रकार दक्ष का गला घोंटकर बहुत कष्ट देकर उसे मारा गया । विश्वनाथ चक्रवर्तीजी लिखते हैं कि दक्ष का गला नहीं घोटा गया बल्कि जब हथियारों का प्रयोग सफल नहीं हुआ तो उसके गले को तोड़ दिया गया । इस तरह दक्ष का वध हो गया ।

अध्याय – ६

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – इस प्रकार जब महादेवजी के सेवकों ने समस्त देवताओं को हरा दिया तब वे डरकर वहाँ से भाग गये और ब्रह्माजी के पास पहुँचकर उनसे कहने लगे – 'पितामह ! हम लोगों में से किसी के हाथ कट गये हैं, किसी की नाक कट गयी है, किसी के कान कट गये हैं, किसी की उँगली कट गयी है ।'

उस यज्ञ में ब्रह्माजी और भगवान् नारायण नहीं गये थे । देवताओं की बात सुनकर ब्रह्माजी ने उन्हें एक बहुत अच्छी बात बताई कि अगर कोई तेजस्वी पुरुष कोई अपराध करे, तुमको सताये तब भी उससे बदला नहीं लेना चाहिए । तेजस्वी पुरुष के अपराध का जो उससे बदला लेता है, उसके प्रति अपराध करता है तो उस मनुष्य का भला नहीं हो सकता ।

तदाकर्ण्य विभुः प्राह तेजीयसि कृतागसि ।
क्षेमाय तत्र सा भूयान्न प्रायेण बुभूषताम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/६/४)

यह सिद्धांत की बात है कि अपने से बड़ा कोई गलती कर रहा है, सता रहा है तो उसे चुपचाप सहन कर लो, उससे बदला मत लो नहीं तो नष्ट हो जाओगे ।

ब्रह्माजी ने देवताओं से कहा – 'तुम लोगों ने तो यज्ञ में भगवान् शंकर का भाग न देकर उनका बड़ा भारी अपराध किया है, इसलिए तुम लोग शुद्ध हृदय से उनके पैर पकड़ कर उन्हें प्रसन्न करो, उनसे क्षमा माँगो । मैं स्वयं भी उनके प्रमाण को नहीं जानता हूँ ।'

ब्रह्माजी के कहने से सभी देवता कैलाश पर्वत को गये । कैलाश पर्वत पर भगवान् शिव विराजते हैं । उनकी बहुत बड़ी शोभा है । जब

देवता लोग वहाँ गये तो सबसे पहले अलका पुरी पहुँचे, वहाँ सौगन्धिक वन उन्होंने देखा । वहाँ पर नन्दा और अलकनन्दा नाम की दो नदियाँ बहतीं हैं । यक्षेश्वर पुरी को छोड़कर देवगण मूल कैलाश पर पहुँचे, जहाँ वट वृक्ष था । वह सौ योजन ऊँचा था । उस वृक्ष के नीचे देवताओं ने भगवान् शंकर को देखा, जो नारदजी को ज्ञानोपदेश कर रहे थे । भगवान् शिव तर्क मुद्रा से बैठे थे । सभी देवताओं ने भगवान् शंकर को प्रणाम किया । शिवजी ने ब्रह्माजी को प्रणाम किया और ब्रह्माजी ने भी उन्हें प्रणाम किया तब ब्रह्माजी ने शिवजी को ब्रह्म मानकर उनकी स्तुति की ।

ब्रह्माजी ने कहा – आप ही प्रकृति और पुरुष हैं और उससे परे जो परब्रह्म है, वह भी आप ही हैं । आप ही विश्व के समस्त प्राणियों को कर्म फल देते हैं, मोक्ष भी आप ही देते हैं ।

त्वं कर्मणां मङ्गलमङ्गलानां
कर्तुः स्म लोकं तनुषे स्वः परं वा ।

(श्रीभागवतजी - ४/६/४५)

भगवान् शिव मोक्ष भी देते हैं । ऐसा नहीं है कि शिवजी मोक्ष नहीं दे सकते हैं । निम्न श्रेणी के लोग ही ऐसा भेदभाव फैलाते हैं, जिससे साधारण जनता को बड़ा नुकसान होता है ।

ब्रह्माजी कहते हैं – हे प्रभो ! आप ही स्वर्ग देते हैं, आप ही नरक देते हैं, आप ही मोक्ष देते हैं । पृथक बुद्धि वाले भेददर्शियों को भी आपको नहीं मारना चाहिए । आपको तो क्षमा ही करना चाहिए ।

कुर्वन्ति तत्र ह्यनुकम्पया कृपां
न साधवो दैवबलात्कृते क्रमम् ।

(श्रीभागवतजी - ४/६/४८)

संत तो कृपा ही करते हैं, जीव अपने कर्मों से स्वयं ही मरता है, सन्त किसी को नहीं मारते हैं । इसलिए अब आप इस दक्ष पर कृपा कीजिये और अपूर्ण यज्ञ का पुनरुद्धार कीजिये । प्रभो ! ऐसा कीजिये जिससे यजमान दक्ष फिर जी उठे, भृगुजी के दाढ़ी-मूँछ निकल आवें, पूषा के दाँत निकल आवें और भग देवता को नेत्र मिल जायें । यज्ञ पूरा होने पर जो इसका उच्छिष्ट भाग है, यह आपका होगा । उच्छिष्ट से मतलब है – अवशिष्ट भाग । श्रीधर स्वामी लिखते हैं –

यज्ञे कृते यावानुच्छिष्टः अवशिष्टोऽर्थः ।

(श्रीधरस्वामी)

अर्थात् यज्ञ में जो बचा हुआ है ।

अध्याय – ७

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – ब्रह्माजी के इस प्रकार प्रार्थना करने पर भगवान् शंकर ने कहा – हे प्रजापति ब्रह्माजी ! बच्चों के अपराध की ओर मैं ध्यान नहीं देता हूँ । अब दक्ष का मुख बकरे का हो जायेगा, भग देव मित्र देवता के नेत्रों से देखेंगे, पूषा अपने यजमान के दाँतों से खायेंगे तथा अन्य सब देवताओं के कटे हुए अंग फिर से उग आयेंगे । याज्ञिकों में से जिनकी भुजायें टूट गयी हैं, वे अश्विनी कुमार की भुजाओं से और जिनके हाथ नष्ट हो गये हैं, वे पूषा के हाथों से काम करें तथा भृगुजी के बकरे की दाढ़ी-मूँछ लगा दी जाएँ ।

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – भगवान् शंकर की वाणी सुनकर सब लोग प्रसन्न होकर वाह-वाह, साधु-साधु कहने लगे । देवताओं और ऋषियों की प्रार्थना से महादेवजी ब्रह्माजी के साथ दक्ष की यज्ञशाला में गये । दक्ष के धड़ से यज्ञ पशु का सिर जोड़ दिया गया । सिर जुड़ जाने पर दक्षजी उठे और अपने सामने भगवान् शिव को देखा । अब दक्ष का हृदय निर्मल हो गया ।

इस कथा का सार यह है कि द्वेष का कितना भीषण परिणाम होता है । द्वेषी व्यक्ति कभी सुखी नहीं रह सकता । यह रोग ऐसा है कि माँ-बाप अपने बेटे को सिखाते हैं – 'अरे देख, अमुक आदमी के लड़के पढ़-लिखकर कितना आगे बढ़ गये और तू ऐसे ही रह गया ।' इस तरह माँ-बाप ही अपने बच्चों को द्वेष सिखाकर उनका नाश करते हैं । द्वेषी व्यक्ति का कभी भी संग नहीं करना चाहिये यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, नहीं तो वह अपना गला तो काट ही चुका है, तुम्हारी भी हजामत बना देगा ।

अब दक्ष अपनी पुत्री सती की याद करने लगे कि मेरी पुत्री सती सब सद्गुणों से सम्पन्न थी और मैंने ऐसी पुत्री का अपमान किया । माँ हो, चाहे बाप हो, अकारण ही किसी का अपमान करोगे तो वह गलत है क्योंकि सभी जीवों के हृदय में भगवान् रहते हैं । दक्ष विशुद्ध भाव से महादेव जी की स्तुति करने लगे – 'हे भगवन् ! यदि आप दण्ड न देते तो मेरा पाप बढ़ते-बढ़ते मुझे लाखों जन्मों में भोगना पड़ता । आपके दण्ड से इसी जन्म में मेरे सब पाप नष्ट हो गये । आपने तो मुझ पर कृपा की । बड़े लोग जो दण्ड देते हैं, उससे जीव को लाभ होता है ।'

कोई यदि अपने मन में सोचता है कि महादेवजी ने बड़ा गलत किया, वे भी साधारण मनुष्य की तरह क्रोधित हो गये तो ऐसा सोचना ठीक नहीं है । महादेवजी ने तो दक्ष को दण्ड देकर उन्हें बड़े भारी संकट से बचा लिया ।

दक्ष कहते हैं – 'प्रभो ! आपका अपराध करने के कारण मैं नरक में जाने वाला था किन्तु आपने मुझे बचा लिया । अब आप मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाइये ।'

मैत्रेयजी कहते हैं – इसके बाद ब्राह्मणों ने वैष्णव यज्ञ के लिए वैष्णव पुरोडाश बनाया । दक्ष ने ज्यों ही विशुद्ध चित्त से श्रीहरि का ध्यान किया त्यों ही भगवान् अष्ट भुजाओं के साथ वहाँ प्रकट हुए ।

भगवान् को पधारे देखकर सभी ने उठकर उन्हें प्रणाम किया । दक्ष ने भगवान् की स्तुति की – 'हे प्रभो ! आप स्वतन्त्र हैं ।' ऋत्विजों ने कहा – 'भगवान् रुद्र के प्रधान अनुचर नन्दीश्वर के शाप के कारण हम आपके तत्त्व को नहीं जानते ।' सदस्यों ने कहा – 'हम लोग भवसागर में भटक रहे हैं, आपके चरणों में कब पहुँचेंगे ?' रुद्र ने कहा – 'मैं निरन्तर आपमें चित्त लगाकर ध्यान करता हूँ तो लोग मेरी बदनामी करते हैं और मुझे भ्रष्ट बताते हैं किन्तु आपके अनुग्रह से मैं उनके कहने-सुनने का विचार नहीं करता ।' भृगुजी ने कहा – 'प्रभो ! आप मुझ पर प्रसन्न हो जाइये ।' ब्रह्माजी बोले – 'भगवन् ! आप इन्द्रियों से परे हैं ।' इन्द्र ने कहा – 'आपका यह अष्ट भुजाओं वाला रूप असुरों का नाश करने वाला है ।' यज्ञपत्नियाँ बोलीं – 'आप अपनी दृष्टि से श्मशान भूमि के समान उत्सव हीन हुए इस यज्ञ को पवित्र कर दीजिये ।' सिद्धों ने कहा – 'प्रभो ! हमारा मन आपकी कथा की नदी में स्नान कर रहा है ।' यजमान पत्नी ने कहा – 'आपके बिना यज्ञ की शोभा नहीं होती जैसे सिर के बिना मनुष्य का धड़ अच्छा नहीं लगता ।' लोकपालों ने कहा – 'आप तो पञ्च महाभूतों से अलग हैं, माया के कारण आप पंचभूतों में भासित होते हैं ।' योगेश्वरों ने कहा – 'प्रभो ! सबसे ऊँचा तो वही है, जो विश्व के आत्मा आपको अभेद दृष्टि से देखता है फिर भी जो अभेद दृष्टि तक नहीं पहुँच पाए हैं, उन पर आप कृपा कीजिये ।' वेदों ने कहा – 'धर्मादि की उत्पत्ति के लिए आप शुद्ध सत्त्व का आश्रय लेने वाले हैं, आपका स्वरूप तो आज तक हम लोग ही नहीं जान पाए ।' अग्निदेव ने कहा – 'मैं आपकी शरण में हूँ । आपके तेज से ही मैं अपना कार्य करता हूँ ।' देवताओं ने कहा – 'महाराज ! हम तो आपके दास हैं । प्रलय के समय आप ही सारे संसार को अपने उदर में लीन कर लेते हैं । आप हमारी रक्षा कीजिये ।' गन्धर्वों ने कहा – 'देव ! मरीचि आदि ऋषि और ब्रह्मा, इन्द्र तथा रुद्रादि देवगण आपके अंश के भी अंश हैं ।' विद्याधरों ने

कहा – 'जो कथा सेवी है, वह आपके लिए सब कुछ त्याग कर देता है ।' ब्राह्मणों ने कहा – 'भगवन् ! पूर्व काल में आप ही वराह बने थे ।' एक बात ब्राह्मणों ने विशेष कही –

कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते
यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/७/४७)

'कितना भी कोई यज्ञ कर ले किन्तु उस यज्ञ के सारे विघ्न आपके नाम कीर्तन से ही नष्ट होते हैं, आपके नाम कीर्तन के बिना सारा यज्ञ अधूरा है ।'

जय श्री राधे जय नन्दनन्दन । जय-जय श्यामा नयनन अंजन ॥

मैत्रेयजी बोले – इस प्रकार जब अन्त में भगवान् का कीर्तन किया गया तो वे बोले – 'मैं, ब्रह्मा और महादेव तीनों एक ही हैं । इनमें भेद नहीं देखना चाहिए ।'

मैत्रेयजी कहते हैं – भगवान् के इस प्रकार आज्ञा देने पर दक्ष ने उनकी अर्चना की, फिर भगवान् शंकर का यज्ञ शेष रूप उनके भाग से यजन किया तथा यज्ञ की समाप्ति में किये जाने वाले उदवसान नामक कर्म को करने के बाद उन्होंने स्नान किया । सब देवता दक्ष को आशीर्वाद देकर स्वर्गलोक को चले गये । आगे चलकर सतीजी हिमालय की पत्नी मेना के गर्भ से उत्पन्न हुईं तथा पार्वती के रूप से उन्होंने पुनः महादेवजी को अपने पति के रूप में वरण किया ।

अध्याय – ८

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – ब्रह्माजी के पुत्र सनकादि, नारद, ऋभु, हंस, अरुणि और यति नैष्ठिक ब्रह्मचारी, पूर्ण विरक्त हुए । इन्होंने गृहस्थाश्रम को स्वीकार नहीं किया । अधर्म भी ब्रह्माजी का पुत्र

था । उसकी पत्नी का नाम था मृषा (झूठ) । उसके दम्भ नामक पुत्र और माया नाम की कन्या हुई । उन दोनों को निर्ऋति ले गया क्योंकि उसके कोई सन्तान नहीं थी । दम्भ और माया से लोभ और निकृति (शठता) का जन्म हुआ, उनसे क्रोध और हिंसा पैदा हुए तथा उनसे कलि (कलह) और दुरुक्ति (गाली) का जन्म हुआ । कलि ने दुरुक्ति (गाली) से भय और मृत्यु को उत्पन्न किया तथा उन दोनों से यातना और निरय (नरक) का जोड़ा उत्पन्न हुआ । विदुरजी ! यह मैंने आपसे संक्षेप में अधर्म का वंश सुनाया । इसको सुनने से मनुष्य अपने मन के मल को धो लेता है और पुण्य होता है ।

जैसा कि निम्बार्काचार्यजी ने कहा है कि धर्म के विरोधी तत्त्व को भी जानना आवश्यक है । इसलिए अधर्म की वंशावली को बताया गया । इससे शिक्षा मिलती है कि हमें झूठ नहीं बोलना चाहिए, दुरुक्ति अर्थात् गाली नहीं देनी चाहिए । कठोर वचन नहीं बोलना चाहिए । कठोर वचन यदि बोलोगे तो उससे नारकीय यातना को प्राप्त हो जाओगे । बहुत से लोगों को कठोर वचन बोलने की, गाली देने की आदत होती है । वे हर समय गाली ही देते रहते हैं । गाली के बेटा-बेटी हैं भय और मृत्यु तथा उनकी सन्तान हैं यातना और नरक । गाली-गलौज बकने वाले, कटु वचन कहने वाले लोग भय और मृत्यु को प्राप्त होकर धीरे-धीरे नरक और वहाँ की यातना को प्राप्त करते हैं । इसलिए हम लोगों को कठोर वचन और गाली से बचना चाहिए । इससे अपना ही नुकसान है । अधर्म के इस वंश को तीन बार सुनना चाहिए, जिससे मनुष्य के मन का मल दूर हो जाता है ।

मैत्रेयजी आगे कहते हैं कि मनुजी के दो पुत्र हुए – प्रियव्रत और उत्तानपाद । भगवान् वासुदेव की कला से उत्पन्न होने के कारण ये दोनों संसार की रक्षा में तत्पर रहते थे । उत्तानपाद की दो पत्नियाँ

थीं – सुनीति और सुरुचि । इन्हें बहुत से लोग आध्यात्मिक रूप भी दे देते हैं, जबकि यह ठीक नहीं है, फिर भी किसी प्रकार से भगवच्चिन्तन किया जाए तो वह अनुचित भी नहीं है । सुनीति कहते हैं अच्छी नीति को और सुरुचि का तात्पर्य है मन की रुचि । प्रत्येक व्यक्ति के पास सुनीति और सुरुचि नामक ये दोनों पत्नियाँ हैं । सुनीति अर्थात् सुन्दर नीति के अनुसार चलना बड़ा कठिन है । सुनीति के अनुसार चलोगे तो ध्रुव जैसा पुत्र होगा और सुरुचि अर्थात् अपने मन की रुचि के अनुसार चलोगे तो फिर भव-दावानल में जलोगे । इस प्रकार बहुत से लोग इस कथा का रूपक बताते हैं किन्तु यह कथा एक सत्य घटना है और वही प्रधान है । सत्य बात यह है कि सुरुचि राजा उत्तानपाद को अधिक प्रिय थी और सुनीति कम प्रिय थी । जो बात अच्छी नीति की होगी, मनुष्य उसका अनादर ही करता है क्योंकि उस पर चलना कठिन होता है । किसी को अच्छे मार्ग पर चलने की शिक्षा दो तो वह पसन्द नहीं करेगा ।

एक दिन राजा उत्तानपाद सुरुचि के पुत्र उत्तम को गोद में बिठाकर प्यार कर रहे थे, उसी समय सुनीति के पुत्र ध्रुव भी वहाँ पहुँच गये । वह भी अपने सौतेले भाई की तरह अपने पिता की गोद में बैठने चले तो उत्तानपाद ने सुरुचि के भय के कारण ध्रुव का अभिनन्दन नहीं किया और उसे गोद में नहीं बिठाया । उस समय सुरुचि ने ध्रुव से कहा – 'ए बालक ! तू राजसिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं है । यदि तू राजसिंहासन पर बैठना चाहता है तो तू तपस्या करके परम पुरुष नारायण की आराधना करके मेरे गर्भ से जन्म ले । किसी दूसरी स्त्री के गर्भ से जन्म लेकर तू राजसिंहासन पर कैसे बैठ सकता है ?'

सुरुचि ने बड़ी कठोरता से ध्रुव को फटकारा था । जिस प्रकार डंडे की चोट खाकर सर्प फुंफकारता है, उसी प्रकार सौतेली माँ के

कठोर वचनों से मर्माहत होकर ध्रुव लम्बी-लम्बी साँस लेने लगा । उसे बड़ा दुःख हुआ और वह रोते हुए अपनी माता के पास गया । उस नगर के नागरिकों ने सुनीति को पहले ही बता दिया कि तुम्हारे निरपराध बालक का अपमान करके उसके साथ अन्याय किया गया है । यह सुनकर सुनीति रोने लग गयी । यहाँ यह बात ग्रहण करने योग्य है कि माँ हो तो सुनीति जैसी । साधारण स्त्री के बच्चे को यदि कोई पीट दे, उसको फटकार दे तो वह उसे यही शिक्षा देगी कि अरे, तू ऐसे ही अपमानित होकर क्यों चला आया ? उसने तुझे कुत्ता कहा तो तुझे उसे गधा कहना चाहिये । ऐसी शिक्षा देने वाली स्त्री कुमाता है । वह सोचती है कि मैं अपने बच्चे से बड़ा प्यार करती हूँ किन्तु वह बच्चे से प्यार नहीं कर रही अपितु उसे असुर बना रही है । सुनीति ने ध्रुव को जो शिक्षा दी, वह सीखने लायक है । सुनीति ने ध्रुव से कहा –

मामंगलं तात परेषु मंस्था
भुङ्क्ते जनो यत्परदुःखदस्तत् ।

(श्रीभागवतजी - ४/८/१७)

'बेटा ! किसी ने तेरा अमंगल किया तो बदले में तू उसका अमंगल मत सोच । अमंगल करना तो दूर रहा, मन से भी किसी का अमंगल करने की मत सोच । जो मनुष्य दूसरों को दुःख देता है, उसे स्वयं ही इसका फल भोगना पड़ता है ।'

जो माँ अपने बच्चे को ऐसी शिक्षा देगी तो क्यों न वह भगवान् का भक्त बनेगा । हम लोग तो अपने बच्चों को गलत शिक्षा देकर असुर बनाते हैं ।

सुनीति ने ध्रुव से कहा – 'बेटा ! तेरी सौतेली माँ ने ठीक ही कहा, जो तू मुझ अभागिनी के गर्भ से जन्मा और मेरे ही दूध से पला है किन्तु तू मात्सर्य को छोड़ दे – **विमत्सरस्त्वमुक्तम्** ।'

मात्सर्य (ईर्ष्या) बड़ी खराब चीज है । भागवत में स्थान-स्थान पर मात्सर्य की निन्दा की गयी है । भागवत के प्रारम्भ में ही कह दिया गया है – **निर्मत्सराणां सताम्** – जिसके अन्दर मात्सर्य है, वह भक्त (वैष्णव) नहीं है; इससे बचो । आजकल वैष्णव समाज में एक कीर्तन दल का मुखिया दूसरे कीर्तन दल के मुखिया से चिढ़ता है । एक पार्टी दूसरी पार्टी से चिढ़ती है । एक प्रभावशाली कथावाचक दूसरे प्रभावशाली कथावाचक से चिढ़ता है । मात्सर्य तो बहुत घृणित वस्तु है । इसलिए पहली शिक्षा तो यही है कि सब लोग निर्मत्सर हो जाओ । इस मात्सर्य ने ही समाज का नाश कर दिया है ।

सुनीति ने ध्रुव से कहा – 'बेटा ! तू मात्सर्य छोड़कर भगवान् का भजन कर । तेरे पिता, तेरे बाबा और तेरे परबाबा ब्रह्मा आदि सभी ने भगवान् के चरणकमलों की आराधना करके सर्वोच्च पद प्राप्त किया है । **'तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलम्'** – बेटा ! उन्हीं भक्तवत्सल प्रभु का तू आश्रय ले ।' ध्रुव ने पूछा – 'माँ ! मैं भगवान् का भजन कैसे करूँ ?' 'माता ने कहा – 'बेटा ! पहले अपने हृदय में अनन्य भाव ला । अनन्य का मतलब प्रभु के प्रति ऐसा समर्पित हो जा कि कृष्ण चरणारविन्द के अतिरिक्त कुछ और न दिखाई दे ।'

अपनी माँ की शिक्षानुसार ध्रुवजी ने वैसा ही किया और वन में जाकर प्रभु की आराधना में ऐसा डूब गये कि उन्हें किसी और की जरा भी स्मृति नहीं हुई, दिन-रात प्रभु की आराधना में तन्मय बने रहे । ऐसी उनकी अनन्य लगन थी । हम लोग केवल नाम मात्र के लिए अनन्य बन जाते हैं, जबकि हमारा मन संसार के विषय भोगों, धन-सम्पत्ति आदि में आसक्त रहता है । यह अनन्य भक्त का लक्षण नहीं है । अनन्य तो वही है जो पूर्णतया भगवान् की ओर एक लक्ष्य से चले ।

माता ने ध्रुव को शिक्षा दी – 'बेटा ! अनन्य बनकर अपने मन में प्रभु को स्थापित करके उनका भजन कर । प्रभु कैसे हैं ? जिनको लक्ष्मी भी दिन-रात ढूँढती हैं । लक्ष्मी के लिए सारी दुनिया पागल है और वे लक्ष्मीजी हाथ में कमल लिए रहती हैं । वह कमल कैसा है ? वह कमल ही अखिल सम्पत्ति है । इस तरह अपने हाथ में कमल अर्थात् सारी सम्पत्ति को लेकर लक्ष्मीजी निरन्तर उन्हीं प्रभु की खोज किया करती हैं ।'

मैत्रेयजी कहते हैं – अपनी माँ के वचन सुनकर ध्रुवजी अपने पिता के नगर से निकल पड़े । माँ ने ध्रुव को रोका नहीं । माँ ने ही तो अपने पाँच वर्ष के बच्चे को भगवान् की आराधना करने के लिए वन में भेजा था । सुनीति कैसी दिव्य माँ थी ? जब ध्रुवजी घर से निकले तो मार्ग में उन्हें नारदजी मिले । उन्होंने ध्रुवजी से कहा – 'बेटा ! तू तो अभी बालक है, ऐसी उम्र में तेरा क्या मान या अपमान ? भेद बुद्धि के कारण ही मनुष्य को मान-अपमान की प्रतीति होती है । ऐसे भाव को लेकर मनुष्य को भजन नहीं करना चाहिए कि मेरा अपमान हो गया है ।' नारद जी ने यह बात परीक्षा के लिए नहीं कही थी, उन्होंने वास्तविकता बतायी कि मनुष्य को भगवान् का भजन किसी छोटे-मोटे हेतु को लेकर नहीं करना चाहिये । नारद जी ने यह भी कहा कि बेटा, भगवान् तो बड़े दुराराध्य हैं, ऋषि-मुनि भी अनेक जन्मों तक अनासक्त रहकर बड़ी कठोर साधनायें करते हैं फिर भी भगवान् का पता नहीं पाते । इसलिए तू अपने घर लौट जा क्योंकि तू जिस लक्ष्य से भजन करने चला है तो तेरी शुरुआत अच्छी नहीं हुई है । तू असहिष्णु होकर भजन के लिए चला है । अपनी सौतेली माता के कटु वचनों को तू सह नहीं सका ।

भजन करने के लिए तो सहिष्णु होकर चलना चाहिए जैसे चैतन्य महाप्रभु ने कहा है – **तरोरपि सहिष्णुना** । आगे चलकर ध्रुवजी को इसी बात के लिए पछताना पड़ेगा कि मैंने गुरुदेव की आज्ञा का

पालन क्यों नहीं किया ? इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने बहुत अच्छी बात कही है – **तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।** सहनशीलता सीखना चाहिए । जो सह लेता है, वह बड़ा है, जो नहीं सह सकता, वह छोटा है ।

नारद जी ने यह भी कहा कि विधाता के विधान के अनुसार सुख-दुःख जो कुछ भी प्राप्त हो, उसी में चित्त को सन्तुष्ट रखना चाहिए । ऐसा करने वाला पुरुष मोहमय संसार से पार हो जाता है । मनुष्य को चाहिए कि अपने से अधिक गुणवान को देखकर प्रसन्न हो, जो कम गुण वाला हो, उस पर दया करे और जो अपने समान गुण वाला हो, उससे मित्रता का भाव रखे । ऐसा करने से उसे दुःख कभी नहीं दबा सकते । ध्रुवजी बोले – 'भगवन् ! मैं क्षत्रिय हूँ, मुझे घोर क्षत्रिय स्वभाव प्राप्त हुआ है, इसलिए मैं अपनी सौतेली माता के कठोर वचनों को नहीं सह सकता । मैं तो त्रिभुवन के उत्कृष्ट पद को जीतना चाहता हूँ ।' नारद जी ने कहा – 'ठीक है, फिर तू भगवान् वासुदेव का भजन कर ।' ध्रुव ने पूछा – 'भजन मैं कहाँ करूँ ?' नारदजी ने कहा – 'ब्रज में यमुना के तटवर्ती मधुवन को चला जा ।'

तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि ।
पुण्यं मधुवनं यत्र सांनिध्यं नित्यदा हरेः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/८/४२)

ब्रजभूमि की महिमा अनादि काल से चली आ रही है । इस भूमि में भगवान् का नित्य निवास है । हम लोगों की यह कमी है, जो हम ब्रजभूमि को प्राकृत समझते हैं । यहाँ ऐसे-ऐसे महापुरुष हुए हैं, जो हर समय बुहारी लगाते रहते थे, उनकी यह भावना होती थी कि लाड़लीजी कुञ्ज में पधार रही हैं, इसलिए रास्ते को झाड़कर साफ़ कर देना चाहिये । इसीलिए नारदजी ने ध्रुव से कहा कि मधुवन में,

ब्रजभूमि में नित्य, सदा-सर्वदा ही भगवान् रहते हैं । यहाँ से भगवान् गये नहीं हैं । यहाँ नित्य विराजमान रहते हैं । हमें यह भाव रखना चाहिए । यहाँ एक-दो दिन, जितने भी दिन रहो, इस भाव से रजरानी में बुहारी लगाओ कि यहाँ प्रियाजी नित्य आती हैं । प्रियाजी की यहाँ कुंजें हैं, जहाँ वे नित्य विहार करती हैं, इसलिए ब्रजभूमि की सबसे बड़ी सेवा यही है कि यहाँ नित्य ही बुहारी लगाओ ।

इस तरह ध्रुवजी को नारदजी ने मधुवन में आराधना करने की आज्ञा दी । भगवान् के ध्यान की विधि बतायी, द्वादशाक्षर मन्त्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' का जप बताया, भगवान् की अर्चा बतायी, इस प्रकार भगवान् की आराधना का सब मार्ग बताकर नारदजी बोले –

एवं कायेन मनसा वचसा च मनोगतम् ।
परिचर्यमाणो भगवान् भक्तिमत्परिचर्या ॥

(श्रीभागवतजी - ४/८/५९)

'बेटा ! शरीर, वाणी और मन – तीन प्रकार से भगवान् की सेवा करनी चाहिये । यह त्रिविध शरणागति है । कहीं भी चले जाओ, यह आवश्यक है ।'

चाहे ठाकुरजी की भक्ति करो, चाहे प्रियाजी की भक्ति करो, अपने शरीर, वाणी, मन आदि सबको प्रिया-प्रियतम में लगाओ । कोई भी इन्द्रिय बहिर्मुख न रह जाये ।

नारदजी से उपासना विधि सीखकर फिर उन्हें प्रणाम कर ध्रुवजी मधुवन के लिए चल दिए । इधर ध्रुव के चले जाने पर नारदजी राजा उत्तानपाद के महल में पहुँचे क्योंकि वे अपने पुत्र के वियोग से उदास थे । उदास इसलिए थे क्योंकि वे कोई साधारण राजा नहीं थे, भगवदंश थे । नारदजी ने उत्तानपाद से कहा – 'राजन् ! तुम उदास क्यों हो ?' राजा बोले – 'महाराज ! मैं बड़ा ही स्त्रैण और कठोर हूँ ।

मैंने अपने पाँच वर्ष के छोटे से बच्चे को उसकी माता के साथ घर से निकाल दिया । वह बच्चा अनाथ होगा, उसे जंगल में भेड़िये खा गये होंगे । मेरी दुरात्मता तो देखिये, मुझे स्त्री ने जीत लिया, वह बालक प्रेम के कारण मेरी गोद में चढ़ना चाहता था किन्तु मुझ दुष्ट ने उसका तनिक भी आदर नहीं किया ।'

इस प्रकार राजा उत्तानपाद ने अपनी बड़ी निन्दा की । यह महापुरुषों का काम है, जो अपनी निन्दा स्वयं करते हैं । हम लोग तो अपना ही गुणगान स्वयं करते हैं और दूसरों के दोष बताया करते हैं । नारदजी ने कहा – 'राजन्! तुम घबराओ नहीं । तुम्हें अपने बालक के प्रभाव का पता नहीं है । जिस काम को बड़े-बड़े लोकपाल भी नहीं कर सके, उसे पूरा करके वह शीघ्र ही तुम्हारे पास लौट आएगा ।'

मैत्रेयजी कहते हैं – इधर ध्रुवजी जब मधुवन में पहुँचे तो उन्होंने वहाँ बड़ा दुष्कर तप किया । पहले महीने में उन्होंने तीन-तीन दिन के अन्तर से केवल कैथ और बेर के फल खाकर भगवान् की उपासना की । दूसरे महीने में उन्होंने छः-छः दिन के पीछे सूखी घास और पत्ते खाकर भगवान् का भजन किया । तीसरे महीने में नौवें-नौवें दिन पर केवल जल पीकर उन्होंने भगवान् की आराधना की । चौथे महीने में बारह-बारह दिन के बाद वे केवल नाक से वायु खींचते, श्वास को भी जीत लिया और इस तरह ध्यान योग के द्वारा भगवान् की आराधना की । पाँचवें महीने में श्वास को जीतकर वे भगवान् का ध्यान करते हुए एक पैर के बल पर अचल भाव से खड़े हो गये । जब वे एक पाँव के अँगूठे के बल खड़े हुए तब उनके अँगूठे से दबकर पृथ्वी इस प्रकार हिलने लगी जैसे जल में किसी नाव पर हाथी के चढ़ने से नाव डगमगाने लगती है । ध्रुवजी अपने हृदय में भगवान् को धारण कर चुके थे और जब उन्होंने श्वास लेना भी बंद कर दिया तो संसार के

सभी जीवों की श्वास रुक गयी क्योंकि ध्रुवजी भगवान् से ऐक्य प्राप्त कर चुके थे और भगवान् में ही सारा संसार स्थित है । जब सबका दम घुटने लगा तो सब देवता घबराकर भगवान् की शरण में गये । देवताओं ने कहा – 'प्रभो ! ये क्या हो रहा है ? हमारे तो प्राण जाने वाले हैं । संसार में कहीं वायु ही नहीं है, चर-अचर समस्त जीवों का प्राण रुक गया है । हम लोग आपकी शरण में आये हैं । आप हमें इस कष्ट से बचाइए ।' भगवान् ने कहा – 'देवताओ ! तुम लोग डरो नहीं । यह उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव के दुष्कर तप का प्रभाव है । इस समय मेरे साथ उसकी अभेद धारणा सिद्ध हो गयी है, इसी से उसके प्राण निरोध से तुम सबका प्राण भी रुक गया है । मैं उसके पास जाकर उसे इस कठोर तप से रोकूँगा ।'

अध्याय – ९

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – भगवान् गरुड़ पर चढ़कर अपने भक्त का दर्शन करने के लिए मधुवन में आये ।

अन्य पुराणों में कथा है कि ध्रुवजी की तपस्या में देवताओं ने बड़ा विघ्न डाला । कहीं समुद्र उमड़कर उन्हें डुबाने के लिए बढ़ता हुआ उनकी ओर आता, घोर वर्षा होती । एक बार तो स्वयं माया ही उनकी माँ का रूप बनाकर वन में आयी और परीक्षा के लिए अग्नि से घिरकर चिल्लाने लगी – 'बेटा ध्रुव ! मुझे बचाओ ।' किन्तु ध्रुव जी अपनी तपस्या से टस से मस भी नहीं हुए ।

ध्रुवजी पूर्व जन्म में तपस्वी थे । वन में वे तप करते थे । एक बार एक राजा अपनी सवारी के साथ उनका दर्शन करने के लिए वन में गया तो उसके राजसी वैभव को देखकर ध्रुव जी के मन में राज्य सुख भोग की वासना जागृत हो गयी । राजा तो चला गया किन्तु ध्रुवजी मन में इसी राज्य कामना का चिन्तन कर रहे थे और तभी

उनकी मृत्यु हो गयी । इसलिए इस जन्म में ये राजा के पुत्र बने और भगवत्प्राप्ति भी हुई ।

तपस्या करते हुए ध्रुव के सामने भगवान् आकर खड़े हो गये किन्तु वे तो नेत्र मूँदकर भगवान् के रूप का अपने हृदय में इतनी तन्मयता के साथ ध्यान कर रहे थे कि उन्हें प्रभु के आने का कुछ भी पता नहीं चला । भगवान् ने सोचा – 'वाह रे ध्रुव ! मैं तेरे सामने आ गया और तू अपनी आँखें ही नहीं खोल रहा है ।' तब जिस मूर्ति का अपने हृदय में ध्रुवजी ध्यान कर रहे थे, अपनी उस मूर्ति को भगवान् ने खींच लिया । इससे घबराकर ध्रुवजी ने आँखें खोलीं तो देखा कि प्रभु तो सामने खड़े हैं । ध्रुवजी पाँच साल के बच्चे थे । उन्हें कोई ज्ञान तो था नहीं । बच्चे को माँ जिस तरह प्यार करती है, उसके मुख को चूमती है, गले से लिपटा लेती है तो बच्चा इसी को प्यार समझता है । भगवान् इतने मीठे हैं कि ध्रुवजी उन्हें इस प्रकार देखने लगे कि मानो उनका चुम्बन कर रहे हों और भुजाओं में कस रहे हों । बालक को छोटे-बड़े का ज्ञान तो होता नहीं, इसलिये ध्रुवजी भी भगवान् को चूमने और आलिंगन करने का प्रयास कर रहे थे, बाल लीला कर रहे थे । भगवान् ने सोचा कि यह तो बड़ा अबोध बालक है, इसे कुछ ज्ञान देना चाहिए तो उन्होंने अपने शंख को उनके गाल से छुआ दिया । शंख का स्पर्श होते ही ध्रुवजी को समस्त वेदों का ज्ञान हो गया । ज्ञान होने पर फिर ध्रुवजी भगवान् की स्तुति करने लगे । ध्रुवजी की स्तुति बड़ी महत्वपूर्ण है । उन्होंने १२ श्लोकों में भगवान् की स्तुति की है । उनकी स्तुति की भागवत के टीकाकार आचार्यों ने बड़ी प्रशंसा की है । श्रीधर स्वामी जी लिखते हैं कि ध्रुवजी ने अपनी स्तुति में जो बारह श्लोक बोले हैं, वे सूर्य की तरह चमक रहे हैं ।

ध्रुव जी बोले –

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्ताम्
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/९/६)

जिन प्रभु ने मेरे अन्तःकरण में प्रवेश करके, अनादि काल से अविद्या के अन्धकार में सोयी हुई मेरी वाणी को जगा दिया क्योंकि वे प्रभु समस्त शक्तियों को अपने तेज से धारण करने वाले हैं, यही नहीं, मेरी समस्त इन्द्रियों को, हाथ, चरण, श्रवण और त्वचा आदि को तथा समस्त प्राणों को जगा दिया, उन परम पुरुष भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ ।

यह श्लोक बहुत बढ़िया है । इसकी टीका में आचार्यगण लिखते हैं कि भगवद्भक्त की हर इन्द्रिय पवित्र मानी जाती है । हस्त-चरण माने कर्मेन्द्रियाँ, श्रवण-त्वग माने ज्ञानेन्द्रियाँ और आदि से मतलब है अन्तःकरण । इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और अन्तःकरण । यहाँ तक कि श्री सम्प्रदाय के आचार्य राघवाचार्य जी लिखते हैं कि भक्त के पायु, उपस्थ अर्थात् गुदा और लिंग भी भगवन्मय हो जाते हैं । ये कैसे तो भक्तमाल में इसका प्रमाण है कि स्वयं भगवान् ने संग्रहणी रोग से ग्रसित होने पर भक्त माधव दास जी का मल अपने हाथों से साफ़ किया था । इसीलिए तो लोग भक्तों की जूठन खाते हैं । एक श्रद्धालु चक्रवर्ती सम्राट भी आता है तो संतों की जूठन खाता है क्योंकि भक्तों की समस्त इन्द्रियाँ भक्ति के प्रभाव से शुद्ध रहती हैं ।

ध्रुवजी कहते हैं कि मेरी समस्त इन्द्रियों में प्रभु प्रवेश कर गये

हैं । भगवन् ! आप एक ही हैं परन्तु अनेक रूपों में भासते हैं जैसे विभिन्न तरह की लकड़ियों में प्रकट हुई आग । आपके दिए हुए दिव्य ज्ञान के प्रभाव से ब्रह्माजी ने समस्त संसार की रचना की ।

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः ।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्यम्
इच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/९/९)

हे प्रभो ! जो लोग अन्य हेतुओं से अर्थात् सकाम भाव से आपका भजन करते हैं, उनकी बुद्धि माया ने चुरा ली है । जैसे कोई मूर्ख कल्पवृक्ष के पास पहुँचकर मूत्र की हंडी माँगे । इस मुर्दा शरीर से भोगा जाने वाला इन्द्रिय और विषयों के संसर्ग से उत्पन्न सुख तो मनुष्य को नरक में भी मिल सकता है ।

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/९/१०)

हे नाथ ! आपके चरणकमलों का ध्यान या उनकी सेवा करने से तथा आपके भक्तों की कथा सुनने से प्राणियों को जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, निर्विशेष-निराकार ब्रह्म, जो आपकी महिमा है, उसमें भी वह आनन्द नहीं मिल सकता । भक्त लोग जानते हैं कि निराकार, निर्विशेष, निरंजन ब्रह्म तो भगवान् की महिमा है, उसमें कोई विशेष आनन्द नहीं है फिर स्वर्ग लोक में रहने वाले, स्वर्गीय विमानों में

घूमने वाले लोगों को पुण्य की समाप्ति होने पर जब काल की तलवार उनके विमानों को काट डालती है फिर से वे मृत्यु लोक में आ जाते हैं, उन्हें तो वह सुख मिल ही कैसे सकता है ?

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो
भूयादनन्त महताममलाशयानाम् ।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिम्
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/९/११)

हे नाथ ! बार-बार मैं भवसागर में घूम रहा हूँ । इसमें घूमता रहूँ, इसकी मुझे चिन्ता नहीं है । मैं तो आपसे यही माँगता हूँ कि मेरी आसक्ति आपके उन विशुद्ध चित्त भक्तों में हो जाये, जिनके हृदय में भक्ति की सरिता निरन्तर प्रवाहित होती रहती है । उनके संग में मैं आपके रसीले कथामृत का पान कर उन्मक्त हो जाऊँगा और सहज ही अनेक कष्टों से पूर्ण इस भवसागर को पार कर जाऊँगा ।

कल्प का अन्त होने पर आप सम्पूर्ण विश्व को अपने उदर में लीन करके शेष शय्या पर शयन करते हैं । आप नित्य मुक्त हैं, सबके दृष्टा हैं, सर्वज्ञ, आदिपुरुष और तीनों गुणों के अधीश्वर हैं । विरुद्ध गतियों वाली शक्तियाँ भी आपका ही स्वरूप है । सब कुछ आप ही हैं ।

एक विद्वान ने यहाँ पर लिखा है कि भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है, दुनिया के अन्य धर्मों में दैवी शक्ति और आसुरी शक्ति को कभी एक करके नहीं माना गया । ईश्वर के साथ ही उन धर्मों में शैतान की भी अवधारणा है किन्तु भारतीय संस्कृति सबको साथ लेकर चलती है । इसमें कहा गया है कि देवता व असुर सबमें भगवान् हैं, ये सभी भगवान् के ही रूप हैं, इन सबमें प्रभु को ही देखो । इतना बड़ा समन्वयात्मक धर्म विश्व में कहीं नहीं है । ध्रुवजी आगे कहते हैं –

सत्याऽऽशिषो हि भगवंस्तव पादपद्मम् -
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः ।
अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/९/१७)

यद्यपि ध्रुवजी ने सकाम भक्ति की आलोचना की है परन्तु अपने घर से वन को तो वे कामना लेकर ही गये थे । इसलिए इस श्लोक में वे कहते हैं – प्रभो ! आप अपने सकाम भक्तों की कामना भी पूर्ण करते हैं और फिर वे कामना में फँसकर संसार में न फँस जाएँ, इसलिए उनकी रक्षा भी करते हैं, जैसे तुरन्त की ब्याई गाय अपने बछड़े को दूध भी पिलाती है तथा दूसरे जीवों से उसकी रक्षा भी करती है कि कोई इसे खा न जाए, उसी प्रकार आप अपने सकामी भक्तों को भोग भी देते हैं और साथ ही साथ उनकी रक्षा भी करते हैं ।

यहाँ पर ध्रुवजी ने भगवान् को एक ऐसा नाम दिया है कि उनका ऐसा नाम और कहीं नहीं मिलेगा । ध्रुवजी ने इस श्लोक में भगवान् को अनुग्रहकातर कहा है, जैसे संसार में कोई काम से कातर है, कोई लोभ से इस प्रकार कातर है कि दिन-रात दुकान पर ही बैठा रहता है, रात को ११ बजे तक इस आशा से दुकान को बन्द नहीं करता कि शायद कोई ग्राहक आ जाये, जिस प्रकार पिंगला वेश्या देर रात तक अपने प्रेमी की प्रतीक्षा में बैठी रही । इस तरह देखा जाए तो संसार में कोई काम कातर है, कोई लोभ कातर है तो कोई क्रोध कातर है, वैसे ही भगवान् भी कातर हैं । प्रश्न हुआ कि भगवान् की कातरता का क्या कारण है तो इसके उत्तर में ध्रुवजी कहते हैं कि वे अनुग्रह कातर हैं, वे हर समय इसी खोज में रहते हैं कि कोई मेरी शरण में आये तो मैं उस पर दया करूँ । इनमें दया करने की बड़ी विकट आदत पड़ गयी है । कृपा करने के लिए ये सदा तत्पर रहते हैं ।

मैत्रेयजी कहते हैं – जब ध्रुवजी ने इस प्रकार भगवान् की स्तुति की तो भगवान् ने कहा – मैं तुम्हारे हृदय की बात जानता हूँ । यद्यपि उस पद का प्राप्त होना बहुत कठिन है फिर भी मैं तुझे देता हूँ । जिस तेजोमय लोक को आज तक किसी ने नहीं प्राप्त किया, जिसके चारों ओर ग्रह, नक्षत्र और तारागणरूप ज्योतिश्चक्र चक्कर काटता रहता है एवं सप्तर्षि गण भी जिसकी प्रदक्षिणा करते हैं, वह ध्रुव लोक मैं तुझे देता हूँ । इसके अतिरिक्त छत्तीस हजार वर्ष तक तू पृथ्वी पर राज्य करेगा । आगे चलकर तेरा भाई उत्तम शिकार खेलता हुआ मारा जायेगा, उसके पीछे उसकी माँ भी दावानल में प्रवेश कर मृत्यु को प्राप्त हो जाएगी ।

मैत्रेयजी कहते हैं – ध्रुव को वरदान देकर भगवान् अपने लोक को चले गये । ध्रुवजी भगवान् की प्राप्ति करके अपने घर को लौट गये किन्तु वे प्रसन्न नहीं हुए । यह सुनकर विदुरजी को बड़ा संदेह हुआ और उन्होंने पूछा – 'साक्षात् श्रीहरि जिनको छः महीने में ही मिल गये फिर भी ध्रुवजी प्रसन्न नहीं हुए, उन्होंने अपने को अकृतार्थ समझा, यह बात तो मेरी समझ में नहीं आई ?' मैत्रेयजी ने कहा – सद्गुरु की बात को मानना सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है । नारदजी को ध्रुवजी ने वन गमन करने के पूर्व समझाया था कि बेटा ! तुझे मान-अपमान के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए । मनुष्य को भजन तो इन बातों से हटकर करना चाहिए । नारदजी के इस उपदेश को ध्रुवजी ग्रहण नहीं कर पाए, अब उन्हें इसी बात का पछतावा हो रहा था और अपने मन में वे इसी बात को सोच रहे थे कि मैं कैसा मूर्ख हूँ, गुरुदेव ने मुझे कितना सुन्दर उपदेश किया था किन्तु मैंने उनकी बात न मानकर भगवान् से नाशवान वस्तु की ही याचना की । मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी ।

मतिर्विदूषिता देवैः पतद्भिरसहिष्णुभिः ।

(श्रीभागवतजी - ४/९/३२)

बुद्धि भ्रष्ट होने का कारण है कि जब कोई भगवान् की भक्ति करने चलता है तो देवता बाधा करते हैं । रामायण में भी लिखा है –

इंद्री द्वार झरोखा नाना । तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ॥

देवता अवश्य भजन में बाधा डालते हैं । वे सोचते हैं कि यह मनुष्य भक्ति करके हमसे ऊपर जा रहा है । हम तो यहीं स्वर्ग में भोग भोग रहे हैं और यह मनुष्य तो भक्ति करके हमारे लोक से भी ऊपर भगवान् के धाम में जा रहा है तो यह तो हमसे भी बड़ा हो गया । इसलिए जो भजन करने चलता है, उसके पास देवता लोग बढ़िया-बढ़िया भोग पदार्थ भेज देते हैं, लड्डू-पेड़ा, मलाई-कुल्फी भेज देते हैं, जिससे कि इन्हें खाता जा, खूब भोग भोग ले और यहीं संसार में फँसा रह, भगवान् के धाम में मत जाना । ले, कितना ही भोग ले ले, सुन्दर स्त्री या अप्सरा ले ले, धन ले ले, महल ले ले । इस प्रकार भोग सामग्री देकर देवता मनुष्य को भगवान् की भक्ति से दूर कर देते हैं ।

इसीलिए ध्रुवजी विचार करने लगे कि मेरी बुद्धि को इन देवताओं ने नष्ट कर दिया क्योंकि ये पतनशील हैं, दूसरे की उन्नति को सहन नहीं कर सकते ।

जो भजन करने चलता है, दुनिया उसकी बैरी बन जाती है । दुनिया वाले तो भजन करने वाले को बाधा देते ही हैं, देवता भी बाधा देते हैं । सब लोग यही सोचते हैं कि कहीं यह भगवान् को न प्राप्त कर ले । ध्रुवजी सोचते हैं कि मैंने अपने सौतेले भाई को ही अपना शत्रु समझ लिया । इस प्रकार मन ही मन सोचकर वह बहुत पश्चात्ताप करते रहे ।

मैत्रेयजी कहते हैं – विदुरजी ! भगवान् के भक्त तो ऐसे ही होते

हैं । वे भगवान् से उनकी भक्ति, उनकी सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते हैं ।

इधर राजा उत्तानपाद ने जब सुना कि उनका पुत्र ध्रुव वन से लौट रहा है तो उन्हें इस बात पर विश्वास ही नहीं हुआ क्योंकि उन्होंने ऐसा सोच लिया था कि पाँच साल के छोटे से बच्चे को वन में हिंसक पशु भेड़िया आदि खा गये होंगे, फिर उन्हें नारदजी की बात याद आई तो इस बात पर विश्वास हो गया और प्रसन्न होकर यह समाचार सुनाने वाले को उन्होंने बहुमूल्य हार दिया । इसके बाद वे ध्रुव को लेने के लिए रथ पर सवार होकर चले । आगे-आगे राजा उत्तानपाद जा रहे हैं, उनके साथ-साथ अनेक ब्राह्मण वेद मन्त्रों का पाठ करते हुए चल रहे हैं । शंख, दुन्दुभि एवं वेणु आदि अनेकों मांगलिक बाजे बजने लगे । दोनों रानियाँ सुनीति और सुरुचि भी पालकियों पर चढ़कर गयीं । ध्रुवजी को देखते ही राजा उत्तानपाद तुरन्त रथ से कूद पड़े और प्रेमातुर होकर वैष्णव तेज से युक्त अपने पुत्र को अपने वक्षःस्थल से चिपटा लिया । उनके नेत्रों से शीतल अश्रु प्रवाहित होने लगे । मिलन के कारण आनन्द के जो अश्रु बहते हैं, वे शीतल होते हैं और विरह के कारण शोक के अश्रु गरम होते हैं । ध्रुवजी ने अपने पिता के चरणों में प्रणाम किया । अपनी दोनों माताओं को प्रणाम किया । अब तो सभी लोग ध्रुव को प्रेम से आलिंगन करने लगे क्योंकि

जापे कृपा राम की होई । ता पर कृपा करें सब कोई ।

यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः ।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/९/४७)

जिस प्रकार जल अपनी प्रकृति के अनुसार स्वाभाविक ही नीचे की ओर बहता है, उसी प्रकार मैत्री आदि गुणों के कारण जिस पर

श्रीभगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, उसके आगे सभी जीव झुक जाते हैं ।

दोनों भाई उत्तम और ध्रुव प्रेम से मिले । सुनीति ने अत्यन्त प्रेम से अपने पुत्र का आलिंगन किया । लोग सुनीति से कहने लगे – 'रानीजी ! आपका पुत्र वन से लौट आया, इसने भगवान् का भजन किया है, भगवत्प्राप्ति की है । आपने अवश्य ही शरणागत भयहारी श्रीहरि की उपासना की है ।'

यदनुध्यायिनो धीरा मृत्युं जिग्युः सुदुर्जयम् ।

(श्रीभागवतजी - ४/९/५२)

निश्चय समझ लो, जो भगवान् का ध्यान करने वाले हैं, वे धीर पुरुष दुर्जय मृत्यु को भी जीत लेते हैं । भगवान् का आश्रय साधारण नहीं है, उनके आश्रय के बल पर तुम मृत्यु को भी जीत लोगे किन्तु आश्रय सच्चा होना चाहिए ।

राजा उत्तानपाद ने ध्रुवजी को उनके भाई उत्तम के साथ हथिनी पर चढ़ाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ राजधानी में प्रवेश किया । उस समय सभी लोग उनके भाग्य की प्रशंसा कर रहे थे । नगर को केले के खम्बों, फल-फूलों के गुच्छों और विविध वस्तुओं से भलीभाँति सजाया गया था । ध्रुव जी राजमार्ग से होकर जा रहे थे, उस समय नगर की स्त्रियाँ उनको अनेकों आशीर्वाद देते हुए उन पर फूलों की वर्षा कर रही थीं । इस प्रकार प्रजा के द्वारा किये स्वागत और उनके प्रेम को प्राप्तकर ध्रुव जी ने अपने पिता के महल में प्रवेश किया ।

आगे चलकर ध्रुव जी तरुण अवस्था को प्राप्त हुए । राजा उत्तानपाद ने उनके प्रभाव को देखकर उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वी के राज्य के लिए अभिषिक्त कर दिया और अपनी वृद्धावस्था आई जानकर संसार से विरक्त होकर वन को चल दिए ।

अध्याय – १०

मैत्रेयजी कहते हैं – ध्रुवजी की दो पत्नियाँ थीं । इनकी एक पत्नी थी प्रजापति शिशुमार की पुत्री भ्रमि और दूसरी पत्नी थी वायु पुत्री इला । भ्रमि के कल्प और वत्सर नामक पुत्र हुए । इला से उत्कल नामक एक पुत्र और एक कन्या का जन्म हुआ । ध्रुवजी का सौतेला भाई उत्तम एक दिन शिकार खेलने गया तो हिमालय पर्वत पर एक यक्ष ने उसे मार डाला । अपने पुत्र के शोक से संतप्त माता सुरुचि वन में चली गयी और वहाँ दावानल में जलकर उसकी भी मृत्यु हो गयी । ध्रुवजी ने अपने भाई के मारे जाने का समाचार सुना तो वे क्रोध में भरकर रथ पर सवार होकर हिमालय की घाटी में यक्षों से भरी हुई अलकापुरी पहुँचे और वहाँ जाकर उन्होंने अपना शंख बजाया । शंख की आवाज सुनकर सारे यक्ष अस्त्र-शस्त्र लेकर बाहर निकल आये । ध्रुव जी ने एक ही साथ उनमें से प्रत्येक को तीन-तीन बाण मारे । यक्षों ने भी उनसे दूने बाण ध्रुव जी पर छोड़े । यक्षों की संख्या थी – एक लाख तीस हजार । उन्होंने ध्रुव जी पर ऐसी भीषण शस्त्र वर्षा की कि ध्रुव जी बिलकुल ढक गये । उस समय जो सिद्धगण आकाश में स्थित होकर यह दृश्य देख रहे थे, वे सब चिल्लाने लगे – 'अरे ! यह मनुवंश का सूर्य ध्रुव अस्त हो गया ।' थोड़ी देर में ध्रुवजी का रथ बाहर निकल आया । उन्होंने अपने दिव्य धनुष की टंकार की और फिर प्रचण्ड बाणों की वर्षा करके यक्षों को मारकर भगा दिया किन्तु ध्रुवजी उनकी पुरी के भीतर नहीं गये । उन्होंने कहा कि ये मायावी क्या करना चाहते हैं, इस बात का मनुष्य को पता नहीं लग सकता । इतने में ही उन्हें समुद्र की गर्जना के समान आँधी का भीषण शब्द सुनाई दिया तथा दिशाओं में उठती हुई धूल भी दिखाई दी । उसी समय यक्षों की आसुरी माया प्रकट हो गयी । बादलों से खून, कफ, विष्ठा-मूत्र की

वर्षा होने लगी । प्रलय काल के समान भयंकर समुद्र ध्रुवजी की ओर बढ़ने लगा । ध्रुव जी यक्षों की आसुरी माया से घिर गये । यह देखकर कुछ मुनियों ने उनके लिए मंगल कामना की ।

मुनियों ने कहा –

यन्नामधेयमभिधाय निशम्य चाद्धा
लोकोऽञ्जसा तरति दुस्तरमंग मृत्युम् ।

(श्रीभागवतजी - ४/१०/३०)

'ध्रुव ! प्रभु तुम्हारी रक्षा करें, जिनका नाम सुनने और कीर्तन करने से मनुष्य दुस्तर मृत्यु के मुख से अनायास ही बच जाता है ।'

अध्याय – ११

मैत्रेयजी कहते हैं – ऋषियों के मुख से भगवान् और उनके नाम की महिमा सुनकर ध्रुव जी ने नारायणास्त्र को अपने धनुष पर चढ़ाया । उस बाण के चढ़ाते ही यक्षों की रची हुई सारी माया नष्ट हो गयी । फिर उस अस्त्र से बड़े तीखे बाण निकले । ध्रुव जी के बाणों की चोट से अनेकों यक्ष मारे गये । अब उनके पितामह मनु महाराज ने देखा कि ध्रुव जी अनेकों निरपराध यक्षों को मार रहे हैं तो वे अपने पौत्र ध्रुव के पास आये और बोले – 'बेटा ! बस, बस । क्रोध करना ठीक नहीं है । यह तमोगुण है तथा नरक का द्वार है । तुम जो निर्दोष यक्षों का संहार कर रहे हो, यह हमारे कुल के योग्य कर्म नहीं है ।

नायं मार्गो हि साधूनां हृषीकेशानुवर्तिनाम् । (श्रीभागवतजी - ४/११/१०)

ऋषीकेश भगवान् का जो अनुवर्तन करते हैं, उन साधुजनों का कार्य नहीं है क्रोध करना, हिंसा करना । क्रोधी का हृदय कठोर हो जाता है, कोमल नहीं रह सकता ।

तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु ।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति ॥

(श्रीभागवतजी - ४/११/१३)

सर्वात्मा भगवान् तो समस्त प्राणियों के साथ सहनशीलता, करुणा, मित्रता और समता का बर्ताव करने से ही प्रसन्न होते हैं । ये सब भगवान् को प्रसन्न करने के मार्ग हैं । सच्चा मार्ग यही है । भगवान् जब प्रसन्न हो जाते हैं तो जीव मुक्त हो जाता है ।'

संसार में जो कुछ भी हो रहा है जैसे कोई मार रहा है, कोई जी रहा है, इसमें निमित्त कोई बन जाता है । इसमें मुख्य कारण तो अपना कर्म ही है । भगवान् तो अनन्त हैं, न उनका कोई पक्ष है न विपक्ष है । बहुत से लोग ऐसा कहते हैं कि जीव की आयु घटती-बढ़ती नहीं है तो ऐसा नहीं है । यहाँ मनु महाराज ध्रुव जी से स्पष्ट कहते हैं –

आयुषोऽपचयं जन्तोस्तथैवोपचयं विभुः । (श्रीभागवतजी - ४/११/२१)

भगवान् ही जीव की आयु की वृद्धि और क्षय का विधान करते हैं परन्तु वे इन दोनों से अलग हैं । इन परमात्मा को ही कुछ लोग कर्म कहते हैं, कोई स्वभाव तो कोई काल, दैव और काम कहते हैं । तुम्हारे भाई को मारने वाले भी वे ही भगवान् हैं । वे ही संसार की रचना, पालन और संहार करते हैं । तुमने पाँच वर्ष की आयु में ही भगवान् को प्राप्त कर लिया, इसलिए अब क्रोध को जीतो ।

न बुधस्तद्वशं गच्छेदिच्छन्नभयमात्मनः । (श्रीभागवतजी - ४/११/३२)

बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह क्रोध के वश में न हो जाए, जो अपना अभय चाहता है अर्थात् जो चाहता है कि मुझे किसी से भय न हो । तुमने इतने सारे यक्षों का संहार करके कुबेरजी का अपमान किया है । बेटा, अब जाओ और उनको प्रसन्न करो क्योंकि महापुरुषों के प्रति किया हुआ अपराध सम्पूर्ण कुल को नष्ट कर देता है ।

अध्याय – १२

मैत्रेयजी कहते हैं – ध्रुवजी के कुबेर की अलकापुरी में जाने के पहले ही उनके पास कुबेरजी आ गये । कुबेरजी बोले –

भो भोः क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ ।
यस्त्वं पितामहादेशाद्वैरं दुस्त्यजमत्यजः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/१२/२)

हे क्षत्रिय कुमार ! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, जो तुमने अपने पितामह के कहने से दुस्त्यज वैर को त्याग दिया । वास्तव में न तो तुमने यक्षों को मारा और न यक्षों ने तुम्हारे भाई को । समस्त जीवों की उत्पत्ति और विनाश का एकमात्र कारण तो काल ही है । अच्छा, अब तुम मुझसे कोई वरदान माँग लो ।

एक तो ध्रुवजी ने कुबेरजी के अनुचर यक्षों को मारकर उनका अपराध किया और फिर भी कुबेरजी ने उनसे वर माँगने को कहा, ऐसा क्यों ? इसका कारण यही है, जैसा कि दक्ष वध के प्रसंग में ब्रह्माजी ने देवताओं से कहा था –

तदाकर्ण्य विभुः प्राह तेजीयसि कृतागसि ।
क्षेमाय तत्र सा भूयान्न प्रायेण बुभूषुताम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/६/४)

कोई तेजस्वी पुरुष अपराध भी कर दे तो उससे बदला नहीं लेना चाहिए, अन्यथा विनाश हो जाता है ।

तेजस्वी पुरुष को तो सदा नमस्कार ही करते रहना चाहिये । भागवत में जो सिद्धान्त एक स्थान पर कहा गया है, वह सभी जगह है ।

जब कुबेरजी ने ध्रुवजी से वरदान माँगने को कहा तो उन्होंने सोचा कि मुझे इनका सम्मान करना चाहिए, इसलिए यही वरदान

माँगा कि मुझे भगवान् की अखण्ड स्मृति बनी रहे, जिससे मनुष्य बड़ी सरलता से ही भयंकर संसार सागर को पार कर जाता है ।

हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया
तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः ।

(श्रीभागवतजी - ४/१२/८)

कुबेरजी ने ध्रुवजी को भगवत्स्मृति का वरदान दिया फिर अपने लोक को चले गये । ध्रुव जी भी अपनी राजधानी को लौट आये । उन्होंने ऐश्वर्य भोग से पुण्य का और भोगों के त्याग द्वारा पाप का नाश करते हुए छत्तीस हजार वर्ष तक पृथ्वी का शासन किया । उन्होंने राज्य इस तरह किया कि सम्पूर्ण विश्व को अविद्या रचित स्वप्न और गन्धर्व नगर के समान माया का खेल समझा । अन्त में स्त्री, पुत्र, सेना, महल, खजाने और सम्पूर्ण राज्य को यही समझकर कि ये सभी काल के गाल में पड़े हुए हैं, वे बदरिकाश्रम को तप करने के लिए चले गये । वहाँ उन्होंने पवित्र जल में स्नान किया, फिर स्थिर आसन से बैठकर मन को भगवान् के स्थूल विराट स्वरूप में स्थिर कर दिया ।

'स्थूले दधार भगवत्प्रतिरूप एतद्' (श्रीभागवतजी - ४/१२/१७)

यही उपासना है । पहले संसार के स्थूल रूप में भगवद् बुद्धि करो । ब्रज में भी आते हो तो यहाँ के वृक्षों को ढाक, पीलू और बूंदी मत समझो । यहाँ के लता-वृक्षों को पारिजात (कल्पवृक्ष) समझो । ब्रज की रज को दिव्य चिन्मय समझो । पहले जब तुम ब्रज के स्थूल दिखाई देने वाले रूप में चिन्मय भावना करोगे तो तुमको चिन्मय वस्तु के दर्शन होंगे । सब जगह यही विधि है । ध्रुवजी ने भी स्थूल विश्व में भगवद् बुद्धि करके और फिर भगवान् के दिव्य रूप का ध्यान करते हुए भगवान् की भक्ति को धारण किया तथा **'मुक्तलिंगः'** – लिङ्ग शरीर

अथवा सूक्ष्म शरीर से मुक्त हो गये । इसी समय उन्होंने आकाश से एक बड़ा सुन्दर विमान उतरते देखा, उस विमान में भगवान् के दो पार्षद् विराजित थे । उन्हें देखकर घबराहट में ध्रुवजी भूल गये कि इनकी पूजा कैसे करनी है और केवल उन्हें प्रणाम कर लिया । **'तं कृष्णपादाभिनिविष्टचेतसम्'** - श्रीकृष्ण चरणकमलों में जिनका मन तल्लीन था, ऐसे ध्रुवजी से वैकुण्ठ के पार्षद् नन्द और सुनन्द बोले –

'राजन् ! जब तुम पाँच वर्ष के बालक ही थे, तभी तुमने अपनी तपस्या से भगवान् को प्रसन्न कर लिया था । हम उन्हीं प्रभु के सेवक हैं और तुम्हें लेने के लिए आये हैं । तुमने सुदुर्जय विष्णु पद को जीत लिया है, जिसे तुम्हारे पूर्वज भी नहीं जीत पाए । अब तुम भगवान् के उसी धाम में चलो । यह श्रेष्ठ विमान भगवान् ने तुम्हारे लिए ही भेजा है, तुम इस पर चढ़ने योग्य हो ।'

मैत्रेयजी कहते हैं – भगवान् के पार्षदों के वचन सुनकर ध्रुवजी ने स्नान किया, नित्य कर्म को करके उन्होंने बदरिकाश्रम में रहने वाले ऋषि-मुनियों को प्रणाम किया और जैसे ही वे विमान पर चढ़ने को तैयार हुए, उसी समय उनके सामने काल आ गया । यह संसार का नियम है कि जब कोई यहाँ से जाता है तो उसके सामने काल आता है । काल के अधीन होकर जीव को इस संसार से जाना होता है परन्तु ध्रुवजी के सामने काल की हिम्मत तो नहीं हुई कि उनसे कुछ कहे, अतः वह उनके सामने हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर खड़ा हो गया तो ध्रुवजी काल के मस्तक पर पाँव रखकर इस प्रकार विमान पर चढ़ गये जैसे पायदान पर पाँव रखकर सवारी पर कोई चढ़े । भगवान् के भक्तों की, भक्ति महारानी की यह महिमा है । ध्रुवजी जब विमान पर बैठकर भगवान् के धाम जाने को तैयार हुए तो उन्हें अपनी माता सुनीति की याद आई । वे सोचने लगे – 'मेरी माँ, जिसने मुझे बचपन से भगवान्

की भक्ति सिखाई थी, वह कहाँ है, क्या मैं उसे छोड़कर अकेले ही भगवान् के धाम में जाऊँगा ?' भगवान् के पार्षद ध्रुवजी के मन की बात जान गये और उन्हें सामने दिखाते हुए बोले कि देखो, तुम्हारी माता तुमसे आगे दूसरे विमान पर बैठकर तुमसे पहले भगवान् के धाम जा रही हैं ।

इस कथा से यह शिक्षा मिलती है कि अपना और अपने पूर्वजों का उद्धार करना है तो उसका सबसे बड़ा उपाय यही है कि भगवान् की भक्ति करो और उनके निमित्त केवल श्राद्ध कर आये, अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड कर लिए, उससे कुछ नहीं होता है । केवल भगवान् की भक्ति करो, उससे तुम्हारे पुरखों का भी उद्धार होगा और तुम्हारा भी होगा । तुम्हारी अगली-पिछली इक्कीस पीढ़ियों का उद्धार हो जायेगा । ध्रुवजी की माँ का कल्याण उनसे पहले हो गया । माता-पिता यदि माला जप रहे हैं किन्तु उनकी सन्तान यदि नालायक है तो अपने माता-पिता को अपने साथ ही टांग खींचकर नरक में ले जायेगी ।

अस्तु, ध्रुवजी विमान पर बैठकर भगवान् के उस धाम में पहुँच गये, जहाँ शान्त और समदर्शी लोग ही पहुँच सकते हैं । ध्रुवजी की महिमा देखकर नारदजी ने प्रचेताओं की यज्ञशाला में वीणा बजाकर तीन श्लोक गाए थे, जिनका संक्षिप्त भाव है –

अरे, सुनीति के पुत्र ध्रुव की तपस्या का प्रभाव तो देखो, उन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था में ही भगवान् को प्राप्त कर लिया और अन्त में भगवद् धाम को चल गये ।

मैत्रेयजी बोले – ध्रुवजी का यह चरित्र अत्यन्त पुण्यप्रद, आयुवर्द्धक, यशवर्द्धक और धनवर्द्धक है । प्रातः और सायंकाल, पूर्णिमा, अमावस्या, द्वादशी, संक्रान्ति अथवा रविवार के दिन इसे पढ़े और दूसरे को सुनाये । जो व्यक्ति ध्रुवजी के चरित्र को सुनता है, उस पर देवता लोग कृपा करते हैं ।

इस प्रकार यह ध्रुवजी का चरित्र पूर्ण हुआ ।

जय श्री राधे जय नन्दनन्दन ।
जय जय श्यामा नयनन अंजन ॥
जय बरसानो जय गह्वरवन ।
जय वृन्दावन जय गोवर्धन ॥

अध्याय – १३

विदुरजी ने मैत्रेयजी से पूछा – भगवन् ! आपने ध्रुवजी की कथा के अन्त में जिन प्रचेतागणों के बारे में बताया कि उनकी यज्ञशाला में नारदजी ने ध्रुवजी की अलौकिक महिमा का गायन किया तो ये प्रचेता कौन थे, किसके पुत्र थे और नारदजी से उनका मिलन कैसे हुआ ?
मैत्रेयजी ने कहा – ध्रुवजी के पुत्र उत्कल ने अपने पिता के वन चले जाने पर राज्य लेने से मना कर दिया । परमार्थ पथ पर पुत्र ने अपने पिता से भी अधिक प्रगति की । वह जन्म से ही सबमें भगवद् बुद्धि रखने वाला था, भेद तो उसकी बुद्धि में था ही नहीं, परन्तु लोग उसे जड़ (मूर्ख), अंधा व बधिर के समान समझते थे । कोई कहता कि यह पागल है, कोई कहता कि यह जड़ है जबकि यथार्थ में वह ब्रह्मज्ञानी था । कुल के वयोवृद्धजनों तथा मन्त्रियों ने उसे मूर्ख और पागल समझकर राज्य नहीं दिया । उन लोगों ने उसके छोटे भाई वत्सर को राजा बनाया । उत्कल स्वयं ही राजा बनना नहीं चाहता था । वत्सर का विवाह स्ववीथि के साथ हुआ था, जिससे पुष्पार्ण, तिग्मकेतु, इष, ऊर्ज, वसु और जय नाम के छः पुत्र हुए । पुष्पार्ण के प्रभा और दोषा नाम की दो स्त्रियाँ थीं । प्रभा और दोषा के तीन-तीन पुत्र हुए । दोषा के पुत्र व्युष्ट ने अपनी भार्या पुष्करिणी से सर्वतेजा नाम का पुत्र उत्पन्न किया । उसकी पत्नी आकूति से चक्षुः नामक पुत्र हुआ । चक्षु की पत्नी नड्वला से बारह बालक उत्पन्न हुए । इनमें उल्मुक ने अपनी पत्नी

पुष्करिणी से छः पुत्र उत्पन्न किये । उनमें पहला पुत्र था अंग । अंग की पत्नी सुनीथा ने क्रूर कर्मा वेन को जन्म दिया, जिसको ऋषियों ने शाप दे दिया और जब शाप देने पर उसकी मृत्यु हो गयी तो ऋषियों ने वेन की दाहिनी भुजा का मन्थन किया, जिससे भगवान् विष्णु के अंशावतार महाराज पृथु प्रकट हुए ।

विदुरजी ने पूछा – ब्रह्मन् ! राजा अंग के वेन जैसा दुष्ट पुत्र कैसे हुआ और उसने ऐसा क्या अपराध किया कि ऋषियों ने उसे शाप दे दिया जबकि राजा तो ईश्वर रूप होता है, राजा का अपमान तो नहीं करना चाहिए । संसार में बिना राजा के अधर्म ही बढ़ता है । (शास्त्रीय मत तो राजतन्त्र अर्थात् राजा के शासन को ही मान्यता देता है और राजतन्त्र ही वास्तविक शासन प्रणाली है ।) श्रीमैत्रेयजी ने कहा – एक बार राजा अंग ने अश्वमेध यज्ञ किया, उसमें देवता लोग नहीं आये । ऋत्विजों ने राजा अंग से कहा – 'राजन् ! आपका जो घृत आदि पदार्थ हम आहुतियों के रूप में हवन कर रहे हैं, उसे देवता लोग स्वीकार नहीं कर रहे हैं ।' अंग जी बोले – 'अब मैं क्या करूँ ?' सदस्यों ने कहा – 'आपके पूर्व जन्म का कोई पाप है, जिसके कारण आपके कोई पुत्र नहीं है । इसलिए पहले आप पुत्र प्राप्त करने के लिए यज्ञ कीजिये ।' ऋत्विजों ने पशु में यज्ञ रूप से रहने वाले श्रीविष्णु भगवान् के पूजन के लिए पुरोडाश नामक चरु समर्पण किया – **'शिपिविष्टाय विष्णवे'** - (पशु में जो यज्ञरूप से रहता है, उसे शिपिविष्ट कहते हैं; यह भगवान् का नाम है ।) अग्नि में आहुति डालते ही अग्निकुण्ड से सोने का हार पहने एक पुरुष प्रकटे, वे एक स्वर्ण पात्र में खीर लिए हुए थे । राजा अंग ने उस खीर को सूँघकर अपनी पत्नी को दे दिया । रानी सुनीथा ने गर्भ धारण किया । यथासमय पर एक पुत्र पैदा हुआ । वह बालक अधर्म के वंश में उत्पन्न हुए अपने नाना मृत्यु का अनुगामी था । सुनीथा मृत्यु की ही पुत्री थी । बालक के

ऊपर अपने नाना का प्रभाव हुआ । इसी कारण वह भी अधार्मिक हुआ । उसका नाम वेन रखा गया । वह बड़ा ही निर्दयी था । वह ऐसा क्रूर था कि मैदान में खेलते समय अपनी बराबरी के बालकों को पशुओं की तरह बलपूर्वक मार डालता था । धनुष-बाण लेकर वह वन में जाता और व्याध के समान बेचारे भोले-भाले हरिणों की हत्या करता । महाराज अंग ने उसे सुधारने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु वेन की प्रकृति में कोई सुधार नहीं हुआ । तब राजा अंग बोले – 'दुनिया रोती है यदि घर में कोई कुपूत (दुष्ट पुत्र) उत्पन्न हो, परन्तु कुपूत होना अच्छी बात है क्योंकि जब वह अपने पिता को अपमानित करता, मारता-पीटता है तब उन्हें अपने आप ही संसार से वैराग्य हो जाता है । तब पिता अपने आप ही कहता है कि संसार असत्य है । यदि सपूत (अच्छा बेटा) होगा तो वह माता-पिता की सेवा करेगा तो उनकी आसक्ति उस पुत्र में बढ़ती ही जाएगी । जिनका बेटा बहुत सेवा करता है तो कुछ लोग उसकी बहुत प्रशंसा करते हैं । अंग जी कहते हैं कि खराब लड़का पैदा हो जाए तो बहुत अच्छी बात है – **'कदपत्यं वरं मन्ये'** (४/१३/४६) । अच्छे पुत्र को छोड़ने में बड़ा कष्ट होता है । दुष्ट पुत्र घर को नरक बना देता है, इसलिए सहज ही उससे छुटकारा मिल जाता है ।

अंगजी को संसार से वैराग्य हो गया और एक दिन वह आधी रात को वन में चले गये । अपनी रानी को भी उन्होंने सोते हुए छोड़ दिया । उनके चले जाने पर सभी लोग दुखी होकर उन्हें ढूँढने लगे ।

अध्याय – १४

मैत्रेयजी कहते हैं – अब राजा के बिना दुनिया में हाहाकार मच गया । चोर-डाकू लूटमार करने लगे । उन्होंने सोचा कि इस समय कोई राजा तो है नहीं, अतः प्रजा को जितना लूट सको, लूट लो ।

सभी का कल्याण चाहने वाले मुनियों ने देखा कि अंग के चले जाने से पृथ्वी की रक्षा करने वाला कोई नहीं है, सब लोग पशुओं के समान उच्छृंखल होते जा रहे हैं तब उन्होंने वेन को पृथ्वी का राजा बना दिया । जब चोर-डाकुओं ने सुना कि वेन राजा बना है तो वे समझ गये कि यह तो हमें कठोर दण्ड देगा, अतः वे सब भयभीत होकर भाग गये और जहाँ-तहाँ छिप गये । राजा बनने पर वेन मद से उन्मक्त और पूरी तरह निरंकुश हो गया । उसने यह आदेश जारी कर दिया –

न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित् । (श्रीभागवतजी - ४/१४/६)

'सारी समस्या की जड़ ये ब्राह्मण ही हैं । अरे ब्राह्मणो ! तुम लोग सबसे बहुत दक्षिणा लेते हो, सदा द्रव्य अर्पण के लिए कहा करते हो । इसलिए आज से यज्ञ नहीं होंगे । ब्राह्मण को कोई दान न दे, कोई हवन नहीं करना ।' राज्य में नगाड़े की चोट पर सर्वत्र यह घोषणा कर दी गयी । ऋषि-मुनियों ने आपस में विचार किया कि अब क्या किया जाये ? यदि हम इसे मार दें तो फिर से राजा के न रहने पर चोर-डाकू प्रजा को लूटेंगे, सतायेंगे और यदि नहीं मारते हैं तो इसके अत्याचारों से सारा राज्य स्वयं ही नष्ट हो जायेगा । **'अहेरिव पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थभृत्'** - सर्प को दूध पिलाने पर वह उसी को काट लेता है । हमने तो वेन को प्रजा की रक्षा करने के लिए राजा बनाया था किन्तु यह आज उसी को नष्ट करने में लगा है । चलो, हम लोग इसके पास चलकर उसे समझाते हैं और यदि समझाने पर भी यह हमारी बात नहीं मानेगा तो हम लोग इसे अपनी हुंकार से भस्म कर देंगे । ऐसा विचार कर मुनि लोग वेन के पास गये और बोले – 'राजन् ! हम लोग तुमसे जो बात कहने आये हैं, उस पर ध्यान दो । इससे तुम्हारी आयु, श्री, बल और कीर्ति की वृद्धि होगी । धर्म का आचरण करने से मनुष्य शोकरहित हो जाता है । धर्म के नष्ट हो जाने पर राजा भी ऐश्वर्य से च्युत हो जाता है ।

राजन्नसाध्वमात्येभ्यश्चोरादिभ्यः प्रजा नृपः....(श्रीभागवतजी - ४/१४/१७)

राजा को दुष्ट मन्त्री और चोर आदि से अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए । (इस श्लोक में असाध्व व अमात्य शब्द प्रयुक्त हैं, इसका अभिप्राय यह है कि उस काल के मन्त्री भी भ्रष्ट हुआ करते थे)

जिसके राज्य में यज्ञपुरुष भगवान् का यजन किया जाता है, उस राजा से भगवान् प्रसन्न रहते हैं और इससे राजा का भी कल्याण होता है ।' जब मुनियों ने वेन को इस प्रकार समझाया तो वेन बोला – 'मैं राजा हूँ । सारी पृथ्वी पर मेरा शासन है । मेरे द्वारा प्रदान किये गये अन्न-धन व भूमि आदि का उपभोग करने पर भी तुम लोग मेरा गुणगान तो करते नहीं हो और ईश्वर-ईश्वर की रट लगा रखी है । तुम लोग बड़े मूर्ख हो, जो मुझ राजा रूपी ईश्वर की अवज्ञा करके किसी दूसरे ईश्वर की उपासना करते हो जैसे कोई स्त्री अपने पति को छोड़कर जार पुरुष से प्रेम करे, वैसे ही तुम लोग मुझे छोड़कर जार ईश्वर का भजन करते हो । विष्णु, ब्रह्मा, महादेव, इन्द्र, वायु, यम आदि समस्त देवता राजा के शरीर में रहते हैं । तुम लोग मेरे अतिरिक्त किसकी उपासना करते हो, एकमात्र मेरी ही पूजा करो ।'

मैत्रेयजी कहते हैं – जब मुनियों के समझाने पर वेन ने उनका इस तरह अपमान किया तो वे क्रोधित होकर बोले – 'यह दुष्ट यदि जीवित रहेगा तो सारे संसार को नास्तिक बना देगा, संसार को भस्म कर देगा । इससे अच्छे तो चोर-डाकू हैं, जो केवल धन को हो लूटते हैं, यह तो सारी जनता को अधार्मिक बना देगा ।' इस प्रकार कहकर मुनियों ने वेन को अपनी हुंकार से ही भस्म कर दिया, ऐसा क्यों, **'हतमच्युतनिन्दया'** - भगवान् की निन्दा करने के कारण तो वह पहले ही नष्ट हो चुका था । ऋषियों ने तो मरे हुए को मारा । वेन की माता सुनीथा ने उसके शव को विद्यायोग से सुरक्षित बनाये रखा । मुनियों ने पृथ्वी पर आतंक फ़ैलाने वाले बहुत से उपद्रव देखकर आपस में

चर्चा की – 'आजकल पृथ्वी पर कोई राजा न होने के कारण चोर-डाकू बहुत अपराध कर रहे हैं ।

ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः ।
स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात्पयो यथा ॥

(श्रीभागवतजी - ४/१४/४१)

ब्राह्मण अथवा संत यदि समदर्शी और शान्त स्वभाव वाला भी हो तो भी दीनों की उपेक्षा करने से उसका तेज उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे फूटे हुए घड़े में से जल बह जाता है ।' **'दया बिन संत कसाई ।'** ऐसा विचार करके मुनियों ने मृतक वेन की जांघ को मन्त्रों के प्रभाव से मथा तो उसमें से बाहुक नामक छोटे से कद का मनुष्य उत्पन्न हुआ, उसके सभी अंग बहुत छोटे किन्तु ठोड़ी बहुत बड़ी थी । वह कौवे की तरह काला था । उसने बड़ी नम्रता से पूछा – 'मैं क्या करूँ ?' ऋषियों ने आपस में कहा कि यह अमंगलमूर्ति पुरुष कैसे प्रकट हो गया, हम लोग तो किसी मंगलमय पुरुष के उत्पन्न होने की आशा कर रहे थे परन्तु इसके रूप में अमंगल का दर्शन पहले ही हो गया । ऋषियों ने उस पुरुष से कहा – 'निषीद अर्थात् बैठ जा ।' इसी से उसका नाम निषाद पड़ा । उसने जन्म लेते ही वेन के भयंकर पापों को अपने ऊपर ले लिया । इसीलिए उसके वंशधर नैषाद भी हिंसा-लूटपाट आदि पापकर्मों में लगे रहते हैं और ये गाँव-नगर में न रहकर वन और पर्वतों में ही निवास करते हैं ।

अध्याय – १५

मैत्रेयजी कहते हैं – इसके बाद ब्राह्मणों ने वेन की भुजाओं का मन्थन किया । पहले उन्होंने उसकी जाँघ का मन्थन किया था । ऐसा क्यों किया ? पाप अधिकतर निम्न अंगों में रहता है । इसमें रहस्य है । ऋषियों ने सोचा कि वेन यज्ञ करने से उत्पन्न हुआ था, अतः इसमें

पुण्य भी है तथा नानी के वंश के कारण इसमें कुछ पाप भी है । इसीलिए उन्होंने सोचा कि पहले इसके शरीर से पाप को निकाल दिया जाए, अतएव पहले उसकी जाँघ को मथा गया था, उससे पाप निकल गया । इसके बाद उसके शरीर में जो अवशिष्ट विष्णु अंश था तो भुजाओं के मथने से राजा पृथु उत्पन्न हुए और उनके साथ लक्ष्मीजी की अंश रूपा अर्चि भी प्रकट हुईं । उन्हें देखकर ऋषि लोग बोले – 'ये दोनों साक्षात् ईश्वर अंश हैं ।' ब्रह्माजी ने पृथु के दाहिने हाथ में भगवान् विष्णु की हस्त रेखाएं और चरणों में कमल का चिह्न देखकर उन्हें ईश्वर अंश समझा क्योंकि जिसके हाथ में दूसरी रेखाओं से बिना कटा हुआ चक्र का चिह्न होता है, वह भगवान् का ही अंश होता है । हम लोगों के हाथ में जो चक्र का चिह्न होता है, वह रेखाओं से कटा हुआ होता है । ब्राह्मणों ने महाराज पृथु का अभिषेक किया । उन्हें कुबेरजी ने बड़ा सुन्दर सोने का सिंहासन दिया, वरुण जी ने श्वेत छत्र दिया, इन्द्र ने मनोहर मुकुट, सरस्वतीजी ने सुन्दर हार, विष्णु भगवान् ने सुदर्शन चक्र, लक्ष्मीजी ने शोभा, अग्नि ने आजगव नामक धनुष तथा पृथ्वी देवी ने पादुकायें उपहार में प्रदान कीं । मागध लोग जब पृथु जी की प्रशंसा करने चले तो पृथु जी बोले – 'अरे, मेरी प्रशंसा, नहीं-नहीं । यदि तुम लोग मेरी प्रशंसा करना चाहते हो तो जब मैं कुछ अच्छे काम करूँ तब मेरी प्रशंसा करना, अभी तो लोक में मेरा कोई भी गुण प्रकट नहीं हुआ फिर तुम किन गुणों को लेकर मेरी स्तुति, मेरी प्रशंसा करोगे ? कोई सामर्थ्यवान पुरुष भी होगा, तब भी वह अपनी प्रशंसा नहीं कराएगा । यदि तुम लोग कहो कि अभी नहीं परन्तु भविष्य में लोक में मेरा अद्भुत पराक्रम प्रकट होगा, इस प्रकार सम्भावना में ही प्रशस्ति गायन कराया जाए तो यह उपहास की बात है ।'

उत्तम पुरुष सदा ही भगवान् का यश गाते हैं, भगवान् की ही प्रशंसा करते हैं और हम जैसे अधम लोग अपनी प्रशंसा चाहते हैं ।

यह भक्ति के विरुद्ध बात है । भूखी आत्मायें अपना यश चाहती हैं जबकि यश तो प्रभु का होना चाहिए ।
अन्त में पृथुजी बोले –

प्रभवो ह्यात्मनः स्त्रोत्रं जुगुप्सन्त्यपि विश्रुताः ।
ह्रीमन्तः परमोदाराः पौरुषं वा विगर्हितम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/१५/२५)

जो महापुरुष लोग होते हैं, वे अपनी प्रशंसा से उसी प्रकार घृणा करते हैं, जिस प्रकार लज्जाशील मनुष्य अपनी निन्दा को बुरा समझता है ।

इस तराजू पर अब अपने को नापो । हम लोगों की निन्दा करते हुए कोई हमें अत्यधिक दुष्ट बता दे तो अपनी आलोचना सुनकर हमें बड़ा कष्ट होगा, मन में बारम्बार यही स्फूर्ति होगी कि अमुक व्यक्ति ने मुझे खल कैसे कह दिया किन्तु जो महापुरुष होते हैं, वे अपनी प्रशंसा से घबराते हैं । कोई उनसे कह दे कि महाराज ! समाज में आपकी बहुत प्रशंसा हो रही है तो वे अपने को धिक्कारते हुए कहते हैं – 'हे राम ! मेरे इस तुच्छ मिट्टी के शरीर का जो महिमामण्डन किया जा रहा है, यह अत्यन्त ही लज्जाजनक है ।' अब इस तरह के उनके आचरण को देखकर हमें विचार करना चाहिए कि महापुरुषों में और हममें कितना बड़ा अन्तर है । यही आदर्श पृथु भगवान् ने विश्व को सिखाया और हमें भी ऐसा ही बनना चाहिए ।

अध्याय – १६

मैत्रयजी कहते हैं – पृथुजी की बात सुनकर सूत, मागध और बन्दी जन घबरा गये । मुनियों ने उनसे कहा – 'अरे, तुम लोग घबराते क्यों हो, पृथुजी ईश्वर हैं, उनकी स्तुति तुम लोग करो । ये तो

अपनी महिमागायन को पसन्द नहीं करेंगे फिर भी तुम लोग ऐसा करो ।' जब ऋषि-मुनियों ने पृथुजी की स्तुति करने की आज्ञा दी तो सूत-मागध-वन्दीजन पृथुजी की स्तुति करने लगे, उनकी सच्ची प्रशंसा करने लगे कि ये बड़े दृढव्रत होंगे, सत्यसन्ध होंगे, ब्रह्मण्य होंगे, ब्रह्मवादियों के दास होंगे, शरणागतवत्सल और बड़े दयालु होंगे । भविष्य में जब देवता वर्षा नहीं करेंगे तो पृथुजी स्वयं जल बरसा लेंगे, पर स्त्रियों के प्रति ये मातृ-भाव रखेंगे । ये साक्षात् भगवान् हैं, जब ये विजय के लिए निकलेंगे तब सब लोग इनका सम्मान करेंगे । ये पृथ्वी का दोहन करेंगे, पर्वतों को तोड़-फोड़कर पृथ्वी को समतल करेंगे । जब ये आजगव धनुष का टंकार करेंगे तो उस समय चोर-डाकू आदि सभी दुष्टजन भाग जायेंगे । अन्त में ये सनत्कुमार से ज्ञान प्राप्त करके परम लाभ को प्राप्त हो जायेंगे ।

अध्याय – १७

विदुरजी ने पूछा – महाराज ! पृथुजी ने पृथ्वी का किस प्रकार दोहन किया और कैसे उसे समतल किया तथा सनत्कुमारजी से कैसे ज्ञान प्राप्त किया, यह सब आप हमें बताइए । मैत्रेयजी ने कहा – जब पृथुजी राजसिंहासन पर बैठे, उस समय पृथ्वी पर कहीं अन्न था ही नहीं और प्रजा के शरीर भूख के कारण सूखकर काँटे हो गये थे । प्रजा ने अपने स्वामी पृथुजी के पास जाकर कहा – 'राजन् ! हम तो जठराग्नि की भीषण ज्वाला से जले जा रहे हैं, हम लोगों के पास खाने को अन्न नहीं है, क्या करें हम, हम लोग तो नष्ट हुए जा रहे हैं ।' प्रजा के करुण क्रन्दन को सुनकर पृथु जी ने ध्यान से देखा तो समझ गये कि पृथ्वी ने स्वयं ही अन्न एवं औषधि आदि को अपने भीतर छिपा लिया है । अपनी बुद्धि से इस बात का निश्चय करके उन्होंने हाथ में धनुष लिया और पृथ्वी के पीछे दौड़े । पृथ्वी गाय का रूप बनाकर

चारों दिशाओं में भागने लगी । जहाँ-जहाँ वह जाती, उसे अपने पीछे हाथ में धनुष लिये राजा पृथु दिखाई देते । अन्त में पृथ्वी उनसे बोली – 'राजन् ! आप तो बड़े धर्मज्ञ हैं, आपसे बचकर मैं कहाँ भाग सकती हूँ ? स्त्री पर प्रहार नहीं करना चाहिए । आप तो राजा हैं । मुझे यदि आप मार देंगे तो फिर प्रजा कहाँ रहेगी ?' पृथुजी बोले – 'वसुधे ! मैं तेरा वध करूँगा । तू यज्ञ के भाग को खा जाती है किन्तु अन्न को बाहर नहीं निकालती है ।'

प्राचीन काल में एक समय ऐसा था, जब बिना जोते-बोये अन्न पैदा होता था और आजकल यूरिया आदि विभिन्न प्रकार की खाद खेतों में डाली जाती है, फिर भी ठीक से अन्न की पैदावार नहीं होती है । इसका कारण यह है कि पुण्य रूपी वस्तु आजकल नष्ट हो रही है, इसीलिए बनावटी खादों का, कृत्रिम साधनों का कृषि में प्रयोग होता है परन्तु ये ज्यादा दिन नहीं चलेंगे । एक समय ऐसा आएगा, जब धरती की उर्वरा शक्ति बिल्कुल समाप्त हो जाएगी । बनावटी साधनों से काम नहीं चलने वाला । इस बात को आजकल के वैज्ञानिक नहीं समझ सकते हैं । सबसे बड़ी वस्तु, धरती की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने वाली है – आस्तिकता, भगवद्भक्ति । यदि वह नहीं है तो धरती की उर्वरा शक्ति समाप्त हो जायेगी । इस बात को कोई समझ नहीं सकता लेकिन ऐसा समय अवश्य आएगा ।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने पहले ही रामचरितमानस में लिख दिया –

कलि बारहि बार दुकाल परै । बिनु अन्न दुखी सब लोग मरैं ॥

कलियुग में ऐसा ही समय आयेगा । संसार में सुख-शान्ति नहीं रहेगी । वही बात हुई, पहले भारत दुनिया में सोने की चिड़िया कहलाता था और आज पीतल की चिड़िया भी नहीं रहा । आज से

३० वर्ष पूर्व फाल्गुन के महीने में बरसाना और इसके अन्तरवर्ती चिकसौली गाँव में महीने भर तक होली का नगाड़ा बजता था । महीनों तक रात्रि पर्यन्त होली के गीत गाये जाते थे और अब रंगीली होली के थोड़े दिन शेष रहने पर भी कोई नगाड़ा नहीं बजता । पहले जैसी होली की धूम अब ब्रज में नहीं रही । वे सुख के दिन अब चले गये । सुख-शान्ति का रस तो हमारे पुरखे लोग ले गये । अब तो लोग टेरीलीन-टेरीकाट के कपड़े पहन लेते हैं । घर में चाहे खाने को अनाज भी न हो, कर्ज भले ही है लेकिन हाथ में लोग बढ़िया कम्पनी की घड़ी बाँध लेते हैं । वस्तुतः सुख-शान्ति तो भगवद्भक्ति से आती है । दुनिया तो धोखे में जा रही है । महापुरुष लोग जैसा कह गये हैं, वैसा समय आएगा । विज्ञान चाहे कितनी ही प्रगति क्यों न कर ले, अशान्ति बढ़ती जाएगी ।

वही बात पृथुजी ने पृथ्वी से कही कि तू यज्ञ का भाग तो खा जाती है किन्तु सब अन्न अपने भीतर छिपा लेती है । भगवान् ने यह भी कहा कि स्त्री हो चाहे पुरुष हो, जो प्राणियों पर दया नहीं करता, निर्दयी है, उसको मार ही देना चाहिए । अतः मैं तो तेरा वध अवश्य करूँगा । अपने बाणों से तेरे टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा । तू माया से ही गाय का रूप बनाये हुए है । पृथुजी की बात सुनकर पृथ्वी घबरा गयी और बोली – **नमः परस्मै पुरुषाय** ।

'आप साक्षात् परम पुरुष हैं, आपको मैं नमस्कार करती हूँ । आपने अपने स्वरूप के प्रभाव से द्रव्य, अधिभूत, क्रिया-अध्यात्म, कारक अधिदैव और उनके विभ्रम से जो ऊर्मियाँ हैं – राग-द्वेषादि, उनको जीत रखा है । आपको नमस्कार है । आप अनेक अवतार धारण करते हैं । मैं आपके ही द्वारा विनिर्मित हूँ और आप बाण लेकर मुझे मारना चाहते हैं, अब मैं किसकी शरण में जाऊँ ?' इस प्रकार पृथ्वी ने बहुत तरह से पृथु भगवान् की स्तुति करते हुए

कहा – 'आप परम पुरुष हैं, आदि वराह हैं, आप ही मुझे रसातल से उद्धार करके ले आये और आपने ही मुझे नौका के समान जल के ऊपर स्थापित कर दिया । आप वीर मूर्ति हैं । मुझे अपने पैने बाण चढ़ाकर मारना चाहते हैं ।

नूनं जनैरीहितमीश्वराणाम्
अस्मद्विधैस्तद्गुणसर्गमायया ।
न ज्ञायते मोहितचित्तवर्त्मभिः
तेभ्यो नमो वीरयशस्करेभ्यः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/१७/३६)

भक्तमाल में नाभाजी ने लिखा है – **'नहिं पाऊँ भक्त-दाँव को'** जब भगवान् की लीला को ही कोई नहीं समझ सकता है तो भक्तों की लीला कोई क्या समझेगा ? यही बात धरती माता कह रही है – 'जो ईश्वर (भगवान्) के भक्त हैं, उनकी लीला को भी हम लोग नहीं समझ सकते हैं । जिनका चित्त मोहित है, वे लोग भगवान् के भक्तों की लीला को नहीं समझ सकते, आपको नमस्कार है ।'

अध्याय – १८

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं - इस प्रकार से स्तुति करके पृथ्वी भगवान् पृथु से बोली – 'प्रभो ! आप मुझे मारिये नहीं, पहले ब्रह्माजी ने जो अन्न, औषधियों की रचना की थी, उन्हें मैंने अपने पेट में छिपाकर हजम कर लिया । ऐसा क्यों ? इसलिए छिपा लिया क्योंकि अन्न को संसार में असत् पुरुष खाने लगे, अतः मैंने उसे छिपा लिया और अब तो वह सब अन्न और औषधि मेरे पेट में हजम हो गये हैं । इसके लिए आप पहले मेरे लिए बछड़ा लाइए और बछड़ा भी योग्य होना चाहिए तब फिर आप मेरा दोहन कीजिए । राजन् ! एक बात और है, पहले आपको मुझे समतल करना होगा, जिससे कि वर्षा ऋतु बीत जाने पर

भी मेरे ऊपर इन्द्र का बरसाया हुआ जल रुके ।' पृथ्वी की बात को स्वीकार कर महाराज पृथु ने मनुजी को बछड़ा बनाया । मनु महाराज से बढ़कर भगवद्भक्त कौन होगा ? मनुजी ने इकहत्तर चौकड़ी तक शासन किया और इतने लम्बे समय तक अनवरत् उन्होंने कृष्ण स्मरण किया और कृष्ण यश गाया था । उनको बछड़ा बनाया गया । वे कोई साधारण राजा नहीं थे । उनका सारा जीवन अयातयाम बीता, राज्य भी करते रहे और दिन-रात भजन भी करते रहे । आजकल के लोग कह दते हैं कि हमारे पास इतना काम है कि भजन करने के लिए हमें समय नहीं मिलता है । वास्तव में देखा जाये तो हम लोगों में लगन की कमी है ।

ऐसे मनुजी, जिन्होंने इतना लम्बा समय राज्य करते हुए भी निरन्तर भजन में बिताया, उन्हीं को महाराज पृथु ने बछड़ा बनाया, अब क्यों न धरती अन्नादि देगी । पृथुजी ने सब अन्न दुह लिया । उनके बाद ऋषियों ने बृहस्पतिजी को बछड़ा बनाकर पृथ्वी से वेद रूपी दूध दुहा । देवताओं ने इन्द्र को बछड़ा बनाकर सोमरस दुह लिया । दैत्य-दानवों ने प्रह्लादजी को बछड़ा बनाकर अपने स्वार्थ की वस्तु मदिरा और आसव को दुह लिया । गन्धर्व और अप्सराओं ने विश्वावसु को बछड़ा बनाकर गान्धर्व विद्या और सौन्दर्य को दुह लिया । पितृगणों ने अर्यमा को बछड़ा बनाकर कव्य (पितरों को अर्पित किया जाने वाला अन्न) रूप दूध दुहा । सिद्धों ने कपिलजी को बछड़ा बनाकर संकल्प वाली सिद्धि का दोहन किया । विद्याधरों ने आकाशगमन आदि विद्याओं को दुहा । इसी प्रकार किम्पुरुषादि मायावी लोग अपनी माया दुहते गये । यक्ष-राक्षस तथा भूत-पिशाचादि ने रुद्र को बछड़ा बनाकर कपाल रूप पात्र में अपने मतलब की चीज क्षतजासव को दुह लिया । सर्प आदि विषैले जन्तुओं ने तक्षक को बछड़ा बनाकर विष को दुह लिया । पशुओं ने भगवान् रुद्र के वाहन बैल को बछड़ा बनाकर घास-फूस दुह लिया । इस प्रकार से

सब लोग पृथ्वी का दोहन करते गये । इसके बाद पृथु महाराज ने अपने धनुष की कोटि से पर्वतों को फ़ोड़कर पृथ्वी को समतल किया और प्रजा के रहने के लिए अनेकों गाँव, कस्बे, नगर, दुर्ग आदि बसाये । महाराज पृथु से पहले इस पृथ्वी पर पुर-ग्रामादि का विभाग नहीं था, सब लोग अपनी सुविधानुसार बेरोकटोक जहाँ-तहाँ बस जाते थे । इसीलिए पृथु जी को आदिराज कहा गया ।

अध्याय – १९

मैत्रेयजी कहते हैं – राजा पृथु ने ब्रह्मावर्त क्षेत्र (कानपुर के निकट का क्षेत्र ब्रह्मावर्त कहलाता है) में सौ अश्वमेध किये । उस यज्ञ में साक्षात् भगवान् ने दर्शन दिया था । उस समय बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि कपिल, नारद, दत्तात्रेय एवं सनकादिक आदि ने भी भगवान् का अनुगमन किया था । उस समय सब नदियों में रस बहने लगा, समुद्र से अपने आप सभी प्रकार के रत्न निकलने लगे । पृथुजी के यज्ञ को देखकर इन्द्र को बड़ी ईर्ष्या हुई और वे यज्ञ के घोड़े को चुरा ले गये । ईर्ष्या बहुत बड़ा पाप है, इससे सदा बचना चाहिए । जिस समय इन्द्र पाखण्ड वेष में घोड़े को ले जा रहे थे, उन पर अत्रि भगवान् की दृष्टि पड़ गयी और उन्होंने पृथुजी को इन्द्र को मारने के लिए कहा । यज्ञ में क्रोध नहीं करना चाहिए । क्रोध बड़ी खराब वस्तु है और यह कलियुग का धर्म है कि लोग थोड़ी-थोड़ी सी बात पर क्रोध करने लगते हैं । हम लोगों का ऐसा बुरा स्वभाव हो गया है कि दिन में सौ बार दूसरों को झिड़कते हैं । सब पर क्रोध करते हैं और कोई टोक दे तो बुरा मानते हैं ।

इधर अत्रि भगवान् के कहने से पृथु का पुत्र इन्द्र को मारने के लिए उनके पीछे दौड़ा परन्तु पास जाने पर देखा तो इन्द्र सिर पर जटाजूट और शरीर में भस्म धारण किये बैठे थे । पृथु पुत्र ने सोचा कि

ये तो कोई महात्मा हैं, इन्हें नहीं मारना चाहिये । उसने बाण नहीं चलाया । महर्षि अत्रि ने पृथु पुत्र से कहा – 'अरे बेटा ! यह इन्द्र है, यह साधु नहीं है, इसे मार डालो क्योंकि इसने तुम्हारे यज्ञ में विघ्न डाला है ।' अत्रि मुनि के इस प्रकार कहने पर पृथु कुमार इन्द्र के पीछे ऐसे दौड़ा जैसे रावण के पीछे जटायु दौड़े थे । इन्द्र ने उसे पीछे आते देख वह घोड़ा भी छोड़ दिया और अपना पाखण्ड रूप भी छोड़ दिया । वीर पृथु पुत्र घोड़े को लेकर पिता की यज्ञशाला में लौट आया । अश्व (घोड़ा) जीतकर लाये, इसीलिए महर्षियों ने इनका नाम रखा – 'विजिताश्व' । उस घोड़े को चषाल और यूप (यज्ञ पशु बाँधने का खम्बा) में बाँध दिया गया । इन्द्र पुनः उस घोड़े को उसकी सोने की जंजीर समेत ले गये । अत्रि मुनि ने फिर से पृथु पुत्र को इन्द्र को आकाश में घोड़ा ले जाते दिखाया और उसे इन्द्र को मारने के लिए उकसाया तो उसने इन्द्र को मारने के लिए बाण चढ़ाया । इस बार फिर से इन्द्र घोड़ा और अपने पाखण्ड वेष को छोड़कर अन्तर्धान हो गये । इस प्रकार इन्द्र ने बहुत से रूप धारण किये, उन रूपों को पाखण्ड कहा गया । यहाँ पाखण्ड की परिभाषा की गयी है कि पाखण्ड माने क्या होता है ?

'पापस्य खण्डानि लिंगम्' (श्रीभागवतजी - ४/१९/२३)

पा माने पाप और खण्ड माने चिह्न । पाप का जो चिह्न है, उसे पाखण्ड कहते हैं अर्थात् पाखण्ड करना पाप है । हम भक्त नहीं हैं और झूठे ही दिखा रहे हैं कि हम बड़े भक्त हैं तो यह सब पाप है । हम तो सोच रहे हैं कि हम बड़ा भजन कर रहे हैं, नहीं, जो वस्तु पाखण्ड के लिए की जाती है, वह पाप है । दुनिया को दिखाने के लिए कोई काम मत करो । महापुरुषों ने लिखा है कि दो प्रकार की चेष्टा होती है – वस्तु विषयिणी चेष्टा और व्यक्ति विषयिणी चेष्टा । वस्तु विषयिणी चेष्टा

केवल श्रीकृष्ण के लिए, उनको प्रसन्न करने के लिए की जाती है तथा व्यक्ति विषयिणी चेष्टा का लक्ष्य होता है कि हर व्यक्ति मुझे देखे और जाने । आजकल हम सभी लोग व्यक्ति विषयिणी चेष्टा में ही लगे हैं । वस्तु विषयिणी चेष्टा केवल भगवद्भक्तों – महापुरुषों में ही होती है । इन्द्र के द्वारा धारण किये और छोड़े गये रूप पाखण्ड कहलाये । लाल कपड़ा पहनना, नग्न रहना – ये सब पाखण्ड है । पृथुजी के राज्य की प्रजा पाखण्ड को अपनाने लगी । अन्त में इन्द्र की कुचाल को देखकर महाराज पृथु को बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने धनुष उठाकर उस पर बाण चढ़ाया । पृथुजी को ऐसा करते देखकर सब ऋषियों ने उन्हें रोकते हुए कहा – 'अरे राजन् ! आप क्रोध मत कीजिये, नहीं तो सारा यज्ञ नष्ट हो जायेगा । यज्ञ दीक्षा ले लेने पर शास्त्र विहित यज्ञ पशु को छोड़कर और किसी का वध करना उचित नहीं है । अभी हम मन्त्रों की शक्ति के द्वारा इन्द्र को यहीं बुलाकर अग्नि में हवन कर देंगे । केवल बाण ही बड़ा हथियार नहीं है ।' याजक लोग इन्द्र का आवाहन करके मन्त्रों के द्वारा भस्म करने को तैयार हुए, उसी समय वहाँ ब्रह्माजी आ गये और याजकों से बोले – 'तुम्हें इन्द्र का वध नहीं करना चाहिए, वह तो भगवान् का वपु है ।' राजा पृथु से ब्रह्माजी बोले – 'राजन् ! अब आप अपना यज्ञ बन्द कीजिये । आपका अश्वमेध यज्ञ भले ही सौ से एक कम है, निन्यानबे है परन्तु दैवहत कर्म को नहीं करना चाहिये । **यद् ध्यायतो दैवहतं न कर्तुं** । देखो, यदि दैव विरुद्ध हो तो उससे नहीं लड़ना चाहिए, उससे क्या होता है –

'मनोऽतिरुष्टं विशते तमोऽन्धम्' (श्रीभागवतजी - ४/१९/३४)

या तो क्रोध में फँस जाओगे अथवा अश्रद्धा कर लोगे कि अरे, भगवान् ने मेरे साथ क्या किया ? इसलिए दैवहत वस्तु के पीछे नहीं पड़ना चाहिए ।'

मैत्रेयजी कहते हैं – इस प्रकार ब्रह्माजी के समझाने पर पृथुजी ने यज्ञ का आग्रह छोड़ दिया । ब्रह्माजी ने इन्द्र के साथ उनकी सन्धि भी करा दी तथा इन्द्र को भी समझाया कि तुम्हारे द्वारा अपनाये गये रूपों के कारण प्रजा पाखण्ड पथ पर दौड़ रही है । इसके बाद ब्रह्माजी पृथु महाराज को आशीर्वाद देकर चलेगये । ब्राह्मणों ने भी पृथुजी को आशीर्वाद दिया ।

अध्याय – २०

मैत्रेयजी कहते हैं – इधर पृथुजी की क्षमाशीलता से भगवान् प्रसन्न हो गये । भगवान् इन्हीं गुणों से प्रसन्न होते हैं । ये सब गुण सीखने योग्य हैं ।

भगवान् ने कहा – राजन् ! इन्द्र ने तुम्हारे सौ अश्वमेध यज्ञ पूरा करने के संकल्प में बाधा डाली तो तुम इन्हें क्षमा कर दो । बुद्धिमान लोग द्रोह नहीं करते हैं । तुम्हारे जैसे श्रेष्ठ पुरुष भी मोहित हो जाएँ तो फिर वृद्ध सेवा (ज्ञानी जनों की सेवा) से क्या लाभ रहा ? जो पुरुष किसी प्रकार की कामना न रखकर अथवा सब प्रकार की कामनाओं को छोड़कर मेरा भजन करता है, उसका मन प्रसन्न हो जाता है । राजन् ! गुण प्रवाह अर्थात् आवागमन (मरना-जीना) तो लिंग शरीर का होता है । लिंग शरीर किसे कहते हैं ? **द्रव्यक्रियाकारकचेतनात्मनः** – (४/२०/१२) – सत्तरह चीजें मिलकर लिंग शरीर बनता है । क्रिया – पाँच कर्मेन्द्रियाँ, कारक – पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, द्रव्य – सूक्ष्म द्रव्य पाँच प्राणादि, चेतन – चैतन्य और आत्मा अर्थात् अन्तःकरण – इन सबसे मिलकर लिंग शरीर बनता है ।

भगवान् कहते हैं कि बुद्धिमान वही है, जो सम्पत्ति-विपत्ति प्राप्त होने पर विकारों से ग्रसित नहीं होता । जो विकारों से ग्रसित हो गया, वह बुद्धिमान कैसे हो सकता है ? इसके अतिरिक्त तुम्हें समान होना चाहिए । अपनी प्रजा का पालन करो । अन्त में प्रभु बोले –

वरं च मत् कञ्चन मानवेन्द्र
वृणीष्व तेऽहं गुणशीलयन्त्रितः ।
नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभि -
र्योगेन वा यत्समचित्तवर्ती ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२०/१६)

'हे राजन् ! तुम मुझसे वरदान माँग लो । तुमने मुझे अपने गुण और शील से बाँध लिया है । गुण यही है कि तुमने इन्द्र को क्षमा कर दिया तथा शील है अद्रोह (द्रोह नहीं करना) ।'

भागवतजी यही शिक्षा देती हैं कि यदि प्रभु को कोई वश में करना चाहता है तो वे गुण लाओ, जिनसे तुम्हारा प्यारा तुम्हारे वश में हो जाए । भक्त स्वभाव सीखो, यही गीता में बताया गया है, यही भागवत में बताया गया है । हम लोगों का स्वभाव तो कुत्ता-बिल्ली की तरह है, ऐसी स्थिति में हम कहाँ से सन्त-भक्त बन जायेंगे और कैसे रसिक बन जायेंगे ?

भगवान् ने पृथु जी से कहा – 'राजन् ! मैं तुम्हारे गुण और शील से बँध गया हूँ और मुझे कोई इन्हीं गुणों से, क्षमाशीलता, सहनशीलता के द्वारा ही जीत सकता है । यज्ञ, योग और तपस्यादि से कोई मुझे नहीं पा सकता ।'

मैत्रेयजी कहते हैं – भगवान् की आज्ञा को पृथुजी ने अपने हृदय में धारण किया । इधर इन्द्र की ऐसी हालत हुई कि वे पृथुजी के चरण स्पर्श करने लगे और अपने कर्म से लज्जित हो रहे थे । जो क्षमाशील होता है, वह सबको जीत लेता है,भगवान् को भी जीत लेता है । भगवान् वहाँ से जाना चाहते थे किन्तु कृपा के कारण वहीं खड़े रह गये ।

आदिराज पृथु प्रेम के कारण कुछ बोल नहीं सके । वे हृदय से भगवान् के चरणों को पकड़कर आँसू बहाने लगे । यहाँ तक कि

भगवान् का नियम टूट गया । **'पदा स्पृशन्तं क्षितिमंस'** – (४/२०/२२) भगवान् पृथ्वी को नहीं छूते हैं किन्तु उनके चरणों को पृथुजी ने इस प्रकार प्रेम से इतनी जोर से पकड़ा कि प्रभु के चरण तुरन्त धरती पर आ गए । प्रभु तो अपने भक्तों की भक्ति के आगे बहुत कमजोर पड़ जाते हैं । जो श्रीकृष्ण अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक हैं, उनको ब्रज के ग्वालबाल कुश्ती में उठाकर पटक देते थे और कहते थे – 'नन्द के ! हमसे ज्यादा ताकत तुझमें नहीं है । तू एक माट दूध पीता है और हम दो माट दूध पीते हैं ।' मधुमंगल कहता था – 'कन्हैया ! मैं तो कई माटों का माखन खा जाता हूँ । तू मुझसे कैसे जीत सकता है ?'

इसी तरह पृथुजी के प्रेमवश प्रभु के चरण पृथ्वी पर आ गये क्योंकि उन्होंने प्रभु के चरणों का ऐसा गाढ़ आलिंगन किया था । अनन्तर पृथु जी ने भगवान् से बहुत अच्छी बात कही । पृथुजी बोले – मैं आपसे क्या माँगूं ? क्या आपसे संसार के तुच्छ नारकीय भोगों को माँगूँ ? मैं इन तुच्छ विषयों की तो कामना ही नहीं करता । यदि आप मुझे देना ही चाहते हैं तो यह दीजिये कि दस हजार कान दे दीजिये ।

न कामये नाथ तदप्यहं क्वचित्
न यत्र युष्मत् चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो
विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२०/२४)

महापुरुष लोग जब आपकी कथा सुनाते हैं कि श्यामसुन्दर ऐसी लीला कर रहे हैं तो इन कथाओं को दो कानों से सुनने से मेरा मन तृप्त नहीं होता है । इसलिए मुझे दस हजार कान दीजिये ।

स उत्तमश्लोक महन्मुखच्युतो
भवत्पदाम्भोजसुधाकणानिलः ।

स्मृतिं पुनर्विस्मृततत्त्ववर्त्मनाम्
कुयोगिनां नो वितरत्यलं वरैः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२०/२५)

प्रभो ! महापुरुषों के हृदय में आपके चरणकमल होते हैं । वे जब आपकी कथा कहते हैं तो उनके मुख से जो वायु निकलती है, वह आपके चरणकमलों के अमृत कण को लेकर आती है । उसके प्रभाव से अनादि काल से आपको भूले कुयोगियों को आपकी स्मृति - ध्रुवा स्मृति की प्राप्ति होती है । प्रभो ! आप मुझे वही स्मृति प्रदान कीजिये कि कभी आपकी याद न भूले ।

दिन वही दिन है जो तेरी याद में गुजर जाए ।

आपके यश से जो तृप्त हो जाये, विराम ले ले, वह तो पशु है । आपके यश का संग्रह तो लक्ष्मीजी भी करती हैं । कहीं मुझमें और लक्ष्मीजी में कुछ होड़ न हो जाए । विरोध तो अवश्य होगा क्योंकि हम दोनों एक ही चीज चाह रहे हैं । आपके चरणकमलों की सेवा करना मैं भी चाहता हूँ और लक्ष्मीजी भी चाहती हैं, परन्तु आप तो दीनवत्सल हैं, गरीबों-दीनों से प्यार करने वाले हैं । आपको लक्ष्मीजी की क्या आवश्यकता है, इसलिए पक्ष तो आप मेरा ही लेंगे ।

'भजन्त्यथ त्वामत एव साधवो' – साधुगण आपका भजन क्यों करते हैं ? इसलिए करते हैं क्योंकि – **भवत्पदानुस्मरणादृते सतां निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे ।** (श्रीभागवतजी - ४/२०/२९) सत्पुरुषों को आपके चरणकमलों का निरन्तर भजन करने के अतिरिक्त और कोई निमित्त नहीं है कि किसी मतलब से, किसी कामना से आपका भजन करें ।

ये ऐसा ही है, जैसा कि कपिल भगवान् ने कहा है – **'वृत्तिः स्वाभाविकी तु या'** सबसे ऊँची निर्गुणा भक्ति है – भगवान् के प्रति स्वाभाविकी वृत्ति अर्थात् मन को लगाना नहीं पड़ता है ।

पृथुजी ने आगे कहा – आपकी जो वाणी है – 'वरदान माँग' - यह जीवों को सम्मोहित करने वाली है । मैं अब आपसे क्या माँगूं ? पिता तो अपने बच्चे का स्वयं ही हित करता है । अतः आप जैसा चाहें, वैसा कीजिये, मैं आपसे कुछ नहीं माँगता ।

भगवान् ने सोचा कि अब यह तो बड़ी उलझन की बात है । मैं कह रहा हूँ कि वरदान माँग और पृथु कह रहे हैं कि पिता अपने बच्चे के कल्याण के लिए स्वयं यत्न करता है, इसलिए आप जो चाहिये, वह दे दीजिये । अतः भगवान् ने पृथुजी से कहा – 'मैं तुम्हें यह वर देता हूँ कि तुम्हारी मुझमें भक्ति हो ।'

विचार करो, यहाँ पृथुजी कितने भोले बन गये, जैसे रामायण में भगवान् ने कागभुशुण्डिजी को अनेक तरह के वरदानों का प्रलोभन दिया किन्तु भक्ति देने के बारे में नहीं कहा तो कागभुशुण्डिजी बोले – 'प्रभो ! आपने सब चीजें देने की बात तो कही किन्तु भक्ति देने के लिए नहीं कहा ।' उन्होंने भक्ति ही माँगी तो रामचन्द्रजी बोले – 'कौवे ! तू बड़ा चतुर है तभी तो भक्ति माँग रहा है ।' श्रीराम ने कागभुशुण्डिजी को उनका इच्छित वर भक्ति प्रदान की, किन्तु यहाँ पृथुजी ऐसे भोले बन गये कि प्रभु से बोले – 'मैं आपसे कुछ नहीं माँगता । आपकी जो इच्छा हो, वह दे दीजिये ।' तब फिर भगवान् ने उनको बिना माँगे ही भक्ति दे दी । इससे बड़ा दान और हो ही क्या सकता है ?

भगवान् फिर पृथुजी से पूजित होकर अपने धाम को चले गये और उनको प्रणाम करके राजा पृथु अपनी राजधानी में चले गये ।

अध्याय – २१

विदुरजी ने मैत्रेयजी से कहा – राजा पृथु में तो वैष्णव तेज था । आप मुझे उनकी कीर्ति कुछ और सुनाइए । मैत्रेयजी ने कहा – पृथुजी का शासन सातों द्वीपों के सभी पुरुषों पर था परन्तु वे ब्राह्मणों और

सन्तों पर शासन नहीं करते थे । यह उनका नियम था । उनका शरीर बहुत सुन्दर था । वे लम्बे थे, उनका रंग गोरा, छाती चौड़ी और ऊँचे कंधे थे ।

एक बार राजा पृथु ने अपनी प्रजा से कहा – जो राजा धर्म की शिक्षा नहीं देता है, वह केवल प्रजा के पाप का ही भागी होता है और जो राजा धर्म की शिक्षा देता है, वह प्रजा के पुण्य को भोगता है ।

कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुस्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम् ।

(श्रीभागवतजी - ४/२१/२६)

कोई काम किया जाये, कराया जाए और उसका समर्थन किया जाए तो इन तीनों को समान फल मिलता है । जैसे आप लोग कोई अच्छा काम करें, दान करें, यज्ञ करें या भजन करें, पाठ करें, कीर्तन करें तो आप लोग चूँकि करने वाले हैं तो आपको तो इसका फल अवश्य ही मिलेगा परन्तु कोई आदमी जो इस अच्छे कार्य को करा रहा है, उसको भी समान फल मिलेगा । इसके अतिरिक्त यदि हम अच्छे कार्य को न कर सकें, न करा सकें किन्तु यदि उस अच्छे कार्य का समर्थन भी कर देते हैं कि हाँ, ये बड़ा अच्छा काम हो रहा है तो भी उसका समान फल मिलेगा । इसलिए अच्छा कार्य जहाँ भी हो रहा हो, उसे करो, कराओ या उसका समर्थन करो । अगर समर्थन भी नहीं करते हो किन्तु उस अच्छे कार्य के प्रति दुर्भाव रखोगे तो उसमें विघ्न डालने का पाप तुमको स्वतः लग जायेगा । यह शास्त्र का अकाट्य नियम है । इसे यमराज भी नहीं मिटा सकते हैं ।

राजा पृथु अपनी प्रजा से कह रहे हैं कि आप लोग भगवद्भक्ति को करिए, कराइए और साथ ही उन सबका समर्थन करिए, जो यहाँ भी कर रहे हैं, चाहे बूढ़े हैं, जवान हैं, नगर या गाँव के लोग हैं अथवा शूद्र जाति के हैं अथवा पतित हैं, जहाँ भी जो लोग भगवद्भजन कर

रहे हैं, करा रहे हैं, उन सबका आप लोग समर्थन करिए तब तो आप हमारी प्रजा हैं ।

यहाँ पृथुजी ने निरीश्वरवाद का खण्डन किया है ।

अस्ति यज्ञपतिर्नाम केषाञ्चिदर्हसत्तमाः ।

(श्रीभागवतजी - ४/२१/२७)

उन्होंने कहा कि कर्म का फलदाता ईश्वर है ।स्वयं अनुभव कर लो । जिसका जैसा कर्म है, उसका फल इसी जन्म में मिल जाता है । यदि पाप का फल थोड़ी देर में मिलता है तो यह समझना चाहिए कि कोई पूर्व जन्म का पुण्य उदय हो गया है, इसके कारण पाप का फल जल्दी नहीं मिल रहा है किन्तु मिलता अवश्य है । हम लोगों की दृष्टि तो अंधी है । कितने ही लोग प्रश्न करते हैं कि संसार में पापी लोग अत्यधिक पाप कर रहे हैं फिर भी खूब फल-फूल रहे हैं । ऐसा नहीं है, यह गलत बात है । हमारे कर्मों ने हमारे नेत्रों को बन्द कर रखा है । किसी सरोवर में जाकर उसमें से एक लोटा पानी निकालो और फिर दूर से देखो कि सरोवर का पानी घटा या नहीं तो तुम्हें प्रतीत होगा कि पानी तो ज्यों का त्यों बना है, बिलकुल भी नहीं घटा । जबकि पानी घटा है परन्तु हमारी दृष्टि इतनी स्थूल है कि उसे पता नहीं पड़ता । वैसे ही मनुष्य जब कोई असत् कार्य करता है तो उसी समय वह घटने लग जाता है, देर नहीं लगती । गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है –

इमि कुपंथ पग देत खगेसा । रह न तेज तन बुध बल लेसा ॥

(श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड - २८)

रावण बहुत दिनों के बाद मरा लेकिन जिस समय वह सीताजी का हरण करने चला तो गोस्वामीजी कहते हैं कि रावण जब निकलता था तो उसके भय से देवगण भाग जाते थे किन्तु अब कैसे चोर की

तरह जा रहा है । कुमार्ग पर पाँव देते ही मनुष्य का तेज, शरीर और बुद्धि का बल नष्ट हो जाता है । पाप का फल तो उसी क्षण मिल जाता है लेकिन हम लोगों की बुद्धि में समझ नहीं आता है ।

इसीलिए राजा पृथु अपनी प्रजा से कहते हैं कि कर्मों का फलदाता ईश्वर है । यह अवश्य है कि हमें इसका पता नहीं चलता है, कुछ दिन लग जाते हैं, कोई कारण उपस्थित हो जाता है । बहुत से लोगों के शरीर बड़े प्रकाशमय होते हैं तथा बहुत से लोगों के शरीर अच्छे-बुरे होते हैं, ऐसा कर्म के कारण होता है । (बहुत से लोग बड़े धनी होते हैं किन्तु उनका बालक ऐसा पैदा होता है, जो जन्म से रोगी होता है । पैसा किसी काम में नहीं आता । इसलिए उन्हें अपने कर्म का फल तो मिल ही रहा है । क्या पैसे ने उन्हें बचा लिया ? इसी प्रकार कर्मफल सबको प्राप्त होता है ।) मनु, उत्तानपाद, ध्रुव, प्रियव्रत, प्रहलाद, बलि आदि महानुभाव भी इस बात को मानते हैं ।

यत्पादसेवाभिरुचिः तपस्विनाम्
अशेषजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती
यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२१/३१)

भक्ति महारानी का प्रभाव देखो कि यदि भगवान् की सेवा में हमारी रुचि भी हो जाए तो अनेक जन्मों का संचित मल पाप एवं बुद्धि का मल अहंकार उसी समय नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार भगवान् के चरण नख से निकली गंगा जी जीवों के सब पाप नष्ट कर देती हैं । केवल हम इतना ही सोच लें कि हम भगवान् की सेवा करेंगे, भगवान् की भक्ति करेंगे, थोड़ी सी उसमें रुचि हो जाए तो उसी से सब पाप जलने लगते हैं फिर जो मनुष्य भक्ति करता है, उसके पाप क्यों नहीं नष्ट होंगे, इसलिए सभी लोग भक्ति करो ।

पृथुजी आगे कहते हैं – जब जीव के समस्त मल जल जाते हैं तब संसार के क्लेश उसे बाधा नहीं पहुँचाते हैं । इसलिए मेरे प्रजाजनो ! मैं आप लोगों को यही उपदेश करता हूँ – **'यूयं भजतात्मवृत्तिभिः'** - सदा-सर्वदा प्रभु का भजन करो । यही राजा का धर्म है, पिता का धर्म है, सबका धर्म है । बिना सिखाये कोई कैसे सीखेगा ? बिना सिखाये तो मनुष्य बुरा काम भी नहीं सीखता है तो फिर बिना सिखाये भगवान् की भक्ति कोई कैसे सीख सकता है ? इसलिए अपनी संतान को, अपनी स्त्री को भक्ति सिखाओ । राजा का भी यही धर्म है कि प्रजा को इस बात की शिक्षा दे । जैसे अग्नि एक ही होती है, वह लकड़ी के आकार के अनुसार अपना आकार ग्रहण कर लेती है । टेढ़ी लकड़ी में अग्नि जाएगी तो टेढ़ी बन जाएगी, लम्बी लकड़ी में जाएगी तो लम्बी हो जाएगी, वैसे ही एक ही ईश्वर अनेक रूपों में भासित हो रहे हैं, यह विचार करो । कोई काले रंग का आदमी है तो वही ईश्वर काले रंग का बन गया है, कोई मोटा है तो वही ईश्वर मोटा बन गया है, ऐसा समझ लो ।

पृथुजी आगे कहते हैं – **अहो ममामी वितरन्त्यनुग्रहं हरिं गुरुं यज्ञभुजामधीश्वरम् ।** (श्रीभागवतजी - ४/२१/३६)

मेरे राज्य में जो लोग श्रीहरि का भजन कर रहे हैं, वे मेरे ऊपर दया कर रहे हैं ।

किसी के घर में कोई बच्चा भजन कर रहा है तो पिता को ऐसा समझना चाहिए कि यह मेरे ऊपर कृपा कर रहा है, स्त्री भजन कर रही है तो पति समझे कि यह मेरे ऊपर कृपा कर रही है । एक भी व्यक्ति यदि भजन करता है तो वह सारी पृथ्वी का कल्याण करता है, एक गाँव के बारे में तो क्या कहना । जहाँ भी कथा हो रही है, कीर्तन हो रहा है, उसे चाहे संत कर रहा है, ब्राह्मण कर रहा है, शूद्र कर रहा है,

वह सम्पूर्ण पृथ्वी पर कृपा कर रहा है, सम्पूर्ण राष्ट्र, नगर एवं गाँव पर कृपा कर रहा है ।

राजा पृथु ने कहा – जो लोग श्रीहरि और गुरु का यजन करते हैं, वे मुझ पर बड़ी कृपा करते हैं । मेरा जो राजवंश है, यह कहीं वैष्णवों (भक्तों) के ऊपर शासन न करे । भगवद्भक्तों पर जो शासन करता है, उसका राज्य तो आसुरी हो गया । इस सम्बन्ध में समदृष्टि रखना गलत है । भगवद्भक्त तो सदा ही पूज्य हैं । भगवान् स्वयं ब्राह्मणों की उपासना करते हैं, वे पुरातन पुरुष भगवान्, लक्ष्मीजी सदा जिनका अनुगमन करती हैं, ब्राह्मणों को जब भोजन कराया जाता है तो उनके मुख में जो वस्तु जाती है, उससे भगवान् जितना प्रसन्न होते हैं, उतना यज्ञ करने से नहीं होते हैं । मैं अपने जीवनपर्यन्त उन ब्राह्मणों की चरण रज को अपने किरीट पर धारण करूँ, जिससे मेरे सब पाप नष्ट हो जाएँ ।

गुणायनं शीलधनं कृतज्ञं वृद्धाश्रयं संवृणतेऽनु सम्पदः ।

(श्रीभागवतजी - ४/२१/४४)

जो बड़ों के आगे झुककर चलता है, उसके पास सारे गुण आ जाते हैं, शील आ जाता है । कृतज्ञ मनुष्य के पास सारी सम्पत्तियाँ भी आ जाती हैं – **तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाएँ । धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ ॥** (श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड - २९४)

पृथुजी के उपदेश को सुनकर सभी लोग बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे कि पुत्र हो तो पृथु जैसा हो । वेन, जिसको ब्राह्मणों ने भस्म कर दिया, ब्रह्म-दण्ड से जले हुए व्यक्ति का उद्धार नहीं होता है, ऐसा महापापी भी पृथु जैसे पुत्र के पुण्य बल से कल्याण को प्राप्त हो गया, नरक से छूट गया । हे वीर ! हम आपको आशीर्वाद देते हैं कि आप दीर्घजीवी हों ।

इस प्रकार सभी ने पृथुजी को आशीर्वाद दिया ।

अध्याय – २२

मैत्रेयजी कहते हैं – जिस समय प्रजाजन पृथुजी को आशीर्वाद दे रहे थे, उसी समय वहाँ सनकादिक मुनीश्वर आकाश से उतरकर आये । उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत हुआ मानो चार सूर्य एक साथ चले आ रहे हों । उनकी अवस्था सदा पाँच वर्ष की रहती है तथा वे नग्न रहते हैं । उनको आते देखकर पृथुजी खड़े हो गये तथा उनकी विधिवत् पूजा की । शास्त्र का यह नियम है कि जब कोई बड़ा पूज्यनीय व्यक्ति आता है तो छोटे के प्राण उत्क्रमण करते हैं । जब छोटा व्यक्ति बड़ों के चरण स्पर्श कर लेता है तब उसके प्राण फिर से स्थापित हो जाते हैं । यदि बड़े का सम्मान नहीं किया जाए तो छोटे के पुण्य नष्ट हो जाते हैं । ब्राह्मण, संत और अतिथि का कैसे सम्मान करना चाहिए, यह पृथुजी स्वयं करके सिखा रहे हैं । जब ऐसी क्रिया हो तो समझना चाहिए कि उस मनुष्य के हृदय में भक्ति है ।

पृथुजी बोले – कैसे मंगल की बात है, जो मुझे आप जैसे संतों के दर्शन हो रहे हैं । उस व्यक्ति के लिए ऐसी कौन सी वस्तु दुर्लभ है, जिस पर ब्राह्मण, शिव और विष्णुजी दया कर दें । **'अधना अपि ते धन्याः साधवो गृहमेधिनः ।'** चाहे कोई कितना भी गरीब है किन्तु उसके घर सन्त पहुँच गये तो वह धन्य है ।

धन तो नरक का मूल है । चाहे किसी ने सात मंजिल का भव्य मकान बना लिया और उसमें सभी सम्पत्तियाँ हीरे-मोती, जवाहरात आदि भरे पड़े हैं परन्तु यदि उस समृद्धिशाली घर में संतों के चरण नहीं पड़े तो वह सारा महल ऐसा पेड़ है, जिस पर बड़े-बड़े अजगर लटक रहे हैं ।

व्यालालयद्रुमा वै तेऽप्यरिक्ताखिलसम्पदः ।
यद्गृहास्तीर्थपादीयपादतीर्थविवर्जिताः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/११)

उस महल में जो सम्पत्ति है, बिस्तर है, डनलप के गद्दे हैं, ये सब क्या हैं, ये सब अजगर लिपट रहे हैं । ऐसा घर नरक के समान है । इसलिए भगवद्भक्त के चरण जिस घर में नहीं पड़े, वह घर श्मशान है, सर्प का बिल है, सर्प लोक है, चाहे उसे कितना ही शानदार क्यों न बना लिया जाये ।

आप महापुरुषों से मैं कुशलता के बारे में पूछूँ, यह गलत बात है क्योंकि आप लोग तो परम मुक्त हैं, आत्माराम हैं । **'कुशलाकुशला यत्र न सन्ति मतिवृत्तयः ।'** - आत्माराम संतों में यह कुशल है और यह अकुशल है – इस प्रकार की वृत्ति होती ही नहीं है, वे तो सदा एक से रहते हैं । कहाँ तक कहें, आप लोग तो भगवान् हैं, जो सिद्ध पुरुषों के रूप में विचरण कर रहे हैं । मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि इस संसार में मनुष्य का किस प्रकार सुगमता से कल्याण हो सकता है ?

'क्षेमः केनाञ्जसा भवेत्' – (श्रीभागवतजी - ४/२२/१५)

मैत्रेयजी कहते हैं कि पृथुजी के वचन सुनकर सनत्कुमार जी ने कहा –

आपने जो कल्याण की बात पूछी है, उस कल्याण को तो आप जानते हैं किन्तु जानबूझकर पूछ रहे हैं –

भवता विदुषा चापि साधूनां मतिरीदृशी । (श्रीभागवतजी - ४/२२/१८)

जो सन्त होते हैं, उनकी बुद्धि ऐसी ही होती है । (कोरे भाषण करने वाले बक्की लोग तो अपनी पंडिताई दिखाते हैं किन्तु सन्त जन ऐसे प्रश्न जानबूझकर करते हैं, जिससे किसी प्रकार अच्छी कृष्ण चर्चा का प्रसंग चले । कोई सन्त घर में आयें तो उनसे पूछो कि प्रभो ! कल्याण कैसे हो ? इस बहाने कुछ अच्छी चर्चा होगी, उसको सुनने से कान पवित्र होंगे, तुम्हारे भी होंगे और कहने वाले के भी होंगे ।)

सनत्कुमारजी कहते हैं – पृथुजी ! आप सब जानते हैं कि मनुष्य का कल्याण कैसे होता है फिर भी आप जानबूझकर इसलिए पूछ रहे हैं क्योंकि सन्तों की बुद्धि ऐसी ही होती है ।

सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः ।
यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/१९)

सन्त जहाँ बैठते हैं, वहाँ अच्छी चर्चा होती है, यह सन्त की पहली पहचान है और जहाँ असन्त लोग बैठते हैं, वहाँ व्यर्थ की, निन्दा-स्तुति की बातें होती हैं ।

अस्त्येव राजन् भवतो मधुद्विषः पादारविन्दस्य गुणानुवादने ।
रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी कामं कषायं मलमन्तरात्मनः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/२०)

राजन् ! आपके अन्दर भगवान् की भक्ति है क्योंकि आपके मन में भगवान् के गुणानुवाद की रति (प्रीति) है । भगवान् के गुणगान में जिसको रति हो जाती है, कैसी रति, जो दुरापा (दुर्लभ) है, हर किसी को इसका प्राप्त होना कठिन है । कृष्ण नाम गाने में, कृष्ण गुण गाने में जिसकी दुर्लभ रति हो जाती है तो उसके मन में जितने भी कषाय (मल) हैं, वे सब पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं ।

इसीलिए भगवान् अवतार लेते हैं, मीठी-मीठी लीलायें करते हैं, जैसे – छोटा बच्चा रोगग्रस्त होने पर कड़वी दवाई नहीं खा सकता है, उसको यदि होम्योपैथिक दवा दे दो तो उसमें मीठी गोलियाँ होती हैं, उन्हें बच्चा रुचि के साथ खाता है और इस तरह उसका रोग भी दूर हो जाता है । इसीलिए भगवान् भी अवतार लेकर ऐसी मीठी लीलायें करते हैं जैसे माखन चोरी, रास लीला आदि । इनके गान - श्रवण में

आनन्द भी बहुत आता है और मनुष्यों के मन में जमा मैल पूरी तरह नष्ट हो जाते हैं, उनका मन शुद्ध हो जाता है । कृष्ण की मीठी लीला का उदाहरण जैसे गोपियाँ कन्हैया से कहती हैं –

नन्द के तोय खिलौना लै दूँगी,
मेरे अंगना में मुरली बजाय ।

अब बाल कृष्ण खिलौना के लोभ में गोपी के आँगन में ठुमुक-ठुमुककर नाचने लगते हैं । यह कौन है, यह ब्रह्म है, जो गोपी के आँगन में नाच रहा है । ब्रह्म ऐसा क्यों करता है, हम लोग किसी तरह से कृष्ण के प्रति, उनके गुणगान के प्रति दुर्लभ रति को प्राप्त कर लें, इसलिए प्रभु मीठी-मीठी ब्रज लीला करते हैं । ब्रह्म कोई माखन का भूखा तो है नहीं, नन्द बाबा के यहाँ नौ लाख गायें थीं तो लाखों गायों के दूध की नदियाँ उनके यहाँ बहती थीं । ऐसी स्थिति में कन्हैया माखन चोरी क्यों करते थे, इसीलिए ताकि संसार के माया जाल में जकड़े मनुष्यों को किसी प्रकार उनके गुणगान की रति प्राप्त हो जाए, किसी तरह भगवान् में मन लगे । अतएव सनत्कुमारजी यहाँ कहते हैं कि जिसको भगवद् गुण के गायन में रति हो जाती है, उसके सारे पाप जल जाते हैं, यह निश्चित बात है । इसलिए भगवल्लीला को गाकर अपने पाप को जलाओ ।

शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणाम्
क्षेमस्य सध्यग्विमृशेषु हेतुः ।
असंग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि
दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/२१)

राजन् ! शास्त्रों में इतना ही सुनिश्चित किया गया है कि आत्मा के अतिरिक्त देहादि समस्त अनात्म पदार्थों से असंग हो जाओ । जब

सांसारिक आसक्ति को समाप्त करोगे तब जाकर ब्रह्म में तुम्हारी रति होगी । वह रति कैसे होगी ? इसको आगे पाँच-छः श्लोकों में बताया गया है क्योंकि भगवद् रति सब पापों को जला देगी । भगवत्प्रीति एक बहुत बड़ी चीज है, भगवत्प्रीति में ये सब चीजें सहायक हैं जैसे अहिंसा, यम, नियम आदि । बहुत से लोग विशुद्धा भक्ति तो नहीं करते हैं और इन साधनों को छोड़कर असत् मार्ग को पकड़ लेते हैं । इसलिए इसका विचार करना चाहिए कि इन सब साधनों को ध्यान में रखकर चलें । ये साधन भगवत् प्रीति को बढ़ाते हैं ।

यदा रतिर्ब्रह्मणि नैष्ठिकी पुमान्
आचार्यवान् ज्ञानविरागरंहसा ।
दहत्यवीर्यं हृदयं जीवकोशं
पञ्चात्मकं योनिमिवोत्थितोऽग्निः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/२६)

जब ब्रह्म में नैष्ठिकी रति हो जाएगी तो हमारे भीतर जो एक सूक्ष्म शरीर है, जिसे जीव कोश कहते हैं, जो पञ्चात्मक (पाँच तरह का) है, वह जल जाता है ।

अब इसे समझो कि यह जीव कोश या सूक्ष्म शरीर क्या है ? यह जो हम लोगों का स्थूल शरीर है, इसके भीतर एक सूक्ष्म शरीर और है, जैसे हम लोग अपने शरीर पर कुर्ता-कमीज आदि जो वस्त्र पहनते हैं, वह तो बाहरी आवरण है और कपड़े के भीतर हमारा मुख्य स्थूल शरीर होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर ही वास्तविक शरीर है तथा इसके ऊपर स्थूल शरीर तो बाहरी वस्त्र कुर्ता आदि के समान है । जब तक वह सूक्ष्म शरीर नहीं जलता, तब तक जीव मुक्त नहीं होता है । मृत्यु के बाद हम अगले जन्मों में हाथी, कुत्ता, चींटी बनें अथवा इन्द्र और ब्रह्मा बनें, हमारा यह सूक्ष्म शरीर हर योनि में हमारे साथ जाता

है, यह नहीं बदलता है । केवल ऊपर का स्थूल शरीर हर योनि में बदलता जाता है । अब प्रश्न है कि इस सूक्ष्म शरीर से कब मुक्ति मिलेगी ? जब तक सूक्ष्म शरीर है तब तक हम लोग चौरासी लाख योनियों में घूमते रहेंगे । कोई पूछे कि स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर होता है, इसका क्या प्रमाण है तो इसका यह उत्तर है कि जब हम सो जाते हैं, उस समय सपना कौन देखता है ? स्थूल शरीर की आँखें तो उस समय बन्द रहती हैं किन्तु सपने में दिखायी पड़ता है कि हम किसी स्थान पर गये, वहाँ हमारे परिचय के लोग मिले, उनसे बातचीत हुई तो हम जिन लोगों को देखते हैं, उनसे बात करते हैं, उनके शब्दों को सुनते हैं तो यह देखने व सुनने वाला कौन है क्योंकि उस समय स्थूल शरीर तो नींद में अचेत पड़ा था, आँखें बन्द थीं, अन्य इन्द्रियाँ भी नींद में लीन थीं । इसका उत्तर शास्त्र के अनुसार यही है कि वह सूक्ष्म शरीर है, जो स्थूल शरीर के सोने पर भी सपने में सारे व्यवहार करता है, जैसे सपने में तुम देखते हो कि लड्डू का थाल आ गया, तुम्हारे रिश्तेदार आ गये । अतः जब तक यह सूक्ष्म शरीर नहीं जलेगा तब तक जीव मुक्त नहीं हो सकता, हम लोग मुक्त नहीं हो सकते । वह सूक्ष्म शरीर कैसे जलेगा तो सनत्कुमारजी कहते हैं – **यदा रतिर्ब्रह्मणि.....** (४/२२/२६) – जब भगवान् की लीलाओं में तुम्हारी रति (प्रीति) होगी तब वह भगवान् का प्रेम तुम्हारे भीतर के सूक्ष्म शरीर को जला देगा ।

'दग्धाशयो मुक्तसमस्ततद्गुणो' (श्रीभागवतजी - ४/२२/२७)

सूक्ष्म शरीर जब जल जायेगा तब जीव मुक्त हो जायेगा, उसके बाद वह पुनः माया से मोहित नहीं होगा ।

यह कैसे पता कि जीव मुक्त हो जायेगा और माया से मोहित नहीं होगा तो इसके प्रमाणस्वरूप देख लो कि ब्रज-वृन्दावन धाम में

आज भी लाखों लोग अपने घर-परिवार का त्याग करके रह रहे हैं, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, धन-सम्पत्ति और मकान आदि को छोड़कर वे यहाँ रह रहे हैं, क्यों ? क्योंकि उनकी संसार की आसक्ति छूट गयी है । अब कोई एकदम से तो भगवान् को पा नहीं लेता है, धीरे-धीरे आगे बढ़ता है । इन लोगों में अगर थोड़ी-बहुत कमी दिखाई दे रही है तो वह तो ऐसा है जैसे कोई स्कूल में पढ़ने जाता है तो कक्षा १ से २,३,४,५ फिर दसवीं कक्षा, बारहवीं कक्षा होते हुए बी.ए., एम. ए. तक पहुँचता है । उसी प्रकार भक्ति करते-करते धीरे-धीरे ये प्रगति करते जायेंगे और फिर भक्ति की उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर लेंगे । हजारों-लाखों साधु ब्रजभूमि में रह रहे हैं, कितने ही ऐसे हैं जो ब्रजवासियों की भिक्षा का शुद्ध अन्न खाकर दिन-रात भगवन्नाम जप-कीर्तन में लगे रहते हैं । ऐसा इसलिए है क्योंकि भगवत्प्रीति मनुष्य को निःसंग (अनासक्त) वास्तव में बना देती है । इसे ब्रज में भक्तों के दर्शन कर समझा जा सकता है । आँखों से देखने पर भी जिसकी समझ में न आये, उसके लिए फिर क्या किया जा सकता है ? हम लोगों की समझ में ये सब क्यों नहीं आता है क्योंकि हम लोग केवल दोष देखते हैं । मान लो किसी व्यक्ति में दस पैसे में आठ पैसे गुण हैं और दो पैसे दोष हैं तो हम लोग केवल दो पैसे वाले दोष को ही देखेंगे, आठ पैसे वाले गुण की ओर दृष्टि नहीं डालेंगे, इसलिए ये बातें हम लोगों की समझ में नहीं आ सकती हैं, परन्तु वास्तविकता यही है कि भगवान् के नाम-गुण के प्रभाव से **'मुक्तसमस्ततद्गुणो'** – जीव की समस्त असक्तियाँ छूट जाएँगी ।

अब यह समझो कि जीव संसार में कैसे फँसता है ?

इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मनः ।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/३०)

सबसे पहले हमारी इन्द्रियाँ ही आग लगाती हैं । ये विषयों को देखती हैं और फिर मन खिंचकर उधर ही चला जाता है । जैसे आँख ने कोई सुन्दर रूप देखा तो आँख रूप में आसक्त हुई और साथ ही मन को भी वहाँ ले गयी, इस तरह मन आसक्त हो गया । मन गया तो मन के पीछे बुद्धि भी गयी और इस तरह से बुद्धि की सारी चेतना शक्ति नष्ट हो जाती है । बुद्धि की चेतना शक्ति के नष्ट हो जाने से मनुष्य भूल जाता है कि मुझे अमुक कार्य करना चाहिए कि नहीं । बुद्धि की चेतना शक्ति को मन इस प्रकार हर लेता है, जैसे जलाशय के तट पर स्थित कुशादि तृण अपनी जड़ों से उसके जल को खींच लेते हैं ।

भ्रश्यत्यनु स्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये ।
तद्रोधं कवयः प्राहुः आत्मापह्नवमात्मनः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/३१)

बुद्धि की चेतना शक्ति के नष्ट हो जाने पर स्मृति नष्ट हो जाती है । स्मृति के नष्ट होने पर चित्त भी नष्ट हो जाता है क्योंकि संस्कार चित्त में रहते हैं । चित्त के नष्ट होने पर मनुष्य का ज्ञान नष्ट हो जाता है । इस ज्ञान के नाश को ही पण्डितजन आत्मनाश अर्थात् 'अपने आप अपना नाश करना' कहते हैं । यह गिरने (पतन) का क्रम या सीढ़ियाँ हैं जैसे कोई पहली सीढ़ी पर गिरा, फिर दूसरी, तीसरी पर क्रम से गिरता हुआ अन्त में सातवीं पर गिरा और सातवीं सीढ़ी पर गिरकर पानी में डूब गया । इसी प्रकार आत्मनाश के भी सात क्रम हैं । पहले इन्द्रिय विषयों में गयी, दूसरे क्रम में मन भी विषयों में खिंचा, तीसरे क्रम में बुद्धि गयी, चौथे क्रम में स्मृति नष्ट होती है, पाँचवें क्रम में चित्त नष्ट होता है, छठे क्रम में ज्ञान नष्ट होता और सातवें क्रम में जीव का आत्मनाश या सर्वनाश हो जाता है । अब इससे अधिक नाश और क्या होगा कि हम लोग अपने आत्मा भगवान् को भूल चुके हैं । अगर किसी के घर डाका पड़ जाए, लाख-दस लाख

रुपये लुट जाएँ, स्त्री-पुत्र मर जाएँ तो ये नाश नाश नहीं है क्योंकि ये चीजें तो वैसे भी नष्ट होने वाली ही हैं । स्त्री भी एक दिन मरेगी, बेटा भी मरेगा और हम भी मरेंगे । ये नाश नाश नहीं है । सनत्कुमार जी कहते हैं –

नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः ।

(श्रीभागवतजी - ४/२२/३२)

इससे बढ़कर इस संसार में जीव की और कोई हानि अथवा नाश नहीं है कि मनुष्य भगवान् को छोड़कर अपने शरीर से प्रेम कर रहा है तथा दूसरे विषयों में इसकी आसक्ति बनी हुई है ।

अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम् ।
भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद्येनाविशति मुख्यताम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/३३)

धन और इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करना मनुष्य के सभी पुरुषार्थों का नाश करने वाला है क्योंकि इनके चिन्तन से वह ज्ञान-विज्ञान से भ्रष्ट होकर जड़ योनियों को प्राप्त करता है ।

धन और इन्द्रिय विषयों की आसक्ति के कारण धीरे-धीरे हम लोग जड़ योनि जैसे पहाड़, वृक्ष, नदी-तालाब आदि बनने जा रहे हैं । मन में विचार करना चाहिए कि हम मनुष्य क्यों बने हैं ? तुम्हें विवेक शक्ति दी गयी है इसलिए कि इस शरीर के द्वारा भगवान् का भजन करो और इस बात को छोड़कर दिन-रात हम लोग पशु वृत्ति में लगे हुए हैं – हाय पैसा, हाय रोटी, हाय स्त्री, हाय बेटा, हाय भोग – तो यह वृत्ति हमें कहाँ ले जाएगी, यह वृत्ति हमारे ज्ञान-विज्ञान का नाश कर हमें जड़ योनि की ओर ले जाएगी ।

न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/३४)

घोर अन्धकार रूप संसार को पार करने के इच्छुक मनुष्य को कभी भी विषयों में आसक्ति नहीं करना चाहिये और न ही विषयासक्त लोगों का संग करना चाहिए क्योंकि ऐसा करना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में बड़ा बाधक है ।

परेऽवरे च ये भावा गुणव्यतिकरादनु ।
न तेषां विद्यते क्षेममीशविध्वंसिताशिषाम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/३६)

प्रकृति में गुण क्षोभ होने के बाद जितने भी उत्तम और अधम भाव-पदार्थ प्रकट हुए हैं, इनमें क्षेम (कल्याण) नहीं है । काल भगवान् उन सभी के कुशलों को नष्ट करते रहते हैं । इसलिए हे राजन् ! तुम उन प्रभु को प्राप्त करो । अब भगवान् से कैसे मिलें तो सनत्कुमार जी कहते हैं –

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः ।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध -
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/३९)

जिन भगवान् के चरणकमलदल की भक्ति जीव के कर्माशय (कर्म की गाँठ) को काट डालती है । हमारे अन्तःकरण के भीतर करोड़ों कर्मों की गाँठें हैं, इनकी फाँसी लगी हुई है । उस कर्मों की फाँसी, गाँठ को श्रीकृष्ण चरणकमलदल की भक्ति जितनी सरलता से काट डालती है, उस प्रकार से योगी लोग नहीं काट सकते हैं । बड़े-बड़े योगी आँख बंदकर हजारों वर्षों तक समस्त इन्द्रियों के प्रवाह को रोककर बैठे रहते हैं किन्तु उनके कर्मों की फाँसी नहीं कट सकती है,

जिस प्रकार से प्रभु के चरणों की भक्ति कर्मों की गाँठ को काटती है । इसलिए तुम एकमात्र भगवान् वासुदेव का भजन करो । योग, ज्ञान आदि का चक्कर छोड़ो ।

डंके की चोट पर यह श्रीमद्भागवत की घोषणा है । बहुत से लोग जो पहले भगवान् की भक्ति करते थे, उन्होंने भक्ति मार्ग छोड़ दिया क्योंकि उन्हें योग मार्ग के लोग मिल गये, जिन्होंने उनको रामलीला, कृष्ण लीला से छुडा दिया और योग के सिद्धांतों को बताने लगे । अब ये भक्ति मार्ग वाले भक्ति से इसलिए फिसले क्योंकि उन्होंने समझा कि योग बड़ी चीज है, ज्ञान बड़ी चीज है । क्योंकि योग और ज्ञान के ग्रन्थों को पढ़कर लोग बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं । वे लोग सिखाने लगे कि इन भक्तिमार्ग वालों के पास क्या है, इनके पास तो साधारण सी चीजें माखन चोरी, रास लीला आदि हैं । कन्हैया माखन चोरी करता है, चीर हरण करता है, कहीं नाचता-गाता है, ये कोई अच्छी बात नहीं है और योग साधन करोगे तो तुम्हारे भीतर कुण्डली जाग जाएगी, आगे चलकर समाधि भी लग जायेगी, इस तरह की बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं, जिनको सुनकर साधारण लोग बहक जाते हैं और भक्ति मार्ग छोड़ देते हैं । ये लोग ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि इन्हें शास्त्र का ज्ञान नहीं है । इस श्लोक (४/२२/३९) में स्पष्ट कहा गया है कि जीव के कर्मों की गाँठों को श्रीकृष्ण चरणकमलों की भक्ति जितनी सरलता से काट डालती है, वैसे ये यती लोग, जो योगादि करते हैं, वे नहीं काट सकते हैं । यह बात भागवत में डंके की चोट पर कही गयी है । भक्ति मार्ग के विरोधी लोग मनमानी बातें बनाते हैं और दुनिया को बहकाते हैं । शास्त्र के वचनों को ये लोग ग्रहण नहीं करते हैं । सनत्कुमारजी ने पृथु जी से कहा – राजन् ! योग, ज्ञान-वैराग्य आदि की सब बातों को छोड़कर एकमात्र श्रीकृष्ण का भजन करो ।

कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशाम्
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरषन्ति ।
तत् त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिम्
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/४०)

जो लोग मन और इन्द्रिय रूपी मगरमच्छों से भरे हुए इस संसार सागर को श्रीहरि की भक्ति रूपी नौका के बिना ही योग साधन रूपी कष्टप्रद साधनों से पार करना चाहते हैं, उनका उस पार पहुँचना कठिन ही है । इसलिए तुम तो भगवान् श्रीहरि के भजन करने योग्य चरणों को नौका बनाकर अनायास ही इस दुस्तर समुद्र को पार कर लो ।

भगवान् के चरण नौका (नाव) हैं ।

मोहन नैना तेरे नौका के आकार ।

इसलिए श्रीभगवान् के चरणों की नौका पर चढ़कर आसानी से भवसागर के पार उतर जाओ ।

मैत्रेयजी कहते हैं – इस प्रकार सनत्कुमारजी से आत्मतत्त्व का उपदेश पाकर राजा पृथु ने कहा – महाराज ! आपने मेरे ऊपर कृपा की क्योंकि आप भगवान् श्रीहरि हैं । **'साधूच्छिष्टं हि मे सर्वम्'** - अधिक क्या कहूँ, मेरे पास जो कुछ भी है, वह सब साधुओं का उच्छिष्ट (जूठन) है, चाहे वह धन,राज्य, स्त्री, पुत्र, खजाना, सेना आदि है । ऐसी स्थिति में अपने शरीर सहित मैं आपको क्या दूँ, सब कुछ तो आपकी जूठन ही है ।

ऐसा पृथुजी केवल मुख से ही नहीं कह रहे हैं अपितु नाम ले लेकर गिना रहे हैं । यह भक्ति की बात है ।

प्राणा दाराः सुता ब्रह्मन् गृहाश्च सपरिच्छदाः ।
राज्यं बलं मही कोश इति सर्वं निवेदितम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/४४)

पृथुजी कहते हैं कि आप कहें तो मैं अपने प्राणों को अर्पित कर दूँ। मेरी जितनी भी रानियाँ हैं, जितने भी पुत्र हैं, राजमहल, सोने का छत्र, राज्य, मेरी सेना, पृथ्वी और सम्पूर्ण खजाना - मैं आपको निवेदित करता हूँ । ऐसा मैं क्यों कर रहा हूँ क्योंकि वस्तुतः जो भगवद्भक्त हैं, साधु-ब्राह्मण हैं, वे किसी का दिया हुआ नहीं खाते हैं। कोई कहे कि मैंने ब्राह्मण को दान दिया तो ऐसा नहीं है ।

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
तस्यैवानुग्रहेणान्नं भुंजते क्षत्रियादयः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२२/४६)

ब्राह्मण तो स्वयं अपना खाता है, वह किसी दूसरे का दिया हुआ नहीं खाता है । ब्राह्मण के तप (भजन) के प्रभाव से अन्य जाति के क्षत्रिय आदि लोग अन्न खाते हैं ।

भजन में, तप में ऐसी शक्ति है । इतना सब कुछ अर्पण करने के पश्चात् भी पृथुजी को सन्तोष नहीं हुआ । उन्होंने सनत्कुमारजी से कहा कि मैं समझ रहा हूँ, जो चीजें आपको मैं अर्पित कर रहा हूँ, आप उन्हें नहीं चाहते । जिनको कौपीन तक नहीं चाहिए, ऐसे नग्न रहने वाले सनकादि मुनीश्वर राज्य, खजाना, सेना, रानी आदि लेकर क्या करेंगे ? अतः पृथुजी बोले –

तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यम्
को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम् ।

(श्रीभागवतजी - ४/२२/४७)

आपने मुझे जो दिव्य ज्ञान दिया है, उसके बदले में गुरु दक्षिणा देना भी तो आवश्यक है । जिनसे ज्ञान लिया जाता है, उन महापुरुष को कुछ तो दिया जाता है, इसलिए मेरी यही गुरु दक्षिणा है कि आपने अपनी कृपा से मुझे जो यह ज्ञान दिया है, इस कृपा से ही आप स्वयं सन्तुष्ट हो जाइये । आपके उपकार का बदला कोई नहीं चुका सकता है ।

सद्गुरु को कोई क्या दे सकता है ? सद्गुरु की सच्ची दक्षिणा यही है, जैसा कि पृथुजी ने सनत्कुमारजी से कहा कि अपने उपकार से ही आप स्वयं सन्तुष्ट रहें ।

मैत्रेयजी कहते हैं – इसके बाद पृथुजी ने सनकादि मुनीश्वरों की पूजा की और वे अपने लोक को चले गये ।

राजा पृथु ने अपनी भार्या रानी अर्चि के गर्भ से पाँच पुत्र उत्पन्न किये । उनके नाम थे – विजिताश्व, धूम्रकेश, हर्यक्ष, द्रविण और वृक । पृथुजी अपने मन, वाणी और वृत्तियों तथा सौम्य गुणों से प्रजा का रंजन करते रहे, इसलिए उनका एक नाम हुआ राजा । राजा उसे कहते हैं, जो प्रजा का रंजन करे, ऐसा नहीं कि जो स्वयं ही मौज मारे, अपना ही रंजन करे । वह राजा नहीं है । राजा वही है, जो अपनी प्रजा का रंजन करे, जैसे भगवान् राम थे । प्रजा को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने सीताजी तक का परित्याग कर दिया । राजा बनना बड़ा कठिन है क्योंकि उसे अपनी प्रजा की प्रसन्नता के लिए सब कुछ छोड़ना पड़ता है । पृथुजी बड़े तेजस्वी थे । बादल की तरह वे प्रजा को तृप्त करने वाले एवं समुद्र के समान गम्भीर थे । उनके गुणों की बहुत प्रशंसा की गयी है ।

अध्याय – २३

मैत्रेयजी कहते हैं – जब राजा पृथु ने देख लिया कि मेरा पुत्र अब राजसिंहासन पर बैठने के योग्य हो गया है तो वह अपनी स्त्री को

लेकर तपोवन को चले गये । वहाँ उन्होंने किस प्रकार भजन किया, इसे समझो ।

आरब्ध उग्रतपसि यथा स्वविजये पुरा ।

(श्रीभागवतजी - ४/२३/४)

पृथुजी दिग्विजय के समय शत्रुओं को जीतने के लिए अपनी सेना लेकर दिन-रात लड़े थे किन्तु युद्ध से अधिक परिश्रम उन्होंने भजन में किया ।

वस्तुतः इसी तरह भजन किया जाता है, ऐसा नहीं कि दस-पाँच मिनट के लिए दैनिक नियम पूर्ति कर ली और सोच लिया कि हो गया भजन । पृथुजी ने तपस्या क्यों की ?

आरिराधयिषुः कृष्णमचरत्तप उत्तमम् ।

(श्रीभागवतजी - ४/२३/७)

उन्होंने भगवान् कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए तप किया । वह शुष्क तप नहीं था, भगवद्भक्ति से संवलित तप था । उस तप का लक्ष्य यही था कि प्रभु प्रसन्न हो जाएँ, अतएव वह तपमिश्रा भक्ति थी । उस भक्ति के प्रभाव से उन्हें स्वतः ज्ञान की प्राप्ति हुई, जिससे कि सूक्ष्म शरीर जल जाता है । तदनन्तर, उन्होंने ज्ञान को भी छोड़ दिया क्योंकि जब तक भगवान् की कथा में रति न हो जाए तब तक भले ही मनुष्य ज्ञान का सेवन कर ले, कथा में प्रेम होने के बाद फिर ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती है । इसके बाद अन्त काल उपस्थित होने पर जिस प्रकार योगी लोग संसार से जाते हैं, उसी प्रकार पृथुजी ने अपनी प्राण वायु को वायु में मिला दिया, आकाश तत्त्व को आकाश में मिला दिया । इसी प्रकार अनुशय को अनुशयी पुमान् में मिला दिया ।

यहाँ पर यह समझना चाहिए कि पृथुजी तो भगवान् थे, उनका कोई लिंग शरीर नहीं था, फिर उनके अनुशय अर्थात् गुप्तावशिष्ट कर्म

का क्या हुआ ? राजा पृथु ने अनेक पुण्य कर्म किये थे, भले ही वह ईश्वर थे किन्तु पुण्य कर्म का फल तो मिलता ही है । यहाँ पर अनुशय से मतलब लिंग शरीर से नहीं है । उनके देह त्याग को लोकवत्तु लीला कहा जा सकता है । महारानी अर्चि ने जब देखा कि अब मेरे प्रियतम पृथु महाराज नहीं रहे तो उन्होंने भी लोकानुसरण के हिसाब से पर्वत की चोटी पर चिता बनाकर पृथुजी के मृतक देह को उस पर रख दिया और फिर अग्नि में प्रवेश कर सती हो गयीं ।

'विवेश वह्निं ध्यायती भर्तृपादौ' –

(श्रीभागवतजी - ४/२३/२२)

ऐसा उन्होंने लोकाचार (संसार को दिखाने) के लिए किया । पृथुजी का शरीर सामान्य प्राणी की तरह नहीं जला क्योंकि उनका भगवद् विग्रह था, अतः वे अपने शरीर सहित ही वैकुण्ठ गये थे । इसे श्लोक '४/२३/२६' में देखा जा सकता है –

सैषा नूनं व्रजत्यूर्ध्वमनु वैन्यं पतिं सती ।
पश्यतास्मानतीत्यार्चिर्दुर्विभाव्येन कर्मणा ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२३/२६)

(भागवत का अर्थ समझकर लगाना चाहिए जैसे कि टीकाकार आचार्यगण इसका अर्थ करते हैं ।)

देवियों ने कहा – 'यह सती अपने पति के साथ विमान में बैठकर वैकुण्ठ जा रही है ।'

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – पृथुजी का पवित्र चरित्र जो सुनता है और दूसरों को सुनाता है, वह भगवान् की पदवी को प्राप्त करता है । पृथु चरित्र की बड़ी महिमा है, इसको पढ़कर यदि राजा युद्ध करने जायेगा तो विजय को प्राप्त करेगा । कोई कार्य आरम्भ करने के पहले

पृथुजी का चरित्र पढ़ोगे तो कार्य सिद्ध हो जायेगा । इस प्रकार पृथुजी के चरित्र का समापन हुआ ।

अध्याय – २४

श्रीमैत्रेयजी कहते हैं – महाराज पृथु के बाद उनके पुत्र विजिताश्व राजा हुए । उन्होंने अपने चार भाइयों को एक-एक दिशा का राज्य दे दिया । विजिताश्व ने इन्द्र से अन्तर्धान होने की विद्या भी प्राप्त की थी, इसलिए इनका एक नाम अन्तर्धान भी था । उनके तीन पुत्र हुए – पावक, पवमान और शुचि । ये तीनों अग्नि थे । पूर्वकाल में एक बार अग्निदेव ऋषि पत्नी अरुन्धती को देखकर मोहित हो गये तो वसिष्ठजी ने इन्हें शाप दे दिया था । उसी शाप के कारण अग्नि देवता ने विजिताश्व के तीन पुत्रों के रूप में जन्म लिया था ।

वसिष्ठशापादुत्पन्नाः पुनर्योगगतिं गताः ।

(श्रीभागवतजी - ४/२४/४)

अन्तर्धान के नभस्वती नामक दूसरी पत्नी से हविर्धान नाम का एक और पुत्र उत्पन्न हुआ । हविर्धान की पत्नी हविर्धानी से बर्हिषद्, गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य और जितव्रत नाम के छः पुत्र हुए । आगे चलकर बर्हिषद् राजा बने । इनका एक नाम प्राचीनबर्हि भी था । राजा प्राचीनबर्हि ने समुद्र पुत्री शतद्रुति से विवाह किया था । वह बड़ी सुन्दर थी । विवाह-मण्डप में भाँवर देते समय स्वयं अग्निदेव भी उसके रूप पर मोहित हो गये । राजा प्राचीनबर्हि के प्रचेता नाम के दस पुत्र हुए । इन्होंने दस हजार वर्ष तक महादेवजी द्वारा बतायी विधि से तपस्या की ।

विदुरजी ने पूछा – भगवन् ! प्रचेताओं का महादेवजी से कहाँ मिलन हुआ ? मैत्रेयजी ने कहा – प्रचेतागण पिता की आज्ञा से पश्चिम

दिशा की ओर जा रहे थे तो उन्होंने रास्ते में समुद्र के समान एक विशाल सरोवर देखा । सरोवर बहुत स्वच्छ और सुन्दर था । उस सरोवर से भगवान् शंकर अपने अनुचरों के सहित निकलकर बाहर आये । शिवजी को देखकर प्रचेताओं ने उनके चरणों में प्रणाम किया । महादेवजी ने प्रचेताओं से कहा –

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम् ।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२४/२९)

सौ जन्मों तक कोई मनुष्य एक भी पाप न करे तब वह ब्रह्मा बनता है और इससे भी अधिक पुण्य होने पर वह मुझे प्राप्त करता है परन्तु हमारे (ब्रह्मा और शिव के) पद से भी ऊँचा है वैष्णव पद (भगवान् के भक्त का पद), जिसे मैं और ब्रह्मादि देव अपने-अपने अधिकार की समाप्ति के बाद प्राप्त करेंगे किन्तु भगवद्भक्त मृत्यु के बाद सीधे ही उस पद को प्राप्त कर लेता है । (विचार करो कि भगवान् की भक्ति कितनी दुर्लभ वस्तु है)

प्रचेतागणो ! तुम लोग भगवान् के भक्त हो, इसलिए मैं तुम लोगों को एक गीत बताता हूँ । इसे रुद्र गीत कहा जाता है । यह अत्यन्त पवित्र और कल्याणकारी है, इसका तुम लोग जप करना । इससे तुमको भगवान् की प्राप्ति होगी ।

मैत्रेयजी कहते हैं – तब भगवान् शिव ने प्रचेताओं को रुद्रगीत सुनाया ।

भगवान् रुद्र ने कहा – रुद्र गीत में पहले तो चतुर्व्यूह को प्रणाम किया गया है, उसके बाद भगवान् के अन्य रूपों को प्रणाम किया गया है ।

हे अग्नि रूप भगवान् ! आपको नमस्कार है । आप ही ऊर्ज (शक्तिस्वरूप), इष (इच्छा रूप), वेदत्रयी के रक्षक तथा पितर और देवताओं के पोषक सोम हैं । पञ्च तत्त्व भी आप ही हैं । आप ही पृथ्वी और विराट् हैं, आपको नमस्कार है । आप ही अधर्म के फल देने वाले मृत्यु भी हैं, कर्मफलदाता भी आप ही हैं । ज्ञानेन्द्रिय रूप भी आप ही हैं, क्रिया भी आप ही हैं, आपको नमस्कार है । आप घनश्याम हैं, आपकी चार भुजायें हैं, कमल के समान आपके नेत्र हैं । प्रेम से जब आप मुस्कुराते हैं तो उस छटा के बारे में क्या कहा जाए ? काली-काली घुँघराली अलकें आपके मुखारविन्द पर लटक रही हैं । आप शंख,चक्र, गदा और पद्म से युक्त हैं । वक्षःस्थल पर श्रीवत्स चिह्न के रूप में लक्ष्मीजी का नित्य निवास है । पीताम्बर और कौंधनी कटि भाग में शोभायमान है ।

इस प्रकार इस रुद्र गीत में चतुर्व्यूह की स्तुति की गयी है । पञ्च तत्त्व, रवि, शशि आदि भगवान् के स्वरूप बताये गये हैं । इसके बाद भगवान् के सुन्दर रूप का वर्णन किया गया है, तदनन्तर सत्संग की महिमा बताई गयी है ।

हे प्रभो ! आपके चरणों की शरण में जो प्राणी पहुँच जाता है, काल उस पर अपना अधिकार नहीं मानता है ।

भगवान् के भक्त का संग यदि आधे क्षण के लिए भी मिल जाए तो उसके सामने स्वर्ग और मोक्ष भी व्यर्थ हैं ।

जिस व्यक्ति का चित्त आपकी कथा में डूब रहा है, वह पवित्र हो गया है । गंगाजी तो शरीर के पापों को नष्ट करती हैं किन्तु आपकी कथा भीतर के, मन के पापों को नष्ट करती है । अज्ञान के अन्धकार में जिसका चित्त नहीं प्रवेश करता है, वही विशुद्धि को प्राप्त होता है । प्रभो ! आप स्वतन्त्र हैं । श्रद्धा से युक्त योगी आपका ही भजन करते हैं । आप ही आदि पुरुष हैं, आप ही अन्तर्यामी हैं । दुनिया में चार

प्रकार के शरीर हैं – जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज । जिस प्रकार मधुमक्खियाँ अपने ही उत्पन्न किये हुए मधु का आस्वादन करती हैं, उसी प्रकार आप भी इन चार प्रकार के शरीरों में अपने अंश जीव रूप से प्रवेश करके इन्द्रियों के द्वारा विषयों को भोगते हैं ।

आप ही काल रूपी सर्प हैं । जिस प्रकार सर्प चूहे को देखते ही खा जाता है, उसी प्रकार काल भी प्रमादी जीवों को निगल जाता है ।

आप ही अपने रुद्र रूप से भयभीत इस संसार की रक्षा कर रहे हैं ।

अध्याय – २५

मैत्रेयजी कहते हैं – इस प्रकार भगवान् शंकर ने प्रचेताओं को रुद्र गीत सिखाया । इसका दूसरा नाम योगादेश भी है । प्रचेताओं ने शंकरजी की बड़े भक्तिभाव से पूजा की । तदनन्तर, शिवजी अन्तर्धान हो गये । प्रचेतागण जल में खड़े होकर भगवान शिव के सिखाये रुद्र गीत स्तोत्र का जप करते हुए दस हजार वर्षों तक तपस्या करते रहे । इधर देवर्षि नारदजी प्रचेताओं के पिता राजा प्राचीनबर्हि के पास पहुँचे तो उन्होंने देवर्षि से ज्ञानोपदेश करने का अनुरोध किया ।

नारदजी ने कहा – राजन् ! तुमने बहुत से यज्ञ किये और उनमें हजारों पशुओं की बलि दी । मृत्यु के बाद जब तुम परलोक में जाओगे तो वे तुमसे बदला लेंगे । तुमने जो यज्ञ करके पशुओं को मारा, यह कोई धर्म नहीं है । अब इस विषय में मैं तुम्हें राजा पुरंजन की कथा सुनाता हूँ ।

पूर्व काल में पुरंजन नाम का एक राजा था । उसका एक मित्र था, उसका नाम था अविज्ञात । एक बार दोनों मिलकर पृथ्वी पर भ्रमण करने के लिए गये । भ्रमण करते हुए वे हिमालय के दक्षिण में पहुँचे । वहाँ उन्होंने नौ दरवाजों वाला एक नगर देखा । वह नगर

बहुत अच्छी तरह सजा हुआ था । उस नगर के बाहर एक सुन्दर वन था । एक बार उस वन में घूमते समय राजा पुरंजन ने एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री को देखा । वह जब आ रही थी तो उसके साथ एक पाँच फन वाला साँप भी था, वह उस स्त्री की रक्षा कर रहा था । वह सुन्दर स्त्री कमर में सोने की कौंधनी और पीले रंग की साड़ी पहने थी । उस सुन्दर स्त्री को देखकर राजा पुरंजन ने पूछा – 'अरी सुन्दरी ! तुम कौन हो ? तुम इन ग्यारह वीरों को लेकर घूम रही हो तो क्या लक्ष्मी हो ? लक्ष्मी तो तुम नहीं हो क्योंकि तुम्हारे चरण पृथ्वी पर पड़ रहे हैं । तुम्हारा मुख लम्बी-लम्बी काली अलकावलियों से घिरा हुआ है परन्तु वह मुख लाज के कारण मेरी ओर नहीं हो रहा है, अतः थोड़ा ऊँचा करके अपने इस सुन्दर मुख का मुझे दर्शन तो कराओ ।'

श्रीनारदजी कहते हैं – जब पुरंजन ने इस तरह उस सुन्दरी से कहा तो वह कहने लगी – 'मैं स्वयं नहीं जानती कि मुझे बनाने वाला कौन है ? ये वीर पुरुष मेरे सखा और स्त्रियाँ मेरी सहेलियाँ हैं तथा यह सर्प मेरी तथा इस पुरी की रक्षा करता है । यदि तुम्हारे मन में इच्छा है तो तुम मुझसे विवाह कर लो । मुझे भी तुम अच्छे लग रहे हो । मेरे साथ विवाह करके तुम इसी नगर में रहो ।' श्रीनारदजी कहते हैं – इस प्रकार आपस में बात करके उन दोनों ने विवाह कर लिया और सौ वर्षों तक उस पुरी में वे रमण करते रहे । उस नगर में नौ दरवाजे थे । सात दरवाजे नगरी के ऊपर तथा दो नीचे थे । खद्योता, आविर्मुखी, नलिनी, नालिनी, मुख्या आदि इन सब द्वारों के नाम थे । इन द्वारों पर अलग-अलग सेवक थे । विचित्र बात यह हुई कि राजा पुरंजन अपनी रानी के प्रति ऐसा आसक्त हुआ कि जब रानी उठकर खड़ी होती तो पुरंजन भी खड़ा हो जाता और जब रानी बैठ जाये तो स्वयं भी बैठ जाता था । रानी अपना हाथ ऊपर उठाती तो तुरंत पुरंजन भी हाथ

उठा देता, रानी छींकती तो वह भी छींकने लगता, रानी जल पीती तो पुरंजन भी जल पीता । इस हद तक राजा पुरंजन अपनी रानी पर मोहित हो गया । रानी जब गाने लगती तो राजा भी गाने लगता, रानी हँसती तो वह भी हँसने लगता और जिस समय रानी रोती तो राजा भी रोने लगता । वह दौड़ती तो राजा पुरंजन भी दौड़ता । इस प्रकार पुरंजन अपनी रानी के पूर्ण वश में हो गया था ।

अध्याय – २६

नारदजी कहते हैं – एक दिन राजा पुरंजन शिकार खेलने रथ पर बैठकर वन में गया । उसने वन में बहुत से जंगली पशुओं का वध किया । शिकार खेलने के बाद पुरंजन अपने नगर में आया । नगर में रानी उससे रूठ गयी थी । रानी को रूठा हुआ देखकर पुरंजन घबरा गया, फिर उसने हाथ जोड़कर रानी को मीठे वचनों से बहुत मनाया । पुरंजन बोला – 'सुन्दरि ! मैं तुझसे बिना पूछे वन में चला गया, अतः तू मुझे जो भी दण्ड देना चाहे दे ले । तू मुझे अपना मुख तो दिखा, मैं अधीर हो रहा हूँ । तेरा सारा श्रृंगार अस्त-व्यस्त हो रहा है ।' इस प्रकार पुरंजन द्वारा बहुत मनाने पर अन्त में पुरंजनी मान गयी ।

अध्याय – २७

नारदजी कहते हैं – पुरंजन द्वारा मनाये जाने पर उसकी रानी प्रसन्न हो गयी और फिर दोनों रमण करने लगे । उस पुरंजनी से राजा पुरंजन के ग्यारह सौ पुत्र तथा एक सौ दस कन्यायें उत्पन्न हुईं । इसके बाद उसने अपने पुत्र और पुत्रियों का विवाह कर दिया । पुरंजन के ग्यारह सौ पुत्रों में प्रत्येक के सौ-सौ पुत्र उत्पन्न हुए । जब मनुष्य दिन-रात विषय-भोग में तन्मय हो जायेगा तो कमजोर अवश्य ही होगा ।

पुरंजन जब सम्पूर्ण जीवन इस तरह अपने परिवार और विषय भोगों में आसक्त रहा, उसी समय गन्धर्वराज चण्डवेग ने पुरंजन के नगर पर आक्रमण कर दिया । उसके साथ में तीन सौ साठ गन्धर्व और तीन सौ साठ गन्धर्वियाँ भी थीं । इन सबने सारी रात उस नगर में लूटपाट मचाई । पुरंजन पुरी की रक्षा करने वाला पाँच फनों का सर्प अकेला ही सौ सालों तक उन सात सौ बीस गन्धर्व-गन्धर्वियों से युद्ध करता रहा । इधर काल की एक पुत्री थी, जिसका नाम दुर्भगा था, वह वर की खोज में त्रिलोकी में भटकती रही किन्तु उसे कोई वर नहीं मिला । नारदजी कहते हैं कि एक बार वह मेरे पास आई और बोली कि तुम ही मुझसे विवाह कर लो । मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की और उसे यवनराज भय के पास जाने तथा उसे पति बनाने के लिए कहा । जब काल कन्या यवनराज के पास पहुँची और विवाह करने की प्रार्थना की तो यवनराज बोला – 'चलो, मैं और तुम चलकर अव्यक्त गति से इस संसार को भोगें । यह प्रज्वार नाम का मेरा भाई है और तू मेरी बहिन बन जा ।'

अध्याय – २८

नारदजी कहते हैं – राजन् ! अब तो यवनराज भय, प्रज्वार और काल कन्या, ये तीनों ही इस पृथ्वी पर सब जगह घूमने लगे । एक बार उन्होंने पुरंजन पुरी को घेर लिया और सारी पुरी को जलाकर राख कर दिया । जब पुरी जलने लगी तो पुरंजन रोने लग गया और अन्त में यवनराज एवं कालकन्या ने उसे पकड़ लिया । इतने में ही पाँच फन वाला सर्प भी वहाँ से भाग गया । यवनराज के बलपूर्वक खींचने पर भी राजा पुरंजन ने अपने पुराने मित्र अविज्ञात को याद नहीं किया । अन्त में पुरंजन की मृत्यु हो गयी और स्त्री की आसक्ति के कारण अगले जन्म में वह स्त्री बना क्योंकि वह अन्तिम समय

अपनी स्त्री को याद करके रो रहा था । दूसरे जन्म में वह विदर्भराज के यहाँ सुन्दरी कन्या के रूप में पैदा हुआ और विवाह योग्य होने पर राजा मलयध्वज के साथ उसका विवाह हुआ तथा उसके एक कन्या एवं सात पुत्र उत्पन्न हुए । उस कन्या का अगस्त्य ऋषि के साथ विवाह हुआ । एक बार राजा मलयध्वज मलय पर्वत पर तपस्या करने गये और वहीं उन्होंने भगवान् का स्मरण करते हुए देह त्याग कर दिया । तब उनकी पत्नी ने सती होने का निश्चय किया । वह स्त्री रो रही थी । उसी समय उसका पूर्व जन्म का सखा वहाँ आ गया और उस स्त्री से बोला – 'तू कौन है, किसकी पुत्री है और रो क्यों रो रही है ?' उस स्त्री ने सोचा कि यह पुरुष कौन है, मेरे पति की तो मृत्यु हो गयी । तब उसका सखा उस स्त्री से बोला – 'तू स्त्री नहीं है, तू तो मेरा पूर्व जन्म का सखा है । पूर्व जन्म में हम दोनों घूमने निकले थे किन्तु तूने मेरा साथ छोड़ दिया और एक नगर में जाकर वहाँ की स्त्री के चक्कर में पड़ गया तथा मुझे भूल गया । उस स्त्री की आसक्तिवश तुझे मृत्यु के समय उसी की स्मृति के कारण इस जन्म में स्त्री बनना पड़ा । वास्तव में तो तू स्त्री नहीं है, मेरा सखा है ।' अविज्ञात सखा के समझाने पर उस स्त्री को स्मरण हो आया कि वास्तव में मैं स्त्री नहीं हूँ और यह तो मेरा पुराना सखा है तथा उसे अपने मित्र के वियोग से भूला हुआ आत्मज्ञान पुनः प्राप्त हो गया ।

अध्याय – २९

राजा प्राचीनबर्हि ने नारदजी से कहा – आपने जो यह कथा सुनाई, इसका अभिप्राय मेरी समझ में नहीं आ रहा है । इसका आशय क्या है, कृपा करके आप ही मुझे बतायें ।

श्रीनारदजी ने कहा – राजन् ! यह जीव ही पुरंजन है, चाहे वह स्त्री हो, पुरुष हो, वृद्ध अथवा जवान हो, गृहस्थ अथवा विरक्त हो ।

इसका जो सखा है, वह है परमात्मा, जिसको अविज्ञात नाम से कहा गया है । शरीर रूपी वृक्ष की हृदय रूपी डाल पर जीव और ईश्वर रूपी दो पक्षी बैठे हैं । ये दोनों सखा हैं । जीव अपने वास्तविक सखा ईश्वर को भूल जाता है, जैसे पुरंजन अपनी स्त्री पुरंजनी के कारण अपने सखा को भूल गया था । पुरंजन की जो स्त्री थी, वह कौन है ? वह स्त्री है बुद्धि । जैसे पुरंजन अपनी स्त्री से इस प्रकार मोहित हो गया था कि जब वह हाथ उठाती तो स्वयं हाथ उठाता, वह भोजन करती तो स्वयं करता, वह हँसती तो स्वयं हँसता, वह रोती तो स्वयं रोता । जो-जो क्रिया पुरंजनी करती, वही सब पुरंजन भी करता । यही हाल जीव का है, उसकी बुद्धि कहेगी कि हाथ में खुजली मचाओ तो जीव खुजली मचाने लगेगा । बुद्धि कहेगी कि भोजन करो तो जीव तुरंत ही भोजन करने लगता है । बुद्धि रूपी स्त्री जो-जो करने को कहती है, जीव रूपी पुरंजन वही-वही कार्य करता है । इसीलिए इस बुद्धि रूपी स्त्री के कारण जीव भगवान् को भूल गया है और फिर भी अपने को बड़ा बुद्धिमान समझता है । बुद्धि के कारण ही जीव भोग परायण होता है, किसी स्त्री में आसक्त होता है और फिर अगले जन्म में स्त्री योनि को प्राप्त करता है । इसीलिए शास्त्रों में स्त्री को अधम योनि बताया गया है, जैसे रामायण में शबरीजी ने कहा है – **अधम ते अधम अधम अति नारी** । जब जीव स्त्री बनता है तो इसका विवाह किसी पुरुष से होता है । जब उस पुरुष की मृत्यु हो जाती है तब स्त्री रूपी जीव रोता है, तब इसका पुराना सखा ईश्वर आकर इसे समझाता है । इसका रहस्य यह है कि जीव रूपी स्त्री का विवाह किसी भक्त पुरुष से हुआ, यह कौन है, यह है भागवत गुरु अर्थात् भटकते-भटकते इस जीव को किसी सद्गुरु की प्राप्ति हो गयी । यहाँ सद्गुरु को पति रूप में बताया गया है । जैसे पति-पत्नी के संसर्ग से सन्तान की उत्पत्ति होती है, वैसे

ही यह रूपक बनाया गया कि गुरु के संसर्ग से भी जीव को सात पुत्र और एक पुत्री की प्राप्ति हुई । यह स्थूल शरीर की अथवा स्त्री-पुरुष की बात नहीं है, फिर ये पुत्र-पुत्री क्या है ? पुत्री है कृष्ण सेवा में रुचि । गुरु के आश्रय में जाने पर मनुष्य को जो भगवत्सेवा में रुचि हो जाती है, यह है पुत्री । यदि भगवत्सेवा में रुचि नहीं हुई तो वह गुरु वास्तविक गुरु नहीं है । 'श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड – ३५' में लिखा है –

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥

पहली भक्ति है - साधु संग । 'साधु संग' से भगवान् की कथा में प्रीति हो जाती है । कथा में प्रीति नहीं हुई तो समझो कि हमने साधु संग नहीं किया । या तो वह सच्चा साधु नहीं था अथवा हम जिज्ञासु नहीं थे । जैसे पारस पत्थर का लोहे से स्पर्श करा दो तो लोहा सोना बन जाता है । अगर लोहे का पारस से स्पर्श कराने पर वह सोना नहीं बनता तो इसके दो कारण हो सकते हैं या तो वह पत्थर पारस नहीं है, नकली पत्थर है अथवा लोहा लोहा नहीं है अथवा दोनों को ठीक से जोड़ा नहीं गया । वैसे ही यदि कोई मनुष्य साधु संग करता है किन्तु उसके हृदय में भक्ति नहीं आई तो इसके पीछे तीन बातें हो सकती हैं । या तो वह सच्चा संत नहीं था अथवा मनुष्य के हृदय में जिज्ञासा नहीं थी, वह मनुष्य सच्चा शिष्य नहीं था, केवल मौज-मस्ती के लिए ही संत के पास चला गया अथवा यदि दोनों भी ठीक थे तो फिर दोनों का संगठन ठीक से नहीं हुआ, दोनों आपस में मिले नहीं । यदि मिलते तो अवश्य भक्ति प्राप्त होती । इसलिए गुरु रूपी पति और जीव रूपी पत्नी के समागम से कृष्ण सेवा रुचि नामक कन्या उत्पन्न होती है और जो सात बेटे हैं, वह सात प्रकार की भक्ति है । नवधा भक्ति में दो सिद्धा भक्ति हैं । अगस्त्यजी हैं मन । जिस प्रकार अगस्त्यजी के साथ राजा

मलयध्वज की कन्या का विवाह हुआ था और उससे दृढ़च्युत नामक पुत्र पैदा हुआ, उसी प्रकार मन का विवाह हुआ कृष्णसेवारुचि के साथ और उसके वैराग्य नामक पुत्र हुआ । दृढ़च्युत का पुत्र हुआ इध्मवाह अर्थात् किसी गुरु के पास जाये तो पहले सेवा करे । इस प्रकार संसार के सभी जीव पुरंजन हैं और उनकी बुद्धि ही पुरंजनी है । हम जीव अपनी बुद्धि द्वारा बहकाए जाने के कारण अपने सच्चे सखा परमात्मा से विमुख हो गये हैं । पुरंजन की इस कथा का यही सार है । पुरंजन पुरी में जो पाँच फन वाला सर्प रहता था तो यह पुरी है मनुष्य शरीर तथा पाँच फन वाला सर्प है पाँच प्राण । मनुष्य शरीर समस्त जीव शरीरों में सर्वोत्तम है, इसलिए जीव इसी को देखकर इसमें रहने लगा । नौ दरवाजे क्या हैं, ऊपर के सात दरवाजे हैं दो आँख के छिद्र, दो कान के छिद्र, दो नाक के छिद्र तथा एक मुख और दो नीचे के मल और मूत्र द्वार । इस शरीर रूपी पुरी में पहुँचकर जीव रूपी पुरंजन बुद्धि से मोहित हो गया है । बुद्धि जैसा कहती है, वैसा ही करता है । बुद्धि कहती है पैसा कमाओ, लड्डू लाओ, बीड़ी-सिगरेट पियो, बाजार चलो तो इसी बुद्धि रूपी स्त्री के कहने के अनुसार हम जीव सभी क्रियायें करते हैं । केवल सत्संग मिलने पर ही हम बुद्धि रूपी स्त्री के मोह जाल से बच सकते हैं । जिसके द्वारा काल का ज्ञान होता है, वह संवत्सर ही चण्डवेग नामक गन्धर्वराज है । उसके अधीन जो तीन सौ साठ गन्धर्व और तीन सौ साठ गन्धर्वियाँ हैं, वे दिन और रात हैं । ये बारी-बारी से चक्कर लगाते हुए मनुष्य की आयु को हरते रहते हैं । जीव बिना भगवद्भक्ति के मुक्त नहीं हो सकता है ।

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः ।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठताम् ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२९/४६)

जिस पर भगवान् कृपा करते हैं, वह जीव लोक और वेद से अतीत हो जाता है ।

तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया ।

(श्रीभागवतजी - ४/२९/४९)

कर्म वही है, जिससे भगवान् प्रसन्न हों तथा विद्या वही है, जिससे भगवान् में चित्त लगे । एक और महत्त्वपूर्ण बात नारदजी ने कही –

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि ।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/२९/५१)

गुरु किसको बनाया जाये क्योंकि गुरु को तो भगवत्स्वरूप ही मानना चाहिए तो नारदजी कहते हैं कि गुरु वही है, जो इस बात को जानता है कि भगवान् ही एकमात्र प्रियतम हैं, अन्य कोई प्रियतम नहीं है । भगवान् के अतिरिक्त किसी और से प्रेम करने पर भय है । चाहे स्त्री से प्रेम कर लो, चाहे सन्तान एवं धन-सम्पत्ति से प्रेम कर लो, सब जगह काल का भय है । काल तुम्हें खा जायेगा, काल छोड़ेगा नहीं । जो इस बात को जानता है, वही गुरु है, वही ईश्वर है ।

नारदजी ने प्राचीनबर्हि से कहा – एक और बात तुम्हें बताता हूँ, ध्यान से सुनो । एक जंगल है, उसमें एक हिरन हिरनी के साथ घूम रहा है । आगे-आगे हिरन-हिरनी का टोल चल रहा है और उनके पीछे-पीछे एक बहेलिया बाण लेकर उन्हें मारने के लिए घूम रहा है तथा हिरन के आगे भेड़िये उसे खाने के लिए तैयार बैठे हैं, परन्तु हिरन इतना बेसुध है कि उसे यह पता नहीं है कि मेरे आगे भी काल है और पीछे भी काल है । एक बार इस हिरन की दशा पर विचार करो ।

हर जीव हिरन की तरह है । वह इतना मदमत्त हो गया है कि उसे काल का भय नहीं है, वह इस बात का विचार नहीं कर पाता कि मेरे आगे-पीछे दोनों तरफ काल है । हम लोग काल के बीच में पड़े हैं, फिर भी कोई सावधान नहीं है कि अपने समय को भगवान् की भक्ति में लगायें । हर जीव अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने में लगा है, विषय भोगों में ही आसक्त है । राजा प्राचीनबर्हि ने नारदजी से एक प्रश्न और किया कि इस संसार में जो कर्म मनुष्य इस शरीर के द्वारा करता है, जैसे मान लो किसी ने चोरी या हत्या की तो उसका फल मनुष्य को मरने के बाद परलोक में भोगना पड़ता है किन्तु जिस शरीर से उसने पाप किया, वह तो मरने पर यहीं छूट गया और परलोक में दूसरे शरीर के द्वारा पाप कर्म का दण्ड भोगना पड़ा, ऐसा क्यों होता है ? पाप करता है कोई अन्य शरीर तथा उसका दण्ड दूसरे शरीर को परलोक में भोगना पड़ता है ।

नारदजी इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं – जीव का यह स्थूल शरीर कर्म नहीं करता है । इसके भीतर एक सूक्ष्म शरीर है, वह कर्म करता है । जिस सूक्ष्म शरीर ने इस संसार में पाप किया, चोरी, हिंसा या दुराचार किया तो परलोक में वही सूक्ष्म शरीर इसका दण्ड भोगता है क्योंकि वह सूक्ष्म शरीर तो मरने के बाद भी जीव के साथ रहता है । कर्मों का नाश नहीं होता है । मान लो, आज तुमने चोरी की तो सौ साल बाद मृत्यु होने पर नरक में उसका दण्ड अवश्य भोगना पड़ेगा क्योंकि कर्म का नाश नहीं होता । जैसे खेत में बीज डालो तो फसल होने में समय लगता है । अरहर का बीज खेत में डालो तो साल भर बाद उसकी फसल तैयार होती है । इसी प्रकार साल भर पहले तुमने जो कर्म किया होगा, उसका फल साल भर बाद मिलेगा । इस तरह किसी भी कर्म का नाश नहीं होता है । वह कर्म

अदृष्ट रूप से भाग्य बनकर रहता है और फिर वही भविष्य में फल बनकर आता है । जीव का सूक्ष्म शरीर ही लिंग शरीर भी कहलाता है । इसकी मुक्ति भगवद्भक्ति से होती है ।

अध्याय – ३०

विदुरजी ने पूछा – ब्रह्मन् ! आपने राजा प्राचीनबर्हि के पुत्र प्रचेताओं के बारे में बताया था, जो दस हजार वर्ष तक तपस्या करने गये थे, उनका क्या हुआ ?

मैत्रेयजी ने कहा – प्रचेताओं ने समुद्र के अन्दर खड़े होकर रुद्र गीत के जप द्वारा दस हजार वर्षों तक तपस्या करके भगवान् को प्रसन्न किया । जब वे तपस्या कर रहे थे तो भगवान् गरुड़जी पर बैठकर उनके सामने प्रकट हुए । उनके आठ भुजायें थीं । भगवान् ने कहा – राजपुत्रो ! तुम सबमें परस्पर बड़ा प्रेम है और स्नेहवश तुम एक ही धर्म का पालन कर रहे हो । तुम्हारे इस सौहार्द से मैं अतिशय प्रसन्न हूँ । अब तुम लोग मुझसे वर माँगो । जो मनुष्य सायंकाल के समय प्रतिदिन तुम्हारा स्मरण करेगा, उसका अपने भाइयों से प्रेम रहेगा और उनमें कभी परस्पर लड़ाई नहीं होगी । तुम्हारे एक बड़ा ही विख्यात पुत्र होगा, जो गुणों में ब्रह्माजी से कम नहीं होगा । वह अपनी सन्तान से त्रिलोकी को भर देगा । कण्डु ऋषि से प्रम्लोचा अप्सरा के द्वारा एक कन्या उत्पन्न हुई थी, चन्द्रमा ने उसका पालन किया है । उसको तुम लोग वरण कर लो । वह सुन्दरी कन्या तुम सभी की पत्नी होगी । तुम लोग दस लाख वर्षों तक भोग भोगने के बाद अन्त में मेरे परम धाम को आ जाओगे ।

मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः ।

(श्रीभागवतजी - ४/३०/१९)

जो लोग गृहस्थाश्रम में रहकर भी नित्य नियमपूर्वक कथा-कीर्तन करते हैं, वे बन्धन को प्राप्त नहीं होते हैं, मुक्त हो जाते हैं ।

इसलिए हर व्यक्ति को चाहिए कि अपने घर में नित्य भगवान् की कथा या कीर्तन करो । कथा नहीं कर सकते तो भगवन्नाम का कीर्तन करो । इससे तुम्हारी सन्तान, स्त्री आदि सब मुक्त हो जायेंगे ।

भगवान् के दर्शनों से आह्लादित होकर प्रचेताओं ने उनकी स्तुति करते हुए कहा –

नमः कमलनाभाय नमः कमलमालिने ।
नमः कमलपादाय नमस्ते कमलेक्षण ॥

हे प्रभो ! आपको नमस्कार है । आपने हम लोगों को जो याद कर लिया है, यह सबसे बड़ी कृपा की बात है । इस नश्वर जगत में सत्संग से बड़ी कोई चीज नहीं है । मोक्ष भी सत्संग से बड़ा नहीं है । हम लोगों को थोड़ी देर के लिए महादेवजी का सत्संग मिला और उनके उस अल्पकालीन सत्संग के प्रभाव से ही हमें आपकी प्राप्ति हो गयी ।

तदनन्तर, प्रचेतागणों ने भगवान् की स्तुति करी और उनसे ये वरदान माँगा कि हम जो कुछ भी शुभ कर्म करें, सब आपकी प्रसन्नता के लिए करें । भगवान् ने कहा – 'ठीक है, ऐसा ही होगा ।'

श्री मैत्रेयजी कहते हैं – प्रचेतागणों को वरदान देकर भगवान् अपने परम धाम को चले गये । जब प्रचेतागण तप करके समुद्र के जल के बाहर निकले तो उन्होंने देखा कि सारी पृथ्वी को वृक्षों ने ढक दिया है, कहीं चलने की भी जगह नहीं है । यह देखकर उन्हें वृक्षों पर बड़ा क्रोध हुआ । उन्होंने अपना मुख खोला, उनके मुख से अग्नि निकली और तूफान निकला । उस अग्नि के प्रभाव से सब वृक्ष जलने लग गये । यह देखकर ब्रह्मा जी वहाँ आये और बोले कि तुम लोग

ऐसा मत करो । मारिषा नाम की कन्या से तुम लोग विवाह करो । ऐसा कहकर ब्रह्माजी चले गये । प्रचेताओं ने ब्रह्मा जी के आदेश से मारिषा से विवाह कर लिया । मारिषा के ही गर्भ से, ब्रह्मा जी के पुत्र दक्ष ने महादेव जी का अपमान करने के कारण अपना शरीर त्याग कर फिर से जन्म लिया ।

अध्याय – ३१

मैत्रेयजी कहते हैं – भगवान् की आज्ञा से दस लाख वर्षों तक भोग भोगने के बाद अपने पुत्र का राज्याभिषेक करके प्रचेतागण अंत में सन्यास लेकर घर से निकल पड़े । दस लाख वर्षों तक भोग भोगने के बाद भी वे भक्त बने रहे, भगवान् को प्राप्त हो गये क्योंकि घर में रहते हुए भी उनका समय नित्य ही कथा-कीर्तन में व्यतीत होता था । गृहस्थ होना कोई खराब बात नहीं है, खराब बात यह है जो हम गृहस्थी के जंजाल में फँसकर भगवान् को भूल जाते हैं, भगवान् की कथा-कीर्तन से विमुख हो जाते हैं । चाहे कोई गृहस्थ है अथवा विरक्त, भगवन्नाम से जो दूर है, वह बेकार है । यदि कोई साधु भी बन जाता है और भगवन्नाम-गुण कीर्तन से दूर रहता है तो ऐसे साधु बनने से क्या लाभ ? इसीलिए कथा-कीर्तन में समय बिताने के कारण दस लाख वर्षों तक भोग भोगने के बाद भी प्रचेतागणों को अंत में भगवान् की प्राप्ति हो गयी । घर से निकलकर प्रचेतागण पश्चिम दिशा में समुद्र के तट पर पहुँचे, वहाँ पर उनको नारद जी का दर्शन हुआ । प्रचेताओं ने कहा – देवर्षे ! बड़े सौभाग्य से हमें आपका दर्शन हुआ । आप हमें अध्यात्म ज्ञान प्रदान कीजिये । नारद जी ने कहा –

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/३१/९)

राजाओ ! वही जन्म जन्म है, वे ही कर्म कर्म हैं, वही आयु आयु मानी गयी है, वही मन मन है, वही वाणी वाणी है, जिसके द्वारा भगवान् की सेवा हो । नहीं तो चाहे कितना भी सुन्दर शरीर है, वह बेकार है । वह जीवन बेकार, वह आयु बेकार है, जिसमें श्रीकृष्ण की सेवा नहीं की गयी ।

चाहे तुम ब्राह्मण बन जाओ, वेद पढ़ लो, तपस्या कर लो, कितने ही बड़े विद्वान् बन जाओ, योग कर लो, सांख्य कर लो, स्वाध्याय कर लो परन्तु जो भगवान् अपना सब कुछ दे देते हैं, उनकी शरण में यदि नहीं गये तो सब बेकार है ।

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणाम्
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥

(श्रीभागवतजी - ४/३१/१४)

जो व्यक्ति श्रीकृष्ण स्मरण करता है, भगवान् की आराधना करता है, उसे फिर अलग से पितृगण की, अन्य देवताओं की उपासना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती । भगवान् के प्रति अनन्य होना चाहिए । जिसने भगवान् श्यामसुन्दर की उपासना की है, उससे अनेक देवता और पितृगण स्वतः ही प्रसन्न हो जाते हैं । उसे इन सबका अलग से भजन करने की कोई आवश्यकता नहीं है, जैसे किसी वृक्ष की जड़ में पानी देने पर अपने आप ही उसके पत्ते, डाल, फूल आदि सबका पोषण हो जाता है । यदि जड़ को छोड़कर पत्ते को सींचोगे तो पत्ते हरे नहीं होंगे बल्कि सूख जायेंगे । दूसरा उदाहरण यह कि मुख के द्वारा हम भोजन करते हैं, अतः मुख में मुख्य प्राण

है । मुख्य प्राण को भोजन देने से सारा शरीर पुष्ट हो जाता है । अब अलग से आँख, कान, नाक या हाथ-पाँव को भोजन नहीं दिया जाता है और इन अंगों में भी ताकत कहाँ से आती है ? मुख्य प्राण मुख के भीतर है, जिस प्रकार मुख में आहार देने पर सभी अंग पुष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण चरणारविन्द के भजन से समस्त देवता, पितृश्वर, देश, समाज आदि सब तृप्त हो जाते हैं ।

बहुत से लोग ऐसा विचार करते हैं कि साधु लोग देश की सेवा नहीं करते हैं । यह गलत बात है । आसुरी लोग ही ऐसा सोचते हैं । सबसे बड़ी सेवा यही है कि मनुष्य ईश्वर की भक्ति करे । आधुनिक युग में भारत में बड़े-बड़े महापुरुष जैसे स्वामी विवेकानन्द ने ईश्वर भक्ति के प्रचार से विश्व में भारत का गौरव बढ़ाया । इसी प्रकार गाँधी जी ने अपने एक लेख में स्पष्ट लिखा था कि मैं जो नित्य ईश्वर प्रार्थना करता हूँ, यही मेरी शक्ति है । गाँधी जी नित्य भगवन्नाम कीर्तन करते थे । भगवान् का नाम लेकर ही उन्होंने अपने प्राण छोड़े । अंतिम समय उनके मुख से राम नाम निकला क्योंकि भगवन्नाम में उनकी निष्ठा थी । ईश्वर भक्ति के ही प्रभाव से वे देश के लिए बहुत बड़ा काम कर गये अन्यथा उनका शरीर तो हड्डियों का ढाँचा मात्र था । आजकल के नेता ईश्वर भक्ति से विमुख हैं, इसीलिए देश का कल्याण तो वे कर ही नहीं सकते हैं । जैसा कि भागवत के इस श्लोक में घोषणा की गयी है कि ईश्वर की आराधना ही अनन्त विश्व को तृप्त करने वाली है । तुम्हारे पुरखे, माता-पिता, दादा-दादी, परबाबा आदि जितनी भी पिछली पीढ़ियाँ हुई हैं और आगे भी जितनी पीढ़ियाँ आयेंगी, वे सब एकमात्र श्रीकृष्ण आराधना से ही तृप्त होंगी । इसलिए सभी लोग श्रीकृष्ण आराधना करो । श्रीकृष्ण आराधना के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से जीव तृप्त नहीं हो सकते । बिना आराधना के अनन्त जीव भूखे थे,

भूखे हैं, और भूखे रहेंगे । यदि तुम अपने पिता की सेवा करना चाहते हो तो पिता की सबसे बड़ी सेवा यही है कि श्रीकृष्ण भक्ति करो । तुम अपने पितामह की सेवा करना चाहते हो, तब भी सबसे महत्वपूर्ण बात यही है कि तुम श्रीकृष्ण का अनुशीलन करो । तुम अपनी माता-दादी की सेवा करना चाहते हो तो उसका भी यही उपाय है कि सबसे पहले श्रीकृष्ण स्मरण करो । यह शास्त्र की बात है । गाँव, नगर, देश अथवा पृथ्वी का कल्याण करना चाहते हो तो एकमात्र उपाय यही है कि हम लोग प्रतिक्षण भगवान् श्रीकृष्ण का भजन करें । इससे सारे ब्रह्माण्ड का कल्याण हो जायेगा । केवल माँ-बाप, दादा-दादी, गाँव-मोहल्ले की तो बात ही क्या है ? एक और महत्त्वपूर्ण बात नारद जी ने कही है –

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा ।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥

(श्रीभागवतजी - ४/३१/१९)

सब प्राणियों पर दया करने तथा सभी इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करके शांत करने से भगवान् शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं ।

न भजति कुमनीषिणां स इज्याम्
हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः ।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये
विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु ॥

(श्रीभागवतजी - ४/३१/२१)

जो लोग भजन तो करते हैं परन्तु भक्तों का अपराध करते हैं, उनके भजन को प्रभु स्वीकार नहीं करते हैं ।

भजन करने के साथ-साथ यह आवश्यक है कि हम पूज्य संतों-महापुरुषों का अपराध न करें । ऐसे दुर्बुद्धि लोगों की पूजा या भजन

को भगवान् स्वीकार ही नहीं करते हैं । ये दुर्बुद्धि लोग कौन हैं ? जो लोग शास्त्रों का बहुत अध्ययन कर लेते हैं, जो बड़े धनी हैं, जो ऊँचे कुल के हैं और कुछ अच्छे कर्म कर लेते हैं, इन सबके मद से जो अकिंचन संतों-भक्तों को सताते हैं, उनका अपराध करते हैं, उनकी उपासना को, उनके भजन-पूजन को प्रभु स्वीकार नहीं करते हैं । इसलिए भजन के साथ भक्तापराध से बचना भी बहुत जरूरी है ।

मैत्रेयजी कहते हैं – इस प्रकार नारदजी ने प्रचेताओं को यह ज्ञान दिया और इसके बाद वे ब्रह्मलोक चले गये । नारदजी के दिए ज्ञान को आत्मसात करके प्रचेतागण भगवान् का ध्यान करते हुए अन्त में भगवान् के धाम को प्राप्त हो गये ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – राजन् ! यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि स्वायम्भुव मनु के दो पुत्र थे – प्रियव्रत और उत्तानपाद । प्रचेतागणों तक यह उत्तानपाद के वंश का वर्णन था । अब प्रियव्रत के वंश का भी विवरण सुनो । राजा प्रियव्रत ने नारदजी से आत्मज्ञान का उपदेश पाकर भगवत्प्राप्ति की । इधर मैत्रेयजी के मुख से भगवद् कथा सुनकर विदुरजी उनके चरणों में गिर पड़े क्योंकि जो ज्ञान देता है, वह ईश्वर रूप माना जाता है । विदुरजी कहने लगे – हे प्रभो ! आपने मुझे बहुत उत्कृष्ट ज्ञान दिया । आप बड़े ही करुणामय हैं । आपने मुझे अज्ञानान्धकार के उस पार पहुँचा दिया । श्रीशुकदेव जी कहते हैं – मैत्रेय मुनि को प्रणामकर और उनकी आज्ञा लेकर विदुरजी हस्तिनापुर गये क्योंकि वहाँ उन्हें अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र का उद्धार करना था । इस प्रकार यह चतुर्थ स्कन्ध समाप्त हुआ ।

पञ्चम स्कन्ध

अध्याय – १

राजा परीक्षित ने पूछा – भगवन् ! महाराज प्रियव्रत तो बड़े भगवद्भक्त थे फिर उन्होंने गृहस्थाश्रम क्यों स्वीकार कर लिया क्योंकि जो आसक्ति रहित है, उसकी घर में अधिक आसक्ति होना ठीक नहीं है । मेरे मन में यह बड़ा संशय है, इसे आप दूर करने की कृपा करें ।

श्रीशुकदेवजी ने कहा – राजन् ! तुम्हारी बात तो बहुत उत्तम है । तुमने यह बड़ा अच्छा प्रश्न किया ।

यह प्रश्न जानने के लिए किया गया है और इस प्रश्न से प्रियव्रत जी की महिमा खुलेगी । इसलिए शुकदेवजी कह रहे हैं कि तुम्हारा प्रश्न उत्तम है । यह कोई ऐसा प्रश्न नहीं है जैसे हम लोग आलोचना किया करते हैं ।

शुकदेवजी कहते हैं – भगवान् के चरणारविन्द के रस में जिनका चित्त सराबोर हो गया है, उनको भागवत कहा जाता है । वे भागवत (भगवद्भक्त) परमहंसों की प्रिय भगवान् की कथा को नहीं छोड़ते हैं, चाहे कितना ही विघ्न क्यों न आ जाये किन्तु वे भगवद् कथा की प्रीति को और भगवद् चरणारविन्द के र स को नहीं छोड़ते हैं । जो लोग छोड़ देते हैं, वे भक्त कहाँ हो सकते हैं ? यही बात राजा प्रियव्रत के साथ हुई । राजा प्रियव्रत परम भागवत थे । इनके गुरु थे देवर्षि नारदजी । श्रीनारदजी के चरणों की सेवा करने से उन्हें परमार्थ का पूर्ण ज्ञान हो गया था । एक बार वे ब्रह्मसत्र के लिए, भगवद् कथा आदि के लिए बैठे ही थे कि उसी समय उनके पिता स्वायम्भुव मनु ने उनसे कहा कि अब तुम विवाह करो, राज्य का पालन करो एवं राज्य से सम्बन्धित सब कार्य सँभालो । पिताजी की बात सुनकर प्रियव्रत ने कुछ ध्यान नहीं दिया । यद्यपि **तदप्रत्याम्नातव्यं** – पिता की आज्ञा का

उल्लंघन नहीं करना चाहिए, पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना पाप है, अनुचित है किन्तु फिर भी भगवद्भक्ति के लिए अनादि काल से सभी भक्तों ने यही किया है ।

एक बार इसी प्रसंग को लेकर ब्रह्माजी और उनके पुत्र नारद के मध्य कलह हो गया था क्योंकि ब्रह्माजी ने नारदजी को विवाह करने की आज्ञा दी तो उन्होंने विवाह करने से स्पष्ट रूप से मना कर दिया था । सृष्टि के आरम्भ से ही ऐसा होता रहा है । इसीलिए प्रियव्रतजी ने भी अपने पिताजी से कह दिया कि मैं तो विवाह नहीं करूँगा । असतोऽपि पराभवमन्वीक्षमाणः – उन्होंने कहा कि गृहस्थ का चक्कर तो ऐसा है कि इसके जंजाल में पड़कर मनुष्य अपने स्वरूप को भूल जाता है कि मैं कौन हूँ, मनुष्य क्यों बना हूँ, मुझे प्रभु से मिलना है, यह सारी बात वह भूल जाता है । प्रियव्रतजी ने अपने पिता को स्पष्ट मना कर दिया कि मैं राजा बनने और विवाह करने के प्रपंच में फँसना नहीं चाहता ।

ब्रह्माजी को इस बात की बड़ी चिन्ता रहती है कि मेरी सृष्टि कैसे बढ़े । इसलिए वे अपने सत्यलोक से यह सोचकर नीचे उतरे कि प्रियव्रत का विवाह कराना चाहिये, अन्यथा सृष्टि कैसे बढ़ेगी । जब ब्रह्माजी नीचे उतर रहे थे तो ऐसा लग रहा था, मानो चन्द्रमा आकाश से उतर रहा हो । आकाश में जहाँ-तहाँ विमानों पर चढ़े हुए देवताओं ने उनकी पूजा की । ब्रह्माजी अपने वाहन हंस पर बैठकर गन्धमादन पर्वत की घाटी पर पहुँचे, जहाँ नारदजी और प्रियव्रतजी बैठकर परस्पर भगवच्चर्चा कर रहे थे । ब्रह्माजी को देखकर नारदजी, मनु महाराज और प्रियव्रत उठकर खड़े हो गये और सबने उनको हाथ जोड़कर प्रणाम किया ।

श्रीब्रह्माजी ने प्रियव्रत से कहा – **'निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि'** – बेटा ! मैं तुमसे सत्य बात कहता हूँ कि मैं, महादेवजी और अन्य

जितने भी महर्षि हैं, ये सब भगवान् की माया से विवश होकर नाच रहे हैं, जिन भगवान् की इच्छा को कोई जान नहीं पाता । कोई तपस्या कर ले, शास्त्राध्ययन कर ले, कितना ही बड़ा बुद्धिमान हो जाए परन्तु ईश्वर की इच्छा को कोई काट नहीं सकता । भगवान् ही सबको अपनी इच्छानुसार कर्म फल देते हैं, इसीलिए हर व्यक्ति शरीर धारण कर रहा है । हम लोग अपनी इच्छा से शरीर को नहीं चला सकते हैं । कोई वृद्ध व्यक्ति सोचे कि मैं जवान हो जाऊँ तो ऐसा नहीं हो सकता, कभी नहीं हो सकता ।

सुखाय दुःखाय च देहयोग -
मव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते ।

(श्रीभागवतजी - ५/१/१३)

जिस तरह से भगवान् हमारे शरीर को चला रहे हैं, हम लोग वैसे ही नाच रहे हैं ।

सबहि नचावत राम गुंसाई । हम लोग तो इतने दुर्बल जीव हैं कि मल-मूत्र का तीव्र वेग लगने पर उसे भी नहीं रोक सकते । बड़े-बड़े योगी हैं, उनको भी जब कोई गम्भीर रोग हो जाता है, भगवदिच्छा से जब काल आ जाता है तो उनको भी यहाँ से जाना पड़ता है । इसलिए भगवान् के बनाये विधान से सबको नाचना पड़ता है । सारा संसार उनकी वेद रूपी वाणी में बँधकर नाच रहा है ।

अब कोई यह सोचे कि ऐसा कैसे हो सकता है, वेद वाणी तो केवल भारतवर्ष में है । सारा संसार वेद वाणी में कैसे बँधा है ? भारत के बाह्य देश वाले कैसे वेद वाणी में नाच रहे हैं, ऐसी शंका हो सकती है । इसका उत्तर यह है कि वैदिक सभ्यता सबसे प्राचीन सभ्यता है । दुनिया में सभ्यता का प्रारम्भ भारत से, वेदों से हुआ
है । मनु ने कहा है –

एतद् देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति - २/२०)

इस संसार में जहाँ भी सभ्यता फैली है, वह भारत से फैली है । संसार में पति-पत्नी, माता-पिता आदि की जितनी भी परिपाटी है, यह वेद ने चलाई है, चाहे वह किसी भी देश में है । चाहे यवन (मुसलमान) लोग हैं, आंग्ल भाषा वाले अंग्रेज लोग हैं, वे भी पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र आदि के सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं । मानव सभ्यता दुनिया में जितनी भी चली है, वह वेद से चली है । यह दूसरी बात है कि भारत में ही ऐसे कई लोग हैं, जो वेद को नहीं जानते हैं ।

ब्रह्माजी यहाँ कह रहे हैं – यद्वाचि तन्त्यां – जिन भगवान् की वेद वाणी रूपी रस्सी में ही सारा संसार बँधा हुआ है, जैसे किसी पशु की नाक में रस्सी बाँधकर उसे नचाया जाता है, उसी प्रकार सारा संसार भगवान् की वाणी वेद में बँधा हुआ नाच रहाहै । यदि कोई मुक्त भी हो जाये तब भी जब तक प्रारब्ध है, उसे शरीर धारण करना पड़ता है । हर प्राणी विवश है ।

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद् यतः स आस्ते सहषट् सपत्नः ।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम् ॥

(श्रीभागवतजी - ५/१/१७)

यदि तुम विरक्त होकर, साधु बनकर वन में चले जाओ तो वहाँ भी भय है क्योंकि वन में भी तुम्हारे छः वैरी तुम्हारे साथ रहेंगे । ये छः वैरी हैं – काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य । जंगल में भी ये छः वैरी, जो हमें सर्वदा लूट रहे हैं, वे छोड़ेंगे नहीं । ये छः चोर हैं, जो हर समय हमारी चोरी कर रहे हैं । इन डाकुओं से

कोई कैसे बच सकता है ? बाहरी डाकुओं से तुम बच जाओगे, मकान बना लोगे, गुफा में घुस जाओ, बन्दूक रख लोगे, फ़ौज-पुलिस आदि को सुरक्षा में लगा सकते हो किन्तु जो छः डाकू हृदय के भीतर घुसे हैं, इनसे कैसे बचोगे ? इनसे न पुलिस बचा सकती है, न राजा बचा सकता है, न तोप बचा सकती है । इसीलिए ब्रह्माजी कह रहे हैं कि जंगल में चले जाने पर भी इन छः डाकुओं के द्वारा भय है और यदि कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को जीत ले तो उसके लिए गृहस्थाश्रम भी धन्य है । वेद भगवान् ने गृहस्थाश्रम क्यों चलाया है ? विवाह करना, स्त्री को रखना, ये सब इसीलिए चलाये गये हैं कि स्त्री-पुरुष धर्म मर्यादा में बँधकर संयमित जीवन जियें ।

प्राचीन काल में विवाह के समय दूल्हा और दुल्हिन स्वयं मन्त्र बोलते थे । आधुनिक काल में जब दूल्हा-दुल्हिन मन्त्र बोलने योग्य नहीं रहे तो उनकी ओर से पंडितजी मन्त्र बोलते हैं और इसके लिए उन्हें दक्षिणा दी जाती है । पहले तो दूल्हा-दुल्हिन को पंडित लोग मन्त्र का अर्थ समझाते थे, अब तो कोई भी उन्हें मन्त्र का अर्थ भी नहीं समझाता है । दूल्हा-दुल्हिन को यही पता नहीं रहता कि संस्कृत में गाली बोली जा रही है या कुछ और । सब केवल स्वाहा-स्वाहा करते रहते हैं । इसके अलावा उन्हें कोई मतलब नहीं है । दूल्हा-दुल्हिन को मन्त्रों से कोई मतलब नहीं है । वे तो पंडितजी से कहते हैं कि शीघ्र ही पूजा-पाठ, मन्त्रोच्चारण आदि समाप्त करें । आजकल तो बल्कि पंडित जी से पूछा जाता है कि पूजा में कितना समय लगेगा और उसकी क्या दक्षिणा है ? पंडित जी बताते हैं कि आधे घंटे की इतनी दक्षिणा है, एक घंटे की इतनी और डेढ़ घंटे की इतनी दक्षिणा है । प्राचीन काल में विवाह के समय दूल्हा-दुल्हिन स्वयं मन्त्र बोलते थे, उसका भाव यह है कि वर अपनी वधू से कहता है – 'हे देवी ! मैं तुम्हारा पाणिग्रहण

संयम के लिए कर रहा हूँ अर्थात् भोग के लिए नहीं ।' वर-वधू कहते हैं कि हम दोनों यजन करेंगे अर्थात् हम दोनों मिलकर ईश्वर उपासना करेंगे । विवाह इसलिए किया जाता है । आजकल के लोग समझते हैं कि विवाह का मतलब यही है कि अब भोग भोगने के लिए टिकट मिल गया है । ऐसा नहीं है । इसीलिए ब्रह्मा जी कहते हैं –

यः षट् सपत्नान् विजिगीषमाणो
गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम् ।

(श्रीभागवतजी - ५/१/१८)

भोग के लिए गृहस्थ नहीं बनाया गया है । गृहस्थाश्रम का उद्देश्य यही है कि जिसे इन छः शत्रुओं को जीतने की इच्छा है, वह पहले घर में ही रहकर उनका अत्यंत निरोध करते हुए उन्हें वश में करने का प्रयत्न करे । जो विरक्त का लक्ष्य है, वही गृहस्थ का लक्ष्य है । यह दूसरी बात है कि गृहस्थ के लिए यह व्यवस्था है कि असमर्थ अवस्था में पुरुष अपनी धर्म पत्नी के साथ समागम कर सकता है । इसलिए छः शत्रुओं को जीतने के लिए पहले गृहस्थ में रहकर प्रयत्न करना चाहिए, फिर जब इन छः शत्रुओं का बल अत्यन्त क्षीण हो जाए तब विद्वान् पुरुष इच्छानुसार विचर सकता है । गृहस्थाश्रम की यही परिपाटी है ।

जब इस प्रकार ब्रह्माजी ने प्रियव्रतजी को समझाया तो वे तो बड़े ही नम्र थे, भक्त थे, उन्होंने सोचा कि ब्रह्माजी ईश्वर हैं, भगवान् के गुणावतार हैं और स्वयं मेरे पास आये हैं तो

'लघुतयावनतशिरोधरो बाढमिति सबहुमानमुवाह'

(श्रीभागवतजी - ५/१/२०)

उन्होंने ब्रह्माजी की बात सिर झुकाकर मान ली और बोले –

'प्रभो ! जो आपकी आज्ञा ।' इस तरह प्रियव्रतजी ने ब्रह्माजी की बात मानकर गृहस्थाश्रम को स्वीकार कर लिया । अब जो राजा परीक्षित ने शुकदेवजी से पूछा था कि प्रियव्रतजी तो बड़े भक्त थे फिर वे गृहस्थाश्रम के चक्कर में क्यों पड़े तो उसका यह उत्तर है । अपनी इच्छा से गृहस्थाश्रम को उन्होंने स्वीकार नहीं किया था, यह तो ईश्वर की इच्छा थी । अब मनु महाराज ने देखा कि मेरा पुत्र विवाह के लिए तैयार हो गया है तो वे प्रियव्रतजी को राज्य का शासन भार सौंपकर इस संसार से उपराम हो गये । संसार से उपराम होकर वे आदि पुरुष भगवान् के युगल चरणों का ध्यान करने लगे । इधर, प्रियव्रतजी ने विश्वकर्मा की पुत्री बर्हिष्मती से विवाह किया । उससे उनके दस पुत्र हुए और एक कन्या हुई । कन्या का नाम ऊर्जस्वती था । दस पुत्रों के नाम थे – आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र और कवि । यही दस नाम अग्नि के भी हैं । इनमें तीन पुत्र कवि, महावीर और सवन विरक्त हो गये । उन्होंने कहा कि हम विवाह नहीं करेंगे । इन तीनों ने अविरल भक्तियोग के साथ भगवान् का भजन किया । महाराज प्रियव्रत की दूसरी पत्नी से उत्तम, तामस और रैवत नाम के तीन पुत्र हुए । राजा प्रियव्रत ने ग्यारह अरब वर्षों तक राज्य किया । यह प्राचीन काल की बात है, वर्तमान काल में तो दिन पर दिन मनुष्य की आयु घट रही है । हमारे पितामह-प्रपितामह की जो आयु थी, वह हम लोगों की नहीं हो सकती । दिन पर दिन मनुष्य की आयु घट रही है । अपनी भुजाओं के प्रताप से प्रियव्रत जी ने ग्यारह अरब वर्षों तक शासन किया । युद्ध करना तो दूर रहा, जब वे अपने धनुष की डोरी खींचकर टंकार करते थे, उसी समय धर्मद्रोही लोग डरकर छिप जाते थे । राजा का यह कर्त्तव्य है कि अधर्मी लोगों को दण्ड दे तभी तो वह धर्म की स्थापना

और उसका प्रचार कर सकता है । इस प्रकार प्रियव्रत जी ने सारे संसार को जीत लिया । पृथ्वी के जितने भूभाग पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं, वहाँ तक उनका राज्य था । प्रियव्रतजी इतने प्रतापी थे कि उन्होंने यह देखा कि सूर्यदेव जब तक आकाश में रहते हैं तब तक प्रकाश रहता है और उनके अस्त हो जाने पर अंधकार छा जाता है तब उन्होंने यह संकल्प लेकर कि 'मैं रात को भी दिन बना दूँगा' - सूर्य के ही समान वेगवान एक ज्योतिर्मय रथ पर चढ़कर पृथ्वी की परिक्रमा करके दिन को भी रात बना दिया । उनके रथ में ऐसा प्रकाश था कि रात भी दिन बन गयी; यह उनकी उपासना, भगवद्भक्ति का प्रताप था । उनके रथ के पहियों से जो लीकें बनीं, वे ही सात समुद्र हुए, उनसे पृथ्वी में सात द्वीप बन गये । उन द्वीपों के नाम हैं – जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर । ये एक दूसरे से दो गुने बड़े हैं । इनके चारों ओर सात समुद्र हैं । राजा प्रियव्रत ने अपनी कन्या ऊर्जस्वती का विवाह शुक्राचार्यजी के साथ किया, जिससे देवयानी नामक कन्या का जन्म हुआ, जिसका विवाह यदुवंश में हुआ था ।

शुकदेव जी कहते हैं कि प्रियव्रत जी में इतना अतुलनीय पुरुषार्थ भगवान् की चरण रज के प्रभाव से आया । भगवान् की कैसी महिमा है ?

चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत
यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम् ।

(श्रीभागवतजी - ५/१/३५)

भगवान् का एक बार भी नाम लेने से चाण्डाल भी संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है, ऐसी श्रीकृष्ण नाम की महिमा है ।

अन्त में प्रियव्रतजी को देवर्षि नारदजी की कृपा से संसार से वैराग्य हो गया । प्रियव्रतजी सोचने लगे कि यह गृहस्थ क्या है –

अविद्यारचितविषमविषयान्धकूपे – विषम विष का यह एक अन्धा कुआँ है । यह संसार एक जहर का कुआँ है ।

सूरदास जी ने भी कहा है –

यह संसार विषय विष सागर, रहत सदा नित घेरे ।

यह संसार विषय रूपी विष का घोर समुद्र है, जो जीव को सदा चारों ओर से घेरे रहता है । हम लोग चारों ओर से विष से घिरे हैं, विष में ही पड़े हुए हैं । आँख जो कुछ देख रही है, वह विष है । कान जो सुन रहे हैं, वह भी विष है, नाक जो सूँघ रही है, वह विष है क्योंकि सारा संसार विषय रूपी विष का कुआँ है । हम लोग हर समय अपनी इन्द्रियों से विष को ग्रहण कर रहे हैं किन्तु इसे समझ नहीं रहे हैं । संसार का विषय रूपी जहर ऐसा है कि इसको खाकर हम लोग हजारों बार मरे हैं, हजारों बार जिये हैं और फिर भी इसे खाते जा रहे हैं । यही बात प्रियव्रत जी ने कही जब उनको वैराग्य हुआ, वे कहने लगे – 'यह तो बहुत बुरा हुआ । मेरी इन्द्रियों ने मुझे अविद्या रचित इस विषम विष के अन्धकूप में गिरा दिया, इस अन्धकूप में गिरकर मैं स्त्री का क्रीड़ामृग बन गया, मुझे धिक्कार है ।' इस प्रकार उन्होंने स्वयं अपनी निन्दा की । इसके बाद उन्होंने सारी पृथ्वी का अपने पुत्रों में यथायोग्य विभाजन कर दिया और राज्य के शासन से मुक्त होकर वैराग्य धारण कर भगवान् की लीलाओं का चिन्तन करते हुए श्रीनारदजी की पदवी को प्राप्त किया अर्थात् दिन-रात भगवान् के भजन में लग गये ।

महाराज प्रियव्रत के बारे में कहा गया है –

'राजा प्रियव्रत ने जो कर्म किये, उन्हें सर्वशक्तिमान ईश्वर के अतिरिक्त और कौन कर सकता है ? जिनके रथ के पहियों से बनी हुई लीकों से ही सात समुद्र बन गये, सात द्वीप बने, उनके विभाग बने ।

पृथ्वी, पाताल लोक और देवलोक के ऐश्वर्य को उन्होंने नरक के समान समझकर त्याग दिया ।'

अध्याय – २

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – प्रियव्रतजी के पुत्र आग्नीध्र जम्बू द्वीप के राजा बने । वे पितृलोक की कामना से तपस्या करने लगे । ब्रह्माजी ने उनकी अभिलाषा जानकर अपनी सभा की गायिका पूर्वचित्ति नाम की अप्सरा को उनके पास भेजा । उस समय आग्नीध्र मन्दराचल की घाटी में थे, वहीं उनका आश्रम था । उनके आश्रम के पास अत्यन्त रमणीक उपवन था । वह अप्सरा उसी में घूमने लगी । उसकी सुन्दर चाल से उसके आभूषणों और नूपुरों की मधुर झनकार होती थी । उस मधुर झनकार के शब्द सुनकर राजा आग्नीध्र ने अपने नेत्र खोलकर देखा तो उन्हें वह अप्सरा समीप ही दिखाई दी । उसकी वाणी ऐसी थी जैसे मुख से अमृत झर रहा हो । उसके शरीर से कमल की सुगंध आ रही थी, जिसके कारण भँवरे उसके पीछे उड़ रहे थे । उसको देखकर राजा आग्नीध्र मोहित हो गये और बड़ी मधुरता से बोले – 'हे मुनिवर्य ! तुम कौन हो, क्या तुम भगवान् की माया हो ? तुम्हारी भौहें तो ऐसी प्रतीत होती हैं मानो बिना डोरी के धनुष । तुम्हारे कटाक्ष तो बाण हैं । इस वन में तुम इन्हें किस पर प्रयोग करोगे ? ये भँवरे जो तुम्हारे चारों ओर घूम रहे हैं, ये मानो तुम्हारे शिष्य हैं, सामवेद का पाठ कर रहे हैं । तुम्हारे जूड़े से जो पुष्प वर्षा हो रही है, वह ऐसी प्रतीत होती है, मानो ऋषिगण तुम्हारी सेवा कर रहे हों । नूपुर तुम्हारे चरण रूपी पिंजड़े में तीतर पक्षी की तरह बंद हैं, उनकी बड़ी ही सुन्दर ध्वनि हो रही है । तुम्हारी कौंधनी अलातमण्डल की तरह प्रकाशित हो रही है । तुम्हारे वक्षःस्थल में क्या खजाना है, ये बड़े ऊँचे हैं । तुम्हारे मुख की कैसी शोभा है ? यह वायु कैसा है, जो तुम्हारे नींवी

वस्त्र को उड़ा रहा है । तुम्हारा रूप तो तपस्वियों के तप को नष्ट करने वाला है । तुम कुछ दिन मेरे साथ यहीं विराजो । अब मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगा ।'

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – आग्नीध्र की स्त्रियों को मनाने वाली चतुराई से पूर्ण बातों को सुनकर वह अप्सरा प्रसन्न हो गयी । आग्नीध्र ने उसके साथ हजारों वर्षों तक विहार किया । आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति के गर्भ से नौ पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम थे – नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्यमय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल । आग्नीध्र ने जम्बू द्वीप के विभाग करके अपने पुत्रों के नाम वाले नौ वर्ष(भूखण्ड) बनाये और उन्हें एक-एक पुत्र को सौंप दिया । पूर्वचित्ति नौ पुत्र उत्पन्न करके ब्रह्मा जी के लोक में चली गयी । आग्नीध्र के परलोक गमन होने के बाद उनके पुत्र जम्बू द्वीप के राजा बने । नाभि और उनके भाइयों ने मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा और देववीति नाम की नौ कन्याओं से विवाह किया ।

अध्याय – ३

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – राजन् ! राजा नाभि के कोई सन्तान नहीं थी, इसलिए उन्होंने अपनी भार्या मेरुदेवी के साथ पुत्र की कामना से भगवान् यज्ञपुरुष का यजन किया । यद्यपि भगवान् को प्राप्त करना बहुत कठिन है परन्तु वे बड़े ही भक्तवत्सल हैं, अपने भक्तों पर दया करने वाले हैं, अतः उन्होंने दयावश अपना सुन्दर रूप प्रकट कर दिया । भगवान् चतुर्भुज रूप से प्रकट हुए । रेशमी पीताम्बर उनके श्रीअंग में था, भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, पद्म और गले में वनमाला से वे सुशोभित थे । बड़ा सुन्दर उनका मुकुट था, कौंधनी, हार, बाजूबंद, कंकण और नूपुर आदि आभूषणों से वे विभूषित थे । भगवान् के दर्शन पाकर ऋत्विजों ने उनकी स्तुति की । ऋत्विजों ने कहा – 'हे

प्रभो ! आप हमारे दृष्टि पथ पर आये हैं । ऐसा कौन है, जो प्राकृत नाम, रूप एवं आकृति के द्वारा आपके स्वरूप का वर्णन कर सके ।'

भगवान् का दर्शन होने पर उनके रूप का सब लोग थोड़ा-थोड़ा ही वर्णन कर पाते हैं जैसा कि अष्ट छाप के संत नन्ददास जी ने गाया है –

नन्ददास चातक की चोंच पुट,
सब घन कैसे समात ।

भगवान् का रूप अनन्त बादल है, किसी कवि के मुख में भगवान् का सारा रूप कैसे आ सकता है अर्थात् कोई कवि अपने मुख से भगवान् की अनन्त रूप माधुरी का वर्णन कैसे कर सकता है जैसे पपीहा घन(बादल) के जल की थोड़ी ही बूँद को पी सकता है । घन का सारा जल तो वह पी नहीं सकता । इसीलिए नन्ददास जी कहते हैं कि श्यामसुन्दर के रूप का कोई कवि यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता है ।

ऋत्विज लोग भगवान् की स्तुति करते हैं – प्रभो ! आपके भक्त प्रेमपूर्वक सामान्य जल, पल्लव, तुलसी, दूब आदि से ही आपकी पूजा करते हैं तो भी आप प्रसन्न हो जाते हैं । यज्ञ से आपको कोई प्रयोजन नहीं है, फिर भी अपनी कामनाओं की पूर्ति चाहने वाले हम जैसे लोगों के लिए तो यही पर्याप्त साधन है ।

जैसे माँ-बाप दया करके अपने बच्चे के पास बिना बुलाये ही चले जाते हैं, वैसे ही आप अपनी करुणा से ही यहाँ आये हैं । जैसे कोई बिना बुलाये केवल करुणा करके आ जाये, वैसे ही आप हमें हमारी अभीष्ट वस्तु प्रदान करने और मोक्ष देने के लिए आये हैं । आप बड़े ही करुणामय हैं । भगवन् ! इससे बड़ा वर और क्या हो सकता है, जो आप हमारे नेत्रों के सामने प्रकट हो गये । प्रभो ! बड़े-बड़े परमहंस मुनि आपके गुणों का सदा गान किया करते हैं ।

भगवन्नाम कोई कैसी भी अवस्था में ले, गिरते समय, ठोकर खाने, छींकने, जँभाई लेने और संकट आदि के समय कोई भगवन्नाम लेता है तो वह नाम उसका कल्याण ही करता है ।

कृष्ण नाम की कैसी अद्भुत महिमा है । संसार में कोई बीमार हो जाता है तो लोग सबसे पहले उसकी दवा आदि का प्रबन्ध करते हैं । अरे, पहले उसको भगवन्नाम तो सुनाओ, उसके लिए कीर्तन तो करो । लोग तो तुरंत ही डॉक्टर के पास दौड़ पड़ते हैं । हम लोग कितने नासमझ हैं ।

ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव
गुणकृतनामधेयानि वचनगोचराणि भवन्तु ।

(श्रीभागवतजी - ५/३/१२)

बीमारी में और मरते समय पहले भगवन्नाम को ग्रहण करो, नाम सुनाओ । सबसे बड़ी दवाई तो यही है । हम लोग सबसे पहले दवाई के लिए दौड़ते हैं, बड़े ही बहिर्मुखी हैं । ऋत्विज लोग कह रहे हैं कि ज्वर-मरण आदि दशा में पहले हमें आपका नाम सुनाई पड़े, वाणी से नाम उच्चरित हो ।

इस श्लोक में यह कितनी अच्छी बात बताई गयी है, ये हम सब लोगों को गाँठ बाँधकर सीखना चाहिए, जबकि हम लोग समय पर इसे भूल जाते हैं कि ज्वर-मरण की दशा में हम लोग भगवन्नाम ग्रहण करें ।

ऋत्विज लोग भगवान् से कहते हैं – प्रभो ! राजर्षि नाभि को सन्तान की इच्छा है और सन्तान भी आप जैसी चाहिए । जैसे कोई कंगाल आदमी कुबेर के पास पहुँचकर भूसा माँगे, उसी प्रकार ये भी संतान पाने के लिए आपकी आराधना कर रहे हैं ।

कोई गरीब आदमी था, उसके घर में पशुओं के खाने के लिए भूसा नहीं था । एक बार एक महात्मा ने उससे कहा कि तू मुझसे मन्त्र

लेकर इसके द्वारा कुबेर जी की सिद्धि करना । कुबेरजी तुझे दर्शन देंगे, उनसे जो चाहे वही माँग लेना । महात्माजी के कथनानुसार उसने मन्त्र सिद्धि की, कुबेर जी ने दर्शन दिया और बोले – 'वरदान माँग ।' वह गरीब आदमी बोला – 'महाराज ! मेरे पशुओं के लिए भूसा दे दो ।' इसी तरह भगवान् से बेटा-बेटी, धन-सम्पत्ति आदि माँगना वैसा ही है, जैसे दस-पाँच रुपये का भूसा माँगना ।

ऋषि लोग कहते हैं कि भगवान् के सामने आने पर उनसे सन्तान क्या माँगना, भगवान् से तो भगवान् को ही माँगो, उनकी भक्ति माँगो । जिसकी श्रीकृष्ण में आस्था नहीं है, वह इन्हीं तुच्छ चीजों के लिए भटकता रहता है । हाय धन मिल जाये, हाय पुत्र मिल जाये । ये सब क्या है, ये सब भूसे को चाहना है ।

ऋत्विज लोग आगे कहते हैं – भगवन् ! संसार में ऐसा कौन है जो आपकी माया से अपराजित हो, जिसको माया ने पराजित न किया हो । माया ने सबको पटक रखा है । माया से लोग क्यों पराजित होते हैं क्योंकि वे महापुरुषों के चरणों की उपासना नहीं करते हैं । जो लोग भगवद्भक्तों के चरणों के पास पहुँच गये, वे माया को जीत लेते हैं । रामचरितमानस में प्रसंग आता है कि जब कामदेव ने महादेव जी के ऊपर अपना बाण चलाया तो उस समय सृष्टि के चराचर सभी जीव मोहित हो गये । लता-वृक्ष एक दूसरे से लिपटकर काम भाव को प्राप्त हो गये । यहाँ तक कि जो ब्रह्मवादी मुनि सब जगह ब्रह्म का दर्शन करते थे, उन्हें भी सारा संसार नारीमय दिखाई देने लगा किन्तु गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं –

जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महुँ । (रा.बा.का.- ८५)

जिन भक्तों की भगवान् ने रक्षा की, केवल वे ही काम के वेग से बच सके । लोग सोचते हैं कि केवल महादेवजी ही कामदेव से बचे

रहते हैं । ऐसा नहीं है, कितने ही भगवान् के शरणागत भक्त ऐसे हुए हैं, जिन्हें कामदेव बाँध नहीं पाया । कहने का आशय यही है कि जो भगवान् के भक्तों की शरण में पहुँच जाता है, वह माया से पराजित नहीं होता, वह माया के पार चला जाता है ।

ऋत्विज कहते हैं – हे प्रभो ! हम लोगों ने आपको तुच्छ कार्य के लिए बुलाया है, आप हम अज्ञानियों को क्षमा करिए ।

शुकदेवजी कहते हैं कि राजा नाभि के पूज्य ऋत्विजों ने जब भगवान् की इस प्रकार स्तुति की तब उन्होंने कहा – ऋषियो ! आप लोगों का वचन मिथ्या नहीं हो सकता है क्योंकि ब्राह्मण तो मेरा मुख है । मैं राजा नाभि के यहाँ अंश रूप से अवतार लूँगा क्योंकि मुझे अपने समान कोई और नहीं दिखाई देता ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – ऐसा कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये । राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी ने जब यह सुना कि भगवान् मेरे पुत्र बनेंगे तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा । आगे चलकर मेरुदेवी के गर्भ से भगवान् का प्राकट्य हुआ ।

अध्याय – ४

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – राजन् ! राजा नाभि और रानी मेरुदेवी के पुत्र में जन्म से ही भगवान् के लक्षण थे । उनका प्रभाव दिनों-दिन बढ़ता जाता था । सारी प्रजा उनसे बहुत प्रेम करने लगी । उनके चिह्न बहुत अच्छे थे । सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणों के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम रखा – 'ऋषभ' । ऋषभ का अर्थ होता है श्रेष्ठ । एक बार देवराज इन्द्र ने ईर्ष्या के कारण उनके राज्य में वर्षा नहीं की । उन्होंने सोचा कि देखें, ऋषभ क्या करते हैं ? वर्षा के अभाव में प्रजा बहुत दुखी हुई । भगवान् ऋषभ इन्द्र की मूर्खता पर बहुत हँसे और

उन्होने अपनी योगमाया के प्रभाव से खूब जल बरसाया । इन्द्र देखते रह गये ।

ऋषभदेवजी जब छोटे से बालक थे तो वे इतने सुन्दर थे कि इनके पिता राजा नाभि प्रेम से उनका लालन-पालन करते हुए – 'तात ! वत्स !' कहते हुए पुकारते तो प्रेम की अधिकता के कारण उनका गला रुँध जाता था और अपने पुत्र को पुकारते समय उनकी वाणी लड़खड़ाने लगती थी । प्रेम के कारण वे ठीक से वत्स या बेटा भी नहीं कह पाते थे और उनका गला रुक जाता था, इतने प्यारे थे बालक ऋषभ । जब ऋषभ देव बड़े हो गये और प्रजा उनसे बहुत प्रेम करने लगी तो राजा नाभि ने उनका राज्याभिषेक कर दिया और अपनी पत्नी के साथ तप करने के लिए भगवान् नर-नारायण की स्थली विशाला को चले गये । राजा नाभि के बारे में लोग कहते थे – 'अरे, राजा नाभि की होड़ कौन कर सकता है, जिनके शुद्ध कर्मों से प्रसन्न होकर स्वयं भगवान् ही उनके पुत्र बन गये । उनके समान ब्रह्मण्य (ब्राह्मण भक्त) भी कोई नहीं हुआ आज तक, जिनसे सन्तुष्ट होकर ब्राह्मणों ने उन्हें यज्ञशाला में साक्षात् भगवान् के दर्शन करा दिए । इससे अधिक यज्ञ का फल और क्या हो सकता है ?'

भगवान् ऋषभ देव ने अपने देश अजनाभ खण्ड को कर्मभूमि मानकर लोकसंग्रह के लिए कुछ काल तक गुरुकुल में वास किया, वहाँ उन्होंने विद्याध्ययन किया, गुरु की सेवा की । यह सब आचरण उन्होंने भगवान् होकर भी करके दिखाया । भगवान् की तरह गुरु की सेवा कोई नहीं कर पायेगा ।

ऋषभ देव ने गुरुदेव को यथोचित दक्षिणा देकर गृहस्थ में प्रवेश करने के लिए उनकी आज्ञा ली । फिर लोगों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिए उन्होंने देवराज इन्द्र की दी हुई उनकी कन्या जयन्ती से

विवाह किया । ऋषभ भगवान् ने जयन्ती से सौ पुत्र उत्पन्न किये । उनमें सबसे बड़े थे भरत जी, वे गुणों में भी सबसे बड़े थे । उन्हीं के नाम से लोग इस अजनाभ खण्ड को 'भारत वर्ष' कहने लगे । भरतजी से छोटे नौ राजकुमार नौ देशों के राजा बने । उनसे छोटे नौ राजकुमार परम योगेश्वर परम भक्त बने । इनसे छोटे इक्यासी पुत्र अपने पुण्य कर्मों से शुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये थे । नवें स्कन्ध में ऐसी कथा आएगी कि बहुत से क्षत्रिय ब्राह्मण हो गये । कर्म का बहुत महत्त्व है । किसी का जन्म यदि क्षत्रिय वंश में है और उसके कर्म बहुत उत्कृष्ट हैं तो वह ब्राह्मण हो जाता है । ब्राह्मणों से भी ऊँची स्थिति है वैष्णवों की । प्रभु की भक्ति यदि आ जाये तो भक्त कोटि-कोटि ब्राह्मणों से भी ऊपर चला जाता है ।

भगवान् ऋषभ ने धर्म का आचरण करके लोगों को उसकी शिक्षा दी । किस प्रकार शिक्षा दी, मित्रता के साथ उन्होंने शिक्षा दी । किसी को शिक्षा देनी है तो मैत्र भाव से बोलो, पशु की तरह नहीं बोलो । सभी प्राणियों से इस प्रकार करुणा से बोलो कि ऐसा लगे कि माँ अपने बच्चे से लाड़ कर रही है । इस प्रकार हर व्यक्ति से बोलो, ऋषभदेवजी ने अपने आचरण के द्वारा लोगों को यह सिखाया । उन्होंने धर्म आचरण की सभी शिक्षा दी, क्यों दी ? भगवान् स्वयं मीठा बोलकर सिखाते हैं क्योंकि बड़े लोग जैसा आचरण करते हैं, छोटे वही सीखते हैं । घर में छोटा बच्चा होता है, वह आगे चलकर गाली क्यों देता है, लड़ता क्यों है क्योंकि माँ-बाप लड़ते हैं । यदि माता-पिता घर में लड़ाई न करें तो बच्चा कभी नहीं बिगड़ेगा । बच्चे के बिगड़ने का मुख्य कारण केवल माँ-बाप होते हैं । बच्चे के सामने माँ यदि उसका पक्ष करेगी और पिता उसे फटकारेंगे तो बच्चा यही समझेगा कि पिता मेरे साथ अन्याय कर रहा है और इस तरह उसकी श्रद्धा का नाश हो

जाता है । घर में बड़े लोग, माता-पिता आदि व्यवहार करें तो बच्चों पर नजर रखकर करें कि कौन सा आचरण बच्चे के सामने करें या न करें । बच्चों के सामने क्रोध मत करो, बच्चों के सामने जोर से मत बोलो । माता-पिता होकर बच्चों के सामने लड़ो मत, नहीं तो फिर बच्चा यही सीखेगा क्योंकि शास्त्र ऐसा कह रहा है । बड़े लोग जैसा करते हैं, छोटा वही सीखता है । वही बात भगवान् ने भी करके दिखाई । भगवान् ऋषभ ने ब्राह्मणों के दिखाए सन्मार्ग से जनता का शासन किया । उन्होंने सौ यज्ञ भी किये । इनके राज्य में कोई पुरुष सांसारिक वस्तु को नहीं चाहता था । जैसे राजा थे, वैसी ही प्रजा थी । सब लोग भगवान् की सेवा चाहते थे । बाकी चीजें जैसे धन, बेटा-बेटी, मकान, जमीन आदि को आकाश के पुष्प की तरह असत्य समझते थे, जैसे आकाश पुष्प का कोई अस्तित्त्व नहीं है । एक बार ऋषभ देव जी घूमते-घूमते ब्रह्मावर्त देश में पहुँचे । वहाँ बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियों की सभा जुड़ी थी, वहाँ पर ऋषभ देव जी ने बड़ा उत्कृष्ट भाषण दिया ।

अध्याय – ५

ऋषभदेवजी ने कहा –

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये ।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वम्
शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥

(श्रीभागवतजी - ५/५/१)

भगवान् की वाणी में अमृत टपक रहा है । ऐसे ही बोलना चाहिए । कोई राजा हो जाए तब भी ऐसे ही बोलना चाहिए । भगवान् ने कहा – हे मेरे पुत्रो !

भगवान् की वाणी में प्रजा के प्रति वात्सल्य भरा है । ऐसा नहीं कि प्रजा है तो उससे वैर करें । सबको अपना बेटा मानकर भगवान् बोल रहे हैं । महापुरुष की वाणी से ही पता चल जाता है कि यह महापुरुष है । स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका में विश्व धर्म सम्मलेन में भाग लेने गये थे तो वहाँ जितने भी धार्मिक नेता भाषण देने के लिए आते तो सम्बोधन में वे सभी यही कहते –

लेडीज एंड जेंटलमेन (ladies and gentle men) अर्थात् महिलाओं और भद्र पुरुषो !

किन्तु जब स्वामी विवेकानन्द अपना भाषण देने के लिए खड़े हुए तो उन्होंने कहा – माई डियर ब्रदर्स एंड सिस्टर्स (my dear brothers and sisters) मेरे प्यारे भाइयो और बहनो !

इतना सुनते ही उस बड़े हॉल में बहुत देर तक तालियाँ बजती रहीं । सब लोग आपस में कहने लगे कि यह कौन है, फ़रिश्ता है या ईश्वर का कोई दूत है । सभी लोग स्वामी जी की वाणी सुनकर मन्त्र मुग्ध से हो गये । इसलिए सबसे कैसे बोलना चाहिए, यह भगवान् स्वयं अपने आचरण के द्वारा सिखाते हैं । गीता में भी भगवान् कृष्ण अर्जुन को बार-बार मधुर वाणी से कहते हैं – हे महाबाहो ! हे निष्पाप !! हे अनघ !!! कैसे-कैसे शब्द भगवान् ने अर्जुन के लिए प्रयुक्त किये हैं ।

कुछ माता-पिता ऐसे हैं जो अपने बच्चों तक को आदर सूचक शब्द 'जी' लगाकर बोलते हैं । इन आचरणों का प्रभाव पड़ता है, तभी तो बच्चा मधुर व्यवहार करना सीखता है । बच्चा मधुर व्यवहार तभी सीखेगा, जब माता-पिता स्वयं ऐसा करके दिखायेंगे । जब माँ-बाप स्वयं ही आपस में लड़ते रहेंगे तो बच्चा तो अपने आप ही असुर बन जायेगा ।

भगवान् ऋषभ देवजी कहते हैं – 'हे मेरे पुत्रो ! यह मनुष्य शरीर इसलिए नहीं मिला है कि हम लोग दुःखमय भोगों को भोगें । इन

भोगों को तो सुअर भी भोगता है । सुअर मल खाता है । मैथुन में स्त्री-पुरुष एक दूसरे के मल-मूत्र से भरे शरीर को भोगते हैं तो मल-मूत्र ही तो खाते हैं । यदि मनुष्य दिन-रात मल-मूत्र के भोगों को भोगता है तो वह सुअर ही तो है । चाहे कितना ही बढ़िया कोई वस्त्र पहन ले किन्तु उसका लक्ष्य यदि दिन-रात मल-मूत्र का मैथुनी भोग भोगना ही है तो वह मनुष्य वास्तव में सुअर ही है ।

भगवान् कहते हैं कि तुम लोगों को मनुष्य शरीर इसलिए नहीं दिया गया है कि तुम सुअर की तरह भोग भोगो । यह शरीर इसलिए मिला है कि दिव्य तप करो, जिससे तुम्हारा अन्तःकरण स्वच्छ हो जाए और फिर भगवत्प्रेम की प्राप्ति हो । भगवत्प्रेम कैसे मिलेगा ? इसके लिए पहला काम तो यह है कि महत्सेवा करो, महापुरुषों के पास जाओ ।

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥

(श्रीभागवतजी - ५/५/२)

महापुरुषों से दूर नहीं भागो । उनकी सेवा करो । स्त्री नरक का द्वार है क्योंकि बड़ी जल्दी उसमें आसक्ति हो जाती है । स्त्री के लिए पुरुष अपने माता-पिता को ऐसे छोड़ देता है मानो तिनका हों । स्त्रियों के संगियों का भी संग छोड़ो ।

अब प्रश्न यह है कि महात्मा कौन हैं ? लाल कपड़ा वाले या सफ़ेद कपड़े वाले क्योंकि महात्मा भी तो कई प्रकार के हैं । महात्मा का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि वे समान चित्त के होते हैं तथा शांत रहते हैं और जिनको क्रोध नहीं आता है । इसीलिए तो वे महात्मा हैं । महात्मा बनकर कोई लड़े तो किस बात का महात्मा है । ऋषभदेवजी लक्षण बता रहे हैं कि महात्मा सबके सुहृद होते हैं तथा

मुझमें और मेरे भक्तों में सौहार्द रखते हैं । महात्मा से मतलब यहाँ किसी वेषधारी से नहीं है, गृहस्थ में भी मनुष्य महात्मा हो सकता है, यदि वह आसक्ति नहीं रखता है ।

भगवान् ऋषभ आगे कहते हैं कि संसार के लोग मस्त हो रहे हैं, मतवाले हो रहे हैं क्योंकि **'इन्द्रियप्रीतय आपृणोति'** – ये दिन-रात अपनी इन्द्रियों की प्रीति में लगे रहते हैं । सबेरे से शाम तक अपने घरों में लोग इन्द्रिय भोग की ही तैयारी करते रहते हैं । सबेरे से उठकर लोग चाय-नाश्ता करते हैं । सोकर उठते हैं तो बिस्तर पर ही चाय पीने लगते हैं, फिर कई तरह का नमकीन बनता है, दोपहर के भोजन में चार तरह के साग, चटनी और दालें बनायी जाती हैं, फिर शाम को लोग चाय पीते हैं । रात को फिर से भोजन के लिए तरह-तरह के व्यंजन बनाते हैं । इस तरह सबेरे से रात तक लोग अपने पेट का गड्ढा भरने में ही लगे रहते हैं और यह गड्ढा कभी भरता नहीं है, सदा खाली ही बना रहता है । आजकल लोग दिन भर टेलीविजन देखते रहते हैं । ऐसी-ऐसी विनाश की चीजें बन गयी हैं कि मनुष्य भजन कैसे करेगा ? बड़े-बड़े भक्तों के घरों में भी टेलीविजन आ गया है, दिन-रात उनके बच्चे उसी को देखने में लगे रहते हैं । दुनिया में इन्द्रिय प्रीति के लिए, विनाश के लिए ही प्रतिदिन नये-नये आविष्कार किये जा रहे हैं । प्राचीन काल में लोग दिन-रात भगवान् की आराधना इसलिए कर लेते थे क्योंकि तब इन्द्रिय भोग के लिए विनाशकारी चीजों का निर्माण नहीं किया जाता था । अब आजकल के लोग पतनकारी चीजों के कारण भजन कैसे कर पायेंगे ?

ऋषभ भगवान् बोले – **'न साधु मन्ये'** – मनुष्य इन्द्रिय प्रीति के लिए जो कार्य करता है, उसे मैं ठीक नहीं समझता हूँ क्योंकि इन चीजों को भोगने से शरीर क्लेशद बन जाता है और मृत्यु के बाद भी अगले जन्मों में उसे कष्टदायक योनियाँ प्राप्त होती हैं । जब तक मनुष्य

आत्मतत्त्व की जिज्ञासा नहीं करता है तब तक उसका मन उसे कर्मों में फँसा-फँसा कर मार डालता है । यह मन मनुष्य को नचाता ही रहता है । जब तक मुझ वासुदेव में प्रेम नहीं होगा तब तक वह देह बन्धन से छूट नहीं सकता है । इन्द्रियों की जितनी भी चेष्टायें हैं, इन्हें बेकार समझो । कोई कहे कि हम बड़े भक्त हैं और दिन-रात वह इन्द्रिय चेष्टाओं में लगा है तो यह गलत बात है, वह भक्त नहीं है । **'यदा न पश्यत्ययथा गुणेहाम्'** – 'गुणेहा' अर्थात् इन्द्रिय चेष्टाओं को बिलकुल अयथा (बेकार) समझना चाहिये । इन्द्रिय तृप्ति के कारण ही मैथुन भाव को प्राप्त होकर सारे जीवन मूर्ख मनुष्य आत्मस्वरूप को भूला रहता है । जीव कितना स्वतन्त्र है किन्तु एक स्त्री के बन्धन के कारण (शहरों में) एक ही कोठरी में सारा जीवन बिता देता है, जैसे एक चूहा चुहिया की आसक्ति के कारण सारा जीवन एक छोटे से बिल में बिता देता है । स्त्री ऐसी शक्ति है कि उसके कारण पुरुष का सारा जीवन एक ही कोठरी में बीत जाता है, केवल उतने ही क्षेत्र को अपना मानकर । यह मिथुनी भाव हृदय की बहुत बड़ी गाँठ है । स्त्री के लिए पुरुष, पुरुष के लिए स्त्री, दोनों ही एक दूसरे के बन्धन के कारण हैं । यहाँ स्त्री शरीर की निन्दा नहीं की गयी है, पुरुष शरीर की निन्दा नहीं है । ऋषभ भगवान् कहते हैं कि इन दोनों का जो मिथुन भाव है, मैथुनी आसक्ति है, वह इनके लिए बन्धन का कारण है, अन्यथा स्त्री तो देवी है किन्तु

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतम्
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः ।

(श्रीभागवतजी - ५/५/८)

स्त्री के लिए पुरुष और पुरुष के लिए स्त्री – इन दोनों की जो परस्पर मैथुनी आसक्ति है, यह उनके हृदय की सबसे बड़ी गाँठ

है । यदि कोई पुरुष इस गाँठ से छूटना चाहता है तो स्त्री छूटने नहीं देती । कितने ही पुरुष जो महापुरुषों के सत्संग के प्रभाव से उनके आश्रय में भक्तिमय जीवन बिता रहे थे, उनकी पत्नियाँ उन्हें वापस घर में ले गयीं, उनका सत्संग सदा के लिए छुड़ा दिया । इसी प्रकार यदि कोई स्त्री चाहती है कि मैं सदा श्रीकृष्ण स्मरण करूँ तो उसका पति साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति अपनाकर उसे भक्ति से दूर कर देता है । इस तरह दोनों ही एक दूसरे के लिए बन्धन की गांठ हैं । इसीलिए मनुष्य दिन-रात अयमहं ममेति - मैं-मेरापन के भाव से ग्रसित रहता है और इसे समझ नहीं पाता है । पुरुष सोचता है कि मैं तो धर्म कर रहा हूँ, अपने स्त्री-पुत्र का पालन कर रहा हूँ जबकि यह धोखा है । हम लोग आसक्ति के वशीभूत होकर अपने परिवार का पालन करते हैं । आसक्ति रहित कर्म एक अलग बात है । अपनी आसक्ति को मनुष्य समझ नहीं पाता है । यदि अपने परिवार का पालन भी करते हो तो आसक्ति रहित होकर करो किन्तु मनुष्य की आसक्ति नहीं छूटती है । मनुष्य अपनी आसक्ति के बारे में सोचता है कि हम धर्म कर रहे हैं । अपनी कमी को समझना चाहिये । यदि स्त्री-पुत्र का पालन भी करते हो तो उन्हें ईश्वर रूप समझकर पालन करो, इससे तुम्हारी मिथुनी भाव की आसक्ति चली जाएगी । हर व्यक्ति अपनी आसक्ति को धर्म समझे बैठा है और इसी धोखे में अपने को ऊँचा समझता है जबकि वह बन्धन में पड़ा हुआ है । मिथुनी भाव की हृदय में जो गाँठ पड़ गयी है, उसी के कारण घर, खेत, पुत्र, धन और स्वजन आदि को मनुष्य अपना समझता है, उनके प्रति मेरेपन का भाव हो जाता है । मेरापन हो जाने के कारण बेटा बीमार हो जाये तो रोता है, बेटे की नौकरी लग जाये तो प्रसन्न होता है । इस सम्बन्ध में सूरदास जी ने बड़ा सुन्दर भाव गाया है –

जगत में जीवत ही को नातो ।
मैं मेरी कबहुँ नहिं कीजै,
कीजै भक्त सुहातो ।

यदि कोई कहे कि मैं तो गृहस्थ हूँ, अतः अपने परिवार का जो पालन कर रहा हूँ, वह तो धर्म है, मैं तो धर्म के अनुसार ठीक ही कर रहा हूँ । उन्हें भगवत्स्वरूप समझकर उनका पालन कर रहा हूँ तो सूरदास जी कहते हैं कि यह तुम्हारी बातें ही बातें हैं । तुम अपने परिवार को भगवत्स्वरूप नहीं समझ रहे हो क्योंकि सूरदास जी आगे कहते हैं –

'सुख सीरो दुःख तातो'

तुमको सुख तो ठण्डा लगता है और दुःख गरम लगता है तब फिर तुम भक्त कहाँ हो ? भक्त होते तो तुमको सुख और दुःख समान लगते, इसलिए तुम धोखे में पड़े हुए हो, सोचते हो कि मैं धर्म कर रहा हूँ, धर्म नहीं कर रहे, तुम तो अपनी आसक्ति का पोषण कर रहे हो ।

सूरदास कछु थिर न रहैगो,
जो आयो सो जातो ।

सूरदासजी कहते हैं कि जो चीज आई है, वह तो चली जाएगी । तुम कौन से धोखे में हो, अपनी करनी को समझो । अपने में विचार करो कि तुम्हारे अन्दर कितनी कमी है । यदि तुम सबको भगवत्स्वरूप समझते तो दुःख में रोते और सुख में हँसते नहीं ।

इसीलिए भगवान् ऋषभ देव जी कहते हैं कि मनुष्य के अन्दर मिथुनी भाव की ग्रन्थि पड़ जाने के कारण वह मैं-मेरा करता रहता है । जब उसके हृदय की यह गाँठ ढीली पड़ेगी तब मनुष्य मुक्त होगा । जब तक यह गाँठ पड़ी हुई है, मनुष्य मुक्त नहीं हो सकता चाहे

वह साधु बने, विरक्त बने अथवा कुछ भी बन जाये । अब प्रश्न यह उठता है कि यह गाँठ ढीली कैसे पड़ेगी ? मिथुनी भाव की जो यह गाँठ है कि यह मेरी पत्नी है, मेरा बेटा है, मेरा मकान, धन आदि है तो इसको दूर करने का उपाय ऋषभ भगवान् बताते हैं कि गुरु का भक्तिपूर्वक अनुगमन किया जाये । अब ऐसा नहीं समझना चाहिये कि किसी साधु से कंठी ले आये और गुरु बना लिया, नहीं । वस्तुतः गुरु में ऐसी योग्यता होनी चाहिए कि उसके अन्दर आसक्ति को छुड़ाने की शक्ति हो और जो स्वयं भी आसक्ति से छूटा हुआ हो । गुरु यदि स्वयं ही आशा कर रहा है कि मेरा शिष्य आएगा तो कुछ धन भेंट करेगा तो वह तुम्हारी आसक्ति क्या छुड़ाएगा ? इसलिए ऋषभ देव जी कह रहे हैं कि केवल ऐसा नहीं करना कि कहीं से गुरु दीक्षा ले आये बल्कि भक्तिपूर्वक गुरु का अनुगमन करो, उनका संग करके दिन-रात उनकी सेवा करो तब उनके निःसंग आचरण को देखकर तुम स्वयं समझ जाओगे कि हमारे गुरुदेव तो पैसा-धेला की परवाह नहीं करते हैं । कोई कितना भी हीरा-मोती दे जाये, उन्हें उससे कोई मतलब नहीं है तो यह देखकर शिष्य को स्वयं एक शिक्षा मिलेगी और यदि गुरु बनकर कोई बहुत ऊँचा भाषण करता है किन्तु भीतर जाकर कहता है कि आज कथा में थोड़ा पैसा चढ़ा या ज्यादा पैसा चढ़ा तो देखने वाला क्या सोचेगा किन्तु यदि गुरुदेव निःसंग हैं तो शिष्य बिना किसी उपदेश के ही निःसंग बन जायेगा । इसलिए ऐसे गुरु का भक्ति सहित दिन-रात अनुगमन करना चाहिये । ऐसा नहीं कि साल में एक बार दण्डवत कर आये । उनका सतत् अनुगमन करना चाहिये, जैसे मनुष्य भगवान् की सेवा नित्य करता है, वैसे ही सद्गुरु की सेवा भी नित्य करना चाहिये, नित्य न कर सके फिर भी यथाशक्ति करनी चाहिए । गुरु और भगवान् को शास्त्र में एक समान स्थिति पर रखा गया है । वेदों में भी कहा गया है – यथा देवे तथा गुरौ । जैसे भगवान् की सेवा करे, उसी प्रकार गुरु की सेवा भी वितृष्ण होकर करे । द्वन्द्व,

सुख-दुःख, क्रोध आदि को सहो, ऐसा नहीं कि कुत्ता-बिल्ली की तरह लड़ने लगे, कठोर बोलने लगे । गाँठ को यदि सच में छुड़ाना है तो द्वन्द्व को सहो और यदि गाँठ को बाँधे-बाँधे ही भवसागर में मरना है तो मत छुड़ाओ परन्तु द्वन्द्व को छोड़ना होगा । ऐसा विचार करो कि सब जगह दुःख है, चाहे स्त्री है, चाहे पुत्र है । परिवार के मूढ़ संसारी लोग जो सिखाते हैं कि बेटा-बेटी चाहिये, पैसा चाहिये । दादी कहती है – 'हाय-हाय, अभी लड़के की नौकरी नहीं लगी, लड़के का विवाह हो गया किन्तु इसके बेटा-बेटी नहीं हुए ।' इन मूर्खों की बात को मत सुनो । भगवान् कह रहे हैं कि यह विचार करो – सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या - सर्वत्र दुःख ही दुःख है, इन मूर्खों की बातें मत सुनो, चाहे वे तुम्हारे परिवार के ही हैं । ये संसारी लोग तो सिखायेंगे कि संसार में सुख है । ऋषभ भगवान् कह रहे हैं कि तुमको यह सीखना है कि सारा संसार दुःखमय है । सुख है तो केवल श्रीकृष्ण में है, बाकी सब जगह दुःख है । यह धारणा अपने मन में बिठा लो । भगवान् आगे कहते हैं –

मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यम्
मद्देवसङ्गाद् गुणकीर्तनान्मे ।

(श्रीभागवतजी - ५/५/११)

नित्य मेरी कथा सुनो, ऐसा नहीं कि वर्ष में एक बार कथा सुन आये । नित्य ही मेरे गुणों का कीर्तन करो । मन्दिरों में जैसे कभी महीने में एक बार या सप्ताह में एक बार कीर्तन होता है, ऐसा नहीं, भगवान् कह रहे हैं कि नित्य ही मेरे गुणों का कीर्तन करो जैसे भगवान् बड़े दयालु हैं तो इस प्रकार कीर्तन करो –

गोविन्द हरे गोपाल हरे,
जय जय प्रभु दीनदयाल हरे ।
घनश्याम हरे नन्दलाल हरे,

जय जय यशोदा के लाल हरे ।
ब्रजराज हरे ब्रजनाथ हरे,
जय जय राधा के नाथ हरे ।

दीनदयाल – यह गुण कीर्तन है । यह प्रभु का गुण है । प्रभु दया करते हैं । इसलिए ऋषभ भगवान् कह रहे हैं कि नित्य ही मेरे गुणों का कीर्तन करो । नाम कीर्तन , गुण कीर्तन तो प्रतिदिन करना चाहिए । ऐसा नहीं कि महीने में एक बार या सप्ताह में एक बार किया । सबसे निर्वैर भाव रखो, पुत्रा - हे मेरे पुत्रो ! (भगवान् बार-बार 'मेरे पुत्रो' कह रहे हैं), साथ ही सच्छ्रद्धा अर्थात् सुन्दर श्रद्धा, बड़ी ऊँची श्रद्धा रखो ।

उदाहरण के लिए, बहुत-से लोग छोटी-छोटी बातों में टोकते हैं – 'पीपल में जल क्यों चढ़ा रहे हो, इस पेड़ को क्यों प्रणाम करते हो ?' अरे, सारी सृष्टि ही प्रभु है । पेड़ भी प्रभु, मिट्टी भी प्रभु, जल भी प्रभु है । पुराने समय में बरसाने में श्रीजी मन्दिर के एक गोस्वामी जी थे, वह बरसाने की परिक्रमा करते तो गह्वर वन को पञ्चांग दण्डवत करते, मोर कुटी को पञ्चांग दण्डवत करते, फिर मानगढ़ को पञ्चांग दण्डवत करते, गह्वरवन के राधासरोवर को पञ्चांग दण्डवत करते थे । इस तरह वह अनेक स्थलों पर दण्डवत करते थे । उनकी श्रद्धा कितनी कोमल थी और आजकल का मानव छोटी-छोटी बातों पर तर्क करता है कि अनेक स्थानों पर प्रणाम करने से क्या लाभ है ? नहीं, इसे ही सच्छ्रद्धा – सच्ची श्रद्धा कहते हैं । ब्रह्मचर्य का पालन करो । किन्तु भगवान् एक और विचित्र भाव कह रहे हैं –

'सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन' (श्रीभागवतजी - ५/५/१३) सब प्राणियों में मेरा भाव करो । हर व्यक्ति को देखकर यह सोचो कि यह प्रभु है । उसके बाहरी रूप को मत देखो कि उसने लाल कपड़ा पहना है कि

सफेद शॉल ओढ़ी है, उसके भीतर जो प्रभु है उसे देखो; इसे कहते हैं 'ईश्वरानुसन्धान' । हम लोग क्या करते हैं, हम लोगों की यही दृष्टि रहती है कि यह लड़की है, यह लड़का है, यह मोटा आदमी है, यह दिल्ली से आया है, यह बरेली से आया है, ये ब्राह्मण है, ये ठाकुर है, ये गरीब है, ये हवेली वाला है – बस हम लोग यही सब दृष्टि में रखते हैं जबकि भगवान् कह रहे हैं कि इस दृष्टि के आगे हर समय यह सोचो कि अमुक व्यक्ति के भीतर वही कन्हैया खेल रहा है । जब तुम किसी व्यक्ति से यह सोचकर बात करोगे कि इसके अन्दर कृष्ण हैं तो इस साधन का, इस आनन्द का कोई वर्णन नहीं कर सकता है । फिर तुमको मान और अपमान नहीं व्यापेंगे । कोई तुमको यदि गाली भी देगा तो हँसते रहोगे और कहोगे – 'अच्छा प्यारे, दिए जा गाली ।' उसमें तुम्हें आनन्द मिलेगा । किन्तु यह बात कितनी कठिन है, इसे समझो, यह सर्वोच्च साधन है । इन बातों को हर समय करो । सत्संग में यही बात होनी चाहिए । इन बातों को हम लोग जीवन में एक-दो मिनट के लिए सुनते हैं और घर में संसारी बातें ही करते हैं – 'उसके लड़के ने ऐसा कहा । चाची, तू वहाँ विवाह में आ जाना । ऐसा हो रहा है, वैसा हो रहा है ।' इस तरह हर समय जो हम लोग व्यवहार की बातें सुनते रहते हैं तो ये सारी लोक व्यवहार की बातें हमें ईश्वरानुसन्धान से अलग करके स्थूल, बाहरी अनुसन्धान की ओर ले जाती हैं । सब लोक व्यवहार बाधक है । इसलिए भगवान् कह रहे हैं – सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन - सब जगह मेरा ही भाव लाने का अभ्यास करो । घर में छोटा बच्चा है तो उसे नौकर मत समझो, उसे भी कृष्ण समझो । घर में तुमसे कोई राग-द्वेष कर रहा है, चाहे वह भाई है, बहन है, सौत है, सौतेला लड़का है, कोई भी है तो उसको इन रूपों में न देखकर उसे कृष्ण समझो, राधा – माधव समझो । लाखों

जन्मों के अभ्यास के बाद ये भाव आता है । कथा में यदि हम इस तरह की बात सुन रहे हों और कोई छोटा बच्चा लघुशंका कर दे तो हमारा सारा ईश्वरानुसन्धान चला जायेगा । यह कितनी कठिन बात है । इसलिए भगवान् कह रहे हैं – **'सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन'** – सर्वत्र मेरा ही भाव करो । ज्ञान और विज्ञान को प्राप्त करो । क्रियात्मक चीज विज्ञान है । धैर्य, उद्यम और सत्त्व से युक्त होकर चलो । ये सब साधन जो भगवान् बता रहे हैं, इनको करने से मनुष्य लिंग शरीर को काट डालेगा । अहं की गाँठ जो लिंग शरीर है, जिसको ब्रह्मा भी नहीं काट सकते हैं । ब्रह्मा और इन्द्र के पास भी यही लिंग शरीर है, जो हम लोगों के पास है । लिंग शरीर नहीं बदलता है । भगवान् कह रहे हैं कि जो साधन मैंने बताया है, उसके द्वारा इस लिंग शरीर को काटो । यह हृदय की गाँठ अविद्या से प्राप्त करायी गयी है ।

इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञान् न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान् ।
कं योजयन्मनुजोऽर्थं लभेत निपातयन्नष्टदृशं हि गर्ते ॥

(श्रीभागवतजी - ५/५/१५)

भगवान् ऋषभ कहते हैं कि यदि कोई पिता है तो अपने पुत्रों को संसार में क्यों फँसाता है ? जो अपने पुत्रों को संसार में फँसाता है, वह पिता नहीं है । गुरु शिष्य को सिखाता है कि आश्रम के खर्चे के लिए कहीं से पैसा दान माँगकर लाओ । यदि गुरु ऐसा करता है तो वह गुरु नहीं है । राजा होकर जो अपनी प्रजा को भगवद्भक्ति नहीं सिखाता है, वह राजा नहीं है । जो मेरी कृपा को पाना चाहता है तो पिता अपने पुत्रों को, राजा अपनी प्रजा को, गुरु अपने शिष्यों को कर्मों में न लगाये । पहला प्रयास यही करे कि ये लोग निष्कर्म होकर भगवान् को प्राप्त हो जाएँ । सच्चे माता-पिता ही अपनी सन्तान को ऐसी शिक्षा देते हैं किन्तु ऐसे लोग दुनिया में दिखाई नहीं देते क्योंकि ये लोग

संसार में स्वयं ही मर रहे हैं । पिता बनकर अपने पुत्रों को संसार के गड्ढे में फेंक रहे हैं । ऐसा कौन विद्वान् होगा जो इन बेचारों को संसार की इस चक्की में पिसायेगा । वह पिता नहीं, वह तो गधा ही है ।

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या -
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥

(श्रीभागवतजी - ५/५/१८)

जो गुरु शिष्य को भगवान् के भजन से हटाकर अपने स्वार्थ में उसे लगाता है, वह गुरु नहीं है । अधिकतर गुरु अपने शिष्य से कहते हैं कि आश्रम के लिए किसी धनी आदमी को चेताकर पैसा ले आओ । भगवान् कहते हैं कि ऐसा गुरु गुरु नहीं है, स्वजन – चाचा, ताऊ आदि स्वजन नहीं हैं क्योंकि ये भक्ति का मार्ग नहीं बताते हैं । जो पिता अपनी संतान को संसार में फँसाता है, वह पिता नहीं है, वह तो हिरण्यकशिपु है । हर माँ चाहती है कि जल्दी से मेरे पुत्र का विवाह हो जाये, उसके बच्चे को मैं गोद में लाड़-प्यार करूँ । किन्तु ऐसी माँ माँ नहीं है । ऐसे संसारी लोग तो नारकीय हैं । ये नरक को ही चाहते हैं ।

वह 'दैव' दैव नहीं है, 'पति' पति नहीं है । हर पति सोचता है कि मैं अपनी पत्नी का स्वामी, उसका भगवान् हूँ । मैं पति देवता हूँ । किन्तु ऐसा पति पति नहीं हो सकता ।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने मीराजी को एक पत्र में लिखा था –

जाके प्रिय न राम बैदेही ।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम,
जद्यपि परम सनेही ॥

जिसको भगवान् प्यारे नहीं है, उसे तो करोड़ों बैरी के समान समझकर छोड़ देना चाहिए ।

तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषण,
बन्धु भरत महतारी ।

प्रह्लाद ने अपने पिता को छोड़ दिया, विभीषण ने अपने बड़े भाई को छोड़ दिया, भरत जी ने अपनी माँ को छोड़ दिया ।

बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रजबनितन्हि,
भये मुद मंगलकारी ॥

राजा बलि ने अपने गुरु का त्याग कर दिया । ब्रजगोपियों ने अपने पतियों का त्याग कर दिया । क्या उनका कोई अमंगल हुआ तो गोस्वामी जी कहते हैं कि इन सबका मंगल हुआ ।

तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में तो लिखा है कि छोड़ने की क्या चलाई, जो भगवान् से अलग करे, उसमें आग लगा दो ।
भरतजी कहते हैं –

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ ॥

वह सम्पत्ति, सुख, मकान, स्वजन, माता-पिता और भाई-बंधु जल जाएँ, जो रामजी के सम्मुख होने में सहायक नहीं होते हैं ।

महापुरुषों ने ऐसी बात कोई बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कही है, यह सच्ची बात है । महापुरुषों की ऐसी बातों को हम लोग समझ नहीं पाते हैं किन्तु उनकी बातें बिलकुल सत्य हैं, चाहे हम समझें अथवा न समझें । जिसके अन्दर कृष्ण की लगन लगी है, वह तो समझ जायेगा और जो मायावी है, माया में फँसा हुआ है, वह नहीं समझ पायेगा । उसे चाहे भागवत की कथा सुनाओ, चाहे रामायण सुनाओ अथवा सूर, तुलसी, मीरा आदि महापुरुषों की वाणी सुनाओ, जिसके अन्दर

लगन नहीं है, वह तो इन बातों को अतिश्योक्ति ही समझेगा, इनमें श्रद्धा ही नहीं करेगा ।

ऋषभदेव जी ने कहा – सत्पुरुष मुझे 'ऋषभ' कहते हैं क्योंकि मैंने अधर्म को बहुत पीछे ढकेल दिया है । समस्त जड़ योनियों से वृक्ष श्रेष्ठ हैं, उनसे श्रेष्ठ सर्पादि हैं, उनसे श्रेष्ठ हैं चार पाँवों वाले पशु, उनसे श्रेष्ठ हैं मनुष्य, उनसे श्रेष्ठ हैं प्रमथगण, प्रमथों से गन्धर्व, गन्धर्वों से सिद्ध, सिद्धों से किन्नरादि, उनसे असुर, असुरों से देवता, देवताओं से इन्द्र, इन्द्र से दक्ष, उनसे श्रेष्ठ महादेवजी फिर ब्रह्मा जी । ब्रह्माजी मेरी उपासना करते हैं और मैं ब्राह्मणों की उपासना करता हूँ । इसलिए ब्राह्मणों के समान कोई नहीं है । ब्राह्मणों को जो भोजन कराता है, उस भोजन को मैं जैसी प्रसन्नता से ग्रहण करता हूँ, उस प्रकार अग्निहोत्र में होम की हुई सामग्री को स्वीकार नहीं करता ।

मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मात् स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित् ।
येषां किमु स्यादितरेण तेषामकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥

(श्रीभागवतजी - ५/५/२५)

ऋषभ भगवान कहते हैं कि भक्त तो वही है, जो मुझसे भी कुछ नहीं चाहता । मैं तो उसके पीछे सामान की पोटली बाँधकर घूमता हूँ कि यह स्वर्ग की पोटली है, यह सोने की पोटली है, यह मोक्ष की पोटली है जो चाहे ले ले । जैसे माता अपने छोटे से बालक के पीछे दौड़ती है और कहती है – 'बेटा ! कुछ खा ले, दूध पी जा । बाहर धूप में खेलते-खेलते थक गया है ।' किन्तु बच्चा मना कर देता है, कुछ नहीं खाता क्योंकि उसे खेलने की इच्छा है । वैसे ही भगवान् अपने भक्त के पीछे वरदान की पोटली लेकर घूमते हैं कि भक्त कुछ ले ले किन्तु भक्त मना कर देता है और कहता है कि नहीं, मुझे तो कीर्तन करना है, सेवा करना है । ये सब चीजें लेकर मैं क्या करूंगा ? भगवान्

कहते हैं कि जो अकिंचन है, वही वास्तव में मेरा भक्त है, बाकी सब तो व्यापारी हैं ।

सर्वाणि मद्विष्ण्यतया भवद्भिश्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि ।
सम्भावितव्यानि पदे पदे वो विविक्तदृग्भिस्तदुहार्हणं मे ॥

(श्रीभागवतजी - ५/५/२६)

भगवान् बोले – जितने भी चराचर जीव हैं, पेड़, पत्थर, गाय, बकरी आदि - इन सबको मेरा मन्दिर समझो । मद्विष्ण्यतया माने मेरे रहने का स्थान समझो । गधा है तो उसको भी भगवत्स्वरूप समझकर प्रणाम करो । इसमें हँसी की बात नहीं है । सब जगह ईश्वर को देखो । कुछ ऐसा विधि-विधान बनाओ कि हर समय तुम्हें ये बात ध्यान रहे । कोई भी घर में आये तो यही समझो कि प्रभु आये हैं, चाहे वह तुम्हारा शत्रु ही क्यों न हो । भगवान् कहते हैं कि यदि तुम ऐसा करते हो तो वह मेरी सबसे बड़ी पूजा है । घंटी हिलाना मेरी पूजा नहीं है । सबसे बड़ी पूजा यही है कि हर समय यह याद रखो कि हर प्राणी प्रभु का मन्दिर है । इससे ऊँचा कोई भजन, कोई साधन नहीं है । हर व्यक्ति हर जगह यही सोचे कि सब कृष्ण हैं ।

शुकदेवजी कहते हैं – इस प्रकार अपनी प्रजा और पुत्रों को उपदेश देने के बाद ऋषभ देव जी की लीला बिलकुल बदल जाती है । अभी तक तो उन्होंने एक योग्य राजा की तरह, आदर्श पिता की तरह आचरण किया और उपदेश दिया कि सच्चा पिता वही है, जो अपनी सन्तान को कृष्ण भक्ति में लगाये । अब तक उन्होंने यह सिखाया कि गृहस्थ बनो तो मेरी तरह बनो । भगवान् ने गृहस्थ लीला इसीलिए करके दिखाई कि पिता बनो तो मेरी तरह बनो, राजा बनो तो मेरी तरह बनो, जिससे कि सबको श्रीकृष्ण चरणों में लगाओ । अब इसके बाद भगवान् ने परमहंस मुनियों की तरह विरक्त होकर परमहंसोचित धर्म की अपने आचरण द्वारा शिक्षा दी – **पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः ।**

ऋषभदेव जी ने अपने सबसे बड़े पुत्र भरत को तो राजा बना दिया और घर छोड़कर पूरी तरह विरक्त हो गये । विरक्त भी इस प्रकार हुए कि कौपीन भी नहीं धारण की, पूरी तरह नग्न हो गये । विरक्त होकर फिर धन का और वस्त्रों का संग्रह करे तो वह विरक्त कैसा ? कबीरदास जी ने कहा है –

यारों कोई सफा न देखा मन का ।
लपलप बातें फकफक कपड़े, बड़ा गरूर जहन का ॥

किसी ने कहा कि ये महात्मा जी हैं, कैसे हैं, लपलप बातें बनाते हैं और फकफक कपड़े पहनते हैं । मन में बड़ा गर्व है । कबीरदास जी कहते हैं कि यह कोई विरक्त का स्वरूप नहीं है ।

भगवान् ऋषभ तो विरक्त होकर पूर्णतया नग्न हो गये कि आकाश ही मेरा वस्त्र है । इस तरह भगवान् अपनी राजधानी से निकल पड़े । जड़, अंधे, बहरे, गूँगे, पिशाच और पागलों की सी वे चेष्टा करते थे । कोई उनसे बोलता तब भी वे नहीं बोलते थे । इस तरह वे अवधूत बने सारे देश में घूमने लगे । कभी नगरों, गाँवों में चले जाते तो कभी वनों में, नदियों के किनारे चले जाते । मूर्ख और दुष्ट लोग उनका अपमान करने लगे । सच्चे संतों की महिमा को मूर्ख लोग नहीं समझते और उनका अपमान करते हैं । कोई उनको मारता, कोई उन पर थूक देता, कोई उन पर मल फेंकता, कोई पत्थर फेंकता । कोई उन पर मूत्र विसर्जन कर देता, कोई अधोवायु छोड़ता किन्तु भगवान् ऋषभ ने यह सब अपमान शांत वृत्ति से सहन किया और सिखाया कि साधु हो तो ऐसा हो । उन्होंने संसार को तो छोड़ा ही, अहंता-ममता का भी सर्वथा परित्याग कर दिया । वास्तव में कोई त्याग करे तो इस प्रकार करे । ऋषभ देव जी अपने परमात्म स्वरूप में स्थित थे, अकेले ही वे पृथ्वी पर विचरण करते रहते थे । अवधूत वृत्ति

से रहने पर भी वे थे तो भगवान् ही, अतः बड़े ही सुन्दर थे । शुकदेव जी ने उनकी सुन्दरता का वर्णन किया है । आगे चलकर उन्होंने अजगर वृत्ति धारण कर ली और लेटे ही लेटे खाते-पीते और मल-मूत्र त्याग करते ।

शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हदति स्म चेष्टमान उच्चरित आदिग्धोद्देशः । (श्रीभागवतजी - ५/५/३२)

मल त्यागकर उसी में लोटकर शरीर को मल से सान लेते । यहाँ पर भागवत के टीकाकार आचार्य लिखते हैं –

यद्यपि "मलमूत्रादिरहिताः पुण्यश्लोकाः प्रकीर्त्तिताः" इत्युक्तेर्भगवत ऋषभस्य पुरीषोत्सर्गाद्येवासंभावितं तथापि योगभ्रंशप्रतीकारार्थमेव तदा तथा दर्शितम् ।

(श्रीवंशीधरजी)

यद्यपि भगवान् के चिन्मय शरीर में मल-मूत्र तो नहीं होता है फिर भी भगवान् ने अपनी माया से अपने शरीर में मल को प्रकट करके दिखाया, क्यों दिखाया ? इसके पीछे दो-तीन कारण हैं । एक आचार्य लिखते हैं –

पुरीषस्य सौगन्ध्योक्तिः योगप्रभावातिशयज्ञापनार्था ।

(श्रीभगवत्प्रसादाचार्यजी)

योग के प्रभाव को दिखाने के लिए उन्होंने ऐसा किया कि सच्चे योगी के शरीर में तामस दुर्गन्ध युक्त मल नहीं होता, उनके मल से तो सुगंध आती है । जब इतना निर्मल शरीर योगी का हो जाये तब समझना चाहिए कि वह सिद्धावस्था में है । दूसरे आचार्य लिखते हैं कि योग की परासिद्धि में शरीर में मल नहीं रहता, इसी बात को दिखाने के लिए ऋषभ भगवान् ने ऐसा मल प्रकट किया, जिससे सुगन्ध आती

थी । वृन्दावन के परम रसिक संत श्रीहरिराम व्यास जी ने लिखा है कि प्राचीन काल के विरक्त संत जानबूझकर ऐसा व्यवहार करते थे कि यदि कोई रजोगुणी व्यक्ति उनके निकट आता तो वे उसे पत्थर लेकर मारते थे, जिससे कि माया हमारे पास न आ जाये, कोई सेठ, कोई धनी हमारे पास न आये और आजकल के संतों का यह हाल है कि सोचते हैं कि कोई धनी व्यक्ति हमें अपनी कार में बिठाकर ले जाये तो हमारा उद्धार हो जाये । जबकि ऋषभ भगवान् ने सिखाया कि विरक्त बनो तो ऐसे बनो कि अपने मल-मूत्र से ही शरीर को सान लो, जिससे संसारी लोग पागल समझकर दूर से ही भाग जायेंगे । ज्ञानमार्गियों को भी उन्होंने अपने आचरण से शिक्षा दी कि जो मल शरीर के भीतर है, वही बाहर है । शरीर मल का ही आगार है । इन सब चीजों की शिक्षा देने के लिए ही भगवान् ने अपने शरीर में मल प्रकट करके दिखाया । उनका मल प्राकृत मल की तरह दुर्गन्धयुक्त नहीं था । शुकदेवजी कहते हैं कि उनके मल से दस योजन अर्थात् चालीस कोस तक सुगंध फैला करती थी । ऋषभ देव जी की लीला बड़ी विस्तृत है । कभी वे गौ, मृग और काक आदि की वृत्तियों को स्वीकार कर उनकी सी चेष्टा करते । अंत में ऋषभ देव जी के पास बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ आयीं । जब तुम भक्तिमार्ग पर चलोगे तो तुम्हारे सामने सिद्धियाँ आ जायेंगी । जब ऋषभ देव जी के सामने बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ आयीं तो उन्होंने उन्हें स्वीकार नहीं किया ।

अध्याय – ६

राजा परीक्षित को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने शुकदेव जी से पूछा – भगवन् ! ऋषभ देव जी ने सिद्धियों को स्वीकार क्यों नहीं किया, उनको सिद्धियों से कोई नुकसान तो नहीं होता, क्योंकि योग की अग्नि में उनके सारे कर्म नष्ट हो गये थे ।

श्रीशुकदेवजी ने उत्तर दिया –

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते । (श्रीभागवतजी - ५/६/३)

चाहे कितने भी ऊँचे बन जाओ, उच्च कोटि के सिद्ध महात्मा भी बन जाओ किन्तु अपने मन पर कभी विश्वास मत करना, मर्यादा में रहना, नहीं तो मन फिसल जायेगा । मर्यादा को छोड़ोगे तो सारे जीवन फिसलते रहोगे । इसीलिए ऋषभ भगवान् ने अपने आचरण के द्वारा यह शिक्षा दी कि सिद्धियों और भोग को दूर से ही छोड़कर कोई बच सकता है और नहीं तो यदि कोई कहता है कि हम तो सामर्थ्यवान हैं, इनसे हमारा क्या नुकसान होगा तो फिर वह माया में फँस जायेगा । अपने मन पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये । यदि कोई कहे कि हमने बहुत भजन किया है, इसलिए हम तो अपने मन पर विश्वास करेंगे ही तो शुकदेव जी कहते हैं कि तुम्हारी क्या चलाई, महादेवजी तक अपने मन पर विश्वास करने से माया के चक्कर में आ गये । जब भगवान् ने मोहिनी अवतार धारण किया तो महादेवजी ने उनसे प्रार्थना की कि मुझे वह रूप दिखाइए । भगवान् ने कहा कि वह तो कामुकता बढ़ाने वाला रूप है । असुरों को मोहित करने के लिए मैंने धारण किया था । आप उसे न देखिये किन्तु महादेवजी नहीं माने, उसे देखने का हठ किया क्योंकि उन्हें अपने मन पर विश्वास था । भगवान् ने जब मोहिनी रूप दिखाया तो शिवजी का ईश्वरी तप, उनका वीर्य नष्ट हो गया था – **'यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ।'** इसलिए मन पर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए चाहे कोई कितना भी बड़ा भक्त बन जाए, चाहे बूढ़ा हो, चाहे जवान हो, चाहे कोई साधु-संत हो । ऐसा क्यों ? इसलिए क्योंकि मन एक जार (छिनार) स्त्री की तरह है । उसका पति चाहे कितना भी उस पर पहरा लगाये फिर भी वह पर पुरुषों से भोग का अवसर निकाल ही लेती है । मन भी इसी

प्रकार है । तुम कितना भी चतुर बनो किन्तु यह अवसर निकालकर तुम्हें गिरा ही देगा ।

नित्यं ददाति कामस्य च्छिद्रं तमनु येऽरयः ।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥

(श्रीभागवतजी - ५/६/४)

मन पुंश्चली स्त्री की तरह है, जैसे पुंश्चली स्त्री किसी राजा की रानी भी बन जाये और कितना भी राजा का पहरा हो तब भी वह परपुरुष से मिलने का अवसर निकाल ही लेती है । वैसे ही मन है – **'नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रम्'** छिद्रं माने मन ऐसा अवसर अवश्य निकाल लेगा, जिससे कि मनुष्य कुआँ में गिर जाये । इसलिए मन पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए । ऐसा स्वयं भगवान् ने कहा है ।

अब ऋषभ भगवान् ने तीसरी लीला की । पहले तो उन्होंने एक अच्छे पिता, अच्छे राजा की लीला दिखाई । उसके बाद परमहंसों को शिक्षा देने के लिए लीला की और अन्त में उन्होंने शिक्षा दी कि शरीर का त्याग कैसे करना चाहिए ?

'साम्परायविधिमनुशिक्षयन् स्वकलेवरं जिहासुः' (श्रीभागवतजी - ५/६/६)

संसार के लोग अन्तिम समय कहते हैं कि मेरे बेटा को बुलाओ, मेरी स्त्री को बुलाओ, जबकि मनुष्य को शरीर छोड़ते समय एकमात्र श्रीकृष्ण का स्मरण करना चाहिये । जीव कितना मूर्ख होता है कि मरने वाला होता है, तब भी कहता है कि मेरे बेटे को बुलाओ, पत्नी को बुलाओ । अरे, ये तो छूट रहे हैं । तेरी गाड़ी प्लेटफार्म से चल पड़ी है और फिर भी गाड़ी की खिड़की से झाँक रहा है कि एक बार देख लें, ये

मेरा बेटा है, ये मेरी पत्नी है । कितना मूढ़ है यह जीव । भगवान् ऋषभ ने इसलिए शिक्षा दी कि शरीर कैसे छोड़ना चाहिए ?

'योगमायावासनया देह इमां जगतीमभिमानाभासेन संक्रममाणः'

(श्रीभागवतजी - ५/६/७)

इस बात को गह्वर वन के अलौकिक संत पंडित हरिश्चन्द्रजी महाराज ने समझाया था कि जैसे महापुरुष भी खीर खाता है और एक साधारण आदमी भी खीर खाता है परन्तु उसमें और साधारण आदमी में अन्तर है । महापुरुष के अन्दर कोई वासना भी है तो योगमाया से वह वासना उत्पन्न हो रही है अर्थात् भगवदिच्छा से ऐसा होता है । साधारण मनुष्य में जो वासना उत्पन्न होती है, वह मोहिनी माया, प्राकृत माया के कारण होती है, इसलिए महापुरुषों में या सत्पुरुषों में यदि कोई दोष है तो मनुष्य को उसे अपने जैसा नहीं समझना चाहिये ।

भगवान् ऋषभदेव पृथ्वी पर जब घूम रहे थे तो उनको जिस समय जैसा भी भोजन मिल जाता था , वे उसे खा लेते थे । दूसरा देखने वाला सोचता था कि अरे, ये कैसे खा रहा है । सच्चाई यह है कि महापुरुषों का शरीर योगमाया की वासना से चलता है ।

भगवत ऋषभस्य योगमायावासनया – यह योगमाया की वासना क्या है ? इसको वैष्णवाचार्यों ने स्पष्ट किया है, जैसे श्रीजीव गोस्वामीजी लिखते हैं – **लीलेच्छासंस्कारेण** । यहाँ योगमाया का मतलब है कि ये भगवान् हैं, लीला की जो इच्छा है अर्थात् योगमाया जैसी लीला करा रही है । श्रीधर स्वामी लिखते हैं कि जैसे कोई जीवन्मुक्त महापुरुष है, ब्रह्म को प्राप्त हो गया है, अब वह भगवान् के धाम को चला जायेगा । जैसे कोई ब्रह्मज्ञानी है, वह जीवन्मुक्त हो गया है, जब तक उसका प्रारब्ध है तब तक उसका शरीर यहीं रहेगा,

उसके बाद वह ब्रह्म में लीन हो जायेगा । जब तक उसका शरीर है तो प्राचीन अविद्या है प्रारब्ध रूप में, ऐसी स्थिति में जीवन्मुक्त के अन्दर जो वासना आएगी, वह अविद्या वासना है । इसलिए श्रीधर स्वामी लिखते हैं –

स च जीवन्मुक्तानामविद्यावासनया भवतीति ततो विशेषमाह ।

अविद्या की जो वासना है, वह जीवन्मुक्त में प्रारब्ध रूप से थोड़े समय के लिए होती है परन्तु वह जो अविद्या की वासना है, वह जीवन्मुक्त में होती है और ऋषभदेव जी हैं भगवान् तो इनमें योगमाया की वासना है, ये है अन्तर ।

पंडित हरिश्चंद्र महाराजजी कहते थे कि यही योगमाया की वासना भगवान् में भी है और भक्तों में भी आती है । ब्रह्मज्ञानियों में नहीं आती है, यह अन्तर है । जैसे यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने भी विष पिया और मीराजी ने भी विष पान किया । जब सुकरात ने विष पिया तो उसका प्रभाव उसके सारे शरीर में फैलने लगा, तब उसने अपने प्रसिद्ध शिष्य क्रीटो से कहा कि मेरे शरीर पर मालिश करो । क्रीटो ने कहा कि आप तो ज्ञानी हैं, आपको तो यह आभास है कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर से अलग हूँ, फिर आप अपने शरीर की मालिश क्यों कराना चाहते हैं ? सुकरात ने कहा – 'यह शरीर धरोहर है, जब तक यह अस्तित्व में है, ईश्वर के लिए हमें इसका पालन करना चाहिए ।' इसके बाद सुकरात की मृत्यु हो गयी । मीरा जी को भी विष दिया गया किन्तु उनकी मृत्यु नहीं हुई, उनके लिए तो विष अमृत बन गया और सुकरात की विष से मृत्यु हो गयी, भले ही वह तत्त्वज्ञानी था । मीराजी का विष जो अमृत बना, वह योगमाया से बना । भगवान् और उनके भक्तों के लिए योगमाया कार्य करती है ।

अस्तु, योगमाया की वासना से ऋषभ देव जी ने अपने मुख में एक पत्थर का टुकड़ा रख लिया । आगे एक जंगल में आग लगी थी,

उस जंगल में ऋषभ भगवान् चले गये, उन्होंने शिक्षा दी कि इस प्रकार शरीर छोड़ना चाहिए । दुनियावी भाषा में उनका शरीर उस दावानल में जल गया । यद्यपि ऐसा अर्थ नहीं करना चाहिए क्योंकि भगवत्शरीर जलता नही है । जैसा कि पूर्व की कथाओं में बताया जा चुका है कि लोग कहते हैं कि सतीजी का शरीर जल गया अथवा राजा पृथु की रानी भी उनके धाम गमन के बाद सती हो गयीं, उनका शरीर जल गया । ये सब बातें व्यवहार में कही जाती हैं किन्तु वस्तुतः यह सत्य नहीं है अर्थात् भगवत्शरीर, ईश्वर कोटि के सत्पुरुषों का शरीर जलता नहीं है । इस बात को सदा के लिए समझ लेना चाहिये क्योंकि आचार्यों ने लिखा है –

वस्तुतस्त्वानन्दमयदेहस्य दाहासम्भवादग्नौ तिरोधानमात्रमेवेति ज्ञेयम् ।

(श्रीगिरधर लाल गोस्वामीजी)

कूर्म पुराण में लिखा है कि जब रावण सीताजी का हरण करने आया तो उसके पहले ही वे अग्नि में प्रवेश कर गयीं । उस समय छाया सीता का हरण करके रावण ले गया था । अग्नि सीता जी को जला नहीं सकती थी । सब आचार्यगण यही लिखते हैं । एक अन्य भागवत के टीकाकार आचार्य श्रीविजयध्वजतीर्थ जी ने लिखा है –

"एवमग्नेरभिव्यक्तस्तस्थौ विष्णुः सनातनः ।"

ऋषभदेवजी यज्ञ के अग्निकुण्ड की अग्नि से प्रकट हुए थे । वे सनातन विष्णु हैं । अग्नि से प्रकट हुए और अन्त में अग्नि में लीन हो गये । भगवान् की तो बात ही क्या, एक साधारण योगी के शरीर को भी अग्नि जला नहीं सकती । जो योगी अणिमा, लघिमा आदि योग सिद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं, वे जल में प्रवेश कर जाते हैं । धरती में प्रवेश करके पाताल में चले जाते हैं, सूर्यलोक चले जाते हैं, अग्नि लोक चले जाते हैं । उनके शरीर को अग्नि नहीं जला सकती है, फिर जो

ईश्वर हैं, उनके शरीर को अग्नि कैसे जला सकती है ? इसलिए भागवत को समझ के सुनना चाहिए और समझ के उसका अर्थ करना चाहिए । अतः ऋषभदेवजी दावानल की अग्नि में जले नहीं, अपितु अग्नि में अन्तर्धान हो गये ।

शुकदेवजी ने कहा – कलियुग में एक राजा होगा अर्हत्, वह ऋषभदेव जी की नकल करके कुपथ चलाएगा । कुछ लोग कहते हैं कि जैसे जैनादि मत हैं, इसमें केश नुचवाना, स्नान नहीं करना, दातून नहीं करना आदि वेद से बहिष्कृत बातें ग्रहण की गई हैं । ऐसे ही लोग अपने बहुत से शिष्य भी बना लेंगे ।

इस प्रकार ऋषभदेवजी का चरित्र पूर्ण हुआ । प्रियव्रतजी के वंश में ऋषभ भगवान् का अवतार हुआ था । इनके चरित्र को सुनने से भगवान् की भक्ति की प्राप्ति होती है । जो लोग इस भक्ति सरिता में नहाते हैं, उनके समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं ।

अब शुकदेवजी एक बहुत उत्तम बात बता रहे हैं –

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनाम्
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः ।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् ॥

(श्रीभागवतजी - ५/६/१८)

हे राजन् ! ये कृष्ण यदुवंशियों और पाण्डवों के स्वामी, गुरु, दैव, कुलपति और दास भी थे । ये मुक्ति भी दे देते हैं परन्तु भक्ति नहीं देते हैं ।

यह श्लोक क्यों कहा गया है ? भगवान् ऋषभदेव के चरित्र श्रवण की महिमा के सन्दर्भ में शुकदेवजी ने कहा है – **भक्तिरनयोरपि**

समनुवर्तते – (श्रीभागवतजी - ५/६/१६) - भगवान् भी जिस भक्ति को नहीं देते हैं, वह भक्ति महापुरुषों के, भक्तों के, ऋषभ भगवान् के चरित्र सुनने से प्राप्त हो जाती है ।

अध्याय – ७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – भरतजी, जो ऋषभदेवजी के सबसे बड़े पुत्र थे, पृथ्वी के राजा बने । उन्होंने विश्वरूप की कन्या पंचजनी से विवाह किया । उससे पाँच पुत्र उत्पन्न हुए । भरतजी के ही नाम से इस वर्ष को, जिसका नाम पहले अजनाभ वर्ष था, 'भारत वर्ष' कहा जाने लगा । इन्होंने प्रकृति और विकृति दोनों प्रकार के यज्ञ किये । सम्पूर्ण अंगों से युक्त यज्ञों को प्रकृति कहते हैं तथा जिनमें सब अंग पूर्ण नहीं होते, उन्हें विकृति यज्ञ कहते हैं । इस प्रकार से सभी यज्ञों के द्वारा उन्होंने भगवान् का यजन किया । भरतजी की भक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी । एक करोड़ वर्ष तक राज्यभोग करने के बाद भरतजी विरक्त होकर पुलहाश्रम चले गये । वहाँ वह दिन-रात भजन करते । उनका ऐसा भजन था कि जब भगवान् की सेवा करते तो नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगते । सघन वन में वह अकेले रहकर भगवान् की आराधना करते थे । अपने प्रियतम भगवान् के अरुण (लाल) चरणकमलों के स्मरण से उनके शरीर में रोमांच होने लगता तथा प्रेम के कारण आँखों से आँसू इतने निकलते तथा परमानन्द से सराबोर हृदय रूपी गम्भीर सरोवर में बुद्धि के डूब जाने से उन्हें भगवत्पूजा का भी स्मरण न रहता । सूर्य देवता में वे भगवान् नारायण की भावना करते हुए आराधना करते और यह श्लोक बोलते –

परोरजः सवितुर्जातवेदो देवस्य भर्गो मनसेदं जजान ।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे हंसं गृध्राणं नृषदिङ्गिरामिमः ॥

(श्रीभागवतजी - ५/७/१४)

सूर्य देवता भगवान् का तेज हैं, जो कर्म फल देने वाले हैं, हम उनकी शरण में जाते हैं ।

अध्याय – ८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – एक बार भरतजी नदी के तट पर बैठकर प्रणव का जप कर रहे थे । उसी समय एक गर्भवती प्यासी हिरनी नदी में जल पीने के लिए आई । तभी एक सिंह ने बड़े जोर से गर्जना की । हिरनी बहुत डर गयी और उसने नदी पार करने के लिए छलाँग मारी । अत्यंत भय के कारण उसका गर्भ शरीर से बाहर निकलकर नदी में गिर गया । नदी में गिरकर हिरनी का बच्चा बहा जा रहा था । हिरनी की तो मृत्यु हो गयी । यह दृश्य देखकर भरतजी को हिरनी के बच्चे पर बहुत दया आई और वे उस बच्चे को अपने आश्रम पर लाकर उसका पालन-पोषण करने लगे । भरत जी की उस हिरन के बच्चे के प्रति ममता बढ़ती ही चली गयी और दिन-रात वे उसी के पालन में लगे रहते । ऐसा क्यों हुआ ? इसे ऐसे नहीं समझना चाहिए कि साधारण मनुष्य की तरह उनकी हिरन के बच्चे में आसक्ति हो गयी ।

नूनं ह्यार्या साधव उपशमशीलाः कृपणसुहृद् एवंविधार्थे स्वार्थानपि गुरुतरानुपेक्षन्ते ॥ (श्रीभागवतजी - ५/८/१०)

जो साधु होते हैं, वे दया के कारण अपने स्वार्थ भजन को भी भूल जाते हैं । दया का यही स्वरूप है । महापुरुष इतने अधिक दयावान होते हैं ।

कैसे भी हो, भरत जी की उस हिरन के बच्चे में आसक्ति हो गयी । यह होनहार की बात थी । उनकी आसक्ति का क्या फल हुआ ? यदि किसी महापुरुष की किसी जीव के प्रति आसक्ति होगी तो महापुरुष क्या करेगा ? महापुरुष उस जीव का मंगल ही चाहेगा ।

'आशिष आशास्ते स्वस्ति स्ताद्वत्स ते सर्वत इति'

(श्रीभागवतजी - ५/८/१४)

भरतजी उस हिरन के बच्चे के लिए सदा यही कहते – 'बेटा ! तेरा कल्याण हो ।' इस तरह भरतजी निरन्तर हिरन के बच्चे को आशीर्वाद दिया करते । बहुत से लोग कहते हैं कि यह हिरन का बच्चा ही आगे चलकर राजा रहूगण हुआ । इस कल्पना का आधार क्या है क्योंकि किसी पुराण में तो ऐसी कथा है नहीं कि वह हिरन ही अगले जन्म में रहूगण बना । इस कल्पना का आधार यही आशीर्वाद है, जो भरतजी हमेशा उस बच्चे को दिया करते थे कि बेटा, तेरा कल्याण हो । अब चूंकि भरत जी के मुख से ऐसा आशीर्वाद निकला तो आगे उस हिरन के बच्चे का कल्याण अवश्य हुआ ।

भरतजी निरन्तर हिरन के बच्चे के स्नेह पाश में बँधे रहते और वह हरी घास चरता रहता किन्तु भरतजी सदैव उसकी चिन्ता करते रहते थे । कभी वे ध्यान में बैठते तो हिरन का बच्चा अपनी सींग की नोक से उनके अंगों को खुजलाने लगता । कभी वह बाहर वन में निकल जाता तो उसकी याद में भरतजी रोया करते थे ।

अब यहाँ एक बात समझो जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है –

'एवमघटमानमनोरथाकुलहृदयो मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा'

(श्रीभागवतजी - ५/८/२६)

इस श्लोक में प्रयुक्त शब्द 'स्वारब्धकर्मणा' को समझो ।

भागवत के टीकाकार आचार्यगण लिखते हैं कि भरतजी हिरन के बच्चे में क्यों आसक्त हुए ? स्वारब्धकर्मणा से तात्पर्य है कि यह उनका प्रारब्ध था । इतने बड़े महापुरुष का ऐसा प्रारब्ध क्यों आ गया, जिन्होंने भूमण्डल के राज्य का त्याग कर दिया और विरक्त होकर वन

में भजन कर रहे थे, यह समझने की बात है । इसका उत्तर भागवत के टीकाकार आचार्यों ने दिया है । महाप्रभु वल्लभाचार्यजी लिखते हैं कि भरतजी का प्रारब्ध साधारण प्रारब्ध नहीं था । वे लिखते हैं –

'सुशोभनारि आरब्धं स्वारब्धम् ।'

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी अपनी टीका 'सुबोधिनी' में लिखते हैं कि भरतजी का प्रारब्ध ऐसा नहीं था, जैसे साधारण लोग किसी के प्रेम के चक्कर में मोहित हो जाते हैं । उनका प्रारब्ध शोभन था । शोभन का अर्थ है कि उस जीव का कल्याण होगा, जो उनकी आसक्ति के वश में आ गया । श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीजी लिखते हैं –

प्रारब्धं हि द्विविधं शोभनमशोभनञ्च ।

दो प्रकार का प्रारब्ध होता है । एक तो शोभन प्रारब्ध तथा दूसरा अशोभन प्रारब्ध । शोभन प्रारब्ध वह है, जब भगवान् की इच्छा से प्रारब्ध बनता है – 'भगवदिच्छामयम्' । जैसे – पुष्टिमार्गीय अष्टछाप के एक वैष्णव थे, उनका अपनी भाभी से पुनर्विवाह हुआ था । यह विवाह भगवदिच्छा से हुआ था । यह तो हुआ शोभन प्रारब्ध, इसका परिणाम यह होता है कि भक्त को तो भक्ति मिलेगी ही, साथ ही जिस जीव में वह भक्त आसक्त हुआ, उसको भी भक्ति मिलेगी । दूसरा प्रारब्ध है –

अशोभनं प्राचीनप्राकृतकर्ममयमेव, यदुदर्को विषयाभिनिवेश एव स्यात् ।

(श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीजी)

प्राचीन प्राकृत कर्मों में जिसकी आसक्ति होती है, उसके फल में विषयाभिनिवेश मिलेगा ।

इस प्रकार दो प्रकार के प्रारब्ध होते हैं । एक अन्य आचार्य लिखते हैं कि भगवान् की इच्छा से ऐसा प्रारब्ध हुआ है, इसका पता कैसे पड़ेगा ? भरतजी की भोग में आसक्ति नहीं हुई, धन में आसक्ति

नहीं हुई क्योंकि वे तो अपनी रानी छोड़ आये थे, पूरा राज्य छोड़ दिया था जो स्वजाति के अन्तर्गत आते थे और हिरन जो कि दूसरी जाति का जीव है, उसमें आसक्ति हो जाना, यह भगवदिच्छा ही तो थी । इससे यह पता चलता है कि जो भगवद्भक्त महापुरुष होते हैं, उनकी आसक्ति यदि किसी जीव में हो जाती है तो उस जीव का कल्याण ही होगा । किन्तु यह महापुरुषों की बात है, हम लोगों की बात नहीं है । क्योंकि हर आदमी अपने को महापुरुष बताता है तो यह साधारण लोगों की बात नहीं है, सच्चे महापुरुषों की बात है । भगवद्भक्त में वह शक्ति होती है कि जिस जीव में उसकी आसक्ति होती है, उसको भक्ति मिलती है ।

इस प्रकार अपने प्रारब्ध से भरत जी योगसाधन से भ्रष्ट हो गये, नहीं तो जिन्होंने अपने स्त्री - पुत्रों को छोड़ दिया था, वे हिरन में क्यों आसक्त होते? एक दिन उनका काल आ गया, जब काल आया तो वह हिरन का बच्चा भी उनके पास में बैठा था और उसी की आसक्ति में भरत जी ने शरीर छोड़ दिया । जब शरीर छोड़ दिया तो अगले जन्म में वे हिरन बने । हिरन क्यों बने ? गीता में भगवान् ने कहा है –

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

(श्रीगीताजी - ८/६)

अन्तिम समय मनुष्य जिसका ध्यान करता हुआ शरीर छोड़ता है, उसको अगले जन्म में वही बनना पड़ता है । इसीलिए तो महापुरुष लोग एकान्त में शरीर छोड़ते हैं । ऐसा नहीं जैसे कि साधारण संसारी लोग अन्तिम समय कहते हैं कि मेरे बेटे को लाओ, मेरी बेटी को लाओ, उसका मुँह दिखाओ । ऐसा नहीं करना चाहिये । अन्त समय तो सबको भूलकर केवल भगवान् की याद करना चाहिए,

जिससे भगवान् की ही प्राप्ति हो । भरतजी अन्तिम समय हिरन का स्मरण कर रहे थे, अतः अगले जन्म में उनको हिरन बनना पड़ा । यह कितने दुःख की बात है, वे जा रहे थे वैकुण्ठ को और प्रारब्ध ने उनको हिरन बना दिया । इस कथा से ऐसा लगता है कि क्या भजन बेकार की चीज है किन्तु नहीं, भजन व्यर्थ नहीं जाता । शुकदेवजी कहते हैं –

'भगवदाराधनसमीहानुभावेनानुस्मृत्य भृशमनुतप्यमान आह'

(श्रीभागवतजी - ५/८/२८)

भगवद्भजन कभी बेकार नहीं जाता । चाहे भगवद्भक्त कहीं चला जाए, हिरन बन जाये, चाहे सर्प बन जाये, चाहे कौआ बन जाये । भगवद्भक्ति का प्रभाव कभी समाप्त नहीं होता है । भागवत में ही कश्यप जी ने कहा है – **'अमोघा भगवद्भक्तिः'** – (श्रीभागवतजी - ८/१६/२१) भगवान् की भक्ति अमोघ है । इसीलिए पूर्व जन्म की भगवद् आराधना के प्रभाव से भरत जी को हिरन की योनि में भी यह स्मृति बनी रही कि मैं पूर्व जन्म में राजा था, सब कुछ छोड़कर वन में भगवान् का भजन कर रहा था किन्तु हिरन की आसक्ति के कारण मुझे हिरन बनना पड़ा है । इसलिए हिरन बनने पर भी वे अन्य हिरनों से सदा अलग रहते थे और याद करते रहते थे कि पूर्व जन्म में मैंने कितना कीर्तन किया था, भगवान् की आराधना की थी ।

'तदनुश्रवणमननसङ्कीर्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेनाशून्यसकलयामेन कालेन' – (श्रीभागवतजी - ५/८/२९)

वे अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे – 'पूर्व जन्म में मैं निरन्तर प्रभु का श्रवण, मनन और संकीर्तन करता था । निरन्तर प्रभु की भक्ति में लगा रहता था । अब इस हिरन की योनि में मैं भगवान् का नाम नहीं ले सकता ।'

जब उनका अन्तिम समय आया तो उन्होंने अपने शरीर का आधा भाग गण्डकी नदी के जल में डुबाये रखकर उस हिरन के शरीर को छोड़ दिया ।

अध्याय – ९

शुकदेवजी कहते हैं – आंगिरस गोत्र में सभी गुणों से सम्पन्न एक ब्राह्मण थे । उनकी दो स्त्रियाँ थीं । बड़ी स्त्री से नौ पुत्र हुए तथा छोटी स्त्री से एक ही साथ एक पुत्र एवं एक कन्या का जन्म हुआ । इन दोनों में जो पुत्र था, वह भरत जी ही थे । यह उनका अन्तिम शरीर था । अब इस जन्म में उनको भगवत्प्राप्ति हो जाएगी । इसे चरम शरीर कहते हैं ।

भरत जी को अपने पूर्व जन्मों का स्मरण था कि पहले मैं राजा था, सर्वत्यागपूर्वक वन में रहकर भजन करता था किन्तु हिरन की आसक्ति के कारण मुझे अगले जन्म में हिरन बनना पड़ा था, अब वर्तमान जन्म में मैं ब्राह्मण पुत्र बना हूँ । किन्तु इस जन्म में वे घबराते रहते थे कि इस बार फिर किसी जीव में आसक्ति न हो जाए, इसलिए आरम्भ से ही दूसरों की दृष्टि में अपने को पागल, मूर्ख, अंधे और बहरे के समान दिखाते थे परन्तु भीतर अपने हृदय में सदा भगवान् के युगल चरणकमलों के ध्यान में मस्त रहते थे । उनके पिताजी ने चार महीने तक गायत्री मन्त्र रटाने का प्रयत्न किया किन्तु उन्हें गायत्री मन्त्र याद नहीं हुआ । अन्त में उनके पिता जी की मृत्यु हो गयी और उनकी माता सती हो गयीं । अब इनकी सौतेली माता इनका पालन-पोषण करने लगीं । इनके सौतेले भाइयों ने इन्हें मूर्ख समझकर पढ़ाने-लिखाने का आग्रह छोड़ दिया । लोग इनको पागल समझते थे । भरतजी ने सोचा कि अच्छा हुआ, अब मैं इन दुनिया वालों के झंझट से बच जाऊँगा ।

दुनिया के लोग मनुष्य के मन रूपी हीरे को लूटना चाहते हैं । दुनिया वाले जितने भी हैं, ये लुटेरे हैं । एक महात्मा ६०-६५ वर्ष पहले बरसाने के गह्वरवन स्थित गोपाल कुटी में शरीर छोड़ रहे थे तो मैं(श्रीरमेश बाबा महाराज) प्रतिदिन उन्हें कीर्तन सुनाने जाता था । एक दिन गाँव की एक महिला वहाँ पहुँची और मुझे हटाकर उन महात्मा से बोली – 'अरे बाबा ! तू मुझे पहचान रहा है कि नहीं ।' तब मैंने उसे हटाया और कहा – 'हट यहाँ से ।' कोई आदमी भगवान् के धाम में जा रहा होगा तो दुनिया वाले उसके मन को भगवान् से खींच लेंगे । कोई मरने वाला होगा तो लोग जाकर कहते हैं – 'ताऊ ! तू मुझे पहचान रहा है ।' अब ताऊ का मन यदि भगवान् में होगा तो उसे वहाँ से खींचेंगे । ये सब गलत बातें हैं । किसी के मन को भगवान् से अलग नहीं करना चाहिए, विशेष रूप से जो व्यक्ति मृत्यु के मुख में जा रहा हो, उसके सामने फालतू बातें न कहकर उसे कृष्ण नाम सुनाना चाहिए । उसके सामने कीर्तन करना चाहिये ताकि उसे भगवान् की याद आये । संसार के लोग तो मन को लूटते हैं । स्त्री लूटेगी, वह चाहती है कि पति दिन-रात मुझे ही प्यार करे । पति लूटेगा, वह चाहता है कि मेरी पत्नी मुझसे ही प्रेम करे, किसी दूसरे पुरुष को न देखे । बड़ा बेटा चाहता है कि पिता जी सबसे अधिक प्रेम मुझसे ही करें, किसी और भाई को उतना प्रेम न करें । इस प्रकार संसार के सब लोग लुटेरे हैं । इसीलिए भरत जी अपने घर के लोगों से घबराते रहते थे और ऐसा नाटक करते थे, जिससे कि लोग उन्हें गूँगा-बहरा व पागल ही समझें । उनको रूखा-सूखा जो मिल जाता, वही खा लेते थे । उनका शरीर काफी पुष्ट था, उन्हें किसी बात की चिन्ता नहीं थी । कोई उन्हें मजदूरी के रूप में अथवा बिना माँगे सड़ा-गला अन्न दे देता तो उसे खा लेते थे । कोई उन्हें पकड़कर अपने खेत की रखवाली पर लगा देता तो रखवाली करने लग जाते ।

एक बार कुछ डाकू अपने सरदार के लिए पुत्र की कामना से भद्रकाली को मनुष्य की बलि देने के लिए किसी आदमी को पकड़ कर लाये किन्तु वह भाग गया । अब वे डाकू उसे ढूँढने के लिए निकले किन्तु रात होने के कारण उसका कुछ पता नहीं लगा । संयोग से उनकी दृष्टि भरत जी की ओर पड़ी, जो किसी के खेत की रखवाली कर रहे थे । उनका हृष्ट-पुष्ट शरीर देखकर डाकू लोग सोचने लगे कि देवी की बलि के लिए इस मनुष्य की भेंट बहुत अच्छी रहेगी । यह तो खूब मोटा-ताजा और सुन्दर भी है । ऐसा सोचकर वे लोग भरत जी को रस्सियों से बाँधकर भद्रकाली के मन्दिर में ले गये । भरत जी स्वाभाविक रूप से चले गये, वे तो महापुरुष थे, उन्हें कोई भय नहीं लगा । डाकू लोग भरत जी को देखकर बड़े प्रसन्न हुए । उन लोगों ने पहले तो भरत जी को स्नान कराया फिर उन्हें बढ़िया वस्त्र पहनाये तथा अनेक प्रकार के आभूषण पहनाये और मस्तक पर तिलक लगाया, माला पहनाई व अच्छी तरह से भोजन कराया । इसके बाद वे लोग गाते-बजाते हुए उन्हें देवी भद्रकाली की प्रतिमा के सामने ले गये और सिर नीचा कराके उनको बैठा दिया । तदनन्तर, डाकुओं के पुरोहित ने देवी मन्त्रों से अभिमन्त्रित एक तीक्ष्ण खड्ग उठाया । जड़भरत जी शांत चित्त से बैठे रहे क्योंकि वे देहाभिमान से अतीत हो चुके थे । उनके मन में कोई विकार नहीं था कि मेरा वध होने जा रहा है । अपने को मारने वाले चोरों-डाकुओं से भी उन्हें द्वेष नहीं हुआ, उन्हें भी वे प्रेम भरी दृष्टि से देख रहे थे । अपने को तलवार लेकर मारने वाले दुष्टों में भी वे अपने प्रभु का दर्शन कर रहे थे कि मेरा प्यारा ही तो मुझे मार रहा है किन्तु ऐसे महापुरुष के प्रति अपराध होने के कारण भद्रकाली के शरीर में भीषण दाह होने लगा, जड़भरतजी के तेज के कारण उनका शरीर जलने लगा । हरिरामव्यासजी ने लिखा है –

हरिदासन के निकट न आवत प्रेत पितर यमदूत ।

भगवद्भक्त के सामने कोई देवी-देवता ठहर ही नहीं सकता ।

'ब्रह्मतेजसातिदुर्विषहेण दन्दह्यमानेन वपुषा सहसोच्चाट सैव देवी भद्रकाली' – (श्रीभागवतजी - ५/९/१७)

दाह के कारण मूर्ति को फोड़कर देवी प्रकट हो गयीं । उन्होंने सोचा कि ये मूर्ख लोग एक दिव्य महापुरुष का वध करने जा रहे हैं, इस अपराध से तो मैं ही भस्म हुई जा रही हूँ ।

वस्तुतः अनन्त देवी-देवता स्वयं भगवान् के भक्त की चरण रज चाहते हैं । लोगों को तत्त्वज्ञान नहीं होता, इसीलिए अपनी छोटी-छोटी कामनाओं की पूर्ति के लिए देवी-देवताओं के पीछे दौड़ा करते हैं ।

देवी को बहुत क्रोध आ गया, रोष के कारण उनकी भौहें चढ़ी हुई थीं तथा कराल दाढ़ों और चढ़ी हुई लाल आँखों के कारण उनका चेहरा बड़ा भयानक जान पड़ता था । उन्होंने भयंकर अट्टहास किया और उस अभिमन्त्रित खड्ग को लेकर उससे समस्त चोर-डाकुओं के सिर काट डाले तथा अपने गणों के साथ उन दुष्टों के शरीर से बहता हुआ गरम-गरम खून पीने लगीं । खून पीकर देवी मस्त होकर नाचने लगीं और कटे हुए सिरों को ही गेंद बनाकर खेलने लगीं । प्रसन्नता से वे इसलिए नाच रही थीं क्योंकि उन्होंने सोचा कि आज इतने बड़े महापुरुष की रक्षा हो गयी, नहीं तो कहीं इनका वध हो जाता तो बहुत बड़ा अनर्थ हो जाता । प्रभु ने ही कृपा करके मेरे शरीर में दाह उत्पन्न कर अपने भक्त की रक्षा की । यहाँ शुकदेवजी कहते हैं –

'एवमेव खलु महदभिचारातिक्रमः कात्स्न्र्येनात्मने फलति'

(श्रीभागवतजी - ५/९/१९)

किसी महापुरुष के प्रति कोई थोड़ा भी अभिचार करेगा तो वह उस अपराधी के ऊपर ही आ पड़ेगा ।

यह अनुभव की हुई सत्य बात है । किसी महात्मा ने एक सत्य घटना सुनाई थी । एक बार एक बदमाश लड़का एक लड़की के गले में हाथ डालकर जा रहा था । उधर से कोई भगवान् के भक्त आ रहे थे, भूल से उनका हाथ उस लड़की से छू गया । वह लड़की दुष्ट थी, उसने अपने मित्र लड़के से झूठे ही कहा कि इसने मेरा हाथ छुआ । उसके मित्र लड़के ने उस भक्त के गाल पर बड़े जोर से एक तमाचा मारा । एक तमाचा लगते ही वे भक्त गिर पड़े । थोड़ी देर में वे उठे और 'श्रीहरि-श्रीहरि' कहते हुए चल दिए, उन्होंने सोचा कि यह मेरे किसी कर्म का ही भोग था । यद्यपि उनकी कुछ गलती नहीं थी । दूसरी ओर संध्या बीतने पर हल्का अँधेरा हुआ और वही बदमाश लड़का-लड़की गले में हाथ डालकर सड़क पर जा रहे थे, थोड़ी ही दूर गए थे, इतने में एक कार आई और वह कार इतने जोर से निकली कि उसने उस लड़के के हाथ में बड़ी जोर से धक्का मारा, धक्का इतनी जोर से लगा कि उस लड़के ने जिस हाथ से उन भक्त को तमाचा मारा था, वही हाथ उखड़कर नीचे गिर पड़ा । यह देखकर उसकी मित्र लड़की जोर से चिल्लाई और फिर उन्ही भक्त के पाँव में गिर पड़ी तथा क्षमा माँगने लगी क्योंकि यह दुर्घटना देखकर वे भक्त उन दोनों के पास पहुँच गए थे । इस घटना को देखकर एक अन्य व्यक्ति उस लड़की से बोला – 'तेरे यार ने इसको तमाचा मारा और इसके यार ने तेरे यार को तमाचा जड़ दिया । यह तो यार-यार का झगड़ा है ।' इसलिए शुकदेवजी ने यह सत्य सिद्धान्त कहा – एवमेवखलु.....(५/९/१९)

महापुरुषों के प्रति किया हुआ अभिचार एक दिन अपने ऊपर अवश्य ही फलित होता है ।

भगवद्भक्त की बहुत बड़ी महिमा है । उसके सामने देवी-देवता और काल भी कुछ नहीं हैं । भक्त की शक्ति सर्वोच्च है । जड़भरत भी

कितने उच्च कोटि के महापुरुष थे कि उनके सिर कटने का अवसर आ गया फिर भी वे शान्त बने रहे । उनसे बड़ा महापुरुष और कौन होगा ? हम लोग अपने को तौलकर देखें, क्या हममें इतनी शक्ति है ?

अध्याय – १०

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – जड़भरतजी पृथ्वी पर पागल की तरह इधर-उधर घूमा करते थे । महापुरुष लोग ऐसा कहते हैं कि पिछले जन्म का वह हिरन जिसके प्रति भरत जी की आसक्ति हो गयी थी, वह उनके आशीर्वाद के फलस्वरूप अगले जन्म में रहूगण बना । एक बार राजा रहूगण पालकी पर चढ़कर भगवान् कपिलदेवजी से ज्ञान लेने के लिए जा रहा था । उसी समय उसकी पालकी उठाने वाले कहारों में एक कहार कम पड़ गया । कहार की खोज करते समय उन लोगों को दैववश जड़भरतजी दिखाई पड़े । उन्हें देखकर कहारों ने सोचा कि यह मनुष्य तो बड़ा हष्ट-पुष्ट है । ऐसा सोचकर उन्होंने जड़भरतजी को बुलाकर पालकी ढोने के काम में लगा लिया । जड़भरतजी तो महापुरुष थे, उनसे कोई कुछ भी काम कराता, वह कर देते । इसलिए वे पालकी को उठाकर चलने लगे । चींटी आदि कोई जीव पैरों तले दब कर मर न जाए, इसलिए वे नीचे देखकर चलते थे और जैसे ही कोई चीटी या अन्य कीड़ा-मकौड़ा पैर के नीचे आता तो वे उसे बचाने के लिए उछल जाते थे । इससे पालकी टेढ़ी-सीधी हो जाती, तब यह देखकर राजा रहूगण ने कहारों को फटकारा – 'अरे कहारो ! तुम लोग ठीक से नहीं चलते हो, ये कैसे चल रहे हो ?' बाकी कहारों ने कहा – 'महाराज ! हम तो ठीक से चल रहे हैं, एक नया कहार आ गया है, ये ठीक से नहीं चलता है और बीच-बीच में उछल जाता है, इसीलिए पालकी टेढ़ी-सीधी हो जाती है ।' तब राजा रहूगण जड़भरतजी को व्यंग्य वचन बोलने लगा ।

जब हम लोग व्यंग्य वचन बोलते हैं तो यह आसुरी वाणी है । जैसे कोई मूर्ख है तो उससे लोग कहते हैं – 'अरे, तू तो बड़ा पंडित है ।' कोई दरिद्र है तो उससे कहते हैं – 'तू तो बड़ा कुबेर है ।' यह व्यंग्य वचन है । इसी तरह रहूगण भी जड़भरत जी से व्यंग्य वचन बोलने लगा – 'अरे भइया ! बड़े दुःख की बात है, तू इस पालकी को अकेले ही बहुत देर से ढोता आ रहा है । तू सूख-सूखकर कैसा लकड़ी जैसा हो गया है, तेरे शरीर को वृद्धावस्था ने अलग से दबा रखा है ।' (जबकि जड़भरतजी मोटे-ताजे और जवान थे ।) इस तरह रहूगण जड़भरतजी को व्यंग्य वचन सुनाने लगा किन्तु बहुत ताना मारने पर भी वे पहले की तरह निर्भय और शांत भाव से चलते रहे । उन्होंने इसका कुछ भी बुरा नहीं माना । इतने में कोई चींटी उनके पाँव के नीचे आ गयी तो वे पुनः उछल पड़े । इससे पालकी फिर से टेढ़ी-मेढ़ी हो गयी । यह देखकर राजा रहूगण के क्रोध का ठिकाना न रहा । वह जड़भरतजी से चिल्लाकर बोला – 'मैं अभी यमराज की तरह तुझे ठीक करता हूँ ।' जब राजा रहूगण ने जड़भरतजी को बहुत फटकारा तब उन्होंने कहा –

त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः ।

(श्रीभागवतजी - ५/१०/९)

'राजन् ! जो तुम कह रहे हो, तुम्हारी वह बात तो तब उचित होगी, यदि मैं पालकी ढोने वाला होऊँ । मेरे ऊपर तुम्हारी बात घटित नहीं हो रही है क्योंकि मैं तो आत्मा हूँ और तुम शरीर दृष्टि से बोल रहे हो । आत्मा न तो बोझा ढोती और न ही आत्मा रास्ते पर चलती है । आत्मा न तो मोटी है, और न ही पतली ।'

रहूगण तो देहभाव से जड़भरतजी को फटकार रहा था किन्तु वे उसकी बात का उत्तर आत्मदृष्टि से दे रहे थे । दोनों की दृष्टि में यह भेद है । जैसे किसी ने कहा- 'ए गधे ।' जो महापुरुष होगा, वह तो

कहेगा कि आत्मा न तो गधा है, न गधी । आत्मा तो शरीरों से अलग है । जिसे आत्मज्ञान हो गया है, वह तो नाराज नहीं होगा क्योंकि आत्मा तो गधा है नहीं ।

जड़भरतजी ने आगे कहा –

स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च क्षुत्तृड्भयं कलिरिच्छा जरा च ।
निद्रा रतिर्मन्युरहंमदः शुचो देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ॥

(श्रीभागवतजी - ५/१०/१०)

'राजन् ! मोटापन, पतलापन, आधि, व्याधि, भूख-प्यास, भय, इच्छा, वृद्धावस्था- ये सब धर्म मुझ आत्मा के नहीं है, ये तो शरीर के धर्म हैं ।

तुम जो कहते हो कि मैं राजा हूँ, स्वामी हूँ, मैं तुझे दण्ड दूँगा, यह जो स्वामी-सेवक भाव है, यह भी झूठा है, व्यवहार मात्र है । न तुम स्वामी हो, न मैं दास हूँ । जो आत्मा तुम हो, वही आत्मा मैं हूँ । इस व्यवहार में क्या लाभ है, यह तो पिसे हुए को पीसने के समान व्यर्थ है ।'

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – इस प्रकार रहूगण को तत्व ज्ञान का उपदेश देकर जड़भरत जी मौन हो गए । उनकी वाणी आत्मज्ञान से युक्त, अत्यन्त गम्भीर और मार्मिक थी । उनके वचन सुनकर रहूगण सोचने लगा कि यह कोई मजदूर नहीं है,यह कितनी ऊँची बात कह रहा है । कोई साधारण कहार आत्मा-अनात्मा के बारे में क्या जाने ? मैंने इसको प्राणदंड देने की धमकी दी, फिर भी यह घबराया नहीं । यह सब विचारकर राजा रहूगण तुरन्त ही अपनी पालकी से कूद पड़ा । रहूगण भी सन्तों की महिमा जानता था, वह सन्त से ज्ञान का उपदेश लेने के लिए ही पालकी पर चढ़कर जा रहा था । वह समझ गया था कि ये कोई ऊँचे महात्मा हैं, इन्हें अपने मान-अपमान का

कोई ध्यान नहीं है, साधारण कहार की तरह पालकी ढो रहे हैं । इसीलिए वह अपनी पालकी से कूदकर तुरंत ही जड़भरत जी के चरणों में सिर रखकर अपने अपराध के लिए बार-बार क्षमा माँगने लगा और बोला – 'भगवन् ! आप कौन हैं, क्या आप अवधूत दत्तात्रेयजी हैं अथवा भगवान् कपिलजी ही हैं । प्रभो ! मैं इन्द्र के वज्र से नहीं डरता हूँ, महादेवजी के त्रिशूल से नहीं डरता हूँ और न ही यमराज के दंड से डरता हूँ । मैं केवल महापुरुषों और ब्राह्मणों के अपराध से डरता हूँ । आपकी बात मैं समझ नहीं पा रहा हूँ । मैं तो इस समय भगवान् कपिलजी के पास ज्ञान प्राप्त करने के लिए जा रहा हूँ । ऐसा प्रतीत होता है कि आप अव्यक्त रूप से विचरण कर रहे हैं । मैं तो गृहस्थी में फँसा हुआ अज्ञानी मनुष्य हूँ, आपकी महिमा मैं भला कैसे जान सकता हूँ किन्तु मुझे एक बात समझ में नहीं आई, आपने कहा कि व्यवहार मार्ग झूठा है, जैसे राजा, प्रजा, शासन करना, माता-पिता, बेटा-बहू आदि व्यवहार मार्ग को आपने झूठा बताया तो ऐसा कैसे, यह सब तो सत्य है, उदाहरण के लिए किसी को सरोवर से घड़े में जल भरकर लाना है तो झूठे घड़े में कैसे जल लाया जा सकता है, इसके लिए जो घड़ा होगा, वह तो वास्तविक होगा । जब किसी बटलोई में चावल पकाना होता है तो जब चूल्हे की आग से बटलोई तपने लगती है तो उसका प्रभाव जल पर पड़ेगा और जल के खौलने से चावल भी पक जाएगा । इसी प्रकार बाहर जब शरीर पर सूर्य का ताप लगता है तो इससे पसीना आता है, इन्द्रियाँ थक जाती हैं और थककर मनुष्य विश्राम करने लगता है । अतः बाहर के शरीर के व्यवहार का प्रभाव तो भीतर स्थित मन-इन्द्रिय और जीव पर पड़ता ही है । जब भीतर प्रभाव पड़ता है तब फिर आप बाहर के व्यवहार को असत्य कैसे कहते हैं, यह मेरा प्रश्न है ।'

(इसको फिर से समझना चाहिए क्योंकि यह कठिन विषय

है ।) रहूगण ने कहा कि कुछ लोग कहते हैं कि यह दुनिया झूठी है, दुनिया का व्यवहार असत्य है किन्तु यह मेरी समझ में नहीं आता है । **'स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य'** – अपने धर्म का पालन करना भी भगवान् की आराधना ही बताया गया है । इसलिए आप मेरे ऊपर ऐसी कृपा कीजिये जिससे कि मैं अज्ञान के अन्धकार से पार हो सकूँ ।

न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य साम्येन वीताभिमतेस्तवापि ।
महद्विमानात् स्वकृताद्धि मादृङ् नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः ॥

(श्रीभागवतजी - ५/१०/२५)

आप विश्वबन्धु श्रीहरि के सखा हैं, उनके अनन्य भक्त हैं । आप अभिमान से पूर्णतया रहित हैं, इसीलिए आपके मन में मानापमान के कारण कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है । ऐसे महापुरुष का अपमान, साक्षात् महादेव भी यदि करेंगे तो नष्ट हो जायेंगे ।

बहुत से लोग कहते हैं कि अमानी भक्त का अपराध कोई शिव के समान तेजस्वी पुरुष भी यदि करेगा तो नष्ट हो जायेगा किन्तु रहूगण ने स्पष्ट कहा है कि शिव के समान नहीं अपितु साक्षात् शूलपाणि शिवजी भी यदि ऐसे अमानी भक्त का अपराध करेंगे तो उन्हें हारना पड़ेगा । बाणासुर का पक्ष लेकर शिवजी युद्ध करने गए थे तो उन्हें हारना पड़ा । इसलिए राजा रहूगण ने यथार्थ बात कही है । भगवान् के भक्त का अपमान शिवजी भी नहीं कर सकते हैं, यदि कोई करता है तो उसकी अधोगति होगी । इसलिए भगवद्भक्त से नहीं अटकना चाहिए ।

अध्याय – ११

जब रहूगण ने दीनतापूर्वक जड़भरत जी से इस प्रकार कहा तो उन्होंने उसके प्रश्न का उत्तर दिया ।

जड़भरतजी ने कहा – राजन ! यह जो व्यवहार है, इसे ज्ञानीजन सत्य नहीं मानते । इतना ही नहीं, वेद में भी जिस व्यवहार का वर्णन किया गया है, यज्ञ का, स्वर्ग का जो वर्णन किया गया है, वह सब झूठा है । कैसे ?

स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं – जैसे स्वप्न में मनुष्य देखता है कि मैं हाथी पर चढ़कर जा रहा हूँ, अब स्वप्न में हाथी कहाँ आया, नहीं आया किन्तु स्वप्न में तो दिखता है, स्वप्न में कहाँ से आया हाथी ? जब तक तुम सपना देखोगे, तब तक तुम्हें सपने का हाथी अथवा अन्य व्यक्ति, पदार्थ सब सत्य दिखाई देंगे किन्तु जागने पर वह स्वप्न का हाथी और अन्य वस्तुयें झूठी हो जायेंगी । इसी तरह हम लोग मोह की नीद में सो रहे हैं तो हमारे लिए संसार सत्य है और जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है, उसके लिए संसार असत्य है । **'स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यम्'** - गृहस्थ में पुरुष है, उसकी स्त्री आकर उसका आलिंगन करती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि गृहस्थ में बड़ा सुख है किन्तु ये सब केवल स्वप्न के सुख हैं । जब मनुष्य मोह की नींद से जाग जाएगा, उसको ज्ञान हो जाएगा तब सारा संसार उसे असत्य भासित होगा । अभी असत्य क्यों नहीं लगता क्योंकि अभी हम लोग मोह की नींद में सो रहे हैं, खर्राटे भर रहे हैं ।

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा । देखिअ सपन अनेक प्रकारा ॥

हम सब सो रहे हैं, जग नहीं रहे हैं ।

एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी । परमारथी प्रपंच बियोगी ॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा । जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥

(श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड - ९३)

मोह की नींद से जागता वही है, जिसे समस्त विषयों से वैराग्य हो जाता है । हम लोग तो अभी सो रहे हैं । जो जाग गया, उसके लिए तो मल-मूत्र के मैथुनी भोग सपना ही हैं ।

इसीलिए जड़भरतजी ने राजा रहूगण से कहा कि गृहस्थी का सारा सुख केवल सपना है । **'स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यम्'** – ये बहूरानी हैं, ये बेटा-बेटी हैं, ये सब स्वप्न हैं । जब तक मनुष्य का मन है, यह मन ही सपना देखता है । जब तुम सो जाते हो तो आँखें तो बंद हो जाती हैं, अब सपने में तुमको हाथी दिखाई देता है तो हाथी किसने देखा, मन ने देखा, अतः देखने वाला मन है । उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में जो भी हम संसारी दृश्य देखते हैं कि अमुक आदमी है, उसने लाल रंग का कपड़ा पहना है, किसी ने शॉल ओढ़ी है तो ये सब देखने वाला मन है । देखने वाली आँख नहीं है ।

'यावन्मनो रजसा पूरुषस्य' (श्रीभागवतजी - ५/११/४)

मन ही सारी दुनिया के व्यवहार का विस्तार कर रहा है, यह मन व्यवहार को सही दिखा रहा है जबकि व्यवहार झूठ है । **'अन्तर्बहिष्ट्वं च पुरैस्तनोति'** – यह मन ही अनेक योनियों में जीव को घुमा रहा है । मन ही जीव के बन्धन-मोक्ष का कारण है । विषयों में फँसकर मन जीव को बन्धन में डाल देता है तथा जब यह निर्गुण हो जाता है तब जीव मुक्त हो जाता है ।

एकादशासन्मनसो हि वृत्तय आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः ।
मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां वदन्ति हैकादश वीर भूमीः ॥

(श्रीभागवतजी - ५/११/९)

मन की ग्यारह वृत्तियाँ हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक अहंकार तथा ग्यारह इनके विषय हैं ।

गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः ।
एकादशं स्वीकरणं ममेति शय्यामहं द्वादशमेक आहुः ॥

(श्रीभागवतजी - ५/११/१०)

गन्ध, रूप, स्पर्श, रस, और शब्द – ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं तथा मल-मूत्र त्याग, संभोग, चलना, बोलना और काम करना – ये पाँच कर्मेन्द्रियों के विषय हैं । शरीर को 'यह मेरा है' इस प्रकार स्वीकार करना, यह ग्यारहवीं वृत्ति तथा बारहवीं वृत्ति है – मैं शरीर हूँ अर्थात् अहंता-ममता की वृत्ति । एक वृत्ति यह कि मैं शरीर हूँ तथा शरीर मेरा है, मेरी बहू, मेरा बेटा । इस प्रकार पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा अहंता और ममता – ये बारह वृत्तियाँ हैं । इनके अनेक भेद हो जाते हैं । इन वृत्तियों को क्षेत्रज्ञ पुरुष देखता है । ये बारह वृत्तियाँ जीव की हैं, क्षेत्रज्ञ शुद्ध चैतन्य की नहीं हैं ।

क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूतीर्जीवस्य मायारचितस्य नित्याः ।

(श्रीभागवतजी – ५/११/१२)

जीव और क्षेत्रज्ञ में अन्तर है । जीव लिंग शरीर विशिष्ट है तथा क्षेत्रज्ञ जो शुद्ध चैतन्य है, वह भगवान् वासुदेव है । जब तक मनुष्य का मन इन भगवान् को नहीं जानता है तब तक यह संसार में ममता आदि करता रहता है । भगवान् को कैसे जानोगे ?

'गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो' (श्रीभागवतजी - ५/११/१७)

जब गुरुदेव के चरणों में जाकर बैठोगे और प्रतिदिन वे तुम्हारे कान में यही कहेंगे कि 'बेटा, तुम शरीर नहीं हो, तुम भगवान् की उपासना करो, भगवान् ही चैतन्य घन हैं ।' इस प्रकार उनकी बात नित्य ही सुनते-सुनते तब तुम्हें ज्ञान होगा, ऐसे ही नहीं होगा ।

अध्याय – १२

राजा रहूगण ने कहा – महाराज ! आपकी वाणी तो अमृत के समान है परन्तु मुझे अभी भी यह बात समझ नहीं आ रही है, जो आप

कह रहे हैं कि व्यवहार मिथ्या है । यह आप मुझे फिर से समझाइये । सारी दुनिया व्यवहार में ही तो अटकी हुई है । व्यवहार को झूठा मानना बड़ा कठिन है । सब दुनिया झूठी है, ऐसा कहना तो सरल है किन्तु इसे छोड़ना कठिन है । इसलिए आप मुझे इस विषय को फिर से समझाइये ।

(वस्तुतः यह बात बड़ी कठिनाई से समझ में आती है अतः बार-बार समझाना पड़ता है । इसलिए जड़भरतजी फिर से समझाते हैं ।)

जड़भरतजी ने कहा – यह तुम्हारा जो शरीर है, यह राजा है, तुम पालकी पर बैठे हो, पालकी मेरे कन्धे पर है । अब विचार करो कि तुम्हारा यह शरीर कैसे बना है ?

अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः ।

(श्रीभागवतजी - ५/१२/५)

यह शरीर जो चल रहा है, यह मिट्टी से बना है, इसलिए ये हाथ-पाँव मिट्टी हैं । तुम्हारे हाथ-पाँव भी मिट्टी हैं । यह मिट्टी पृथ्वी माता से बनी है । जितने भी जीव हैं – **यदा क्षितावेव चराचरस्य.....** मैं, तुम, हमारे-तुम्हारे माँ-बाप, दादा-दादी, गधा, कुत्ता, चिड़िया आदि – इन सबके शरीर भी मिट्टी से बने हैं । मिट्टी अथवा पृथ्वी परमाणुओं से बनी है – **असन्निधानात्परमाणवो ये ।** (विज्ञान भी इस बात को मानता है) सारी दुनिया परमाणुओं से बनी हुई है और वे परमाणु अविद्या के कारण मन से कल्पित हैं । अतः जब परमाणुओं से मिट्टी-पृथ्वी, सारी दुनिया बनी हुई है और वे परमाणु कल्पित हैं, माया से बने हैं तब फिर दुनिया में सच कहाँ रहा ? सच तो कुछ भी नहीं रहा । माया से जो परमाणु बने हैं, परमाणुओं से मिट्टी (पृथ्वी) बनी तथा मिट्टी से बेटा-बहू, जमीन-जायदाद, मकान आदि उत्पन्न

हुए । यह सारा द्वैत माया का खेल है । सत्य क्या है ? सत्य एकमात्र भगवान् हैं ।

संसार माया कैसे है, इसे आधुनिक उदाहरण से समझो । सिनेमा सबने देखा होगा । सिनेमा हॉल में बैठने पर परदे पर सब दृश्य दिखाई देता है । अभिनेता आता है, अभिनेत्री आती है, नाचती है । इसी प्रकार सिनेमा के परदे पर राजा हरिश्चन्द्र की फ़िल्म दिखाई जाती है, राजा हरिश्चन्द्र आते हैं, अपना सारा राज्य, स्त्री-पुत्र आदि दान में दे देते हैं । थोड़ी देर में बिजली चली जाती है तो परदे पर न तो हरिश्चन्द्र दिखाई देते हैं, न उनकी प्रजा । वे सब कहाँ गए ? सारी दुनिया गायब हो गई । परदे पर वे दृश्य कहाँ से आये थे, जो सत्य दिख रहे थे, वह सब माया थी ।

इसी प्रकार जड़भरतजी ने कहा कि –

'नान्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम्' (श्रीभागवतजी - ५/१२/१०)

माया से ही सब संसार भासित हो रहा है । विशुद्ध परमार्थरूप सत्य कौन है ?

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।

(श्रीभागवतजी - ५/१२/११)

विशुद्ध परमार्थरूप, अद्वितीय तथा भीतर-बाहर के भेद से रहित परिपूर्ण ज्ञान ही सत्य वस्तु है । उसी का नाम भगवान् है और उसी को विद्वान् लोग 'वासुदेव' कहते हैं । इस सत्य की प्राप्ति के लिए ही माया से भासित असत्य संसार को ऋषि-मुनि और राजर्षि लोग छोड़ देते हैं । क्यों छोड़ देते हैं ? सत्य वस्तु की प्राप्ति के लिए असत् वस्तु के त्याग में दोष नहीं है । कोई कहे कि साधु लोग संसार का त्याग कर देते हैं, यह तो बड़ा अनुचित है । ऐसा नहीं है । सत् वस्तु के लिए असत् वस्तु का त्याग किया जाता है । वैसे ही त्याग कर दिया जाए

तो गलत बात है । किसी को खाने को भोजन नहीं उपलब्ध हुआ, नौकरी नहीं मिली, इसलिए साधु बन गए, संसार त्याग दिया, ऐसा नहीं । सत् वस्तु के लिए असत् वस्तु का त्याग करना चाहिए । सत् वस्तु क्या है ? सत् वस्तु वही है, जिसे 'वासुदेव' कहते हैं । अब वे वासुदेव मिलेंगे कैसे, अर्थात् भगवान् की प्राप्ति कैसे होगी ? तो जड़भरत जी कहते हैं –

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
न च्छन्दसा नैव जलाग्नि सूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥

(श्रीभागवतजी - ५/१२/१२)

तपस्या से भगवान् नहीं मिलेंगे । तुम कितने भी यज्ञ कर लो, अतिथि सेवा कर लो, गृहस्थ धर्म का पालन कर लो, विरक्त बन जाओ, वेद पढ़ लो, जल, अग्नि एवं सूर्य की उपासना कर लो, इन साधनों से भगवान् नहीं मिलेंगे । जो सच्चे भक्त हैं, उनकी चरण रज में स्नान करो अर्थात् उनकी निष्कपट शरणागति ग्रहण करो । निष्कपट भाव से उनकी शरण में जाओ । इससे भगवान् मिल जायेंगे ।

अब प्रश्न उठता है कि वे भक्त कैसे हैं, उन भक्तों का लक्षण क्या है, क्योंकि सभी अपने को भक्त बताते हैं । जड़भरतजी कहते हैं कि उन भक्तों के लक्षण ये हैं –

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः ।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षोर्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥

(श्रीभागवतजी - ५/१२/१३)

भक्त कौन है ? लाल कपड़े वाला भक्त है कि भस्म लगाने वाला भक्त है कि जटा बढ़ाने वाला भक्त है कि घंटी हिलाने वाला भक्त है कि जो मन्दिर में पुजारी बैठता है, वह भक्त है, किसे भक्त मानें ?

आचार्यजी को भक्त मानें कि ब्राह्मणजी को मानें कि गोस्वामीजी को मानें कि महात्माजी को मानें ।

जड़भरतजी कहते हैं कि भक्त का एक ही लक्षण है – जिसके पास हर समय उत्तमश्लोक यानी श्रीकृष्ण के गुणों की चर्चा है, वह भक्त है । न ब्राह्मण भक्त है, न शूद्र भक्त है, न साधु भक्त है, न गृहस्थ भक्त है, न आचार्य भक्त है, न गोस्वामी भक्त है ।

यह बात महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने अपने पुत्रों से कही थी – 'हे मेरे पुत्रो ! चाहे भले ही तुम गोस्वामी वंश के हो, जब तुम कृष्ण-चर्चा से बहिर्मुख हो जाओगे, तब तुमको काल खा जाएगा ।'

अतः भक्त वही है जो कि हर समय उत्तमश्लोक अर्थात् श्रीकृष्ण की चर्चा करे । बाकी दान करना जैसे गरीबों को कपड़ा दे दो, भोजन दे दो, अमुक की सेवा कर दो; आदि इन सब बातों का भक्त से कोई लेना-देना नहीं है । केवल मात्र श्रीकृष्ण चर्चा करना - यही सच्चे भक्त का लक्षण है ।

नेता लोग कहते हैं कि जनता की सेवा करो, जनता के लिए अस्पताल बनवा दो, अनाथालय बनवा दो, वृद्धाश्रम बनवा दो, ये सब भक्त के लक्षण नहीं हैं । **यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः** - एकमात्र कृष्ण चर्चा, श्री राधा चर्चा करना भक्त का लक्षण है । कोई पूछे कि इससे क्या होगा ? **प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः** - कृष्ण चर्चा से बेकार की बातें अपने आप ही बन्द हो जायेंगी । जब तुम निरन्तर कृष्ण चर्चा करोगे तो ग्राम्य कथा बन्द हो जाएगी । इससे संसार का मन में प्रवेश बन्द हो जाएगा । संसार मन में कैसे आता है, कानों के द्वारा आता है । अमुक आदमी ऐसा है, अमुक स्त्री ऐसी है, ये है, वो है, ये सब बातें ही संसार है । जब हर समय हम कृष्ण कथा कहेंगे, कृष्ण कथा व कृष्ण नाम सुनेंगे तो संसार कान में घुस ही नहीं पायेगा । **मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे** - ऐसा व्यक्ति जो दिन-रात कृष्ण की चर्चा, कृष्ण

गुणगान में लगा रहता है, उसके पास रहने से स्वतः ही कृष्ण में मन लग जाएगा । जब कृष्ण नाम कीर्तन हर समय करोगे तो कृष्ण में मन अवश्य ही लगेगा । नाम का चमत्कार तो संसार में ही देख लो । मान लो किसी लड़की का किसी लड़के से प्रेम है । लड़के का नाम है लल्लूलाल । लड़की अपने कमरे में अकेली बैठी हो और कोई उससे जाकर कहे कि आज अमुक स्थान पर एक कार से टकराकर एक लड़का कुचल गया । उसका हुलिया बताओ कि वह ऐसे कपड़े पहने था । अब लड़की पूछेगी कि उस लड़के का नाम क्या था ? व्यक्ति ने लड़के का नाम बताया - लल्लूलाल । इस नाम को सुनते ही उस लड़की की हालत खराब हो जायेगी क्योंकि नाम से नामी की स्मृति आती है ।

इसलिए हर समय कृष्ण नाम, कृष्ण कथा से जुड़े रहना – यही भक्त का लक्षण है ।

इसके बाद तेरहवें अध्याय में जड़भरतजी ने भवाटवी का वर्णन किया है और चौदहवें अध्याय में परीक्षितजी के पूछने पर शुकदेवजी ने इसका आशय समझाया है कि संसार के मार्ग में चलने वाला यह जीव अनेक प्रकार के कष्टों और विघ्न-बाधाओं से परेशान होने पर भी रास्ते में जिन जीवों पर विपत्तियाँ आती हैं अथवा जो लोग मर जाते हैं, उन्हें वहीं छोड़कर नए जन्मे हुए जीवों का संग करता है, कभी किसी के लिए दुःख करता है, किसी का दुःख देखकर स्वयं मूर्च्छित हो जाता है, किसी के वियोग की आशंका से डर जाता है, किसी से झगड़ा करता है, कोई संकट आता है तो रोने-चिल्लाने लगता है, कभी मन के अनुकूल कोई बात होने पर इसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता, कभी गाने लगता है तो कभी विषय सुख के लिए बन्धन में बँधने में भी नहीं हिचकता । साधुजन इसके पास कभी नहीं आते, साधुसंग से यह सदा वंचित रहता है । इस प्रकार विषयासक्ति में फँसा

हुआ यह निरन्तर आगे ही बढ़ रहा है । जहाँ से इसकी यात्रा आरम्भ हुई और जो इस मार्ग की अन्तिम अवधि है, उस परमात्मा के पास यह अभी तक नहीं लौटा है । शुकदेवजी कहते हैं – राजन् ! भरतजी के विषय में पण्डितजन ऐसा कहते हैं –

यो दुस्त्यजान्दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः ।
जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः ॥

(श्रीभागवतजी - ५/१४/४३)

भरतजी ने हृदय को स्पर्श करने वाली अत्यन्त सुन्दर स्त्री, पुत्र, मित्र और राज्यादि को युवावस्था में ही मल के समान त्याग दिया था, जिनको त्यागना दूसरों के लिए अत्यन्त ही कठिन है ।

इसके बाद पन्द्रहवें अध्याय में शुकदेवजी ने भरतजी के वंश का वर्णन किया है, सोलहवें अध्याय में भुवनकोश का वर्णन किया है तथा सत्तरहवें अध्याय में गंगाजी का विवरण और भगवान् शिव कृत संकर्षण देव की स्तुति का वर्णन किया गया है । अट्ठारहवें अध्याय में भिन्न-भिन्न वर्षों का वर्णन किया गया है । उन्नीसवें अध्याय में किम्पुरुष और भारतवर्ष का वर्णन किया गया है । देवता लोग भी भारत वर्ष में जन्म लेने वाले मनुष्यों की इस प्रकार महिमा गाते हैं ।

अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥

(श्रीभागवतजी - ५/१९/२१)

धन्य हैं वे जीव, जिन्होंने भारतवर्ष में भगवान् की सेवा के योग्य मनुष्य जन्म प्राप्त किया है । इन्होंने ऐसा क्या पुण्य कर्म किया है ? इन पर स्वयं भगवान् श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं । भारतभूमि में जन्म पाने के लिए तो हम भी लालायित रहते हैं ।

न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥

(श्रीभागवतजी - ५/१९/२४)

जहाँ पर भगवान् के कथामृत की नदी नहीं बहती है, जहाँ भगवान् के ही आश्रय में रहने वाले भगवद्भक्त नहीं निवास करते तथा जहाँ नृत्य और गीत आदि उत्सवों के साथ भगवान् की आराधना नहीं की जाती है, वह स्थान चाहे ब्रह्मलोक और स्वर्ग ही क्यों न हो, वहाँ कभी नहीं रहना चाहिए।

इसके बाद बीसवें अध्याय में छः द्वीपों तथा लोकालोक पर्वत का वर्णन किया गया है। इक्कीसवें अध्याय में सूर्य के रथ और उसकी गति का वर्णन किया गया है। बाईसवें अध्याय में भिन्न-भिन्न ग्रहों की स्थिति और उनकी गति का वर्णन किया गया है। तेईसवें अध्याय में शिशुमार चक्र का वर्णन किया गया है। चौबीसवें अध्याय में राहु आदि की स्थिति का वर्णन किया गया है तथा अतल आदि पृथ्वी के नीचे के लोकों का वर्णन किया गया है। पृथ्वी के नीचे अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल नाम के सात लोक हैं। अतल लोक में मय दानव का पुत्र असुर बल रहता है, वितल लोक में भगवान् हाटकेश्वर नामक महादेव जी अपने पार्षद् भूतगणों के साथ रहते हैं। वितल लोक के नीचे सुतल लोक है, उसमें भगवान् के परम भक्त राजा बलि रहते हैं। सुतल लोक के नीचे तलातल है, जहाँ दानवराज मय रहता है। महातल में कद्रू से उत्पन्न हुए अनेक सिरों वाले सर्प रहते हैं, रसातल में पणि नाम के दैत्य और दानव रहते हैं। रसातल के नीचे पाताल है, वहाँ बड़े क्रोधी और बड़े-बड़े फनों वाले नाग रहते हैं, इनमें वासुकि प्रधान है। इनमें से किसी के पाँच, किसी के सात, किसी के दस, किसी के सौ और किसी के हजार सिर

हैं । ये नाग अपनी मणियों के प्रकाश से पाताल को प्रकाशित करते रहते हैं ।

अध्याय – २५

शुकदेवजी कहते हैं – राजन ! पाताल लोक से तीस हजार योजन नीचे शेष भगवान् रहते हैं । उनके एक हजार फन हैं, उनमें से एक फन पर रखी हुई पृथ्वी सरसों के दाने के समान दिखाई देती है । उनकी भौहों से ग्यारह रुद्र उत्पन्न होते हैं । अनेकों नागराज कुमारियाँ उनकी सेवा करती हैं । शेषजी के अंग पर नीलाम्बर और कानों में केवल एक कुंडल जगमगाता रहता है । नारदजी ने एक बार तुम्बुरु गन्धर्व के साथ ब्रह्माजी की सभा में शेष भगवान् के गुणों का इस प्रकार गान किया था ।

यन्नाम श्रुतमनुकीर्तयेदकस्मादार्तो वा यदि पतितः प्रलम्भनाद्वा ।
हन्त्यंमहः सपदि नृणामशेषमन्यं कं शेषाद् भगवत आश्रयेन्मुमुक्षुः ॥

(श्रीभागवतजी - ५/२५/११)

जिनके नाम को केवल सुनने मात्र से, कीर्तन करने से पीड़ित या पतित व्यक्ति के भी सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं चाहे वह ढोंग से ही नाम का उच्चारण करे । ऐसे शेष भगवान् को छोड़कर मुमुक्षु पुरुष और किसका आश्रय ले सकता है ? उनके नाम को छोड़कर हम और किसका आश्रय लें ?

समस्त पापों को भगवन्नाम केवल सुनने से ही जलाता है इसलिए प्रतिदिन नाम कीर्तन करो ।

शुकदेवजी कहते हैं – भगवान् के नाम का आश्रय छोड़कर हम और किसका आश्रय लें ।

अध्याय – २६

राजा परीक्षित ने पूछा – महर्षे ! इतने अधिक लोक कैसे बन गये ?

शुकदेवजी ने कहा – त्रिगुणमयी सृष्टि है, इसमें अलग-अलग गुण हैं, अलग-अलग कर्म हैं ।

परीक्षितजी ने दूसरा प्रश्न किया – भगवन् ! नरक कहाँ हैं, वे यहीं(पृथ्वी पर) हैं या अन्यत्र कहीं हैं ?

शुकदेवजी ने कहा – राजन् ! नरक दक्षिण दिशा में, पृथ्वी के नीचे जल के ऊपर स्थित हैं । नरक तो बहुत से हैं किन्तु मुख्य अट्ठाईस हैं । संक्षेप में इनके नाम और इनमें दी जाने वाली यातनाओं के बारे में जान लो ।

तामिस्र – जो मनुष्य पराया धन, परायी स्त्री और परायी सन्तान का हरण करता है, उसे यमदूत तामिस्र नरक में ले जाते हैं । यहाँ बहुत कष्ट दिया जाता है । पापियों को पकड़कर यमदूत बलपूर्वक यहाँ गिरा देते हैं, उन्हें अन्न –जल भी नहीं दिया जाता, दिन-रात उन्हें दंड दिया जाता है, मारा-पीटा जाता है । **अन्धतामिस्र** – जो पुरुष दूसरे को धोखा देकर उसकी स्त्री आदि को भोगता है, उसे अन्धतामिस्र नरक में जाना पड़ता है । वहाँ उसे काटा जाता है, कष्ट के कारण उसकी मति और दृष्टि नष्ट हो जाती है ।

भूतद्रोहेण केवलं स्वकुटुम्बमेवानुदिनं प्रपुष्णाति स तदिह विहाय स्वयमेव तदशुभेन रौरवे निपतति ।

(श्रीभागवतजी - ५/२६/१०)

रौरव – जो भूतद्रोह अर्थात् दूसरे प्राणियों से द्रोह करता है तथा केवल अपना और अपने परिवार का पालन-पोषण करने में ही लगा

रहता है, उसे रौरव नरक में जाना पड़ता है । द्रोह करना बहुत बड़ा पाप है । कुछ लोग सोचते हैं कि हम तो अपनी कमाई खाते हैं, हम कोई पाप तो करते नहीं हैं । अरे, अपनी कमाई खाना भी पाप है । इस बात को लोग जानते नहीं हैं । जैसे परायी स्त्री भोगना पाप है, उसी प्रकार अकेले अपना पेट भरना भी पाप है । इन बातों को कोई पाप ही नहीं समझता है । बहुत से लोग कहते हैं कि हम तो अपनी शुद्ध आजीविका कमाते हैं, किसी की चोरी नहीं करते हैं । किन्तु केवल अपना ही पेट भरना ठीक नहीं है । तुमने दूसरों के लिए, परोपकार के लिए कुछ किया । कोई दूसरों की सेवा करता है तो आजकल के लोग उसे मूर्ख बताते हैं । धर्म को अधर्म बताते हैं । ऐसे लोगों को, जो केवल अपने और अपने परिवार के ही पोषण में लगे रहते हैं, उन्हें रौरव नरक में डाल दिया जाता है, इस नरक में 'रुरु' नाम के जीव उन्हें खाते हैं, बहुत कष्ट पहुँचाते हैं, ऐसा ही महारौरव नरक है । जो किसी और की परवाह न करके केवल अपने ही शरीर के पालन-पोषण में लगा रहता है, वहाँ कच्चा माँस खाने वाले 'रुरु' इसे माँस के लोभ से काटते हैं । जो दुष्ट लोग पशु-पक्षियों का माँस खाते हैं, उन्हें 'कुम्भीपाक' नरक में खौलते हुए तेल में डालकर साग-सब्जी की तरह तला-भूना जाता है ।

जो मनुष्य अपने माता-पिता, ब्राह्मण और वेद से विरोध करता है, उसे यमदूत 'कालसूत्र' नरक में ले जाते हैं । इसका घेरा दस हजार योजन है, इसकी भूमि ताँबे की है, वह ऊपर से सूर्य और नीचे अग्नि के ताप से गरम तवे की तरह जलती रहती है । यहाँ ऐसे पापियों को डाल दिया जाता है, जब उसका शरीर बुरी तरह जलने लगता है तब वह इधर-उधर दौड़ता है । उस मनुष्य के शरीर में जितने रोम होते हैं, उतने ही हजार वर्षों तक उसको यह कष्ट भोगना पड़ता है । जो मनुष्य वैदिक मार्ग को छोड़कर पाखण्ड के रास्ते पर चलता है, उसे यमदूत

'असिपत्रवन' नामक नरक में ले जाते हैं और कोड़ों से पीटते हैं, उनकी मार से बचने के लिए जिधर भी वह दौड़ता है, उसके सारे अंग तालवन के तलवार के समान पैने पत्तों से छिद जाते हैं, तब वह अत्यन्त कष्ट से 'हाय, मैं मरा' इस प्रकार चिल्लाता हुआ गिर पड़ता है । राजा या राजपुरुष (राजकर्मचारी), दरोगा आदि – ये लोग जिसको दण्ड नहीं देना चाहिए, ऐसे निरपराध मनुष्य को भी दण्ड देते हैं । इनको घूस दे दी जाये तो निरपराध व्यक्ति को झूठे आरोप में फँसा लेते हैं । ऐसे पापियों के लिए 'सूकरमुख' नामक नरक है, वहाँ कोल्हू जैसे यन्त्र में डालकर इन्हें गन्ने की तरह पेरा जाता है । जो मनुष्य दूसरे जीवों के कष्ट को नहीं जानता और खटमल आदि जीवों की हिंसा करता है, उसे 'अंधकूप' नरक में पशु, मृग, पक्षी, साँप आदि रेंगने वाले जन्तु, मच्छर, जूँ, खटमल आदि जीव – जिनकी इसने हिंसा की थी, उसे सब ओर से काटते हैं । इसी प्रकार जो मनुष्य बिना दूसरे को बाँटे स्वयं ही खा लेता है, उसे 'कृमिभोजन' नामक नरक में कष्ट भोगना पड़ता है । इसलिए अपनी कमाई को सदा बाँटकर खाओ । ब्रज में इस सन्दर्भ में बड़ी सुन्दर प्रथा है । बाहर के लोग चाहे कितना ही दान करें, ब्रजवासियों की समानता कभी नहीं कर सकते । ब्रज के हर घर से साधुओं और अतिथि को भोजन कराया जाता है । बाहर के लोग साल में दो-चार बार किसी को खिला देंगे तो कहते हैं कि हमारे यहाँ बहुत अतिथि सेवा होती है । जबकि ब्रज में देखो तो ब्रजवासी, जो गरीब हैं, जिनके ऊपर कर्ज है, हर घर से सबेरे से शाम तक प्रतिदिन अनेकों साधु भिक्षा में अन्न लेकर जाते हैं । ऐसा इसलिए है क्योंकि यह वैष्णव भूमि, प्रभु की भूमि है । यदि भोजन बिना बाँटकर खाओगे या बिना पञ्च महायज्ञ किये खाओगे तो कृमिभोजन नामक नरक में तुमको जाना पड़ेगा । वहाँ एक लाख योजन विस्तार वाला

एक कीड़ों का कुंड है, वहाँ डाल दिया जायेगा और फिर कीड़े तुमको खायेंगे । जो मनुष्य ब्राह्मण अथवा किसी दूसरे पुरुष का धन, सुवर्ण और रत्नादि की चोरी करता है, उसे यमदूत सन्दंश नामक नरक में ले जाकर तपाये हुए लोहे के गोलों से दागते हैं तथा संडसी से उसकी खाल नोचते हैं । कोई पुरुष यदि अगम्या स्त्री के साथ भोग भोगता है अथवा स्त्री अगम्य पुरुष के साथ भोग करती है तो यमदूत उन्हें तप्तसूर्मि नामक नरक में डालकर पुरुष को आग में तपाये हुए लोहे की स्त्री मूर्ति से तथा स्त्री को तपाई हुई पुरुष मूर्ति से आलिंगन कराते हैं और कहते हैं कि अब तुम इससे भोग करो । जो राजा या राजपुरुष धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, उन्हें वैतरणी नदी में पटक दिया जाता है । उस नदी में मल, मूत्र, रक्त, पीब, हड्डी, माँस-मज्जा आदि गंदी चीजें भरी हुई हैं । वहाँ गिरने पर जल के जीव उन्हें नोचते हैं । जो लोग शौच और आचार के नियमों को छोड़ देते हैं तथा पशुओं के समान आचरण करते हैं उन्हें मल-मूत्र, कफ, पीब से भरे हुए पूयोद नामक समुद्र में गिरकर उन्हीं गंदी वस्तुओं को खाना पड़ता है । ब्राह्मण आदि यदि कुत्ते या गधे पालते और शिकार आदि में लगे रहते हैं तथा शास्त्र के विपरीत पशुओं का वध करते हैं तो उन्हें प्राणरोध नामक नरक में डाला जाता है और यमदूत उन्हें बाणों से बींधते हैं । जो पाखण्डी लोग पाखण्डपूर्ण यज्ञों में पशुओं का वध करते हैं, उन्हें यमदूत वैशस नरक में डालकर बहुत कष्ट के साथ काटते हैं । जो द्विज कामातुर होकर अपनी सवर्णा पत्नी को वीर्य पान कराता है, उस पापी को यमदूत वीर्य की नदी (लालभक्ष नामक नरक) में डालकर वीर्य पिलाते हैं ।

चोर-डाकू, राजा या राजपुरुष यदि किसी के घर में आग लगा देते हैं, किसी को जहर देते हैं अथवा गाँवों या व्यापारियों की टोलियों

को लूटते हैं, उन्हें यमदूत सारमेयादन नामक नरक में डाल देते हैं । वहाँ वज्र की सी दाढ़ों वाले सात सौ बीस यमदूत कुत्ते बनकर बड़ी तेजी से काटते हैं ।

जो मनुष्य किसी की गवाही देने में, व्यापार में अथवा दान के समय किसी भी तरह झूठ बोलता है, उसे अवीचिमान् नरक में भेजा जाता है, वहाँ सौ योजन ऊँची पहाड़ की चोटी से नीचे को सिर करके गिराया जाता है । वहाँ की पत्थर की जमीन जल के समान दिखती है । वहाँ गिराने पर शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी प्राण नहीं निकलते, इसलिए पापियों को बार-बार ऊपर ले जाकर नीचे पटका जाता है । जो लोग शराब पीते हैं, उन्हें यमदूत अयःपान नामक नरक में ले जाते हैं और उनकी छाती पर पैर रखकर उनके मुँह में आग से गलाया हुआ पिघला लोहा पिलाते हैं । जो नीच पुरुष जन्म, तप, विद्या, आचार, वर्ण या आश्रम में अपने से बड़ों का सम्मान नहीं करता, उसे क्षारकर्दम नामक नरक में नीचे सिर करके गिराया जाता है, वहाँ उसे अनन्त कष्ट भोगने पड़ते हैं । जो लोग मनुष्य का बलिदान करते हैं, उन्हें रक्षोगण भोजन नामक नरक में वे ही बलिदान किये हुए पुरुष कसाइयों के समान कुल्हाड़ी से काट-काटकर उसका खून पीते हैं । जो लोग वन या गाँव के निरपराध जीवों को अनेक उपायों से बहकाकर अपने पास बुलाते हैं फिर उन्हें काँटे से बेधकर या रस्सी से बांधकर खिलवाड़ करते हैं हुए उन्हें परेशान करते हैं, ऐसे दुष्टों को शूलप्रोत नामक नरक में शूलों से बेधा जाता है । जब उन्हें भूख-प्यास सताती है तब कंक, बटेर आदि तीखी चोचों वाले भयानक पक्षी उन्हें नोचने लगते हैं । जो दुष्ट स्वभाव के पुरुष दूसरों को उद्वेग पहुँचाते हैं, उद्वेग कैसे पहुँचाते हैं, कड़वी वाणी बोलते हैं, जैसे कोई रास्ते में जा रहा है तो उसे परेशान करने के लिए धमकाते हैं – 'क्यों

बे', इस प्रकार बिना मतलब ही जो दूसरे को उद्वेग पहुँचाने के लिए जोर से चिल्लाते हैं, ताना मारते हैं, ऐसे आसुरी स्वभाव वालों को दंदशूक नामक नरक में भेजा जाता है । वहाँ पाँच-सात मुँह वाले सर्प उन्हें चूहों की तरह निगल जाते हैं । इसलिए मनुष्य को हमेशा सँभलकर बोलना चाहिए, कडवी वाणी नहीं बोलना चाहिए ।

जो मनुष्य दूसरे प्राणियों को अँधेरी गुफाओं में, कोठरियों में डाल देते हैं, उन्हें अवटनिरोधन नामक नरक में यमदूत वैसे ही स्थानों में डालकर विषैली आग के धुएँ में घोंटते हैं । जो गृहस्थ अपने घर पर आये अतिथि और भिक्षुक को कुटिल दृष्टि से देखता है, पर्यावर्तन नामक नरक में गिद्ध, काक, कंक और बटेर आदि वज्र की सी कठोर चोंचों वाले पक्षी उसकी आँखों को बलपूर्वक निकाल लेते हैं । जो व्यक्ति अपने को धनी मानकर बड़ा अहंकार करता है, सबको टेढ़ी नजर से देखता है तथा सब पर संदेह रखता है, पैसा पैदा करने, बढ़ाने और उसे बचाने में जो तरह-तरह के पाप करता है, उसे सूचीमुख नामक नरक में ले जाकर यमदूत उसके सारे अंगों को दर्जियों की तरह सुई-धागे से सिलते हैं ।

शुकदेवजी कहते हैं – राजन् ! मैं कहाँ तक वर्णन करूँ, इस तरह के और भी बहुत से नरक हैं । निवृत्तिमार्ग के बारे में तो मैं तुमको पहले (द्वितीय स्कन्ध में) ही बता चुका हूँ । **'श्रद्धाभक्तिविशुद्धबुद्धिर्वेद'** – भगवान् के स्वरूप को तो श्रद्धा-भक्ति से युक्त मनुष्य ही जान सकता है । मैंने तुमको अब तक भगवान् के स्थूल और सूक्ष्म रूपों के बारे में बता दिया ।

इस प्रकार पाँचवाँ स्कन्ध समाप्त हुआ ।

श्री राधा

षष्ठ स्कन्ध

अध्याय – १

राजा परीक्षित् ने कहा – महाराज ! निवृत्ति मार्ग का आपने (द्वितीय स्कन्ध में) वर्णन कर दिया है, प्रवृत्ति मार्ग का भी आपने वर्णन (तीसरे स्कन्ध में) कर दिया है । (चौथे स्कन्ध में) आपने प्रथम मन्वन्तर का भी वर्णन किया है । प्रियव्रत और उत्तानपाद के वंशों तथा चरित्रों का आपने (चौथे और पाँचवें स्कन्ध में) वर्णन कर दिया, अधर्म करने से नरकों की प्राप्ति होती है, उसका भी आपने (पाँचवें स्कन्ध में) वर्णन किया । भगवन् ! अब यह बताइए कि नरक की यातनाओं से मनुष्य किस प्रकार छूट सकता है ?

श्रीशुकदेवजी ने कहा – मनुष्य जब तक अपने पापों का प्रायश्चित्त नहीं करता, तब तक उसे अवश्य ही नरक में जाना पड़ेगा, उससे छुटकारा नहीं मिल सकता । इसलिए मनुष्य को अपनी मृत्यु के पहले ही बड़ी सावधानी के साथ अपने पापों का प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए ।

राजा परीक्षित् ने पूछा – भगवन् ! प्रायश्चित्त करने के बाद भी तो मनुष्य उन्हीं पापों को फिर से करने लगता है जैसे चोर को राज्य की ओर से सजा मिलती है, वह जेल जाता है किन्तु जेल से छूटने के बाद वह फिर से चोरी करता है, इसलिए ऐसी स्थिति में तो प्रायश्चित्त करना भी व्यर्थ है ।

शुकदेवजी ने कहा – राजन् ! तुम्हारा प्रश्न तो बहुत उत्तम है । वस्तुतः कर्म के द्वारा कर्म नहीं जल सकता है क्योंकि सब लोगों का वेद में अधिकार नहीं है और सब लोग वेद को जान भी नहीं सकते । इसलिए नौ साधन ऐसे हैं, जिनसे पापों को जलाया जा सकता है ।

तपसा ब्रह्मचर्येण शमेन च दमेन च ।
त्यागेन सत्यशौचाभ्यां यमेन नियमेन च ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१/१३)

ये नौ साधन हैं – तपस्या, ब्रह्मचर्य, शम, दम, त्याग, सत्य, शौच, यम और नियम । इनके द्वारा पाप नष्ट होते हैं । शम क्या है ? किसी ने तुमको गाली दी और तुम शांत रहे, यह है शम । यह कितना बढ़िया रास्ता है । महाभारत में लिखा है – **'शप्यमानस्य यत् पापं शपमानं हि गच्छति'** - कोई व्यक्ति किसी को गाली दे रहा है और वह शांति से उसे सह लेता है, उसके मन में कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं होता तो उसके सारे पाप गाली देने वाले के पास चले जाते हैं । इसलिए शम पापों को जलाने का बहुत बड़ा साधन है । सहना सीखो, शान्त रहना सीखो । गृहस्थ हो तो अपनी स्त्री व बच्चों को सहनशीलता सिखाओ क्योंकि इससे पाप नष्ट होते हैं । जो नहीं सहन करता है, असहिष्णु है, उसके पाप बढ़ जाते हैं, इसलिए हमेशा छोटे बनो । शम से पाप जल जाते हैं । ये गुण सीखने योग्य हैं । त्याग से भी पाप नष्ट होते हैं किन्तु एक बात समझने योग्य है कि ये नौ साधन बड़े कठिन हैं । त्याग करना सरल नहीं है, शम और दम भी सरल नहीं हैं । इसलिए शुकदेवजी ने एक और रास्ता बताया ।

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।
अघं धुन्वन्ति कात्स्न्र्येन नीहारमिव भास्करः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१/१५)

त्याग करना सरल नहीं है, तुम त्याग नहीं कर सकते, ब्रह्मचर्य रखना भी आजकल कलियुग में कठिन है । शम नहीं कर सकते, दम नहीं कर सकते, कुछ नहीं कर सकते तो केवला भक्ति भी पापों को नष्ट कर देती है । केवलया क्यों कहा गया, इसलिए कहा गया क्योंकि उपरोक्त बताये गये नौ लक्षण यदि किसी में नहीं हैं, जैसे तुम ब्रह्मचर्य

से नही रह सकते, शम अर्थात् मन में शान्ति नहीं है, बड़ा गरम खून है, आजकल सभी का खून बड़ा गरम है । सहनशीलता किसमें है ? सत्य भी नहीं है, झूठ बोलना ही पड़ता है, फिर भी तुम केवला भक्ति किये जाओ, तुम्हारे सभी पाप जल जायेंगे । जैसे सूर्यदेव के उदय होते ही कुहरा समाप्त हो जाता है । इसीलिए कोई पापी भी यदि भगवन्नाम कीर्तन कर रहा हो तो उसे देखकर हँसो नहीं क्योंकि भगवान् ने गीता में कहा है –

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

(श्रीगीताजी - ९/३०)

कोई अत्यधिक दुराचारी भी अनन्य भाव से मेरा भजन करता है तो उसे साधु ही मानना चाहिए ।

केवला भक्ति के द्वारा भगवन्नाम कीर्तन से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और तुम कीर्तन करने वाले का उपहास करते हो । कितना भी कोई पापी है, मान लो कोई चोर है और वह कीर्तन कर रहा है तो उसे देखकर तुम हँस रहे हो और कहते हो कि कल रात को तो यह चोरी करके आया किन्तु दिन में बड़ा कीर्तन कर रहा है । इसी प्रकार कोई निम्न जाति का व्यक्ति यदि कीर्तन करता है तो कुछ लोग कहते हैं कि अरे, यह तो चमार है, शूद्र है, अब यह भी अपने को ब्राह्मण समझ रहा है । इस तरह की बातें करना मूर्खता है, जो भगवन्नाम कीर्तन कर रहा है, वह अपना कल्याण तो कर ही रहा है, दूसरों का भी कल्याण कर रहा है । इसे फिर से समझो । शुकदेवजी ने पहले बताया था कि नरक की यातनाओं से बचना है तो मृत्यु के पहले अपने सभी पाप नष्ट कर लो, नहीं तो नरक में जाना पड़ेगा । अब पाप कैसे नष्ट हों, इसके लिए उन्होंने नौ साधन बताये । ये नौ साधन कठिन हैं, इसलिए उन्होंने केवला भक्ति बताई । किसी व्यक्ति ने कहा कि यह केवला

भक्ति भी मुझसे नहीं हो सकती । कीर्तन करने के लिए कहाँ से बाजा लायें, कहाँ से ढोलक लायें और यदि ले भी आयें तो इन्हें बजाना बड़ा कठिन है, मुझे इन्हें बजाना भी नहीं आता । अतः इस तरह से केवला भक्ति करने में भी असमर्थ लोगों के लिए शुकदेवजी ने तीसरा उपाय बताया ।

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः ।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१/१६)

तप आदि जो नौ साधन पहले बताये गये, उनसे भी वैसी शुद्धि नहीं होती जैसी कि भगवान् कृष्ण में मन लग जाने से अथवा कृष्ण भक्तों की सेवा करने से होती है ।

इसीलिए ब्रज में ब्रजवासियों द्वारा साधुओं को भिक्षा में रोटी दी जाती है कि किसी भी प्रकार से कृष्ण भक्तों की सेवा हो जाये । वस्तुतः ब्रज जैसा देश दुनिया में कहीं नहीं है । चित्रकूट आदि तीर्थों में कोई साधु भिक्षा के लिए घर के भीतर नहीं घुस सकता है किन्तु ब्रज के गाँव-गाँव में किसी भी घर में कोई साधु भिक्षा माँगने जाता है तो ब्रजवासी घर के अन्दर रसोई तक बुलाकर उसे अन्न देते हैं । ब्रज में बहुत सुन्दर प्रथा है । ब्रजवासियों द्वारा दिए गये अन्न को खाकर ही तो ब्रज में हजारों-लाखों साधु श्रीकृष्ण भजन में अपना जीवन बिता रहे हैं । इसलिए शुकदेवजी ने कहा कि भगवान् के भक्तों की सेवा करने से बहुत जल्दी हृदय शुद्ध हो जाता है, सारे पाप नष्ट हो जाते हैं ।

सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः ।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१/१७)

सबसे ऊँचा मार्ग यही है कि नारायण परायण अर्थात् श्रीकृष्ण के जो जन हैं, उनकी सेवा करो । इससे ऊँचा साधन न तपस्या है, न

ब्रह्मचर्य है, न त्याग है, न शम है, न दम है और न ही सत्य, शौच तथा यम-नियम ही हैं । भगवद्भक्तों की सेवा से बड़ा कोई साधन नहीं है । यह शुकदेवजी ने ताल ठोंककर कहा है । यह भागवत की घोषणा है । केवला भक्ति अर्थात् कृष्ण कीर्तन करो अथवा भगवान् के भक्तों की सेवा करो । उससे सारे पाप उसी प्रकार जल जायेंगे जैसे सूर्यदेव के उदय होने पर सारा कुहरा और अन्धकार समाप्त हो जाता है । इसलिए सब लोग केवला भक्ति करो । नियम से प्रतिदिन भगवन्नाम कीर्तन करो । यदि कोई कीर्तन में सहयोग न करे तो अकेले ही झाँझ लेकर कीर्तन करो । ऐसा करके सारे गाँव, सारे नगर को आप लोग पवित्र कर देंगे ।

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः॥

(श्रीभागवतजी - ६ /१ /१८)

शुकदेवजी कहते हैं – परीक्षित् ! जितने भी प्रायश्चित्त हैं, वे बार-बार किये जाने पर भी भगवान् से विमुख मनुष्य को शुद्ध नहीं कर सकते । इस कथन में सारे साधनों का खण्डन हो गया । कोई कितना भी सत्य का पालन करे, तपस्या करे, ब्रह्मचारी बन जाये, शम-दम से युक्त हो जाये, शौच से युक्त हो जाये, यम-नियम का पालन करे किन्तु यदि वह भगवान् से विमुख है तो उसका ब्रह्मचर्य, सत्यवादिता आदि नौ साधन उसको पवित्र नहीं कर सकते हैं । ऐसा क्यों ? शराब के घड़े को लेकर उसका मुँह बंद करके गंगाजी में डाल दिया जाये तो क्या वह शराब अथवा घड़ा पवित्र हो जायेंगे, नहीं होंगे । वस्तुतः शुद्ध तत्त्व तो भगवान् हैं, भगवान् ही समस्त कर्मों को, पापों को नष्ट करने वाले हैं । जब तक तुम्हारा मन भगवान् का स्पर्श नहीं करेगा तब तक तुम शुद्ध कैसे हो सकते हो ? जैसे शराब के घड़े का मुँह बंद करके उसे गंगाजी के अन्दर डुबा दिया जाये तो वह घड़ा गंगाजी के भीतर प्रवेश

कर गया किन्तु गंगा जल से घड़े के भीतर की शराब का स्पर्श तो नहीं हुआ क्योंकि घड़े का मुख बन्द है । इस तरह घड़े का मुख बन्द होने से शराब गंगा के भीतर जाने पर भी गन्दी ही मानी जाएगी । ऐसे ही सत्य, ब्रह्मचर्य, तप आदि जितने भी साधन हैं, ये शरीर के साधन हैं । ब्रह्मचर्य का अभिप्राय है वीर्य को रोकना, वीर्यपात नहीं करना किन्तु केवल इतने से ही क्या होगा, जो सत्य वस्तु भगवान् हैं, उन भगवान् से तो मन का स्पर्श नहीं हुआ, अतः मन शुद्ध कैसे होगा ? स्पष्ट है कि भगवान् से मन का स्पर्श हुए बिना वह शुद्ध नहीं होगा । इसीलिए बहुधा ऐसा देखने में आता है कि बड़े-बड़े ब्रह्मचारी क्रोध बहुत करते हैं । ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने से किसी ने वीर्य को रोक लिया तो उससे शरीर पुष्ट हो जाएगा किन्तु यह केवल शरीर का साधन है और जब तक मन श्रीकृष्ण का स्पर्श नहीं करेगा, तब तक वह शुद्ध नहीं होगा क्योंकि श्रीकृष्ण ही तो सत्य और शुद्ध तत्त्व हैं, शरीर तो सत्य है नहीं, इसलिए श्रीकृष्ण से मन का स्पर्श हुए बिना कोई पाप कैसे नष्ट कर लेगा, अतः जो भगवान् से विमुख है, वह कितना ही तप कर ले, कितना ही यम-नियम का पालन कर ले, कितना ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर ले, वह शुद्ध नहीं हो सकता, शराब के घड़े की तरह ।

शुकदेवजी डंके की चोट पर कह रहे हैं कि तुम सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करके भी शराब के घड़े ही बने रहोगे इसलिए भगवान् की भक्ति करो । भगवान् के नाम का कीर्तन करो, यही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है तथा भगवान् के भक्तों की सेवा करो । इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रायश्चित्त आजकल कोई कर भी नहीं सकता । यह कलियुग है इसलिए इस युग में सत्य, ब्रह्मचर्य आदि नौ साधनों को कोई कर भी नहीं सकता । इस विषय में शुकदेवजी ने एक प्राचीन इतिहास सुनाया । इसमें अजामिल का उपाख्यान है ।

यह घटना कान्यकुब्ज की है, जिसे आजकल कन्नौज कहते हैं । वहाँ प्राचीनकाल में एक ब्राह्मण रहते थे, उनका नाम अजामिल था, वे

दासीपति हो गये थे, दासी के सम्पर्क से उनका सदाचार नष्ट हो गया था । जो व्यभिचारिणी स्त्री होती है, वह तो धन चाहती है; अतः दासी की धन की इच्छा को पूरा करने के लिए अजामिल ने पापकर्म करना चालू कर दिया । किसी का धन चुरा लेता, किसी को लूट लेता, किसी का धन धोखाधड़ी से ले लेता, इस प्रकार गर्हित कर्म करके पैसा लाता और अपने कुटुंब का पालन करता था । इस प्रकार से निन्दित जीवन बिताते हुए उसकी आयु के अट्ठासी वर्ष बीत गये । इस आयु में अजामिल के दस पुत्र थे । सबसे छोटे पुत्र का नाम उसने 'नारायण' रखा था । माँ-बाप इस बच्चे से बहुत प्यार करते थे । सबसे छोटा पुत्र वैसे भी माँ-बाप को सबसे अधिक प्रिय होता है । अजामिल का मन अपने इस सबसे छोटे पुत्र के स्नेह बन्धन में बँध गया था । उसी समय उसकी मृत्यु का समय आ गया और यमराज के दूत उसे लेने के लिए आ गये । उनकी आकृति बड़ी भयंकर थी और हाथों में वे पाश लिए हुए थे । उनके दाँत टेढ़े-मेढ़े और शरीर के रोयें कील की तरह खड़े थे । यमदूतों को देखकर अजामिल बहुत भयभीत हो गया और उसने नजदीक ही खेल रहे अपने पुत्र को जोर से पुकारा – 'नारायण' । भगवान् के पार्षदों ने देखा कि यह तो हमारे स्वामी नारायण का नाम ले रहा है, अतः वे तुरन्त ही वहाँ आ गये क्योंकि जो मरते समय भगवान् का नाम लेता है, उसके पास भगवान् के पार्षद पहुँच जाते हैं । भगवान् के पार्षदों ने अजामिल के पास पहुँचकर यमदूतों को जोर से फटकार लगायी । भगवान् के दूतों का तेज देखकर यमदूत हतप्रभ रह गये । उन्होंने भगवान् के पार्षदों से कहा – 'हमारे कार्य से हमको रोकने वाले तुम लोग कौन हो ? कोई देव हो कि उपदेव हो, तुम सभी के कमल के समान नेत्र हैं, सभी ने पीताम्बर पहन रखा है । तुम्हारे सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल और गलों में कमल के हार हैं । तुम सबकी चार भुजायें हैं । तुम्हारे शरीर से दिव्य प्रकाश निकल रहा है ।' भगवान् के पार्षदों ने कहा – 'यदि तुम लोग धर्मराज के अधिकारी हो

तो हमें यह बताओ कि धर्म का लक्षण क्या है, दण्ड किसको दिया जाता है ?' यमराज के दूत बोले – वेदों ने जो बातें बताई हैं, वही धर्म हैं, वेद के विरुद्ध चलना अधर्म है । वेद साक्षात् भगवान् हैं । जीव जो भी कर्म करता है, चाहे कितना भी छिपाकर कोठरी में बंद होकर कोई कर्म करे किन्तु उसके ये तेरह गवाह हैं, वे जीव के प्रत्येक कर्म को जानते हैं, वे हैं – सूर्य, अग्नि, आकाश, वायु, इन्द्रियाँ, चन्द्रमा, संध्या, रात-दिन, दिशाएं, जल, पृथ्वी, काल और धर्म । इनके द्वारा अधर्म का पता चल जाता है । संसार में कोई ऐसा नहीं है, जो कर्म न करे । चाहे अच्छा करे, चाहे बुरा करे और जो जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार उसे वैसा फल मिलता है ।

वर्तमानोऽन्ययोः कालो गुणाभिज्ञापको यथा ।

(श्रीभागवतजी - ६/१/४७)

हमारा जो वर्तमान काल है, यह भूत और भविष्य – दोनों कालों को बताने वाला है । किसी व्यक्ति की वर्तमान काल की दशा को देखकर उसकी पिछली दशा का अनुमान लग जायेगा कि इसने पाप किये हैं, आगे यह रोगी होगा, दरिद्र होगा । पुण्य किये हैं तो बड़ा स्वस्थ होगा, श्रीसम्पन्न होगा । वर्तमानकाल पिछले जन्म को भी बता देता है और अगले जन्म को भी बता देता है । प्रश्न उठता है कि अगले जन्म को कैसे बता देगा ? आगे के जन्म को ऐसे बतायेगा कि जो मनुष्य हरिपरायण है तो आज नहीं तो कल वह भगवद्धाम में पहुँच जायेगा । वर्तमान ही भविष्य को बतायेगा और यह बदलता नहीं है । इसलिए हमें सँभलकर चलना चाहिए । जो बुद्धिमान लोग होते हैं, वे वर्तमान में बहुत समझदारी के साथ चलते हैं क्योंकि आज जो हम हँस-बोल रहे हैं, यह कल मिट नहीं सकता । कल इसे कोई मिटा नहीं सकता । इसलिए सँभलकर चलो । हर अक्षर सँभलकर बोलो । किसी से भी तुमने कड़वा अक्षर बोल दिया (तू कह दिया) तो इस पाप

को तुम कल मिटा नहीं सकोगे । अभी तुम वर्तमान में चाहे जैसा भी कर्म कर लो, ये परमात्मा की ओर से तुमको स्वतंत्रता है, कल तुम कुछ नहीं कर सकते । जैसे कुम्हार कच्ची मिट्टी से खिलौने बनाता है तो कच्ची मिट्टी से कोई भी आकृति बनाई जा सकती है, चाहे हाथी बनाओ, घोड़ा बनाओ, कुछ भी बनाओ किन्तु मिट्टी के सूखने पर खिलौना टूट भले ही जायेगा, उसकी आकृति को बदला नहीं जा सकता । हाथी हाथी ही रहेगा, घोड़ा घोड़ा ही रहेगा । 'वर्तमानोऽन्ययोः' - वर्तमान समय ही भूत और भविष्य का अनुमान करा देता है, इसलिए वर्तमान समय में सँभलकर चलना चाहिए ।

यमदूत आगे कहते हैं कि हमारे स्वामी यमराज सबके मन में विराजमान होकर सबके पूर्व रूपों को देख लेते हैं । ऐसा कैसे तो यमदूत कहते हैं –

पञ्चभिः कुरुते स्वार्थान् पञ्च वेदाथ पञ्चभिः ।
एकस्तु षोडशेन त्रीन् स्वयं सप्तदशोऽश्नुते ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१/५०)

सत्रह चीजों से मिलकर लिंग शरीर बनता है । कोई-कोई सोलह मानते हैं । दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण और एक अन्तःकरण को मान लो तो सोलह हो गये और यदि अन्तःकरण में मन, बुद्धि दो को मान लो तो सत्तरह एवं अन्तःकरण को चार तत्त्व से युक्त मान लो तो लिंग शरीर उन्नीस तत्त्वों से युक्त हो गया । लिंग शरीर तो एक ही है, उसमें दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण या पाँच तन्मात्राएँ और एक अन्तःकरण होता है । इस प्रकार लिंग शरीर ही सारे कार्य करता है, स्थूल शरीर नहीं करता है । उसे भगवान् यमराज देखा करते हैं । कोई भी मनुष्य बिना कर्म के एक क्षण को भी नहीं रह सकता है । **'यथायोनि यथाबीजं स्वभावेन बलीयसा ।'** (श्रीभागवतजी - ६/१/५४) स्वभाव या तो माता के जैसा बनता है या पिता के जैसा बनता है । जैसे – कश्यप ऋषि के

कई पत्नियाँ थीं, उन्हीं की सन्तानें देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि बने । एक पिता की अनेक सृष्टि कैसे हो गयी ? एक कश्यपजी द्वारा मनुष्य, सर्प, पशु-पक्षी आदि की सृष्टि क्यों हुई ? इस विषय में यही श्लोक प्रयुक्त होगा – यथायोनि यथाबीजं – कश्यपजी की पत्नियाँ जैसी थीं, उनके अनुसार ही सृष्टि हो गयी । दो प्रकार से सृष्टि का स्वभाव बनता है या तो माता की प्रकृति से अथवा पिता की प्रकृति से ।

यमदूत बोले – यह अजामिल पहले श्रुतसम्पन्न था, बड़ा शास्त्रज्ञ था, ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाला, वेद-वेदान्त को जानने वाला, विनयी, जितेन्द्रिय, सत्यवेत्ता, मन्त्रवेत्ता और पवित्र था । गुरु, अग्नि, अतिथि और वृद्ध लोगों का सम्मान करने वाला था । निरहंकारी, संयमी, समस्त प्राणियों का हित चाहने वाला, शील और सदाचार सम्पन्न था । एक थोड़ी-सी त्रुटि के कारण इसका पतन हो गया । एक दिन यह अपने पिता की आज्ञा से वन में फल-फूल, समिधा तथा कुश लेने के लिए गया । जब यह वन से लौट रहा था तो इसने एक शूद्र को देखा, जो शराब पीकर किसी वेश्या के साथ विहार कर रहा था । शराब के नशे में वह शूद्र झूम रहा था, वेश्या भी शराब के नशे में चूर थी । वेश्या का नीवी बन्धन भी खुल रहा था क्योंकि वह निर्लज्ज थी । वे दोनों कभी गाते, कभी हँसते, तरह-तरह की कामोद्दीपक चेष्टाएँ करते । अजामिल उनके समीप खड़ा होकर उनकी इस कामुक क्रीड़ा को देख रहा था । अजामिल भोगी नहीं था, संयमी था किन्तु कितना भी संयमी व्यक्ति हो, भोगियों की काम-क्रीड़ा को देखने से पतन अवश्य होता है, इसलिए ऐसे कुत्सित कर्मों को देखना ही नहीं चाहिए । अजामिल इस दृश्य को देखकर कामग्रसित हो गया, वह अपने मन को रोक नहीं सका और मन से उस वेश्या का चिन्तन करते रहने से अपने धर्म से भ्रष्ट हो गया । उसने अपनी सदाचारिणी पत्नी का त्याग कर दिया । वह वेश्या काम कला में चतुर कामिनी थी । अजामिल उसे प्रसन्न करने के लिए न्याय से, अन्याय से

धनोपार्जन करने लगा । **कालमघायुरशुचिर्मलात्** – उस मल में ही अजामिल की बहुत बड़ी आयु बीत गयी । इस श्लोक में प्रयुक्त शब्द 'मलात्' के टीकाकार आचार्यों ने बहुत से अर्थ किये हैं । अजामिल वेश्या के साथ जो भोग भोगता था, केवल वह ही मल नहीं था, जिस अन्न को उसने खाया, वह भी मल ही था । दूषित वृत्ति से जो धन कमाया जाता है, वह भी मल ही है । यमदूतों ने कहा – 'इसका सारा जीवन ही पापमय हो गया है, अपने पापों का इसने कोई प्रायश्चित्त भी नहीं किया है । इसलिए अब हम लोग इसे नरक में अपने स्वामी यमराज के पास ले जायेंगे, वहाँ यह अपने पापों का दण्ड भोगकर शुद्ध हो जाएगा ।'

अध्याय – २

शुकदेवजी कहते हैं – परीक्षित् ! भगवान् के पार्षदों ने यमदूतों की यह बात सुनकर उनसे इस प्रकार कहा । भगवान् के पार्षद बोले – यह बड़े कष्ट की बात है, तुम लोग धर्म के जानने वाले होने पर भी, जिसको दण्ड नहीं देना चाहिए, उसको दण्डित कर रहे हो । जो प्रजा के रक्षक, शासक हैं, जब वे ही प्रजा के साथ ऐसा विषम व्यवहार करेंगे तो फिर प्रजा किसकी शरण में जाएगी ? यमदूतो ! अजामिल ने करोड़ों जन्मों के पापों का प्रायश्चित्त तो कर लिया है क्योंकि इसने विवश होकर भगवन्नाम का उच्चारण किया है ।

यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ।

(श्रीभागवतजी - ६/२/७)

क्या अब भी इसके प्रायश्चित्त में कमी रह गयी है ?

एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् ।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम् ॥

(श्रीभागवतजी - ६/२/८)

इसने कोटि जन्मों का प्रायश्चित्त कैसे कर लिया ? इस श्लोक – यदा नारायणेति..... में प्रयुक्त शब्द 'यदा' का अर्थ जब नहीं है । आचार्यों ने यद् + आ – इस तरह से अर्थ किया है । यद् माने जो कि, आ का तात्पर्य यह है कि अजामिल पूरा नारायण नाम नहीं ले पाया, मृत्यु के कष्ट के कारण केवल 'ना', 'ना' ही कह पाया था ।

श्रीधर स्वामी लिखते हैं – **यत् आ इति च्छेदः । आ ईषदाभासमात्रं चतुरक्षरं यन्नाम जगाद । एतेनैव केवलेन चतुरक्षरमित्यनेनाधिक्यं च दर्शितम् । कथं जगाद । नारायण आय आगच्छेत्येवं विक्रोशरूपेण पुत्राह्वानेन ।**

भगवन्नाम तो दूर, भगवन्नाम का आभास ही पाप को नष्ट कर देता है । इसीलिए हमारे देश में पहले बेटा-बेटी के नाम भगवान् के नाम के आधार पर रखे जाते थे जैसे गोविन्द, माधव, राम, राधा व सीता । ऐसा इसलिए कि सन्तान के बहाने सहज में ही भगवान् के नाम का उच्चारण होता रहता है । आजकल तो बेहूदे नाम बब्बू, पप्पू, टिंकू, पिंकू आदि प्रचलित हो गये हैं । अंग्रेजों की नकल करके भारत के लोग 'पिता' को डैडी या पापा और 'माँ' को मम्मी कहने लगे । अंग्रेज लोग थूक देते हैं और भारतीय उसे चाट लेते हैं । वस्तुतः भगवान् के नाम का आभास भी पाप को नष्ट कर देता है । इसलिए लोगों को अपने बालकों के नाम भगवान् के नाम के अनुसार रखना चाहिए । इससे सहज में लाभ होगा । भागवत के टीकाकार सभी आचार्य इस प्रसंग में भगवन्नाम की प्रशंसा करते हैं । अद्वैत सम्प्रदाय के श्रीधर स्वामी जी अपनी टीका में लिखते हैं कि किसी को ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि यहाँ भगवन्नाम की महिमा बढ़ा-चढ़ाकर कही गयी है । एक होता है अर्थवाद शास्त्र, उसमें कोई बात बढ़ाकर कही जाती है । कोई बात शास्त्र में कभी-कभी बढ़ाकर कही जाती है, उसे अर्थवाद

कहा जाता है । श्रीधरस्वामी जी कहते हैं कि अजामिलोपाख्यान में जो नाम महिमा कही गयी है, इसे अर्थवाद मत समझ लेना ।

न चैतेऽर्थवादा इति शंकनीयं विधिशेषत्वाभावात् ।

अर्थवाद वहाँ होता है – **'विधिशेषत्वाभावात्'** - कोई विधि होती है, विधि के शेष में अर्थवाद कहा जाता है जैसे 'ये काम करो', 'संध्या करो', 'वन्दन करो' – ये सब विधियाँ हैं, उसके पीछे जो बात कही जाएगी, वह विधिशेष है । विधिशेष वाली बात बढ़ाकर कही जाती है परन्तु भगवन्नाम महिमा किसी विधि का शेष नहीं है । इसलिए नाम महिमा बढ़ाकर नहीं कही गयी है । विधि है – यज्ञ करो, विधिशेष है – यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होगी, स्वर्ग में अमृतपान करने को मिलेगा, उससे तुम्हारा कभी नाश नहीं होगा । अतः यह विधि का शेष अर्थवाद हुआ । किन्तु भगवन्नाम किसी विधि का शेष नहीं है क्योंकि नाम तो स्वयं भगवान् है ।

श्रीधरस्वामी लिखते हैं –

न च विध्यश्रवणादन्यशेषता कल्पनीया ।

कोई आदमी यदि ऐसा सोचता है कि विधि का शेष समझकर अन्य को शेष समझ लो तो ऐसा भी मत करो क्योंकि **'आस्य जानंतो नाम चिद्विवक्तन इत्यादिषु नाम्नस्तपोदानादिसर्वधर्माधिक्यमवगम्यते ।'** इस तरह श्रीधरस्वामीजी ने बहुत प्रकार से समझाया है ।

गोपियाँ कहती हैं –

कृष्ण नाम जब ते सुन्यो री आली ।
भूली भवन हौं तो बावरी भई री ।

कृष्ण के देखे बिना केवल उनका नाम सुनकर ही गोपियाँ प्रेम में पागल हो जाती थीं । गोपियों ने कृष्ण की प्राप्ति अनेक प्रकार से की

थी । कुछ गोपियों ने कृष्ण को देखा भी नहीं, उनकी वंशी सुनकर नाद मार्ग से कृष्ण की प्राप्ति की । कुछ गोपियों ने उन्हें देख लिया, कुछ गोपिकाओं ने श्यामसुन्दर के अंग की दिव्य सुगन्ध दूर से सूँघ ली, इस तरह घ्राण मार्ग से उन्हें प्राप्त किया । कुछ गोपियों ने कृष्ण नाम श्रवण किया और फिर श्रवण मार्ग से कृष्ण की प्राप्ति की । अतः नाम का अत्यधिक व्यापक प्रभाव है । इसलिए भगवान् के पार्षद कहते हैं –

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग् ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ॥

(श्रीभागवतजी - ६/२/९)

चोर, शराबी, विश्वासघाती, ब्रह्महत्यारा, गुरुपत्नीगामी, स्त्री, राजा, पिता और गाय की हत्या करने वाला तथा अन्य भी जितने पापी हैं –

सर्वेषां अप्यघवतां इदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोः यतस्तद् विषया मतिः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/२/१०)

सभी के लिए यही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है कि भगवान् के नाम का उच्चारण किया जाये, नाम कीर्तन किया जाये । बाकी प्रायश्चित्त जो लोग बताते हैं कि गोहत्या के लिए ऐसा प्रायश्चित्त करो, माँ-बाप की हत्या के लिए ऐसा प्रायश्चित्त करो, इन सबको छोड़ दो । ठोस प्रायश्चित्त यही है कि कृष्ण नाम बोलो, कृष्ण नाम का कीर्तन करो । अब प्रश्न यह होता है कि शास्त्रों में ब्रह्मवादी मुनियों ने पापों के जो बहुत से प्रायश्चित्त बताये हैं, उनकी क्या सार्थकता है ?

शुकदेवजी कहते हैं –

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभिः
तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः ।

यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतैः
तदुत्तमश्लोक गुणोपलम्भकम् ॥

(श्रीभागवतजी - ६/२/११)

बड़े-बड़े ब्रह्मवादी ऋषियों ने पापों के बहुत से प्रायश्चित्त – कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रत बताये हैं, उनसे वैसी शुद्धि नहीं होती है, जैसी जोर-जोर से भगवान् का नाम लेने से होती है । उपरोक्त श्लोक (६/२/११) में प्रयुक्त शब्द उदाहृत का अर्थ है जोर से बोलना, अतः जोर से, उच्च स्वर से भगवन्नाम का कीर्तन करो, उसके श्रवण के प्रभाव से अनेक जीव पवित्र हो जायेंगे ।

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणं अशेषाघहरं विदुः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/२/१४)

कोई भगवान् के नाम का संकेत में (दूसरे अभिप्राय से) उच्चारण करे, परिहास, गान-टान एवं निरादर में उच्चारण करे (जैसे चिढ़कर यदि कोई कहता है - क्या कृष्ण-कृष्ण लगा रखा है, जब देखो तब राधे कृष्ण राधे कृष्ण, कान खा जाते हैं, हर समय राधे,राधे,राधे करता रहता है – इस तरह अपमान करने के लिए भी यदि भगवान् का नाम लेता है) तो भगवान् का नाम निश्चय ही सम्पूर्ण पापों को नष्ट कर देता है ।

पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः ।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥

(श्रीभागवतजी - ६/२/१५)

कोई गिर पड़ा है, लुढ़क गया है, शरीर का कोई भाग टूट गया है, सर्प ने काट लिया है, अग्नि में जल गया है, चोट लग गयी है, ऐसी

स्थिति में भी यदि वह विवश होकर श्रीहरि के नाम का उच्चारण करता है तो यातना को प्राप्त नहीं होता है ।

गुरूणां च लघूनां च गुरूणि च लघूनि च ।
प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभिः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/२/१६)

बड़े पाप हों, चाहे छोटे पाप हों, उन सबका प्रायश्चित्त केवल भगवन्नाम ही है ।

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः ।
नाधर्मजं तद् हृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥

(श्रीभागवतजी - ६/२/१७)

महर्षियों ने पापों को नष्ट करने के लिए तपस्या, दान, जप आदि साधन बताये हैं । उनसे पाप भले ही नष्ट हो जाते हैं किन्तु पाप से मलिन हुआ हृदय शुद्ध नहीं होता है । वह तो भगवान् के चरणों की सेवा से ही शुद्ध होता है ।

बड़े-बड़े सेठ लोग दो नम्बर (पाप) का पैसा कमाते रहते हैं और उनके यहाँ सदाव्रत के लिए पैसे का दान भी दिया जाता है । एक धनाढ्य व्यक्ति ने कहा कि मैं जिस तरह से धन कमाता हूँ, मुझे पता है कि यह मार्ग गलत है, फिर भी मैं इसे छोड़ नहीं पाता हूँ और मैं दान भी बहुत करता हूँ । भारत में सेठों के दान से बहुत से मन्दिरों, धर्मशालाओं और अन्न क्षेत्रों की व्यवस्था चल रही है । दान से कुछ पाप तो नष्ट होते हैं किन्तु हृदय दान से शुद्ध नहीं होता है, तभी तो सेठ आदि धनाढ्य लोग जीवन भर अवैध रूप से धन कमाते हैं और दान भी बहुत देते रहते हैं किन्तु हृदय उनका अशुद्ध ही बना रहता है एवं अपनी पाप की कमाई को वे छोड़ नहीं पाते हैं । हृदय तभी शुद्ध होता है, जब मनुष्य स्वयं भगवान् के चरणारविन्दों की सेवा करता है ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् उत्तमश्लोकनाम यत् ।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/२/१८)

अज्ञान से अथवा ज्ञान से उत्तमश्लोक भगवान् के नामों का कीर्तन करने से मनुष्यों के समस्त पाप भस्म हो जाते हैं जैसे जान या अनजान में ईधन से अग्नि का स्पर्श होने पर वह भस्म हो जाता है । जैसे कोई परम शक्तिशाली अमृत को बिना इच्छा के और उसका गुण न जानकर भी पी ले तो भी अमृत उस पीने वाले को अमर कर देता है । इसी प्रकार रोगी यदि अपने रोग की दवा को जानकर खा ले अथवा अनजान में खा ले, वह अपना प्रभाव अवश्य दिखाएगी । इसी तरह यदि कोई भूखा है और उसे खाने को घी के लड्डू दिए जाएँ तो वह चाहे उन्हें प्रेम से खाए अथवा क्रोध में भरकर खाए, घी का लड्डू तो लाभ देगा ही ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – राजन् ! इस प्रकार यमदूतों को भगवन्नाम की महिमा बताकर भगवान् के पार्षदों ने उस ब्राह्मण अजामिल को यमदूतों के पाश से छुडा लिया । पार्षदों की बात सुनकर यमदूत अपने स्वामी यमराज के पास चले गये । अजामिल यमदूतों के पाश से छूटकर निर्भय और स्वस्थ हो गया तथा भगवान् के पार्षदों के दर्शन से आनन्दित होकर उसने उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया । अजामिल ने उन पार्षदों से कुछ बात करने की इच्छा की, तब तक वे उसके सामने ही अन्तर्धान हो गये किन्तु उसने भगवान् विष्णु के दूतों के मुख से भागवत धर्म की महिमा सुनी थी, इसलिए अब उसे ज्ञान हो गया, अतः वह अपने पापों को याद करके पश्चात्ताप करने लगा । वह मन ही मन सोचने लगा कि मैं पहले कितना शुद्ध ब्राह्मण था किन्तु उस शूद्रा दासी के संसर्ग से मैंने अपना ब्राह्मणत्व नष्ट कर दिया । उस मदिरापान करने वाली कुलटा के लिए मैंने अपनी सती स्त्री का त्याग कर दिया । धिक्कार है मुझे, मैंने अपने तपस्वी और वृद्ध माता-पिता को

असहाय अवस्था में छोड़ दिया । इस प्रकार अजामिल अपने पाप कर्मों के लिए बहुत पछताया । वह सोचने लगा कि अभी तो मेरे पाप कर्मों के कारण भयंकर यमदूत मुझे नरक में खींचकर लिए जा रहे थे और इतने में ही भगवान् के दूतों ने आकर मुझे उनके पाश से मुक्त कर दिया । यह सब भगवान् के नाम की महिमा है । मैं तो बड़ा ही निर्लज्ज, कपटी, पापी और ब्रह्महत्यारा हूँ किन्तु अब मैं ऐसा प्रयत्न अवश्य करूँगा कि जिससे फिर से मुझे नरक में न जाना पड़े । अब मैं सभी प्राणियों का हित करूँगा, सबसे मित्रता का व्यवहार करूँगा, शांत रहूँगा, करुणा करूँगा और संयम के साथ रहूँगा । मैं अब तक स्त्री का क्रीड़ामृग बना रहा । अन्त में उसने निर्णय किया –

धास्ये मनो भगवति शुद्धं तत्कीर्तनादिभिः ।

(श्रीभागवतजी - ६/२/३८)

अब मैं अपने मन को ऐसा बनाऊँगा, जो भगवन्नाम कीर्तन करके शुद्ध हो जाए । अजामिल ने विचार किया कि भगवन्नाम कीर्तन ही सबसे बड़ा साधन है और यह निश्चय कर लिया कि अब मैं अपने जीवन के शेष भाग में भगवन्नाम कीर्तन ही करूँगा ।

शुकदेवजी कहते हैं – परीक्षित् ! अजामिल को भगवान् के पार्षद सन्तों का केवल एक क्षण को सत्संग मिला और इतने से ही अजामिल को संसार से वैराग्य हो गया । भगवद्भक्तों के संग का ऐसा ही प्रभाव होता है । कोई संसारी आदमी प्रसन्न हो गया तो हीरा-मोती दे देगा किन्तु उसके कारण नरक ही जाना पड़ेगा । भगवद्भक्तों के पास एक क्षण के लिए ही बैठने का यह फल होगा कि वे भगवन्नाम के प्रति प्रेम उत्पन्न कर देंगे । संसार के लोग क्या दे सकते हैं ? स्त्री प्रसन्न होगी तो भोग दे देगी, वह नरक जाने का मार्ग है । कोई धनी आदमी प्रसन्न होगा तो कुछ धन दे देगा, धन की आसक्ति भी मनुष्य को नरक ले जाती है और भगवद्भक्त भगवन्नाम का अमूल्य धन देते हैं, जो

भगवान् से मिलाने वाला होता है । वे कहते हैं कि इस नाम धन को जितना भी लूट सकते हो, लूट लो, यह कभी समाप्त होने वाला नहीं है । इसलिए भक्त का संग करना चाहिए ।

शुकदेवजी कहते हैं – अजामिल के चित्त में ऐसा वैराग्य उत्पन्न हुआ कि वह संसार की आसक्ति छोड़कर हरिद्वार चला गया और भगवन्नाम कीर्तन के द्वारा अपने मन को भगवान् में लगा दिया । अन्त समय में उसने भगवान् के पार्षदों को देखा । अजामिल ने उन्हें प्रणाम किया और अपने शरीर का वहीं त्याग कर दिया तथा भगवत्स्वरूप होकर विमान पर सवार होकर भगवान् के धाम को चला गया ।

'सद्यो विमुक्तो भगवन्नाम गृह्णन्' (श्रीभागवतजी - ६/२/४५)

कोई यह न समझे कि हरिद्वार जाकर उसने भगवन्नाम के अतिरिक्त कोई दूसरा साधन किया था । इसलिए शुकदेवजी ने कहा – **'भगवन्नाम गृह्णन्'** – हरिद्वार में भी उसने नाम का साधन किया, भगवन्नाम लिया और भगवन्नाम के प्रभाव से वह मुक्त हो गया । कर्म के बन्धन को काटने का भगवन्नाम से बड़ा कोई साधन नहीं है, इसलिए **'तीर्थपदानुकीर्तनात्'** – 'अनु' अर्थात् भगवान् का कीर्तन बार-बार करो, ऐसा नहीं कि सुबह-शाम कर लिया । जितना बन सके, उतना ही नाम कीर्तन में लगे रहो । 'अनुकीर्तन' का मतलब यह नहीं है कि एक नियम बना लिया कि हम तो सुबह के समय ही कीर्तन करेंगे, दोपहर को नहीं करेंगे । शुकदेवजी ने कहा है – **'तीर्थपदानुकीर्तनात्'** अर्थात् बार-बार कीर्तन करो, उठते-बैठते, चलते-फिरते, सुबह भी कीर्तन करो, दोपहर भी करो, शाम को भी करो, अधिक से अधिक कीर्तन करो । अन्त में शुकदेवजी कहते हैं –

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम् ।
अजामिलोऽप्यगात् धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन् ॥

(श्रीभागवतजी - ६/२/४९)

अजामिल जैसे महापापी ने मृत्यु के समय अपने पुत्र के बहाने भगवान् का नाम लिया, उसके प्रभाव से उसे भगवद्धाम की प्राप्ति हुई, फिर यदि श्रद्धा के साथ भगवन्नाम लिया जाये तो भगवान् के धाम की प्राप्ति क्यों नहीं होगी, अवश्य होगी । इसलिए श्रीमद्भागवत का यही सार है, शुकदेवजी बार-बार कह रहे हैं कि भगवान् का नाम लो, उनका कीर्तन करो ।

अध्याय – ३

राजा परीक्षित् ने पूछा – महाराज ! उन यमदूतों का क्या हाल हुआ, जिनको भगवान् के पार्षदों ने अपमानित कर दिया तथा उनके स्वामी यमराज की आज्ञा भंग कर दी और जब उन्होंने यमपुरी में जाकर अपने स्वामी को अजामिल की घटना सुनाई तो उन्होंने अपने दूतों से क्या कहा ?

श्रीशुकदेवजी ने कहा – संसार के प्रत्येक जीव में अहं होता है, एक छोटे से चीटे में भी अहं होता है, जिस समय वह गुड़ में चिपक जाता है, उसे वहाँ से हटाओ तो वह मर जायेगा किन्तु गुड़ नहीं छोड़ेगा । फिर वे तो यमदूत ठहरे, उन्हें बहुत बुरा लगा और वे यमराज के पास पहुँचे तथा उनसे कहा ।

यमदूतों ने कहा – प्रभो ! हम लोग तो अभी तक आपको ही दुनिया का एकमात्र शासक समझते थे किन्तु अब ये बताइए कि इस संसार के कितने शासक हैं, हम लोग किस-किसकी आज्ञा का पालन करें ? यदि शासन करने वाले बहुत से हो जायेंगे तो एक आज्ञा देगा कि उस जीव को पकड़ लाओ, दूसरा आज्ञा देगा कि इसे छोड़ दो, तीसरा कहेगा कि इसे फाँसी पर लटका दो, चौथा कहेगा नहीं, इसे उतारकर लड्डू-कचौड़ी खिलाओ, पाँचवां कहेगा कि नहीं, इसे राजगद्दी पर बिठा दो । इस तरह से तो शासन होगा नहीं, शासन तो वही है कि एक व्यक्ति करे ।

(आजकल देखा जाये तो शासन ढीला क्यों है, प्रजातन्त्र में कोई शासन नहीं हो सकता है, वोट न मिलने पर जब चाहे तब राजा को कान पकड़कर कुर्सी से उतार दिया जाता है, उतारकर कभी भी जेल भेजा जा सकता है और कभी भी उसे फाँसी दी जा सकती है । प्रजातन्त्र में कोई व्यक्ति शासन कैसे कर सकता है ? शासन तो ठीक वही है जो एक योग्य व्यक्ति के हाथ में रहे ।)

यमदूत बोले –

किन्तु शास्तृबहुत्वे स्याद्बहूनामिह कर्मिणाम्

(श्रीभागवतजी - ६/३/६)

जहाँ बहुत से शासक हों, वहाँ शासन कैसे चल सकता है ?
प्रभो ! हम लोग एक पापी को नरक ला रहे थे, इतने में वहाँ चार सिद्ध आये, वे सभी चतुर्भुज थे, उन्होंने बलपूर्वक उस पापी को हमसे छुड़ा लिया और आपकी आज्ञा का उल्लंघन कर दिया है ।

यमदूतों की बात सुनकर यमराज ने कहा – अरे दूतो ! मैं इस संसार का शासक नहीं हूँ । इस सृष्टि का शासक तो कोई और है । मैं तो उसका दास हूँ ।

यमदूत बोले – महाराज ! यह बात तो हम लोगों ने आज ही सुनी । आपसे बड़ा कौन है ?
यमराज ने कहा –

परो मदन्यो जगतस्तस्थुषश्च ओतं प्रोतं पटवद्यत्र विश्वम् ।

(श्रीभागवतजी - ६/३/१२)

मुझसे बड़े एक परमात्मा हैं, जिनके वश में सारा संसार है । मैं, इन्द्र, ब्रह्मा, निर्ऋति, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि, शिव आदि बड़े-बड़े देवता उसी के अधीन हैं । उसकी इच्छा क्या है, ये हम लोग जानते ही नहीं हैं । उन्हीं भगवान् के दूत इस संसार में चारों ओर

विचरण कर रहे हैं । मेरे दूतो ! उन भगवान् की भक्ति के हम बारह आचार्य हैं – ब्रह्माजी, नारदजी, शिवजी, सनत्कुमार, कपिलदेव, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म पितामह, बलि, शुकदेवजी और मैं ।

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः ।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम् ॥

(श्रीभागवतजी - ६/३/२०)

इस संसार में जीव के लिए सबसे बड़ा धर्म क्या है ?

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः ।
भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/३/२२)

इस संसार में जीव के लिए सबसे बड़ा धर्म है भक्तियोग, जिसका स्वरूप है कि भगवान् के नाम का सतत् कीर्तन किया जाये ।

यमराज, जो कि भक्ति के आचार्य हैं, वे इस बात को कह रहे हैं, उनकी इस बात को दिमाग में बैठा लो, उसे फिर कभी भूलो नहीं, बहको नहीं, किसी के चक्कर में नहीं आना । भक्ति के आचार्य धर्मराज निर्णय करके बता रहे हैं कि अन्य कोई धर्म नहीं है, चाहे वेद हों, चाहे पुराण हों, चाहे स्मृति हों । सबसे बड़ा धर्म तो भक्तियोग है । भक्तियोग को कुछ लोग बहुत जटिल बना देते हैं कि ऐसा करना चाहिए, वैसा करना चाहिये । ये सब कुछ नहीं है । भक्तियोग का स्वरूप यही है कि सहजता से भगवन्नाम कीर्तन करते रहो, यही है भक्तियोग ।

यमराज अपने दूतों से कहते हैं – पुत्रो ! भगवान् के नामोच्चारण की महिमा तो तुम लोगों ने स्वयं अपनी आँखों से देखी कि अजामिल

जैसा पापी भी एक बार भगवन्नाम लेने से मृत्यु के फंदे से मुक्त हो गया ।

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।

(श्रीभागवतजी - ६/३/२४)

जितने भी बड़े से बड़े पाप हैं, उन सबका एक ही प्रायश्चित्त है कि भगवान् के गुण, कर्म और नामों का कीर्तन किया जाये । जैसे गुण कीर्तन है –

गोविन्द हरे गोपाल हरे । जय जय प्रभु दीन दयाल हरे ॥

प्रभु दीन दयाल हैं, दीनों पर दया करने वाले हैं । ये है गुण कीर्तन ।

कर्म कीर्तन – नन्द किशोर, नवल किशोर, वृन्दावनचन्द्र, मेरे माखन चोर ...

ये है कर्म का कीर्तन । कन्हैया माखन चुरा रहा है । यह विश्वास करो कि जब हम माखन चोर-माखन चोर गाते हैं तो हमारे पाप नष्ट हो जाते हैं । इसे कहते हैं कर्म कीर्तन या लीला कीर्तन । कुछ श्लोक धर्मराज ने ऐसे कहे हैं जो सूर्य की तरह चमक रहे हैं जैसे कि उन्होंने कहा –

एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते
सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम् ।
ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषाम्
स्यात् पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/३/२६)

भगवद्भक्त से कभी कोई पाप भी हो जाये, जैसा कि स्वयं भगवान् ने एकादश स्कन्ध में कहा है –

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।

जो साधक भक्त है, वह विषयों से अवश्य ही पराजित होगा । जब छोटा बच्चा खड़ा होकर चलने का प्रयास करता है तो बहुत बार गिरता है, उसके बाद वह चलना सीखता है । एक ही दिन में तो बच्चा चल नहीं सकता । वैसे ही भगवान् ने एकादश स्कन्ध में नये भक्त के बारे में बताया है, जो अजितेन्द्रिय है । हम जैसे लोगों का तो अभी भक्ति की कक्षा में प्रवेश भी नहीं हुआ है । भगवान् कहते हैं कि जो नया भक्त है, अजितेन्द्रिय है, वह विषयों से बाधित होकर अवश्य गिरेगा । किन्तु –

प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥ (श्रीभागवतजी - ११/१४/१८)

जब उसकी भक्ति प्रगल्भ हो जाएगी तब वह विषयों से पराजित नहीं होगा । अब प्रश्न है कि जब साधक भक्त अपने मार्ग से गिर पड़ा तो उससे पाप तो हुआ ही, अब उसका क्या होगा ? इसका उत्तर देते हुए धर्मराज कह रहे हैं कि जो सुधि अर्थात् बुद्धिमान लोग हैं, वे अनन्त भगवान् की भक्ति इसीलिए करते हैं कि यदि साधक भक्त से पाप हो भी जाये तो वह मेरी (यमराज की) अदालत में नहीं आता अर्थात् अपने पाप का फल भोगने के लिए नरक में नहीं आयेगा । इसको निश्चय ही समझ लो । जो कृष्ण नाम का कीर्तन करता है, उससे यदि पाप हो जाये तो यमराज की अदालत में उसका निर्णय नहीं हो सकता है । उसकी अदालत बदल जाती है । जैसे सेना (मिलेट्री) के कर्मचारी से कोई अपराध हो जाये तो उसका मुकदमा सामान्य जनता की अदालत में नहीं जायेगा, सेना के लोगों का न्यायालय अलग होता है । उनका न्यायालय बदल जाता है । इस दुनिया में भी ऐसा होता है । उसी प्रकार जो मनुष्य कृष्ण कीर्तन करता है, उसका न्यायालय बदल जाता है । उसका न्याय यमराज

के न्यायालय में नहीं होता है । इस बात को स्वयं यमराज ने यहाँ कहा –

'स्यात् पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः'

उस साधक भक्त से यदि पाप हो जाता है तो इस श्लोक में प्रयुक्त शब्द 'उरुगायवाद' का अर्थ है कि वह भक्त जो कृष्ण नाम कीर्तन करता है, वह कीर्तन ही उसके सभी पापों को भस्म कर देगा । इसलिए कृष्ण नाम कीर्तन सदा करते रहो, कभी छोड़ो नहीं ।

यमराज के इस वचन को सुनकर किसी ने पूछा कि यदि साधक भक्त अपनी निष्ठा पर दृढ़ रहा तो नाम कीर्तन से उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं किन्तु है तो वह घृणा के योग्य क्योंकि कीर्तन भी वह कर रहा है और पाप भी उससे हो रहे हैं तो यमराज ने कहा कि ऐसा नहीं है ।

ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा
ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः ।
तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्
नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥

(श्रीभागवतजी - ६/३/२७)

'ते' का अर्थ होता है वे । कौन से 'ते' ? यहाँ 'ते' का सम्बन्ध श्लोक ६/३/२६ से चला आ रहा है । वहाँ यमराज ने कहा – ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ (वे मेरे दण्ड के पात्र नहीं हैं) इन्हीं 'ते' को पुनः ६/३/२७ में कहा – ते देवसिद्धपरिगीत... साधक भक्तों में भी वे समदर्शी साधु जो भगवान् के शरणागत हैं, उनकी बड़े-बड़े देवता और सिद्ध लोग स्तुति करते हैं । यमराज अपने दूतों से कहते हैं – हे मेरे दूतो ! तुम लोग उनके पास कभी मत जाना, नहीं तो पिटोगे । भगवान् की कौमोद गदा उन भक्तों की सदा रक्षा करती रहती है । उन्हें दण्ड देने की सामर्थ्य मुझमें

नहीं है और तो क्या, साक्षात् काल भी उनका कुछ नहीं कर सकता, फिर तुम्हारी क्या सामर्थ्य है ?

विचार करो, कृष्ण नाम कीर्तन कितनी महत्वपूर्ण चीज है । इसका आनन्द तो तभी है, जब जो भी श्रोता भागवत सप्ताह कथा सुनता है, वह अपने घर में प्रतिदिन कीर्तन करे, तभी भागवत कथा सुनने का वास्तविक फल मिलेगा । नित्य अपने घर में कीर्तन करो, कोई सहयोग न करे तो अकेले बैठकर कीर्तन करो । भगवन्नाम की ध्वनि से घर, गाँव, नगर – सभी जगह का वातावरण पवित्र हो जाता है ।

अपने स्वामी धर्मराज के मुख से भगवन्नाम महिमा सुनकर यमदूतों ने उनसे पूछा – महाराज ! अब यह बताइए कि हम लोग आपके पास नरक यातना के लिए मृत्युलोक से किन लोगों को पकड़कर लाया करें ?

धर्मराज बोले –

तानानयध्वमसतो विमुखान् मुकुन्द -
पादारविन्दमकरन्दरसादजस्रम् ।
निष्किञ्चनैः परमहंसकुलै रसज्ञै -
र्जुष्टाद् गृहे निरयवर्त्मनि बद्धतृष्णान् ॥

(श्रीभागवतजी - ६/३/२८)

जो लोग भगवान् मुकुन्द के चरणारविन्द के मकरन्द रस से विमुख हैं, उनको पकड़कर मेरे पास लाया करो । इसी प्रकार घर-गृहस्थी में जिनकी तृष्णा बँधी हुई है तथा जिनकी जीभ कृष्ण नाम का उच्चारण नहीं करती और जिनका चित्त कृष्ण चरणों का स्मरण नहीं करता, ऐसे दुष्टों को ही पकड़कर मेरे पास लाया करो ।

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयम्
चेतश्च न स्मरति तत् चरणारविन्दम् ।

कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥

(श्रीभागवतजी - ६/३/२९)

हम लोगों ने भगवान् के भक्तों का अपराध किया है, वे भगवान् हमें क्षमा करें ।

तत्क्षम्यतां स भगवान् पुरुषः पुराणो
नारायणः स्वपुरुषैर्यदसत्कृतं नः ।
स्वानामहो न विदुषां रचिताञ्जलीनाम्
क्षान्तिर्गरीयसि नमः पुरुषाय भूम्ने ॥

(श्रीभागवतजी - ६/३/३०)

तस्मात् सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम् ।
महतामपि कौरव्य विद्यैकान्तिकनिष्कृतिम् ॥

(श्रीभागवतजी - ६/३/३१)

शुकदेवजी कहते हैं – परीक्षित् ! भगवान् का संकीर्तन बड़े से बड़े पापों को निर्मूल करने वाला एकमात्र प्रायश्चित्त है । भगवान् के संकीर्तन से सारे विश्व का मंगल होता है । जैसी शुद्धि भक्ति से होती है, वैसी व्रतादि से नहीं होती है ।

जब यमदूतों ने अपने स्वामी धर्मराज से इस प्रकार भगवान् की महिमा सुनी और उसका स्मरण किया तभी से वे भगवान् के आश्रित भक्तों के पास नहीं जाते । जाना तो दूर रहा, जो भक्त भगवन्नाम कीर्तन करते हैं, यमदूत उनकी ओर देखने से भी डरते हैं –

नैवाच्युताश्रयजनं प्रति शङ्कमाना
द्रष्टुं च बिभ्यति ततः प्रभृति स्म राजन् ।

(श्रीभागवतजी - ६/३/३४)

विचार करो कि कृष्णनामकीर्तन कितनी सरल और कितनी कीमती वस्तु है ।

शुकदेवजी कहते हैं – भगवान् अगस्त्यजी ने मलय पर्वत पर विराजमान होकर इस परम गोपनीय इतिहास को कहा था । इस कथा को अपने कल्याण के लिए बार-बार सुनना चाहिए ।

अध्याय – ४

राजा परीक्षित् ने पूछा – भगवन् ! आपने संक्षेप में (तीसरे स्कन्ध में) स्वायम्भुव मन्वन्तर में देवता, असुर, मनुष्य, सर्प और पशु-पक्षी आदि की सृष्टि का वर्णन किया । अब मैं उसी को विस्तार से सुनना चाहता हूँ ।

शुकदेवजी ने कहा – राजा प्राचीनबर्हि के दस पुत्र प्रचेता जब समुद्र में तपस्या करके बाहर निकले तो सारी पृथ्वी को वृक्षों से घिरा देखकर के उन्हें बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने वृक्षों को जला डालने के लिए अपने मुख से वायु और अग्नि की सृष्टि की । प्रचेताओं की छोड़ी अग्नि से सारे वृक्ष जलने लगे, तब वृक्षों के राजा चन्द्रमा प्रचेताओं के पास आये और उनके क्रोध को शान्त करते हुए बोले – अहो प्रचेताओ ! ये वृक्ष बेचारे दीन हैं, इनसे आप लोग द्रोह क्यों करते हैं ? आपके पिता और भगवान् ने आपको सृष्टि बढ़ाने का आदेश दिया है, ऐसी स्थिति में आप वृक्षों को जला दें, यह उचित नहीं है । ये वनस्पतियाँ, औषधियाँ तो जीवों के हित के लिए हैं और उनका भोजन हैं, आप लोग इन्हें नष्ट क्यों करते हैं ? आप लोगों को इन पर क्रोध नहीं करना चाहिए । बालकों के बन्धु हैं माता-पिता, आँखों का बन्धु है पलक, स्त्रियों का पति, प्रजा के लिए राजा, भिक्षुकों के लिए गृहस्थ, अज्ञानियों के लिए बुद्धिमान । इसलिए आप क्रोध क्यों करते हैं, आप लोग तो विद्वान् हैं अज्ञानियों की रक्षा करने वाले उनके सहायक हैं ।

तीन गुण हैं सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण । इन तीन गुणों की रस्सियों में जीव बँधा हुआ है, इनसे शीघ्र ही छूटने का उपाय क्या है ? बहुत से लोग कहते हैं कि काम को जीत लो किन्तु क्रोध उससे भी बुरा है । काम तो तभी जाग्रत होता है जब स्त्री-पुरुष का मिलन होता है किन्तु क्रोध तो हर समय चित्त पर चढ़ा रहता है । काम को तो मनुष्य लोकलाज के भय से दबा भी सकता है किन्तु क्रोध में मनुष्य किसी से लज्जा नहीं करता है । कभी भी क्रोध को प्रकट कर देता है, सड़क चलते क्रोध करने लगता है, मन्दिर में या घर के भीतर कहीं भी क्रोध की अग्नि में झुलसने लगता है ।

इसीलिए चन्द्रमा ने प्रचेताओं से कहा –

यः समुत्पतितं देह आकाशान् मन्युमुल्बणम् ।
आत्मजिज्ञासया यच्छेत् स गुणानतिवर्तते ॥

(श्रीभागवतजी - ६/४/१४)

जो मनुष्य शरीर में उत्पन्न होने से पहले या जब उत्पन्न हो जाये तब क्रोध को जीत लेता है, वह बहुत जल्दी गुणातीत हो जायेगा । जिस व्यक्ति को तीनों गुणों से अतीत होना है, वह हर समय यही सोचता रहे कि मेरे चित्त में क्रोध न आ जाये । चन्द्रमा ने प्रचेताओं से यह भी कहा – यह श्रेष्ठ कन्या वृक्षों के द्वारा पाली गयी है, इसे आप लोग पत्नी के रूप में ग्रहण कीजिये ।शुकदेवजी कहते हैं – इस प्रकार चन्द्रमा ने प्रचेताओं को समझा-बुझा कर उन्हें प्रम्लोचा अप्सरा की सुन्दर कन्या दे दी और वे वहाँ से चले गये । प्रचेताओं ने धर्म-विधि से उसके साथ विवाह किया । प्रचेताओं के द्वारा उस कन्या से दक्ष का जन्म हुआ । आगे चलकर दक्ष ने दो प्रकार की सृष्टि की, एक मन से और दूसरी वीर्य के द्वारा । पहले तो उन्होंने अपने मन से प्रजा की सृष्टि की किन्तु वह बढ़ी नहीं । तब उन्होंने विन्ध्याचल पर्वत पर

जाकर तपस्या की, वहाँ एक अघमर्षण नामक श्रेष्ठ तीर्थ है । प्रजापति दक्ष ने 'हंसगुह्य' नामक स्तोत्र से भगवान् की स्तुति की थी । दक्ष प्रजापति ने स्तुति इस प्रकार की – भगवन् ! आप पर हैं, चिच्छक्ति रूप हैं, आपको नमस्कार है । आप तीनों गुणों के नियन्ता हैं । जो जीव त्रिगुणमय प्रपंच को सत्य मानने वाले हैं, उन्हें आप दिखाई नहीं पड़ते हैं । आप अदृष्ट धाम हैं । **'न यस्य सख्यं पुरुषोऽवैति सख्युः'** (श्रीभागवतजी - ६/४/२४) – जीव और ईश्वर वैसे तो एक दूसरे के सखा हैं और एक ही शरीर में रहते हैं, फिर भी जीव ईश्वर की मित्रता को नहीं जान पाता है, जबकि हर समय ईश्वर जीव की सहायता करता रहता है । आप जीव और जगत् के दृष्टा हैं, दृश्य नहीं इसीलिए जीव आपकी मित्रता को नहीं जान पाता है । मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ । प्रजापति दक्ष के द्वारा स्तुति करने पर भगवान् ने उनको प्रकट होकर दर्शन दिए तथा पंचजन प्रजापति की कन्या असिक्नी उन्हें भेंट कर उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करके सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा दी । आगे पाँचवें अध्याय की कथा यह है कि भगवान् की आज्ञा से असिक्नी के गर्भ से दक्ष प्रजापति ने हर्यश्व नाम के दस हजार पुत्र उत्पन्न किये । जब दक्ष ने उन्हें सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा दी तो वे तपस्या करने चले गये । वहाँ नारदजी के उपदेश से वे सभी पुत्र विरक्त होकर मोक्ष पथ के पथिक बन गये । दक्ष प्रजापति को इसका पता चला तो उन्होंने असिक्नी के गर्भ से एक हजार पुत्र और उत्पन्न किये । वे भी अपने पिता की आज्ञा से प्रजासृष्टि के उद्देश्य से तप करने के लिए चले गये किन्तु उन्हें भी नारदजी ने ज्ञानोपदेश प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप ये दक्ष पुत्र भी अपने पहले के भाइयों के समान विरक्त होकर मोक्षमार्ग के पथिक बन गये । दक्ष प्रजापति को इसका पता चला तो उन्होंने अत्यन्त क्रोधित होकर नारदजी को शाप दे दिया ।

छठे अध्याय में दक्ष प्रजापति की साठ कन्याओं और उनके वंश का वर्णन किया गया है ।

अध्याय – ७

परीक्षितजी के प्रश्न करने पर श्रीशुकदेवजी ने बताया कि एक बार इन्द्र से अपमानित होकर देवगुरु बृहस्पति ने नाराज होकर अपने शिष्य देवताओं का त्याग कर दिया था । उस समय देवताओं को दैत्यों के भानजे विश्वरूप को अपना गुरु बनाना पड़ा । विश्वरूप से देवताओं ने वैष्णवी विद्या प्राप्त की ।

अध्याय आठ में विश्वरूप द्वारा इन्द्र को प्रदान किये गये नारायण कवच का वर्णन है ।

अध्याय – ९

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – विश्वरूप के पिता त्वष्टा आदि बारह आदित्य देवता थे, इसलिए वे यज्ञ के समय प्रत्यक्ष रूप में ऊँचे स्वर से बोलकर बड़े विनय के साथ देवताओं को आहुति देते थे । साथ ही वे छिप-छिपकर असुरों को भी आहुति दिया करते थे क्योंकि उनकी माता असुर कुल की थीं, इसीलिए विश्वरूप मातृस्नेह के कारण यज्ञ करते समय असुरों को भी भाग पहुँचाया करते थे । उनके ऐसा करने पर इन्द्र ने क्रोध में भरकर उनके तीनों सिर काट लिए । विश्वरूप की मृत्यु के बाद उनके पिता त्वष्टा 'हे इन्द्रशत्रो ! तुम्हारी अभिवृद्धि हो और शीघ्र से शीघ्र तुम अपने शत्रु को मार डालो ।' – इस मन्त्र से इन्द्र का शत्रु उत्पन्न करने के लिए हवन करने लगे । यज्ञ समाप्त होने पर अग्नि से एक बड़ा भयावना दैत्य प्रकट हुआ, उसका नाम था वृत्रासुर । बड़े-बड़े देवता अपने अनुयायियों सहित उस पर अस्त्र-शस्त्रों से प्रहार करने लगे परन्तु वृत्रासुर उनके सारे अस्त्र-शस्त्रों को निगल गया । देवताओं का सारा प्रभाव समाप्त हो गया । वे दुःखी होकर अपने हृदय में

विराजमान भगवान् की शरण में गये । भगवान् ने उन्हें दधीचि ऋषि के पास जाने का आदेश दिया ।

अध्याय – १०

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – देवगण दधीचि ऋषि के पास गये और भगवान् की आज्ञानुसार उनसे उनके शरीर की याचना की । दधीचि ऋषि ने अपना शरीर त्यागकर उसे देवताओं को दान कर दिया । उनकी अस्थियों से वज्र का निर्माण हुआ और उस वज्र के प्रहार से इन्द्र ने वृत्रासुर का वध कर दिया ।

अध्याय – ११

वृत्रासुर ने अपने अन्तिम समय में जो चार श्लोक कहे, उसे वृत्र चतुःश्लोकी कहा जाता है । भगवान् को पाने की जो उत्कण्ठा वृत्रासुर में थी, वह उसकी वाणी से स्पष्ट होती है । पार्वतीजी के शाप से राजर्षि चित्रकेतु ही वृत्रासुर बने थे । इन्द्र से युद्ध करते समय इन्होंने जो चार श्लोक कहे, उनमें इन्होंने भक्तों के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्ट्य का वर्णन किया है । महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने वृत्रासुर द्वारा कथित इन चार श्लोकों को अपने पुष्टि सिद्धान्त की नींव कहा है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करना, इनको प्राप्त कर लेना मानव मात्र का कर्त्तव्य है किन्तु भक्तों के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अलग होते हैं एवं ज्ञानी पुरुषों के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अलग होते हैं ।

वृत्रासुर ने कहा –

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत् -
पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।

(श्रीभागवतजी - ६/११/२३)

जो साधारण धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष हैं, उनमें भगवान् अपने भक्तों के धर्म को भी नष्ट कर देते हैं, अर्थ तथा काम को भी नष्ट कर देते हैं और फिर मोक्ष तो भक्त स्वयं ही नहीं चाहता है । इस तरह पुरुषार्थ चतुष्य की सिद्धि नहीं हो पाती है । अब प्रश्न है कि जब भक्त के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नष्ट ही हो जाते हैं तो फिर उसका कल्याण कैसे होता है ? अब जैसे धर्म है तो एक बालक के लिए धर्म है माता-पिता की सेवा करे, स्त्री का धर्म है अपने पति की सेवा करे, शिष्य का धर्म है गुरु की सेवा करे, राजा का धर्म है प्रजाजनों की सेवा करे किन्तु भक्ति मार्ग में आने पर इन धर्मों का त्याग भी करना पड़ता है और भगवान् स्वयं इन धर्मों का त्याग करा देते हैं, अपने भक्त से इन धर्मों का नाश करा देते हैं । कौन-से धर्म, लौकिक धर्म । लौकिक धर्मों को छोड़ने के बाद ही परम धर्म की प्राप्ति होगी । इसलिए इन धर्मों को तो भगवान् नष्ट करा देते हैं जैसे ब्रजगोपियाँ थीं, उनका जितना भी पातिव्रत धर्म था, भाई-बन्धुओं के प्रति धर्म था, सास-ससुर की सेवा करने का जो धर्म था तो भगवान् ने उनके मन का इस प्रकार हरण किया कि वह सारा धर्म छुडवा दिया । इस प्रकार भगवान् अपने भक्त के लौकिक धर्म का भी नाश कर देते हैं तथा अर्थ(धन) का भी नाश कर देते हैं क्योंकि उन्होंने भागवत में ही स्वयं कहा है –

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः । (श्रीभागवतजी - १०/८८/८)

मैं जिस पर कृपा करता हूँ, उसका अर्थ(धन) छीन लेता हूँ । इस तरह भगवान् अपने भक्त के पास न तो धर्म छोड़ते हैं, न अर्थ छोड़ते हैं तथा उसके काम को भी नष्ट कर देते हैं । यदि भक्त के मन में सांसारिक वस्तु-पदार्थों को पाने की कामना भी होती है तो भगवान् उसको नष्ट कर देते हैं । जैसे भागवत में ही सुदामा जी ने कहा है कि यदि कोई जीव भगवान् से धन चाहता है तो वे उसको धन नहीं देते हैं,

उसकी धन की कामना को पूरा नहीं करते हैं क्योंकि – **'अदीर्घबोधाय'** - यह जीव जानता नहीं है, दूर तक नहीं देख सकता है कि धन से उत्पन्न होने वाला मद मेरा नाश कर देगा, धन से होने वाला मोह मेरा सर्वनाश कर देगा । जीव में तो इतनी बुद्धि नहीं है कि वह अपने होने वाले विनाश को समझ सके । इसीलिए तो हम लोग कामना करते हैं कि खूब धन मिल जाये, पद-प्रतिष्ठा मिल जाये, खूब सुख-समृद्धि मिल जाये किन्तु जो चीजें हमारे अन्दर मद-मोह उत्पन्न करती हैं, उनकी कामना को भगवान् स्वयं ही पूरा नहीं करते हैं, कामनाओं का नाश कर देते हैं । इस तरह भगवान् अपने भक्त का धर्म भी नष्ट कर देते हैं, अर्थ एवं काम को भी नष्ट कर देते हैं, तब वह भक्त ऐसी स्थिति पर पहुँच जाता है कि मोक्ष को तो स्वयं ही छोड़ देता है । 'मुक्ति निरादर भगति लुभाने ।' ऐसी उसकी अवस्था हो जाती है । अब प्रश्न यह है कि शास्त्र में एक स्थान पर तो कहा गया है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि करना आवश्यक है और दूसरे स्थान पर भगवान् स्वयं इनका नाश कर रहे हैं, ऐसी स्थिति में यह जीव बेचारा क्या करेगा ? इसका उत्तर देते हुए महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने कहा कि वृत्रासुर ने अपने द्वारा कथित चार श्लोकों में वैष्णवों का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष क्या है, इस तरह भक्तों का पुरुषार्थ बताया है । माता-पिता की सेवा करना, गुरुजनों की सेवा करना – ये तो सामान्य धर्म है । इनसे भी आगे जो धर्म है, वह है वैष्णवों का शरणागति धर्म । वैष्णवों के धर्म के बारे में वृत्रासुर ने कहा –

अहं हरे तव पादैकमूल -
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।

ये माँ-बाप हैं, हम इनकी सेवा करेंगे । ये बन्धु-बान्धव हैं, इनके प्रति हमारा जो कर्त्तव्य कर्म है, हम उसे करेंगे, यह तो छोटी बात है । वैष्णव का सबसे बड़ा धर्म है – दासानुदासो भवितास्मि भूयः –

हे प्रभो ! हम आपके दास नहीं, आपके दासों के दास बन जाएँ अर्थात् दास धर्म वैष्णवों का परम धर्म है ।

श्रीभट के प्रभु दियो अभय पद,
यम डरपयो जब दास कहायो ।
मदनगोपाल शरण तेरी आयो ।

सबसे बड़ा धर्म यही है ।

मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/११/२४)

हम मन से आपका ही चिन्तन करें । शरीर से आपके लिए ही कर्म करें और वाणी सदा आपका ही गुणगान करे । यह वैष्णवों का धर्म है । केवल पति की सेवा करना, माता-पिता की सेवा करना – यह तो साधारण लोगों का धर्म है । भक्तों का धर्म यही है कि हमारे शरीर का प्रत्येक अवयव, हमारे शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय भगवान् के लिए काम करे ।

वैष्णवों का अर्थ क्या है ? वृत्रासुर से भगवान् ने कहा कि स्वर्ग ले लो, ब्रह्मलोक ले लो, योगियों की सिद्धि ले लो, और तो और मोक्ष भी ले लो, परन्तु वृत्रासुर ने कहा –

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यम्
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥

(श्रीभागवतजी - ६/११/२५)

न मुझे स्वर्ग का वैभव चाहिए, न मुझे सत्यलोक का वैभव चाहिए । भूमण्डल का साम्राज्य, रसातल का राज्य, योग की सिद्धि तथा मोक्ष भी मैं नहीं चाहता हूँ । मैं आपको छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता हूँ ।

अतः वैष्णवों का एकमात्र अर्थ (धन) भगवान् और उनका नाम है । श्रीहरिरामव्यासजी महाराज ने कहा – **'परम धन राधा नाम आधार ।'** श्रीमीराजी ने कहा – **'पायो जी मैंने राम रतन धन पायो ।'** भगवान् ही वैष्णवों के अर्थ (धन) हैं । हम लोगों के लिए अर्थ द्रव्य है, पैसा है, नोटों की गड्डी है किन्तु वैष्णवों का अर्थ भगवान् है । वैष्णवों की कामना (काम) क्या है तो काम के विषय में वृत्रासुर ने कहा –

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥

(श्रीभागवतजी - ६/११/२६)

मन में कामना हो तो कैसी कामना करे ? पद-प्रतिष्ठा, सुख-समृद्धि की कामना वैष्णवों की कामना नहीं है । वैष्णवों की कामना यह है जैसी कि वृत्रासुर ने इस श्लोक में कहा – हे प्रभो ! जैसे किसी चिड़िया का पंखहीन बच्चा अपनी माँ से मिलने के लिए छटपटाता है, जैसे भूखा बछड़ा अपनी माँ गाय से मिलने के लिए छटपटाता है, कोई वियोगिनी पत्नी, जिसे अपने प्रवासी पति से मिले कई वर्ष हो गये हैं, वह वियोगावस्था में जिस प्रकार अपने पति से मिलने के लिए व्याकुल रहती है, वैसे ही मैं भी आपसे मिलने के लिए तड़प रहा हूँ । भगवान् से मिलने की उत्कण्ठा, ऐसी लालसा हमारे मन में आ जाए, यही वैष्णवों की कामना है; यही दिव्य कामना होनी चाहिए किन्तु यह कामना कब आयेगी ?

छूटी त्रिबिधि ईषना गाढ़ी । एक लालसा उर अति बाढ़ी ॥
राम चरन बारिज जब देखौं । तब निज जन्म सफल करि लेखौं ॥

(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड - ११०)

जब सांसारिक कामनाओं से हम लोग मुक्त हो जायेंगे, तब 'भगवत्प्राप्ति की छटपटाहट' भगवान् से मिलने की कामना हमारे अन्दर आ जाएगी ।

इस तरह अब वैष्णवों का धर्म समझ में आ गया, अर्थ समझ में आ गया, काम समझ में आ गया तो क्या अब वैष्णवों का मोक्ष भी अलग है । वृत्रासुर ने कहा – हाँ, वैष्णवों का मोक्ष भी अलग है । वैष्णवों का मोक्ष क्या है तो उसके बारे में वृत्रासुर ने कहा –

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यम्
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहे -
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥

(श्रीभागवतजी - ६/११/२७)

ज्ञानियों को मोक्ष मिलता है मृत्यु के बाद परन्तु भक्तों को जीते जी ही मोक्ष मिल जाता है । ये कैसी मुक्तावस्था है, जो जीते जी ही मिल जाती है तो वृत्रासुर ने कहा –प्रभो ! मुझे यह तो पता है कि अब मैं मरने वाला हूँ और मैं यह भी नहीं चाहता कि आपसे कहूँ कि मुझे पुनर्जन्म नहीं मिले । मैं ऐसी प्रार्थना भी नहीं करता ।

कुटिल करम लै जाँहि जहाँ मोहि, जहँ अपनी बरिआई ।

मेरे कुटिल कर्म, मेरे विकर्म, मेरी आसुरी वृत्ति यदि मुझे नरक में भी ले जाना चाहे तो मैं वहाँ भी प्रसन्न रहूँगा, मुझे नरक से कोई आपत्ति नहीं है । बस एक प्रार्थना है, मृत्यु के बाद मेरा जहाँ भी जन्म

हो, सांसारिक लोगों से मेरा कोई सम्बन्ध न रहे । भक्तों के बीच में ही जन्म हो, भक्तों से ही मेरा सम्बन्ध रहे, भक्तों में ही मेरा सख्य भाव रहे, भक्त ही मेरे सब कुछ हों । संसारी लोगों में मेरी आसक्ति न हो, जितनी भी आसक्ति हो, वह केवल भक्तों में ही हो । भक्त संग की प्राप्ति के लिए यदि मुझे हजार बार भी जन्म लेना पड़े तो मैं हजार बार भी जन्म लेने के लिए तैयार हूँ ।जिन भक्तों के हृदय में यह भावना दृढ हो गयी कि भगवान् ही हमारे सब कुछ हैं, भगवान् के भक्त ही हमारे सब कुछ हैं और उन भक्तों के बीच में बैठकर हम दिन-रात भगवान् की कथा-कीर्तन में ही तन्मय रहें, बस यही भक्तों का मोक्ष है । ज्ञानियों के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से भक्तों का धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अलग है ।

इसके बाद अध्याय बारह में इन्द्र द्वारा वृत्रासुर के वध का वर्णन है । अध्याय तेरह में ब्रह्महत्या द्वारा इन्द्र पर आक्रमण का उल्लेख किया गया है ।

अध्याय – १४

राजा परीक्षित ने शुकदेवजी से जिज्ञासा की – प्रभो ! जो भक्ति देवताओं को भी नहीं मिल पाती है, वृत्रासुर जो कि एक असुर था, उसको वह भक्ति कैसे प्राप्त हो गयी ?

परीक्षितजी की जिज्ञासा पर शुकदेवजी ने वृत्रासुर के पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनाया ।

शुकदेवजी कहते हैं – प्राचीनकाल की बात है, शूरसेन देश में चक्रवर्ती सम्राट महाराज चित्रकेतु राज्य करते थे । उनके एक करोड़ रानियाँ थीं किन्तु वे सब बाँझ थीं । कोई सन्तान न होने के कारण राजा चित्रकेतु बड़े चिन्तित रहा करते थे । एक दिन अंगिरा ऋषि उनके महल में पहुँचे । राजा ने ऋषि का बहुत सम्मान किया और

विधिपूर्वक उनकी पूजा की । अंगिरा ऋषि ने कहा – 'राजन् ! मैं देख रहा हूँ कि तुम सन्तुष्ट नहीं हो । तुम्हारी कोई कामना अपूर्ण है । तुम्हारे मुख पर चिन्ता झलक रही है । तुम्हारे इस असंतोष का क्या कारण है ?'

राजा चित्रकेतु ने कहा – 'महाराज ! मुझे पृथ्वी का साम्राज्य, ऐश्वर्य और सम्पत्तियाँ, जिनके लिए लोकपाल भी लालायित रहते हैं, प्राप्त हैं परन्तु सन्तान न होने के कारण मुझे इन भोगों से उसी प्रकार तनिक भी शांति नहीं मिल रही है जैसे भूखे-प्यासे प्राणी को अन्न-जल के अतिरिक्त दूसरे किसी भोग पदार्थ से । आप कृपा करके मुझे सन्तान प्रदान करें, जिससे मैं नरक जाने से बचूँ और लोक-परलोक के सभी दुखों से छूट सकूँ ।

शुकदेवजी कहते हैं – जब राजा चित्रकेतु ने इस प्रकार प्रार्थना की तो सर्वसमर्थ ब्रह्मपुत्र अंगिरा ऋषि ने त्वष्टा देवता के योग्य चरु निर्माण करके उससे उनका यजन किया । चित्रकेतु की रानियों में सबसे बड़ी और सर्वगुण सम्पन्ना महारानी कृतद्युति थीं । महर्षि अंगिरा ने उन्हीं को यज्ञ का शेष प्रसाद दे दिया और राजा चित्रकेतु से कहा – 'तुम्हारी पत्नी के गर्भ से एक पुत्र होगा, जो तुम्हें हर्ष और शोक दोनों ही देगा ।' ऐसा कहकर अंगिरा ऋषि चले गये । यज्ञ के उस प्रसाद को खाने से रानी कृतद्युति ने राजा चित्रकेतु के द्वारा गर्भ धारण किया । समय आने पर रानी के गर्भ से एक सुन्दर पुत्र का जन्म हुआ । उसके जन्म का समाचार पाकर प्रजा बहुत ही प्रसन्न हुई । राजा चित्रकेतु तो आनन्द के समुद्र में डूब गये । उन्होंने अपने पुत्र के कल्याण के लिए ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराकर पुत्र का जातकर्म संस्कार कराया । उन्होंने ब्राह्मणों को सोना, चाँदी, वस्त्र, आभूषण, गाँव और असंख्य गौएँ दान में दीं । बहुत कठिनाई से प्राप्त हुए उस पुत्र में राजा चित्रकेतु का स्नेह दिनों-दिन बढ़ता गया । रानी कृतद्युति

को भी अपने बालक पर बहुत स्नेह था परन्तु राजा की अन्य रानियों के मन में बहुत ईर्ष्या होने लगी । सन्तान होने के कारण राजा चित्रकेतु रानी कृतद्युति से ही विशेष प्रेम करते थे तथा अन्य रानियों की उन्होंने उपेक्षा कर दी थी । वे रानियाँ सन्तान न होने से पहले ही दुखी थीं फिर राजा चित्रकेतु की उपेक्षा से तो उनके मन की जलन बढ़ने लगी । वे कृतद्युति से बहुत अधिक द्वेष करने लगीं । अपने प्रति चित्रकेतु की उपेक्षा और कृतद्युति के प्रति उनके विशेष प्रेम के कारण द्वेषवश उन रानियों के मन में इतनी क्रूरता बढ़ी कि एक दिन उन्होंने नन्हे से बालक को विष दे दिया, जिससे उसकी मृत्यु हो गयी । अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार पाकर राजा-रानी शोक सागर में डूब गये । रानी कृतद्युति पुत्र शोक में करुण विलाप करने लगी, उसका दुःख देखकर राजा चित्रकेतु भी फूट-फूटकर रोने लगे और चेतनाहीन से हो गये । महर्षि अंगिरा और देवर्षि नारद ने देखा कि राजा चित्रकेतु पुत्र शोक के कारण अचेत से हो रहे हैं और उन्हें समझाने वाला भी कोई नहीं है, तब वे दोनों ऋषि उनके महल में आये ।

अध्याय – १५

शुकदेवजी कहते हैं – परीक्षित् ! महर्षि अंगिरा और देवर्षि नारद ने पुत्र शोक से मुर्दे के समान पड़े राजा चित्रकेतु को सुन्दर उक्तियों से समझाया । उन्होंने कहा – राजन् ! जिसके लिए तुम इतना दुखी हो रहे हो, वह बालक इस जन्म में और इससे पूर्व के जन्मों में तुम्हारा कौन था, तुम उसके कौन थे तथा अगले जन्मों में भी उसके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध रहेगा ?

यथा प्रयान्ति संयान्ति स्रोतोवेगेन वालुकाः ।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१५/३)

जिस प्रकार जल के वेग से बालू के कण एक दूसरे से जुडते और बिछुडते रहते हैं, उसी प्रकार काल के प्रवाह में जीवों का भी मिलन और वियोग होता रहता है । जैसे कुछ बीजों से दूसरे बीज उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही भगवान् की माया से प्रेरित होकर प्राणियों से अन्य प्राणी उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं । श्रीशुकदेवजी कहते हैं – जब अंगिरा ऋषि और देवर्षि नारद ने इस प्रकार चित्रकेतु को समझाया तब उन्होंने कुछ धैर्य धारण करके उनसे कहा ।

राजा चित्रकेतु बोले – कृपा करके यह बताइए कि आप लोग कौन हैं, सनत्कुमार जी हैं कि वसिष्ठजी हैं कि कपिल देव हैं कि दुर्वासा जी हैं, कौन हैं आप लोग ?

महर्षि अंगिरा ने कहा – राजन् ! तुम मुझे नहीं पहचाने, जब पुत्र के लिए तुम बहुत व्याकुल थे तब मैंने ही तो तुम्हें पुत्र दिया था । मैं अंगिरा ऋषि हूँ और ये जो तुम्हारे सामने खड़े हैं, ये देवर्षि नारद हैं । हम लोग पुत्र शोक से तुम्हें उबारने के लिए आये हैं । तुम बड़े ही ब्रह्मण्य हो, भगवद्भक्त हो । तुम्हें पुत्र के लिए इस प्रकार से शोक नहीं करना चाहिए । हमने ही तुम्हें पुत्र प्रदान किया था, क्यों प्रदान किया था ? अब तुमको पता पड़ गया कि पुत्र के कारण कैसी अनुभूति होती है ?

अधुना पुत्रिणां तापो भवतैवानुभूयते ।

(श्रीभागवतजी - ६/१५/२१)

तुम्हारे हृदय में वैराग्य उत्पन्न करने के लिए हमने तुम्हें पुत्र दिया था, जिससे कि तुमको इस बात का बोध हो जाए कि संसार है क्या वस्तु ? पुत्रादि असार हैं, इनसे कल्याण नहीं होता है । स्त्री-पुत्रादि सब स्वार्थ के ही सम्बन्धी हैं । यदि पिता अपने पुत्र को उसकी इच्छित

वस्तु नहीं दे तो पुत्र झगड़ा करेगा । पुत्र आदि को तो असुर समझो, विशेषकर कलियुग में तो सभी असुर बन जाते हैं । राजन् ! जिस प्रकार पुत्र दुखदायक है, इसी प्रकार स्त्री भी दुखद है । शब्दादि विषय दुखद हैं । सारा संसार दुःख रूप है । इस प्रकार से अंगिरा ऋषि ने राजा चित्रकेतु को ज्ञान दिया । इसके बाद नारदजी ने चित्रकेतु को मन्त्रोपनिषद् प्रदान किया और कहा कि इसे धारण करने से तुम्हें सात रात में ही भगवान् संकर्षण का दर्शन होगा ।

अध्याय – १६

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – अंगिरा ऋषि के समझाने पर राजा चित्रकेतु का दुःख कुछ कम हुआ किन्तु पूर्ण रूप से उनका दुःख समाप्त नहीं हुआ । तब नारदजी ने अंगिरा जी से कहा कि राजा-रानी का दुःख केवल उपदेश से दूर नहीं होगा । नारदजी ने मृत बालक के जीवात्मा को सबके सामने बुलाया । अब जीवात्मा ऊपर से आई । नारदजी ने उससे कहा – 'हे जीवात्मा ! तेरे माता-पिता तेरे वियोग में बहुत दुखी हैं । इनको सुखी करने के लिए तुम अपने शरीर में पुनः प्रवेश कर जाओ, अपने माता-पिता के साथ रहो और इनके दिए हुए भोगों को भोगो ।' जीवात्मा ने कहा – 'मैं अपने कर्मों के अनुसार देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियों में न जाने कितने जन्मों से भटक रहा हूँ । उनमें से ये लोग किस जन्म में मेरे माता-पिता हुए ? कभी तो ये लोग मेरे माँ-बाप हुए और कभी मैं इनका पिता बना । सभी जीव अनेक जन्मों में एक दूसरे के माँ-बाप बन चुके हैं ।

सर्व एव हि सर्वेषां भवन्ति क्रमशो मिथः । (श्रीभागवतजी - ६/१६/५)

जैसे मनुष्य बाजार से सामान खरीदकर लाता है, दुकानदार को जो रुपये, जो धन देता है, वह धन दूसरी-तीसरी जगह जाता रहता है,

वैसे ही जीव भी अनेकों योनियों में भ्रमण कर रहा है । जब तक जीव का दूसरे जीव से सम्बन्ध होता है तभी तक ममता रहती है ।'
जब उस जीवात्मा ने इस तरह से सत्य बातें कहीं तब राजा चित्रकेतु और उनकी रानी की आँखें खुलीं । वे कहने लगे कि हम लोग तो इसे अपना पुत्र मानते थे और यह कह रहा है कि तुम लोग किस जन्म के मेरे माता-पिता हो, मैं भी किसी जन्म में तुम लोगों का माता-पिता बन चुका हूँ । इसलिए हमारा तुम्हारा सम्बन्ध सत्य नहीं है ।
श्रीशुकदेवजी कहते हैं – इस प्रकार कहकर जीव चला गया । अब राजा चित्रकेतु और उनकी रानी को सत्य वस्तु का ज्ञान हुआ ।

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना । सत हरि भजन जगत सब सपना ॥

वास्तविकता यही है कि केवल श्रीकृष्ण का भजन ही सत्य है और बाकी सब झूठ है । अब तो राजा-रानी और सभी सगे सम्बन्धियों का उस पुत्र के प्रति स्नेह समाप्त हो गया और उसके मरने का दुःख भी चला गया । इसके बाद बालक के मृतक देह का अन्तिम संस्कार किया गया । ऋषियों ने राजा चित्रकेतु को यह भी बता दिया कि तुम्हारी दूसरी रानियों ने ही तुम्हारे पुत्र को विष दिया था और अब ये झूठे ही रोने का ढोंग कर रही हैं । ऋषियों के बताने पर रानियों की पोल खुल गयी, लज्जा से वे अपनी आँखें तक नहीं उठा पा रही थीं । यमुना के तट पर ब्राह्मणों के आदेशानुसार रानियों ने बाल हत्या का प्रायश्चित्त किया । अंगिरा ऋषि और नारदजी के उपदेश से राजा चित्रकेतु को विवेक हो गया और घर-परिवार के मोह बन्धन से वे मुक्त हो गये । उन्होंने यमुनाजी में स्नान किया और धार्मिक क्रियायें करने के बाद देवर्षि नारद और महर्षि अंगिरा के चरणों में प्रणाम किया । नारदजी ने प्रसन्न होकर राजा को इस विद्या का उपदेश दिया – 'चतुर्व्यूहरूप वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण को नमस्कार है ।'

देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी
यदंशविद्धाः प्रचरन्ति कर्मसु ।
नैवान्यदा लौहमिवाप्रतप्तम्
स्थानेषु तद् द्रष्टृपदेशमेति ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१६/२४)

जिन भगवान् के तेज से युक्त होकर ही शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि जाग्रत तथा स्वप्न अवस्थाओं में अपना-अपना काम करते हैं । हम लोग नासमझ हैं, हम लोग समझते हैं कि यह हमारा हाथ है, हमारे हाथ में ताकत है, हमारी आँखें देख रही हैं, हमारे कान सुन रहे हैं किन्तु नहीं, हमारी जितनी भी इन्द्रियाँ काम कर रही हैं, ये सब ईश्वर की शक्ति से काम कर रही हैं । हमारी शक्ति नहीं है । बस, यहीं पर हम लोग धोखा खा जाते हैं । अगर ये बात हमें याद रहे कि हमारे पाँव ईश्वर की शक्ति से चल रहे हैं, हाथ ईश्वर की शक्ति से काम कर रहे हैं तो हम लोगों को ज्ञान हो जाये । जिन भगवान् की शक्ति से सारे कार्य हो रहे हैं, उन भगवान् को हम नमस्कार करते हैं ।

इस प्रकार से विद्या का उपदेश देकर देवर्षि नारद महर्षि अंगिरा के साथ ब्रह्मलोक को चले गये । राजा चित्रकेतु ने नारदजी के द्वारा सिखाई गयी उस विद्या का सात दिन तक केवल जल पीकर अनुष्ठान किया । उस विद्या के अनुष्ठान से राजा चित्रकेतु सात दिन के बाद विद्याधरों के राजा बन गये । इसके बाद कुछ ही दिनों में वे इस विद्या के प्रभाव से भगवान् शेषजी के पास पहुँच गये । उन्होंने शेष भगवान् का दर्शन किया । उन्होंने देखा कि भगवान् शेष का शरीर गोरे रंग का है, नीलाम्बर पहने हुए हैं । सिर पर किरीट, बाँहों में बाजूबंद, कमर में करधनी और कलाई में कंगन आदि आभूषण चमक रहे हैं । शेष भगवान् के दर्शन करने से राजा चित्रकेतु के नेत्रों से प्रेम के आँसू बहने लगे । इसके बाद उन्होंने शेष भगवान् की स्तुति की ।

चित्रकेतु ने कहा – हे प्रभो ! आपकी जय हो । आप अजित हैं, आपको कोई जीत नहीं सकता फिर भी जितेन्द्रिय एवं समदर्शी साधुओं ने आपको जीत लिया है । हे अनन्त ! आपके सहस्त्रों सिरों में से एक पर यह पृथ्वी अणु के समान रखी हुई है ।

जितमजित तदा भवता
यदाऽऽह भागवतं धर्ममनवद्यम् ।
निष्किञ्चना ये मुनय
आत्मारामा यमुपासतेऽपवर्गाय ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१६/४०)

भगवान् ने ही अपने को जीतने का रास्ता हम लोगों को बताया है । दुनिया में भगवान् की भक्ति कैसे फैली है ? भगवान् ने ही आचार्यों का रूप धारण करके भक्ति का स्वरूप सबको बताया । आपने ही भागवत धर्म का उपदेश किया (जैसे – कृष्ण रूप से गीता में कहा – **सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।**) जब आपने भागवत धर्म का उपदेश किया तभी आपने संसार को जीत लिया । इतनी उदारता है आपमें ।

विषममतिर्न यत्र नृणां
त्वमहमिति मम तवेति च यदन्यत्र ।
विषमधिया रचितो यः
स ह्यविशुद्धः क्षयिष्णुरधर्मबहुलः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१६/४१)

उस भागवत धर्म की पहचान यह है कि उसमें भेदबुद्धि (मेरा-तेरा) नहीं है । उसमें बताया गया है कि सब प्रभु ही हैं । भागवत धर्म में सब कुछ प्रभुमय (भगवन्मय) हो जाता है । इसके अतिरिक्त अन्य जितने धर्म हैं, वे सब बेकार हैं । बेकार इसलिए हैं क्योंकि उनमें

भेदबुद्धि रहती है जबकि भागवत धर्म सिखाता है कि सारा संसार ही कृष्ण रूप है । **'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।'** न कोई शत्रु है, न कोई मित्र ।

सियाराममय सब जग जानी । करहु प्रनाम जोरि जग पानी ॥

भागवत धर्म सुनने वाला संसार का सामान्य व्यक्ति इसे समझ नहीं सकता । भागवत धर्म कहता है कि सब कुछ भगवान् है । चींटी भी भगवान् है, गधा भी भगवान् है । कोई छोटा नहीं है, सब कृष्ण हैं । अन्य जितने धर्म हैं, उनमें भेदबुद्धि बनी रहती है । जबकि भागवत धर्म या वैष्णव धर्म अंत में उसी स्थिति पर पहुँचा देता है कि सारा संसार श्रीकृष्णमय है । हे प्रभो ! भागवत धर्म के द्वारा इतनी ऊँची चीज आपने बताई । दुनिया में बहुत से धर्म हैं । अन्य धर्मों को छोड़ दो, सनातन धर्म में ही वैदिक धर्म है, स्मार्त धर्म आदि अनेक धर्म हैं । ये भी ठीक नहीं हैं क्योंकि इनमें भेदबुद्धि बनी रहती है । मैं-तू, मेरा-तेरा की विषम बुद्धि इन धर्मों में बनी रहती है ।

कः क्षेमो निजपरयोः
कियानर्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण ।
स्वद्रोहात् तप कोपः
परसम्पीडया च तथाधर्मः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१६/४२)

इस विषम बुद्धि से ऐसी मानसिकता उत्पन्न होती है कि मैं अलग और वह अलग । इस तरह की विषम बुद्धि से हम जिसको अलग समझते हैं, उससे द्रोह करते हैं । इस द्रोह से भगवान् नाराज होते हैं । इसलिए अन्य धर्मों को करने से भगवान् का कोप होता है । वास्तव में वे नाममात्र के धर्म हैं, वस्तुतः तो वे अधर्म ही हैं ।

न व्यभिचरति तवेक्षा
यया ह्यभिहितो भागवतो धर्मः ।
स्थिरचरसत्त्वकदम्बेष्व
पृथग्धियो यमुपासते त्वार्याः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१६/४३)

भागवत धर्म में कभी यह दृष्टि अलग नहीं होती कि सब भगवान् हैं । तभी तो सूरदासजी के शब्दों में भागवत धर्म में आने वाला भक्त कहता है – **'अब हौं कासौं बैर करौं ।'** अब मैं किससे वैर करूँ क्योंकि जो हमारा वैरी है, उसका शरीर भी तो भगवान् का मन्दिर है । जितने भी संसार में शरीर हैं, सब भगवान् के मन्दिर हैं और उन शरीर रूपी मन्दिरों में एक ही प्रभु श्यामसुन्दर विराजमान हैं । यह बात स्वयं भगवान् ने कही है –

कहत पुकारत प्रभु निज मुख ते, घट-घट हौं बिहरौं ।

शुद्ध भागवत धर्म यही है । भागवत धर्म प्राप्त करने के लिए भगवान् ही शक्ति देते हैं । शक्ति कैसे आएगी, भगवान् का नाम लो ।

यन्नामसकृच्छ्रवणात् पुल्कसकोऽपि विमुच्यते संसारात् ।

(श्रीभागवतजी - ६/१६/४४)

भले ही कोई कितना ही नीच चाण्डाल है, भगवान् के नाम के प्रभाव से वह भागवत (वैष्णव) बन जायेगा । नाम और नामी का परस्पर सम्बन्ध है जैसे किसी व्यक्ति का नाम है 'माधव ।' कहीं भीड़ में वह माधव नामक व्यक्ति खड़ा हो और वहाँ जाकर कोई पुकारे – 'ए माधव !' तो जिसका नाम माधव होगा, वही पुकारने वाले को देखेगा । इसीलिए कीर्तन में भगवान् का नाम जोर-जोर से लिया जाता है क्योंकि उनका नाम लेने प्रभु कीर्तन करने वाले की ओर

देखेगा । इसलिए यहाँ कहा गया कि भागवत धर्म के लिए सभी लोग नाम सेवन करो, नाम कीर्तन करो ।

शुकदेवजी कहते हैं – जब चित्रकेतु ने इस प्रकार शेष भगवान् की स्तुति की तो उन्होंने कहा – 'चित्रकेतु ! देवर्षि नारद और महर्षि अंगिरा की आज्ञा का पालन करने से तुम सिद्ध हो चुके हो ।'

यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वं पश्यति चात्मनि ।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उत्थितः ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१६/५३)

जिस प्रकार स्वप्न में दिखने वाला संसार मिथ्या है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में दिखने वाला संसार भी स्वप्न है । दृष्टा ईश्वर का स्मरण करो । सुषुप्ति में भी जिसके द्वारा जीव अपने को जान सकता है, वह ब्रह्म है । जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति – तीनों अवस्थाओं से जो पृथक है, वह ब्रह्म है और मुझको जो भूल जाता है, वह जीव इस संसार में फँसता है ।

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम् ।
आत्मानं यो न बुद्ध्येत न क्वचिन् शममाप्नुयात् ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१६/५८)

मनुष्य जन्म पाकर जो मुझे नहीं जानता, वह कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य योनि के अतिरिक्त चौरासी लाख योनियों में कहीं ज्ञान है ही नहीं । केवल मनुष्य शरीर में ही जीव को ज्ञान हो सकता है और इस मनुष्य शरीर को पाकर भी जिस व्यक्ति ने ज्ञान नहीं प्राप्त किया, उसको कभी भी सुख-शान्ति नहीं मिलेगी । भोजन तो चौरासी लाख योनियों में सभी जीव-जन्तुओं को प्राप्त हो जाता है किन्तु परमार्थ विषयक ज्ञान की प्राप्ति तो केवल मनुष्य योनि में ही हो सकती है ।

आत्मनश्च गतिं सूक्ष्मां स्थानत्रयविलक्षणाम् ।

(श्रीभागवतजी - ६/१६/६१)

जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति – इन तीनों अवस्थाओं से विलक्षण तुरीया गति ही मेरा स्वरूप है ।

इस प्रकार चित्रकेतु को ज्ञान और आश्वासन देकर शेष भगवान् वहाँ से अन्तर्धान हो गये ।

अध्याय – १७

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – विद्याधर चित्रकेतु ने शेष भगवान् को प्रणाम किया । वे करोड़ों वर्षों तक विमान पर आरुढ़ होकर स्त्रियों के साथ विचरण करते रहे । स्त्रियों के साथ वे भोग के लिए नहीं विचरण करते रहे । उनके साथ करोड़ों विद्याधरियाँ थीं, उनके साथ बैठकर वे क्या करते थे ? **'गापयन् हरिमीश्वरम्'** – उन विद्याधरियों को साथ लेकर वे कृष्ण कीर्तन करते थे । यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि कोई कितना भी बड़ा बन जाये किन्तु **'प्रभुता पाय काहि मद नाहीं ।'** – प्रभुता पाकर किसको मद नहीं हो जाता ? वस्तुतः प्रभुता पाकर यह भूल नहीं करना चाहिए ।

एक दिन चित्रकेतु विमान पर सवार होकर कहीं जा रहे थे । उसी समय उन्होंने देखा कि कैलाश पर्वत पर महादेवजी पार्वतीजी को आलिंगन करके बड़े-बड़े मुनियों की सभा के बीच में बैठे हुए हैं ।

आलिङ्ग्याङ्कीकृतां देवीं बाहुना मुनिसंसदि ।

(श्रीभागवतजी - ६/१७/५)

चित्रकेतु को यह बात अच्छी नहीं लगी और उन्होंने कहा – 'अरे ! ये सारे जगत् के गुरु और धर्म के शिक्षक हैं किन्तु इन्हें सभा में बैठना नहीं आता । भरी सभा में ये अपनी पत्नी को आलिंगन करके

बैठे हुए हैं । ऐसा तो प्राकृत लोग भी नहीं करते हैं ।' शुकदेवजी कहते हैं – चित्रकेतु की बात सुनकर शिवजी कुछ नहीं बोले क्योंकि वे तो संसार के बन्धन से अतीत हैं, ईश्वर हैं । उनको मान-अपमान का कुछ भी ध्यान नहीं रहता । वे शान्त भाव से चुपचाप बैठे रहे । परन्तु देवी पार्वती को चित्रकेतु का यह बर्ताव ठीक नहीं लगा । पार्वतीजी बोलीं – 'क्या हम लोगों पर शासन करने के लिए यही भगवान् बनकर चला आया है ? यहाँ ब्रह्माजी, भृगु, नारद, सनकादि ऋषि, कपिल देव और मनुजी आदि बड़े-बड़े महापुरुष बैठे हैं, ये तो हमको मना नहीं कर रहे हैं । इनके रहते यह कौन है, जो यहाँ हमें उपदेश करने चला आया । यह भगवान् के पास जाने के योग्य नहीं है । इसमें ऐंठ आ गयी है । पुत्र ! जा तू आसुरी योनि को प्राप्त हो, जिससे फिर कभी तू ऐसा नहीं कर सकेगा । बड़े लोग जब दण्ड देते हैं तो उससे जीव का सुधार होता है । तू फिर से कभी किसी महापुरुष का अपराध न कर सके, इसीलिए मैं तुझे यह दण्ड दे रही हूँ ।'

भूयो महतां न कर्ता पुत्र किल्बिषम् । (श्रीभागवतजी - ६/१७/१५)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – चित्रकेतुजी महात्मा थे, उन्होंने शिवजी को टोक दिया तो पार्वतीजी ने उन्हें शाप दे दिया था किन्तु कितने क्षमाशील थे वे । अपने विमान से उतरकर चित्रकेतु नीचे आये और सिर झुकाकर पार्वतीजी को प्रसन्न करने के लिए बोले –

प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके । (श्रीभागवतजी - ६/१७/१७)

अम्बिके ! मैं आपके शाप को ग्रहण करता हूँ क्योंकि जो कुछ भाग्य में लिखा होता है, वही होता है ।

नैवात्मा न परश्चापि कर्ता स्यात् सुखदुःखयोः । (श्रीभागवतजी - ६/१७/१९)

कोई किसी को सुख-दुःख नहीं देता है । यह तो अपने ही कर्म का फल होता है ।

कोऊ न काहु कर सुख-दुःख दाता ।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता ॥

इस संसार में क्या तो शाप और क्या वरदान ? एक भगवान् ही सब कुछ हैं । हे देवि ! मैं चाहता हूँ कि आप मुझ पर प्रसन्न हो जाइये । मैं इसलिए आपको प्रणाम नहीं कर रहा हूँ कि आप मेरे शाप को हटा दीजिये । मेरे द्वारा आप दोनों(शिव-पार्वती) को जो कटु वाक्य कहे गये, उसे आप क्षमा कर दीजिये । मुझे आसुरी योनि में जाने पर भी कुछ भय नहीं है ।

शुकदेवजी कहते हैं – चित्रकेतु भगवान् शिव और पार्वतीजी को इस प्रकार प्रसन्न करके उनके सामने ही विमान पर सवार होकर वहाँ से चले गये । इससे पार्वतीजी को बड़ा आश्चर्य हुआ । भगवान् शंकर ने कहा – देवि ! तुमने भगवान् के दासों की महिमा देखी ।

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति । (श्रीभागवतजी - ६/१७/२८)

जो भगवद्भक्त होते हैं, वे कभी डरते नहीं हैं । उन्हें स्वर्ग, नरक और मोक्ष – सभी में एक ही वस्तु, केवल भगवान् के ही समान भाव से दर्शन होते हैं । भगवान् के स्वरूप को न मैं जानता हूँ, न ब्रह्माजी, न नारद और न ही सनत्कुमार । इसलिए कोई आश्चर्य मत करो महापुरुष भगवान् के भक्तों के सम्बन्ध में । भगवान् शिव के वचन सुनकर देवी उमा शान्त हो गयीं ।

इति भागवतो देव्याः प्रतिशशमलन्तमः ।
मूर्ध्ना सञ्जगृहे शापमेतावत्साधुलक्षणम् ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१७/३७)

चित्रकेतु में भी इतनी शक्ति थी कि वह बदले में पार्वतीजी को शाप दे सकता था किन्तु उसने उन्हें शाप न देकर उनका शाप सिर चढ़ा लिया । साधु का लक्षण यही है कि मस्तक झुकाकर सबके दोषों, अपराध, अत्याचार आदि को सह ले । यही चित्रकेतु आगे चलकर वृत्रासुर बना था ।

अध्याय – १८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – परीक्षित् ! सविता की पत्नी पृश्नि के गर्भ से आठ सन्तानें हुईं – सावित्री, व्याह्यति, त्रयी, अग्निहोत्र, पशु, सोम, चातुर्मास्य और पञ्च महायज्ञ । भग की पत्नी सिद्धि से महिमा, विभु और प्रभु – ये तीन पुत्र और आशिष् नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई । धाता की चार पत्नियाँ थीं – उनसे चार पुत्र हुए । धाता के छोटे भाई का नाम था विधाता, उनकी पत्नी थी क्रिया । उससे पाँच अग्नियों की उत्पत्ति हुई । वरुण जी की पत्नी का नाम था चर्षणी । उससे भृगु जी का पुनः जन्म हुआ । वाल्मीकि जी भी वरुण के पुत्र थे । अगस्त्य मुनि और वसिष्ठ मुनि का मित्र और वरुण द्वारा जन्म हुआ । देवराज इन्द्र की पत्नी थीं शची । उनसे उन्होंने तीन पुत्र उत्पन्न किये – जयंत, ऋषभ और मीढ्वान् । स्वयं भगवान् विष्णु ही माया से वामन के रूप में अवतीर्ण हुए थे । उनकी पत्नी का नाम था कीर्ति, उससे बृहच्छ्लोक नाम का पुत्र हुआ । कश्यप की दूसरी पत्नी का नाम था दिति । दिति के दो पुत्र हुए – हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु । हिरण्यकशिपु की पत्नी कयाधु से चार पुत्र हुए – संह्लाद, अनुह्लाद, ह्लाद और प्रह्लाद । इनकी सिंहिका नाम की एक बहन भी थी । उसका विवाह विप्रचित्ति नामक दानव से हुआ था, जिससे राहु का जन्म हुआ । संह्लाद की पत्नी कृति से पंचजन नामक पुत्र पैदा हुआ । ह्लाद की पत्नी धमनि के दो पुत्र हुए – वातापि और इल्वल । अनुह्लाद की

पत्नी सूर्म्या से दो पुत्र हुए – बाष्कल और महिषासुर । प्रह्लाद का पुत्र था विरोचन । विरोचन का पुत्र था बलि । बलि की स्त्री से बाणासुर आदि सौ पुत्र हुए । दिति के हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष के अतिरिक्त उनचास पुत्र और थे, उन्हें मरुद्गण कहते हैं, वे देवता बन गये ।राजा परीक्षित् ने पूछा – महाराज ! दिति के तो दो पुत्र हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष असुर थे, फिर उसी के पुत्र मरुद्गण देवता कैसे बन गये ?

श्रीशुकदेवजी ने कहा – जब दिति के दोनों पुत्र भगवान् विष्णु ने इन्द्र का पक्ष लेकर मार डाले तो दिति को बड़ा दुःख हुआ और इन्द्र पर बहुत क्रोध आया । उसने अपने पति कश्यपजी के पास जाकर उनकी बहुत सेवा की । उसकी सेवा से प्रसन्न होकर कश्यप जी ने उससे कहा – 'देवि ! वरदान माँगो ।' दिति नेकहा – 'स्वामी ! इन्द्र ने भगवान् के द्वारा मेरे दो पुत्र मरवा दिए, इसलिए आप मुझे वरदान देना चाहते हैं तो कृपा करके ऐसा पुत्र दीजिये जो इन्द्र को मार डाले ।' दिति की बात सुनकर कश्यपजी बड़ी चिन्ता में पड़ गये और सोचने लगे कि स्त्रियों पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए । धिक्कार है मुझे, जो मैं अपनी इन्द्रियों को वश में न रख सका और स्त्री पर विश्वास कर बैठा । इस तरह कश्यपजी बहुत प्रकार से अपनी निन्दा करने लगे । कश्यपजी मन ही मन कहने लगे कि बुद्धिमान पुरुष को तो अपना ही दोष देखना चाहिए, स्त्रियों का दोष देखने से क्या लाभ ? स्त्रियों का मुख तो कमल की तरह होता है, उनकी बातें अमृत की तरह मीठी होती हैं किन्तु उनका हृदय इतना तीखा होता है जैसे छुरे की पैनी धार । वे स्वार्थ के कारण अपने पति, पुत्र और भाई तक को मरवा देती हैं । अब दिति ने इन्द्र को मारने वाला पुत्र माँगा है, क्या करूँ, कोई तो उपाय निकालना होगा । उन्होंने दिति से कहा – 'यदि तुम मेरे बतलाये हुए व्रत का एक वर्ष तक पालन करोगी तब तुम्हें इन्द्र को मारने वाला पुत्र प्राप्त होगा । इस व्रत में एक वर्ष तक किसी भी प्राणी

की हिंसा मत करना । सदैव धुले हुए वस्त्र पहनो, किसी का उच्छिष्ट(जूठन) न खाओ, पवित्र भोजन करो, क्रोध मत करो । इसमें सात बाहरी नियम, पाँच निषेध के और आठ सोने के नियम हैं । इस प्रकार से यदि तुम इस व्रत का पालन करोगी तो तुम्हे इन्द्र को मारने वाला पुत्र प्राप्त होगा ।' दिति अपने पति कश्यपजी की बताई विधि के अनुसार दृढता से व्रत का पालन करने लगी । इन्द्र को पता चल गया कि दिति मुझको मारने के लिए व्रत कर रही है । अतः वे अपना वेष बदलकर अपनी मौसी के पास आये और छल से उनकी सेवा करने लगे । एक दिन दिति संध्या के समय जूठे मुँह, बिना हाथ-पाँव धोये ही सो गयी । इन्द्र ने देखा कि यह अच्छा अवसर है । वे योगबल से तुरंत ही दिति के गर्भ में प्रवेश कर गये और अपने वज्र के द्वारा गर्भ के सात टुकड़े कर दिए । जब गर्भ का बालक रोने लगा तब इन्द्र ने कहा – 'मत रो, मत रो' । इन्द्र ने सातों टुकडों में से एक-एक के और भी सात टुकड़े कर दिए । इतने टुकड़े करने पर भी बालक नहीं मरे और उन सबने इन्द्र से कहा कि तुम हमें क्यों मार रहे हो, हम तो तुम्हारे भाई हैं । शुकदेवजी परीक्षित् से कहते हैं – जैसे तुम अश्वत्त्थामा के ब्रह्मास्त्र के तेज से भी अपनी माता के गर्भ में नहीं मरे, वैसे ही भगवान् की कृपा से दिति का वह गर्भ वज्र के द्वारा टुकड़े-टुकड़े होने पर भी नहीं मरा । अब इन्द्र उन उनचास मरुद्गणों को लेकर दिति के गर्भ से बाहर निकले । इन्द्र ने उनके प्रति शत्रुभाव न रखकर उन्हें देवता बना लिया । जब दिति की आँख खुली तो उसने उनचास पुत्रों के साथ इन्द्र को देखा । दिति ने कहा – 'मैंने तो एक पुत्र की इच्छा की थी, ये उनचास बालक कैसे हो गये ?' इन्द्र ने कहा – 'माता ! मुझे आपके उद्देश्य का पता चल गया था, इसीलिए मैं आपके पास आकर सेवा करता था और एक दिन मैने अवसर पाकर आपके शरीर में प्रवेश करके गर्भ के टुकड़े-टुकड़े कर दिए, वे मरे नहीं

और उनचास बालक बन गये । यह आश्चर्यजनक घटना देखकर मैंने निश्चय किया –

महापुरुषपूजायाः सिद्धिः काप्यनुषङ्गिणी । (श्रीभागवतजी - ६/१८/७३)

परम पुरुष भगवान् की उपासना की यह सिद्धि है, जिसके प्रभाव से गर्भ की मृत्यु नहीं हुई । ये उनचास बालक मुझे अपना भाई बना चुके हैं । हे माता ! मैंने बड़ी दुष्टता का काम किया है, तुम मेरे अपराध को क्षमा कर दो । ये बालक अब मेरे साथ स्वर्ग जाकर वहाँ आनन्द करेंगे ।'

शुकदेवजी कहते हैं – दिति इन्द्र के शुद्ध भाव से सन्तुष्ट हो गयी । उससे आज्ञा लेकर और प्रणाम करके मरुद्गणों के साथ इन्द्र स्वर्ग में चले गये ।

अध्याय – १९

राजा परीक्षित् ने पूछा – भगवन् ! आपने जिस पुंसवन व्रत का वर्णन किया है, उसकी विधि क्या है ? शुकदेवजी ने कहा – परीक्षित् ! यह पुंसवन व्रत समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला है । स्त्री को चाहिए कि वह अपने पतिदेव की आज्ञा लेकर मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा से इसका आरम्भ करे । प्रातःकाल कुछ भी खाने के पहले ही भगवान् लक्ष्मी-नारायण की पूजा करे ।

विष्णुपत्नि महामाये महापुरुषलक्षणे ।
प्रीयेथा मे महाभागे लोकमातर्नमोऽस्तु ते ॥

(श्रीभागवतजी - ६/१९/६)

इस प्रकार लक्ष्मीजी को नमस्कार करे, फिर भगवान् नारायण को नमस्कार करे । नमस्कार करने के बाद बारह आहुतियों से हवन करे । ॐ नमो भगवते महापुरुषाय महाविभूतिपतये स्वाहा । यह

आवाहन का मन्त्र है । इसके बाद भगवान् को साष्टांग दण्डवत करे और दस बार पूर्वोक्त मन्त्र का जप करके फिर यह स्तुति करे – माता लक्ष्मीजी ही समस्त प्राणियों का शरीर हैं और प्रभो ! आप समस्त प्राणियों के आत्मा हैं, हम आपको बार-बार नमस्कार करते हैं । आप दोनों ही त्रिलोकी को वरदान देने वाले हैं ।

इस प्रकार भगवान् लक्ष्मी नारायण की स्तुति करने के बाद यज्ञ के उच्छिष्ट को सूँघकर पति को प्रणाम करे । यदि मासिक धर्म के समय स्त्री इस व्रत को करने के अयोग्य हो जाये तो पति को इस व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए । इससे व्रत नष्ट नहीं होता है । एक वर्ष तक इस व्रत को करे और कार्तिक माह के अन्तिम समय में पाक यज्ञ की विधि से घी युक्त खीर की अग्नि में बारह आहुति दे । इसके बाद जब ब्राह्मण प्रसन्न होकर आशीर्वाद दे तो भक्तिभाव से माथा टेककर उनके चरणों में प्रणाम करे तथा उनकी आज्ञा लेकर भोजन करे । पहले आचार्य को भोजन कराये फिर मौन होकर भाई-बन्धुओं के साथ स्वयं भोजन करे । इसके बाद हवन से बची हुई घी युक्त खीर अपनी पत्नी को दे । सुहागिन स्त्री यदि इस व्रत को करती है तो उसे पुत्र और लक्ष्मी की प्राप्ति होगी । कन्या इस व्रत को करती है तो शुभ लक्षणों से युक्त पति प्राप्त करती है । जिस स्त्री के बच्चे मर जाते हों, इस व्रत के प्रभाव से उसको चिरायु पुत्र की प्राप्ति होती है । इस प्रकार से शुकदेवजी ने परीक्षित् को पुंसवन व्रत की विधि बताई ।

सप्तम स्कन्ध

प्रथम अध्याय

राजा परीक्षित् ने पूछा – महाराज ! भगवान् तो भेदभाव से रहित हैं, सबके प्रति समान हैं, समस्त प्राणियों के प्रिय और सुहृद् हैं, फिर जैसे कोई साधारण मनुष्य भेदभाव से अपने मित्र का पक्ष लेता तथा शत्रुओं का अनिष्ट करता है, उसी प्रकार भगवान् इन्द्र का पक्ष लेकर दैत्यों का वध क्यों करते हैं ?

श्रीशुकदेवजी ने कहा – राजन् ! तुम्हारा प्रश्न तो ठीक है, भगवान् को देवता कोई विशेष प्रिय नहीं हैं किन्तु सृष्टि की वृद्धि के लिए देवताओं का रहना, सत्त्वगुण का रहना आवश्यक है । यदि असुर अधिक बढ़ जायेंगे तो सृष्टि नष्ट हो जाएगी क्योंकि वे तो विनाश ही करते हैं । सृष्टि के लिए सत्त्वगुण की आवश्यकता होती है, अतः उस समय वे देवताओं का बल बढ़ा देते हैं, जब रजोगुण की आवश्यकता होती है तो असुरों को बढ़ा देते तथा तमोगुण की वृद्धि के समय यक्ष और राक्षसों को बढ़ा देते हैं । राजन् ! यही बात एक बार शिशुपाल वध के समय युधिष्ठिर ने नारदजी से पूछी थी ।

युधिष्ठिर ने पूछा – भगवन् ! यह शिशुपाल जीवन भर भगवान् श्रीकृष्ण को गाली देता रहा, सदा उनसे द्वेष करता रहा, फिर भी इसकी जीभ में कोढ़ नहीं हुआ बल्कि यह तो श्रीकृष्ण में समा गया, उन्हीं को प्राप्त हो गया, इसका क्या कारण है, यह बताने की कृपा करें ।

शुकदेवजी कहते हैं – युधिष्ठिर के पूछने पर नारदजी ने भरी सभा में यह कथा कही । नारदजी ने कहा –युधिष्ठिर ! निन्दा-स्तुति तो शरीर की हुआ करती है । जिस शरीर में अभिमान हो जाता है कि 'यह मैं हूँ', उस शरीर के वध से प्राणियों को अपना वध मालूम पड़ता है किन्तु भगवान् तो निरहं हैं, उनमें जीवों की तरह ऐसा अभिमान है नहीं, वे तो

सबके प्रति समान हैं । वे जो दूसरों को दण्ड देते हैं, वह उनके कल्याण के लिए ही देते हैं, क्रोध या द्वेष के कारण नहीं देते हैं । इसलिए चाहे वैर भाव से, भक्तिभाव से, भय से, स्नेह अथवा कामना से, कैसे भी, अपने मन को भगवान् में लगाना चाहिए । उससे जीव का कल्याण हो जाता है । वैर भाव से भगवान् में जितना मन लगता है, उतना भक्तियोग से नहीं लग सकता है । गोपियों ने काम भाव से, कंस ने भय से, शिशुपाल-दन्तवक्र आदि राजाओं ने द्वेष से, यदुवंशियों ने परिवार के सम्बन्ध से, तुम लोगों ने स्नेह से और हम लोगों ने भक्ति से अपने मन को भगवान् में लगाया है ।

तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् । (श्रीभागवतजी - ७/१/३१)

किसी भी प्रकार से अपने मन को भगवान् श्रीकृष्ण में लगा देना चाहिए । युधिष्ठिर ! शिशुपाल और दन्तवक्र दोनों ही भगवान् के मुख्य पार्षद थे । ब्राह्मणों के शाप से इन दोनों को वैकुण्ठ से मृत्युलोक में आना पड़ा था । राजा युधिष्ठिर ने पूछा – 'भगवन् ! भगवान् के पार्षदों को शाप किसने और क्यों दिया था ?' नारदजी ने कहा – 'एक बार ब्रह्माजी के मानस पुत्र सनकादि ऋषि वैकुण्ठ में गये, उन्हें साधारण बालक समझकर इन पार्षदों जय और विजय ने भीतर जाने से रोक दिया । इस पर सनकादि ऋषियों ने इन्हें तीन जन्मों में असुर होने का शाप दे दिया । पहले जन्म में वे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष बने, तब भगवान् ने नृसिंह और शूकर अवतार धारण करके इनका वध किया, दूसरे जन्म में ये दोनों रावण और कुम्भकर्ण बने, तब भगवान् ने राम रूप से इनका वध किया, तीसरी बार वे ही शिशुपाल और दन्तवक्र बने थे, जिनका भगवान् श्रीकृष्ण ने वध किया । वैर भाव के कारण निरन्तर ही ये श्रीकृष्ण का चिन्तन करते थे, उसी तीव्र चिन्तन के प्रभाव से वे भगवान् को प्राप्त हो गये और पुनः उनके पार्षद होकर वैकुण्ठ चले गये ।'

युधिष्ठिर ने पूछा – 'भगवन् ! हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद से इतना द्वेष क्यों किया ? किस साधन से प्रह्लाद भगवन्मय हो गये, यह भी बताने की कृपा करें ।'

अध्याय – २

नारदजी ने कहा – युधिष्ठिर ! जब भगवान् ने वराहवतार लेकर हिरण्याक्ष को मार डाला, तब अपने भाई की मृत्यु से हिरण्यकशिपु बहुत ही क्रोधित हुआ और उसने दानवों के पास जाकर कहा – 'अरे ! इस विष्णु ने मेरे भाई हिरण्याक्ष को वराह रूप धारण करके मार डाला । यह विष्णु ही समस्या की जड़ है । जहाँ-जहाँ ऋषि-मुनि पृथ्वी पर यज्ञ कर रहे हैं, कथा कर रहे हैं, कीर्तन कर रहे हैं, विष्णु की भक्ति कर रहे हैं, तुम लोग वहाँ जाकर इन सबको नष्ट कर दो । जहाँ-जहाँ ब्राह्मण, गाय, वेद, वर्णाश्रम और धर्म-कर्म हों, उन देशों, नगरों को तुम लोग जला दो, नष्ट कर दो ।' इस प्रकार से उसने दैत्यों को आदेश दिया । दैत्य लोग उसकी आज्ञा से जनता का नाश करने लगे । नगर, गाँव, गायों के रहने के स्थान, ऋषियों के आश्रम आदि उन्होंने जला डाले । इसके अतिरिक्त उसने अपनी माता दिति और हिरण्याक्ष की पत्नी को भी बहुत प्रकार से समझाया । उन्हें बड़ा ज्ञान दिया । हिरण्यकशिपु ने कहा – 'मेरी माँ, बहू और पुत्रो ! तुम्हें वीर हिरण्याक्ष के लिए किसी प्रकार का शोक नहीं करना चाहिए । तुम लोग एक कथा सुनो । उशीनर देश में सुयज्ञ नामक एक बड़ा यशस्वी राजा था । लड़ाई में उसके शत्रुओं ने उसे मार डाला । उसकी रानियाँ उसके शव के पास आकर जोर-जोर से रोने लगीं । उस समय राजा के सम्बन्धियों ने जो विलाप किया, उसे सुनकर यमराज एक बालक के रूप में वहाँ आये और उन लोगों से कहा ।' यमराज बोले – 'अरे ! तुम सब रो क्यों रहे हो ? मुझे देखो, मैं तो छोटा सा बच्चा हूँ, मेरे माँ-बाप ने मुझे छोड़ दिया है, फिर

भी मैं जंगल में निर्भय घूम रहा हूँ । मुझे भेड़िये आदि हिंसक जन्तुओं का भय नहीं है, वे मेरा बाल भी बाँका नहीं कर पाते । **'स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे'** – (श्रीभागवतजी - ७/२/३८) । जिसने गर्भ में रक्षा की, वही भगवान् सब जगह रक्षा करते हैं । वही मारते हैं, वही जिलाते हैं, तुम लोग क्यों रोते हो ?' इस प्रकार यमराज ने उन्हें बहुत-सा ज्ञान देते हुए बताया कि किसी जंगल में एक बहेलिया रहता था । वह जाल फैलाकर चिड़ियों को फँसा लेता था । एक दिन उसने कुलिंग पक्षी के एक जोड़े को चारा चुगते देखा । उसने मादा पक्षी को तो शीघ्र ही जाल में फँसा लिया । नर कुलिंग उसके वियोग में रोने लगा । तब तक बहिलिये ने उसे बाण मारा और वह मर गया तथा कुलिंगी भी मर गयी । हे रानियो ! तुम्हारी भी एक दिन यही दशा होने वाली है । तुम्हें अपनी मृत्यु तो दिखती नहीं और अपने पति के लिए रो रही हो । तुम लोग इस तरह सौ साल तक रोती रहो, तब भी तुम्हारा पति जीवित नहीं हो सकता; इसलिए व्यर्थ में इसके लिए रोने की कोई आवश्यकता नही है ।' इस प्रकार रानियों को समझाकर बालक के वेष में यमराज अन्तर्धान हो गये । रानियों का दुःख भी दूर हो गया । नारदजी ने कहा – 'युधिष्ठिर ! जब हिरण्यकशिपु ने इस प्रकार समझाया तो अपनी पुत्रवधू के साथ दिति ने शोक का त्याग कर दिया और अपना चित्त परमात्मा में लगा दिया ।'

अध्याय – ३

नारदजी ने कहा – युधिष्ठिर ! अब हिरण्यकशिपु ने विचार किया कि मैं अजर-अमर और संसार का एकछत्र सम्राट बन जाऊँ, जिससे कोई मेरे सामने खड़ा तक न हो सके । इसके लिए वह मन्दराचल पर्वत पर तपस्या करने के लिए गया । वहाँ हाथ ऊपर उठाकर आकाश की ओर देखता हुआ वह पैर के अँगूठे के बल पृथ्वी पर खड़ा हो गया ।

उसकी जटायें अग्नि रूप बन गयीं, उसके मस्तक से धुआँ निकलने लगा । उसकी तपस्या के प्रभाव से नदी और समुद्र खौलने लगे । सब देवता घबराकर ब्रह्माजी के पास ब्रह्मलोक में गये और बोले – 'पितामह ! हिरण्यकशिपु की तपस्या के प्रभाव से तो सारी सृष्टि नष्ट हो जाएगी । यह तो आपके सत्यलोक को भी छीनना चाहता है ।'

जब देवताओं ने ब्रह्माजी से इस प्रकार निवेदन किया तब ब्रह्माजी हिरण्यकशिपु के पास पहुँचे जहाँ वह तपस्या कर रहा था । ब्रह्माजी ने देखा कि चीटियाँ उसके माँस, खून, त्वचा और मेदा को खा गयी थीं, केवल हड्डियाँ ही रह गयी थीं तब ब्रह्माजी ने कहा – 'बेटा हिरण्यकशिपु उठो ! ऐसी तपस्या तो सृष्टि में आज तक किसी ने नहीं की और न आगे भी कोई करेगा । तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न होकर तुम जो भी माँगोगे, मैं तुम्हें देता हूँ ।'

नारदजी कहते हैं – इतना कहकर ब्रह्माजी ने अपने कमण्डल का दिव्य जल उसके चीटियों द्वारा खाए शरीर पर छिड़का । जल छिड़कते ही उसका शरीर वज्र की तरह हो गया । वह उठ खड़ा हुआ और ब्रह्माजी को प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगा । हिरण्यकशिपु बोला – 'प्रभो ! आप ही काल हैं, आप ही सब कुछ हैं । आप चिद् और अचिद् शक्ति से युक्त हैं । मुझे आप ऐसा वर दीजिये कि आपकी सृष्टि के रचे हुए किसी जीव के द्वारा मेरी मृत्यु न हो । न मैं भीतर मरूँ, न बाहर मरूँ , न दिन में मरूँ , न रात में मरूँ , न किसी मनुष्य के द्वारा और न किसी जीव-जन्तु के द्वारा मरूँ । अस्त्र-शस्त्र से, पृथ्वी या आकाश में कहीं भी मेरी मृत्यु न हो । मैं समस्त प्राणियों का एकच्छत्र सम्राट होऊँ ।'

अध्याय – ४

नारदजी कहते हैं – युधिष्ठिर ! जब हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माजी से ऐसे दुर्लभ वर माँगे तब उसकी तपस्या से प्रसन्न होने के कारण उन्होंने

वे वर उसे दे दिए । ब्रह्माजी बोले – 'बेटा ! तुमने जो वर माँगे हैं, दुर्लभ होने पर भी मैं तुम्हें वे सब वर दिए देता हूँ ।'

नारदजी कहते हैं – वरदान मिल जाने के बाद हिरण्यकशिपु ने उनकी पूजा की और ब्रह्माजी अपने लोक को चले गये । ब्रह्माजी से वर प्राप्त करके हिरण्यकशिपु भगवान् से द्वेष करने लगा । उसने तीनों लोकों तथा देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और समस्त राजाओं को जीतकर अपने वश में कर लिया । स्वर्ग से देवताओं तथा इन्द्र को उसने भगा दिया और स्वयं तीनों लोकों का राजा बनकर वह स्वर्ग में रहने लगा । उसका शासन बड़ा प्रचंड था । वह इतना तेजस्वी था कि जो लोग यज्ञ करते थे, उनके यज्ञों की आहुति वह स्वयं छीनकर खा जाता था । उसके भय से धरती बिना जोते-बोये ही अन्न पैदा कर देती थी । उसने बहुत भोग भोगे, करोड़ों अप्सराओं के साथ विहार करके भी वह तृप्त नहीं हो सका – **'भुञ्जानो नातृप्यदजितेन्द्रियः'** (श्रीभागवतजी - ७/४/१९) । विषय भोगों को भोगने से जीव तृप्त नहीं हो सकता है । जो इनका त्याग कर देता है, उसी का कल्याण होता है । **'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घी ते ।'** जितना ही भोग भोगते जाओगे, कामना की अग्नि उतनी ही बढ़ती जाएगी । इस प्रकार भोग भोगते हुए हिरण्यकशिपु के जीवन का बहुत-सा समय बीत गया । उसके अत्याचारों से दुःखी होकर देवताओं ने मन ही मन भगवान् की शरण ली । एक दिन उन्हें आकाशवाणी सुनाई पड़ी – 'देवताओ ! तुम लोग डरो मत ।

यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु ।
धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति ॥

(श्रीभागवतजी - ७/४/२७)

कोई भी प्राणी जब देवता, वेद, गाय, ब्राह्मण, साधु, धर्म और मुझसे द्वेष करने लगता है तब शीघ्र ही उसका विनाश हो जाता है ।

जब यह(हिरण्यकशिपु) अपने भक्त पुत्र से द्वेष करेगा, उसका अनिष्ट करना चाहेगा, तब मैं अवश्य ही इसे मार डालूँगा ।'

नारदजी कहते हैं – हिरण्यकशिपु के चार पुत्र थे, उनमे प्रह्लाद सबसे छोटे परन्तु गुणों में सबसे बड़े थे । प्रह्लादजी बड़े संत सेवी थे, ब्राह्मण भक्त, शील सम्पन्न और जितेन्द्रिय थे । गुरुजनों को वे ईश्वर के समान मानते थे । उनमें ऐंठ नहीं थी । भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में उनकी स्वाभाविक प्रीति थी । वह सदा कृष्ण नाम का कीर्तन किया करते थे । **'गोविन्दपरिरम्भितः'** – हर समय उन्हें भगवान् की गोद में रहने का अनुभव होता था, जैसे भगवान् गोद में बैठाकर लाड़ कर रहे हों । भगवान् का कीर्तन करते-करते वे कभी हँसते, कभी रोते और कभी **'विलज्जो नृत्यति क्वचित्'** – आनन्द में नाचने लगते थे । भक्त नाचता क्यों है ? जब प्रेम में प्रभु का ध्यान होता है, तब धन्य-धन्य कहकर भक्त नाचने लगता है । नृत्य आनन्द की वस्तु है । कभी प्रह्लादजी को ऐसा लगता कि श्रीकृष्ण आकर मुझे छू रहे हैं ।

युधिष्ठिर ने पूछा – नारदजी ! ऐसे सर्वगुणसम्पन्न भक्तपुत्र से पिता होने पर भी 'हिरण्यकशिपु' ने द्वेष क्यों किया, यह मेरी समझ में नहीं आता है । पिता तो स्वभाव से अपने पुत्र से प्रेम करता है । यदि पुत्र कोई गलत काम करता है तो वह शिक्षा देने के लिए ही उसे डाँटता है, शत्रु की तरह वैर विरोध तो नहीं करता ।

अध्याय – ५

नारदजी कहते हैं – युधिष्ठिर ! दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य के दो पुत्र थे – शण्ड और अमर्क । उनके पास प्रह्लादजी को पढ़ने के लिए भेजा गया । एक दिन हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद को बड़े प्रेम से गोद में लेकर पूछा – 'बेटा ! तूने गुरुजी के यहाँ क्या पढ़ा, मुझे कुछ सुना ।'

प्रह्लादजी ने कहा – 'पिताजी ! मैंने तो यही पढ़ाई पढ़ी है कि यह जो गृहस्थ है, यह अंधकूप है, इसमें अपने शरीर और जीवन को नष्ट न करके वन में चले जाना चाहिए ।

'वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत' (श्रीभागवतजी - ७/५/५)

भगवान् के आश्रय में वहाँ रहते हुये हरिनाम कीर्तन करना चाहिए ।' नारदजी कहते हैं – प्रह्लादजी के मुख से ऐसी बात सुनकर हिरण्यकशिपु जोर से हँसने लगा । उसने कहा – 'ऐसा लगता है, मेरे बच्चे को विष्णु के पक्षपाती ब्राह्मणों ने बहका दिया है । इन पर पहरा बैठा दो, ये लोग अभी से मेरा घर ही फोड़ रहे हैं, मेरे ही घर में छेद कर दिया ।'

दैत्यों ने प्रह्लादजी को गुरुजी के घर पहुँचा दिया, तब पुरोहितों (गुरुओं) ने प्रह्लादजी से प्यार से पूछा – 'बेटा ! सच-सच बता, झूठ मत बोलना, तेरी बुद्धि इस प्रकार बिगड़ी कैसे ?' प्रह्लादजी ने कहा –

'स एष आत्मा स्वपरेत्यबुद्धिभिर्दुरत्ययानुक्रमणो निरूप्यते ।
मुह्यन्ति यद्वर्त्मनि वेदवादिनो ब्रह्मादयो ह्येष भिनत्ति मे मतिम् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/५/१३)

भगवान् ही सबके भीतर बैठे हुए हैं, मेरी बुद्धि कौन बिगाड़ेगा, जो मेरे भीतर बैठा हुआ है, आप लोगों के शब्दों में वही मेरी बुद्धि बिगाड़ रहा है ।'

'ह्येष भिनत्ति मे मतिम्'

प्रह्लाद जी के गुरु डर गये, उन्होंने कहा – 'अरे , मेरे गुरुकुल में ऐसा कौन है, जो इसकी बुद्धि बिगाड़ रहा है । कोई साधु तो यहाँ ऐसा नहीं है, जो इसकी बुद्धि बिगाड़ रहा है । प्रह्लाद, हमें उसका नाम बता,

अभी हम उसे ठीक करते हैं ।' प्रह्लाद जी ने किसी का नाम नहीं बताया और बोले – 'मेरे हृदय में यह जो आत्मा बैठा है, मेरी बुद्धि को आपकी दृष्टि में यही बिगाड़ रहा है ।' गुरुजी बोले – 'अरे, यह तो कोई और ही समस्या है, कोई मेरा बेंत लाओ । यह तो बड़ा कुलांगार है, हमारी कीर्ति में कलंक लगा रहा है । जो विष्णु हमारा शत्रु है, यह उसका यश गाता है । यह तो अपने कुल को ही नष्ट करने वाला है ।' इस प्रकार गुरुजी ने प्रह्लाद को बहुत डाँटा और डराया तथा उनको धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धी शिक्षा देने लगे । हिरण्यकशिपु ने उनसे कहा था कि इसे पढ़ाकर-समझाकर कुछ दिनों में मेरे पास ले आना । गुरुकुल में पढ़ाने के बाद पहले तो गुरुजी प्रह्लाद को उनकी माता के पास ले गये । माता ने बड़े प्रेम से उनको स्नान कराकर अच्छे आभूषणों व वस्त्रों से सजा दिया और कहा कि अपने पिता के पास जा, उनसे ठीक से बात करना, कहीं ऐसा न हो कि वे नाराज हो जाएँ । इसके बाद गुरुजी प्रह्लाद को हिरण्यकशिपु के पास ले गये । माता ने उन्हें सिखा दिया था कि पहले जाकर पिताजी के चरणों में लेटकर प्रणाम करना । प्रह्लादजी गये और पिताजी के चरणों में लोटकर प्रणाम करने लगे । हिरण्यकशिपु ने कहा – 'चलो , कोई बात नहीं, अब मेरा बालक सुधर गया है ।' उसने उन्हें दोनों हाथों से गोद में बिठाकर बड़ी देर तक आलिंगन किया । वह अपने पुत्र को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, यहाँ तक कि प्रेम के कारण उसके नेत्रों से आँसू गिरने लगे, उसने सोचा कि प्रह्लाद ने आकर मेरे चरण स्पर्श किये, मैं ही तो ईश्वर हूँ । यह बालक अब सुधर गया है । अपने नेत्रों के आँसुओं से प्रह्लादजी के मस्तक को उसने भिगो दिया । इसके बाद हिरण्यकशिपु ने पूछा – 'बेटा ! तूने गुरुजी के यहाँ जो शिक्षा प्राप्त की है, अब मुझे सुना ।' प्रह्लादजी ने कहा – 'पिताजी, मैंने बहुत उत्तम शिक्षा प्राप्त की है । वह है –

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/५/२३)

पहले तो भगवान् की कथा सुनना चाहिए, फिर कीर्तन करना चाहिए, इसके बाद उन प्रभु का स्मरण करना चाहिए, उसके बाद उनके चरणों की सेवा, उनकी पूजा और वन्दना करना चाहिए । इसके बाद उनके प्रति दास्य करना चाहिए क्योंकि हम लोग प्रभु के दास हैं और फिर उनके प्रति सख्य भाव रखते हुए उनको आत्मनिवेदन कर देना चाहिए । सब कुछ उनको सौंप देना चाहिए । यह नौ प्रकार की भक्ति ही सबसे ऊँची पढ़ाई है । इसे नवधा भक्ति कहते हैं ।

प्रह्लाद के मुख से इतना सुनते ही हिरण्यकशिपु की आँखें लाल हो गयीं, क्रोध से उसके ओठ फड़कने लगे, उसने क्रोध से गुरुपुत्र की ओर देखा और सोचने लग गया कि इन दुष्टों ने मेरे पुत्र को यही पढ़ाया है, अतः पहले इनको ही समाप्त करना चाहिए । उसने गुरुपुत्रों से कहा – 'अरे अधम ब्राह्मणो ! तुमने मेरे पुत्र को ऐसी शिक्षा दी है ।' अब तो गुरुपुत्र घबराये और कहने लगे – 'हे राजन् ! बात यह है कि जो यह बालक कह रहा है, ऐसा न तो हमने सिखाया और न ही किसी दूसरे ने सिखाया क्योंकि हम तो बड़ा पहरा रखते हैं । इस बालक की तो ऐसी जन्मजात स्वाभाविक बुद्धि है । आप हम पर क्रोध मत कीजिये । हमने तो इसे आपकी आज्ञानुसार अच्छी प्रकार से आसुरी शिक्षा दी, इसको विष्णु की भक्ति से बहुत रोका किन्तु यह तो भजन-कीर्तन छोड़ता ही नहीं है ।' नारदजी कहते हैं – जब गुरुजी ने ऐसा उत्तर दिया तो हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद से पूछा – 'यदि तेरे गुरु ने तुझे ऐसी विपरीत बुद्धि नहीं सिखाई तो बता, तुझे यह दुष्ट बुद्धि कैसे प्राप्त हुई ? विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नवधा भक्ति – ऐसी दुष्ट

बुद्धि तूने कहाँ से सीखी, किसने सिखाई ?' प्रह्लादजी ने निर्भय होकर शान्त भाव से कहा –

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम् ।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/५/३०)

लोगों की बुद्धि कृष्ण में क्यों नहीं लगती ? जो लोग बार-बार खाल कूट रहे हैं, विषय भोगों में लगे हैं । एक बार कूट चुके, दो बार कूट चुके, उसी खाल को दिन-रात कूटने में लगे हैं, मल-मूत्रमय भोगों को भोगने में लगे हुए हैं ।

जब मनुष्य गधा बनता है तो वहाँ भी यही कर्म करता है, सूअर, कुत्ता, आदि पशु-पक्षियों की योनि में यही कर्म करता है, चौरासी लाख योनियों के बाद जब इसे मनुष्य शरीर मिलता है तो वहाँ भी दिन-रात यह विषय भोगों में लगा रहता है । लोग दिन-रात ऐसे विषय भोग परायण कर्म करते हैं, ऐसी स्थिति में उनकी बुद्धि भगवान् कृष्ण में कैसे लग जाएगी ?

महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत् ।

(श्रीभागवतजी - ७/५/३२)

जब तक मनुष्य भगवान् के निष्किंचन भक्तों की चरण रज को अपने सिर पर नहीं चढ़ाता है, तब तक उसका मन कृष्ण में नहीं लगेगा ।

प्रह्लादजी अपने पिता से ऐसी बात इसलिए कह रहे थे क्योंकि उन्होंने सोचा कि हो सकता है कि सुन्दर उपदेश से इनकी बुद्धि परिवर्तित हो जाये और ये भी भगवान् की भक्ति करने लग जाएँ । ये बेचारे मेरे पिता हैं और अपने को ईश्वर मानते हैं, सबसे पहले तो इनका ही कल्याण होना चाहिए । जब प्रह्लादजी ने ऐसी बातें कहीं तो उसे

सुनकर क्रोध से हिरण्यकशिपु अन्धा हो गया, उसकी आँखें लाल हो गयीं । उसने प्रह्लाद को अपनी गोद से उतारकर भूमि पर पटक दिया और दैत्यों को आज्ञा दी – 'इसे यहाँ से ले जाओ और तुरन्त मार डालो । पाँच वर्ष का यह बालक मेरे साथ ही विश्वासघात कर रहा है । इसलिए सब प्रकार के उपायों से इसे शीघ्र ही मार डालो ।'

जब हिरण्यकशिपु ने इस प्रकार आज्ञा दी तो सारे राक्षस प्रह्लादजी को मारने के लिए टूट पड़े । उन राक्षसों के बड़े-बड़े दाढ़-दाँत थे, उनका रूप बड़ा भयंकर था । हजारों-लाखों की संख्या में वे राक्षस 'मारो-काटो' कहकर प्रह्लादजी को मारने के लिए दौड़ पड़े । वे प्रह्लादजी के सभी मर्मस्थानों में शूल से आघात करने लगे किन्तु बड़े आश्चर्य की बात हुई कि उनके सारे प्रयास व्यर्थ हो गये । तब हिरण्यकशिपु ने प्रह्लादजी को मतवाले हाथियों से कुचलवाया । जब हाथी से प्रह्लाद नहीं मरे तो कुछ असुर आपस में पूछने लगे कि यह लड़का मरता क्यों नहीं है ? विष्णु पुराण के अनुसार प्रह्लादजी ने कहा – 'बड़े-बड़े हाथियों के वज्र जैसे दाँतों की चोट से मुझे कोई हानि नहीं हुई ।' असुर लोग उनसे पूछते – 'बालक, तू मरता क्यों नहीं है ?' प्रह्लादजी कहते – 'मैं तो छोटा सा बालक हूँ, मुझमें कोई शक्ति नहीं है, यह तो प्रभु के स्मरण का प्रभाव है, तुम लोग भी उनका स्मरण करो ।'

प्रह्लादजी के ऊपर मन्त्रों का अभिचार किया गया, पहाड़ों से उन्हें नीचे गिराया गया । पहाड की चोटी पर प्रह्लादजी के शरीर को बड़ी भारी शिलाओं से बाँध दिया गया और फिर उन्हें नीचे पृथ्वी पर पटका गया किन्तु जैसा कि प्रह्लादजी के बारे में पहले ही कहा गया है – **'संस्पर्शः निर्वृतः गोविन्द परिरम्भितः'** – भगवान् आकर उन्हें पकड़ लेते थे, गोद में ले लेते थे । जब उनको ऊँचे पर्वत की शिखर से नीचे फेंका गया तो बीच में ही भगवान् ने आकर उन्हें गोद में ले लिया और फिर धीरे से पृथ्वी पर बिठा दिया । असुरों को तो भगवान् दिखाई नहीं

देते थे । हजारों राक्षस मिलकर प्रह्लादजी को पर्वत के नीचे दबाकर उनके शरीर को पर्वत से रगड़ते और कहते – 'और जोर लगाओ' किन्तु प्रह्लादजी आराम से बैठे रहते, उन पर इन चेष्टाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं होता था क्योंकि **'गोविन्द परिरम्भितः'** – गोविन्द उन्हें आलिंगन किये रहते थे । हिरण्यकशिपु ने उन्हें मारने के और भी उपाय किये, उनके ऊपर अनेकों प्रकार की आसुरी माया का प्रयोग करवाया गया, अँधेरी गुफाओं में उन्हें बन्द कर दिया गया और भोजन-पानी भी बन्द कर दिया गया । गोविन्द उनके पास पहुँचकर प्रेम से अपना हाथ उनके शरीर पर सहलाते थे, प्रभु के स्पर्श से प्रह्लाद को परमानन्द की अनुभूति होती थी । भूख-प्यास का अनुभव उन्हें नहीं होता था । राक्षस लोग गुफा में देखने जाते तो देखते कि यह बालक मरा नहीं और प्रेम से कीर्तन कर रहा है – **'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव ।'** जब प्रह्लादजी की मृत्यु नहीं हुई तो राक्षस लोग कालकूट विष को जल में घोलकर, उसे सफेद करके प्रह्लाद के पास लाये और बोले – 'बेटा ! जिन कृष्ण का तू भजन करता है, यह उन्हीं का प्रसाद है ।' प्रह्लादजी ने उस भयंकर विष को पी लिया । असुरों ने सोचा कि इसे विष पीने दो, जब मर जायेगा तब यहाँ आयेंगे । जब वे लोग थोड़ी देर बाद लौटकर आये तो देखा कि प्रह्लादजी तो नाच-नाचकर कीर्तन कर रहे हैं –

गोविन्द जय जय गोपाल जय जय ।
राधारमण हरि गोविन्द जय जय ॥

अब तो राक्षस बड़े परेशान हुए, सोचने लगे कि अब क्या किया जाये, तब उन्होंने प्रह्लादजी को बर्फ की बड़ी-बड़ी सिल्लियों से ढँक दिया । जब दो चार दिन बाद देखने आये तो देखा कि प्रह्लादजी कीर्तन कर रहे हैं । असुरों ने कहा – 'यह तो मरा नहीं, चलो इसे तूफान में ले

चलते हैं' और फिर उन्होंने माया का बवन्डर (तूफान) बनाकर उसमें प्रह्लादजी को छोड़ दिया किन्तु वहाँ भी बवन्डर धारी तृणावर्त को मारने वाले कन्हैयाजी आ गये और अपने भक्त को बचा लिया । थोड़ी देर बाद दैत्यों ने सोचा कि अब तो वह बालक मर गया होगा, जाकर देखा तो प्रह्लादजी पहले की भाँति कीर्तन कर रहे थे । राक्षसों ने कहा कि अबकी बार इसको आग में जलाना चाहिए । इसकी बुआ होलिका को ब्रह्माजी से वरदान प्राप्त है, वह उनकी प्रसादी चुनरी ओढ़कर यदि आग में बैठ जाये तब भी नहीं जल सकती है । यदि वह अपने भतीजे को लेकर लकड़ियों के विशाल ढेर पर बैठ जाये और हम लोग आग लगा देंगे तो यह बालक जल जायेगा । होलिका से जब प्रह्लाद को जलाने की प्रार्थना की गयी तो वह ब्रह्माजी का प्रसादी वस्त्र ओढ़कर प्रह्लाद के पास गयी और बोली – 'अरे बेटा प्रह्लाद ! तू मेरी गोद में आ, मैं तुझे प्यार करूँगी ।' प्रह्लादजी उसकी गोद में चले गये । राक्षसों ने बड़ी-बड़ी लकड़ियों के पहाड़ जैसे ढेर लगा दिए और लकड़ियों के ऊपर प्रह्लादजी को लेकर बुआजी बैठ गयीं और उन्होंने राक्षसों को इशारा कर दिया । उसी समय राक्षसों ने लकड़ियों में आँच लगा दी । बड़े जोर से आग जलने लगी । आग देखकर होलिका ने प्रह्लादजी को अपनी गोद से उतार दिया और स्वयं ब्रह्माजी की दी हुई ओढ़नी ओढ़ ली, जिससे कि मैं तो बच जाऊँ और यह बालक जल जाये । परन्तु प्रभु की इच्छा से उस समय उनचास मरुद्गणों की चलाई आँधी चली । इतनी वेग से आँधी चली कि ब्रह्माजी की दी हुई बुआजी की चुनरी उड़ गयी और उड़कर प्रह्लादजी के ऊपर गिर पड़ी । बड़े जोर से आग जल रही थी, उधर से असुर लोग ढेर सारी लकड़ियाँ और अधिक डालने लगे किन्तु बुआजी तो अब जलने लगीं । कई दिनों तक होली की आग जलती रही । जब पूरी आग जलकर शान्त हो गयी तो असुरों ने कहा कि अब तो वह बालक जल गया होगा किन्तु जैसे ही पास जाकर देखा तो प्रह्लादजी के कीर्तन की आवाज आ रही थी –

गोविन्द जय जय, गोपाल जय जय ।
राधा रमण हरि, गोविन्द जय जय ॥

असुरों ने यह भी देखा कि होलिका बुआ जलकर राख हो गयी थी और प्रह्लादजी जीवित थे । अब तो हिरण्यकशिपु स्वयं वहाँ आया और आश्चर्यचकित होकर प्रह्लाद से पूछा – 'अरे, तू अग्नि से कैसे बच गया ?' प्रह्लादजी ने कहा – 'पिताजी ! मुझे तो ऐसा अनुभव ही नहीं हो रहा था कि मुझे आग में डाला गया है, मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मेरे ऊपर-नीचे चारों ओर शीतल कमल के फूल हैं और मैं शीतल कमल की शय्या पर बैठा हूँ ।' प्रह्लादजी ने सोचा कि ये बेचारे असुर मुझे मारने का प्रयास कर रहे हैं, मुझे इन्हें उपदेश देना चाहिए । यदि ये समझ जाएँ, सुधर जाएँ तो अच्छा होगा । यह विचारकर उन्होंने असुरों से व अपने पिता से कहा – 'असुरो ! मैं तो केवल श्रीहरि के नाम का कीर्तन करता हूँ और उसी कीर्तन का यह सब चमत्कार हो रहा है । तुम लोगों ने मुझे मारने के इतने प्रयास किये किन्तु हरिकीर्तन के प्रभाव से तुम्हारे सभी प्रयास निष्फल हो गये ।' उन दुष्ट राक्षसों के ऊपर प्रह्लादजी के उपदेश का कुछ प्रभाव नहीं पड़ा । अबकी बार वे उन्हें ऐसी गुफा में ले गये, जहाँ भयंकर विषधर सर्प, अजगर आदि रहते थे । उन्होंने प्रह्लादजी को उस गुफा में डालकर बाहर से एक बड़ी शिला से उसका द्वार बन्द कर दिया ताकि वे भाग न सकें । जब प्रह्लादजी सर्पों से भरी गुफा में गये तो महाविषधर सर्प प्रह्लादजी की छटा देखने लगे । प्रह्लादजी कभी भय तो करते नहीं थे, उन्होंने सर्पों को देखकर सदा की भाँति कीर्तन करना आरम्भ कर दिया । जब प्रह्लादजी ने ताली बजाकर नृत्य करते हुए कीर्तन किया तो उनकी वाणी में ऐसी मिठास थी कि सर्पों को लगा कि बैन बज रहा है । सर्पों को बैन की ध्वनि बड़ी प्यारी लगती है । जब मदारी बैन बजाता है तो कितना भी जहरीला सर्प हो, वह झूमने लगता है । इसी प्रकार प्रह्लादजी के कीर्तन की मधुर ध्वनि से सर्प मोहित

हो गये और अपने-अपने फन उठाकर झूमने लगे । प्रह्लादजी कई दिन तक इस प्रकार कीर्तन करते रहे । असुर लोग गुफा खोलकर देखने गये तो देखा कि प्रह्लादजी नाच-नाचकर कीर्तन कर रहे हैं और सारे सर्प फन उठाकर झूम रहे हैं । राक्षस लोग कहने लगे कि देखो, मनुष्यों की क्या चलाई, इसके कीर्तन से तो साँप भी पागल होकर नाच रहे हैं । हम तो इसे यहाँ रख गये थे कि ये विषैले सर्प इसे खा जायेंगे किन्तु ये तो झूम रहे हैं । अब हम लोग इस प्रह्लाद को मारें या इन सर्पों को मारें । इसने तो साँपों को भी अपना चेला बना लिया । इस प्रकार राक्षसों ने बहुत प्रयत्न किये, फिर भी जब प्रह्लादजी नहीं मरे तो चिन्तित होकर हिरण्यकशिपु सोचने लगा कि मैंने इस बालक को मारने के इतने अधिक प्रयास किये किन्तु यह नहीं मरा तो अवश्य ही इस बालक में कोई तेज है । यह है तो बच्चा किन्तु कहीं शुनःशेप की तरह यह मेरी मृत्यु का कारण न बन जाये । निश्चय ही इसके विरोध से मेरी मृत्यु होगी । जब इस प्रकार हिरण्यकशिपु चिन्ता कर रहा था तो शुक्राचार्य के पुत्र शण्ड और अमर्क उसके पास पहुँचे और बोले – 'हे राजन् ! आपने तो अकेले ही तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर ली, फिर इस समय आप चिन्ता क्यों करते हैं ? इसे आप वरुण पाश में बाँधकर रखिये, जिससे कि यह कहीं भाग न जाये और तब तक हमारे पिता शुक्राचार्यजी लौटकर आ जायेंगे तब वे ही इसे मारने का अचूक उपाय करेंगे ।' हिरण्यकशिपु ने कहा – 'ठीक है, तुम लोग इसे अपनी पाठशाला में ले जाओ और इसे अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विषयों की शिक्षा दो ।' हिरण्यकशिपु की आज्ञा से गुरुपुत्र प्रह्लाद को लेकर पाठशाला में गये और उन्हें धर्म, अर्थ और काम – इन तीन पुरुषार्थों की शिक्षा देने लगे । एक दिन गुरुजी का कहीं से निमन्त्रण आया तो वे बाहर चले गये । अब तो प्रह्लादजी को अवसर मिल गया और उन्होंने असुर बालकों को अपने पास बुलाया तथा उन्हें उपदेश करने लगे । वे बालक भी प्रह्लादजी से प्रेम करते थे, अतः उनके बुलाने पर उनके पास आकर बैठ गये ।

अध्याय – ६

प्रह्लादजी ने कहा –

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/६/१)

मित्रो ! भगवान् की भक्ति पाँच वर्ष की अवस्था अर्थात् कुमार अवस्था में ही प्रारम्भ कर देनी चाहिए क्योंकि मनुष्य शरीर अत्यन्त दुर्लभ है, यह बार-बार नहीं मिलता है । इस शरीर में तुच्छ इन्द्रिय भोगों के लिए प्रयास नहीं करना चाहिए । ये तो जीव को नरक में भी मिल जाते हैं । मनुष्य की पूरी आयु सौ वर्ष की है । पचास वर्ष तो यों ही सोते-सोते ही बीत जाते हैं । बचपन तो खेलकूद में बीत जाता है, वृद्धावस्था के बीस वर्ष भी निकाल दो तो बीच में जवानी धनोपार्जन और विषय भोग में बीत जाती है । इस तरह मनुष्य के पास कुछ नहीं बचता । संसार को असार जानकर भी हम लोग भगवान् का भजन नहीं करते हैं । भगवान् का भजन करने के लिए कुछ मेहनत नहीं करनी पड़ती है । **'भौतिकेषु विकारेषु भूतेष्वथ महत्सु च ।'** (श्रीभागवतजी - ७/६/२०) 'भौतिक' माने पञ्चभूतों में पृथ्वी की बनी जितनी भी वस्तुयें, जैसे – खम्भा आदि में 'भगवान्' हैं; समस्त प्राणियों में, सिंहादि में 'भगवान्' हैं । इसलिए सभी प्राणियों पर दया करो । अपने आसुरी भाव का त्यागकर प्रेम से सबकी भलाई करो । इसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं । यह निर्मल ज्ञान मुझे नारदजी से प्राप्त हुआ है । प्रह्लादजी के साथी बालकों ने पूछा – 'प्रह्लाद ! तुम तो हमारी ही तरह छोटे से बालक हो, जन्म से ही तुम अपनी माँ के पास महल में रहे हो, ऐसी स्थिति में तुम्हें नारदजी कहाँ से मिल गये ? यह बात हमारी समझ में नहीं आ रही है ।'

अध्याय – ७

नारदजी कहते हैं – युधिष्ठिर ! जब असुर बालकों ने प्रह्लादजी से इस प्रकार प्रश्न किया तो वे बोले । प्रह्लाद ने कहा – जब मेरे पिताजी तपस्या करने के लिए मन्दराचल पर चले गये, उस समय मेरी माता गर्भवती थीं और इन्द्र मेरी माँ का हरण करके ले गये । उन्होंने सोचा कि इसके गर्भ में हिरण्यकशिपु का बालक है, मैं इसे नष्ट कर दूँगा । जब इन्द्र मेरी माँ को ले जा रहे थे, उसी समय उन्हें रास्ते में देवर्षि नारद मिल गये । उन्होंने इन्द्र से कहा कि इस सती स्त्री का अपराध मत करो, इसे छोड़ दो, इसके गर्भ में जो बालक है, वह भगवान् का महान भक्त है । तुम उसे मार नहीं सकते हो और वही अपने पिता की मृत्यु का कारण बनेगा । नारदजी की बात सुनकर इन्द्र ने मेरी माता को छोड़ दिया । इसके बाद नारद मेरी माता को अपने आश्रम पर ले गये । मेरी माँ उनके आश्रम पर रहती और नारदजी की सेवा करती थी । उस समय नारदजी मेरी माता को भागवत धर्म का उपदेश करते थे, उपदेश करते समय उनकी दृष्टि मुझ पर भी रहती थी । इसका परिणाम यह हुआ कि नारदजी का सारा उपदेश मेरे पास पहुँच गया ।

(तीन प्रकार के जीवों को गर्भ में ही ज्ञान हो जाता है, देवयोनि को, महापुरुषों को तथा विशेष प्रकार के पुरुषों को ।)

इसीलिए मैं तुम लोगों को बता रहा हूँ कि सारा संसार मिथ्या है । सद्गुरु की सेवा करो तथा भगवान् के गुण-कर्मों का कीर्तन करो ।

श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम् । (श्रीभागवतजी - ७/७/३१)

भगवान् सब जगह हैं, उनकी उपासना करने में कोई मेहनत नहीं है ।

यहाँ पर एक आचार्य लिखते हैं कि भक्त लोग तो सारे संसार को भगवान् के रूप में देखते हैं किन्तु जो लोभी हैं, वे सर्वत्र धन की दृष्टि से देखते हैं । जो कामी हैं, वे सब जगह कामिनी को ही देखेंगे । जैसे

मन्दिर में कई प्रकार के लोग जाते हैं । जो भक्त होता है, वह वहाँ भगवान् का दर्शन करता है । जो लोभी होता है, वह मन्दिर में भी सोचता है कि कहीं से पैसा मिल जाये । जेबकतरा मन्दिर में जाकर लोगों की जेब काटता है । कुछ लोग दूसरों के जूते-चप्पल चुरा लेते हैं । जो कामी लोग होते हैं, वे जब मन्दिर में या परिक्रमा करने जाते हैं तो देखते हैं किसकी बहू जा रही है, कौन सुन्दर स्त्री जा रही है । भक्ति तो उनके लिए एक आडम्बर (ढोंग) है ।

प्रह्लादजी को सारा संसार भगवान् का ही रूप दिखाई देता था और संसार में सर्वत्र भगवान् को देखने की ही शिक्षा भी उन्होंने दी ।

प्रह्लादजी का उपदेश सुनकर सभी असुर बालक उनसे बोले – 'प्रह्लाद ! तुम ठीक कहते हो कि मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिलता है । अब तुम जैसा कहोगे, हम लोग वैसा ही करेंगे ।' प्रह्लादजी बोले – 'अच्छी बात है, आज गुरुजी भी कहीं बाहर गये हैं, चलो, हम सब लोग मिलकर कीर्तन करते हैं ।' बालक बोले – 'अरे प्रह्लाद ! तुम्हें तो भगवान् विपत्ति से बचा लेते हैं किन्तु हमें कीर्तन करने पर तेरे पिता और गुरुजी की तरफ से जो दण्ड मिलेगा, उससे कौन बचाएगा ?' प्रह्लादजी बोले –

पढ़ो रे भाई कृष्ण गोविन्द मुरारि ।
जनि डरपहु जड़मति काहू सो,
को है हिरणकशिपु अभिमानी तुम्हें सकै जो मारि ।

तुम लोग कृष्ण, गोविन्द, मुरारी नाम की पढ़ाई पढ़ो अर्थात् कीर्तन करो । किसी से डरो नहीं । अभिमानी हिरण्यकशिपु की क्या हिम्मत है जो तुम्हें मार सके ।

राखनहार कोई है औरे, स्याम धरे भुज चारि ।

चतुर्भुज श्यामसुन्दर रक्षा करने वाले हैं ।

सूरदास प्रभु सबमें ब्यापक, ज्यों धरनी में बारि ॥

जैसे धरती के भीतर सर्वत्र जल है, उसी प्रकार भगवान् सर्वत्र व्यापक हैं, सभी जगह रहते हैं, अपने शरणागतों की रक्षा करते हैं । अब तो यही पढ़ाई तुम लोग पढ़ो । सभी बालक बोले – 'प्रह्लाद ! अब तो जो पढ़ाई तुम पढ़ाओगे, वही हम लोग पढ़ेंगे । जो होगा परिणाम, वह देखा जायेगा ।' प्रह्लादजी बोले – 'ठीक है तो मेरे साथ कीर्तन करो ।'

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे ! हे नाथ नारायण वासुदेव !!

प्रह्लादजी के साथ सब बालक कीर्तन करने लगे । इतने में ही वहाँ गुरुजी आ गये । उन्होंने देखा कि आज तो पाठशाला में बड़ी जोर से कीर्तन हो रहा है । गुरुजी सोचने लगे कि अभी तक तो एक प्रह्लाद था, अब तो ये हजारों प्रह्लाद हो गये । शण्ड और अमर्क आपस में कहने लगे कि हिरण्यकशिपु को पता चलेगा तो हम लोगों को वह मृत्यु दण्ड देगा, अब क्या किया जाये ?

अध्याय – ८

नारदजी कहते हैं – जब शण्ड-अमर्क ने देखा कि अब तो ये बालक प्रह्लाद की बात मानकर भगवान् की भक्ति कर रहे हैं तो उन्होंने परस्पर यही निश्चय किया कि अब तो हम लोगों को पहले ही जाकर हिरण्यकशिपु को जाकर इसकी सूचना दे देनी चाहिए, नहीं तो वह हम पर नाराज हो जायेगा । ऐसा विचारकर ये दोनों हिरण्यकशिपु के पास पहुँचे और कहने लगे – 'महाराज ! अब हम क्या करें ? आज हम थोड़ी देर के लिए किसी कार्य से बाहर चले गये तो प्रह्लाद ने तुरन्त ही पाठशाला के सभी बालकों को बहका दिया । जब हम लोग लौटकर आये तो देखा कि सभी बालक प्रह्लाद के साथ कीर्तन कर रहे थे । कोई तो झाँझ बजा रहा था, कोई ढोलक बजा रहा था, कुछ बालक ताली

बजा रहे थे और सभी बालक मिलकर गोविन्द-गोविन्द कहकर आनन्द से नाच रहे थे । अब बताइए कि हम लोग क्या करें ? ये अब हमारी शिक्षा को तो मानते नहीं हैं ।' शण्ड-अमर्क की बात सुनकर हिरण्यकशिपु को इतना भयंकर क्रोध आया कि क्रोधावेश के कारण उसका शरीर थर-थर काँपने लगा । अन्त में उसने यही निश्चय किया कि कुछ भी हो जाये, अब तो मैं अपने ही हाथों से प्रह्लाद को मार डालूँगा ।

संध्या का समय हो गया था । हिरण्यकशिपु की आज्ञा से प्रह्लादजी को उसके सामने लाया गया । प्रह्लादजी को वहाँ जाते देखकर उनके साथी बालक समझ गये कि आज इसका पिता इसे मार डालेगा । वे कहने लगे कि हम लोग भले ही मर जाएँ, प्रह्लाद न मरे । प्रह्लादजी हिरण्यकशिपु के सामने आए ।

प्रश्रयावनतं दान्तं बद्धाञ्जलिमवस्थितम् ।

(श्रीभागवतजी - ७/८/५)

मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाले प्रह्लादजी सिर झुकाकर हाथ जोड़कर अपने पिता के सामने खड़े हो गये । जैसे चोट खाया हुआ सर्प क्रोध से देखता और फुफकारता है, उसी प्रकार हिरण्यकशिपु ने टेढ़ी नजर से उन्हें देखा और कठोर वाणी में बोला – 'मूर्ख, कुलनाशक, तूने मेरे शासन का उल्लंघन किया है । अब तेरा समय आ गया है और मैं तुझे अभी यमराज के पास भेजता हूँ ।

क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते त्रयो लोकाः सहेश्वराः ।
तस्य मेऽभीतवन्मूढ शासनं किम्बलोऽत्यगाः ॥

(श्रीभागवतजी - ७/८/७)

जिस समय मैं क्रोध करता हूँ, उस समय तीनों लोक अपने ईश्वर सहित थर-थर काँपते हैं, फिर तू किसके बल पर मेरे सामने निडर होकर

खड़ा है और इतना ही नहीं, तूने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है । पहली बात तो यह है कि मेरे सामने कोई खड़ा नहीं हो सकता किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि एक छोटा सा बालक मेरे सामने निर्भय खड़ा है तथा मेरे शासन को भी तोड़ दिया है । अब ये बता कि तेरे पास बल क्या है ?' प्रह्लादजी ने कहा –

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम् ।

(श्रीभागवतजी - ७/८/८)

'राजन् ! मेरे पास कोई बल नहीं है । मेरे पास, ब्रह्माजी के पास, सृष्टि के समस्त जीवों के पास जो बल है, वह केवल भगवान् का ही है और वही बल आपके पास भी है । वस्तुतः तो न मेरे पास कुछ बल है, न आपके पास कोई बल है ।

स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसावोजः सहःसत्वबलेन्द्रियात्मा ।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः ॥

(श्रीभागवतजी - ७/८/९)

वह बल है ईश्वर । वही ईश्वर है, वही काल है, समस्त प्राणियों का इन्द्रिय बल भी वही है, शरीर का और मन का बल भी वही है ।

जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः ।
ऋतेऽजितादात्मन उत्पथस्थितात् तद्धि ह्यनन्तस्य महत् समर्हणम् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/८/१०)

पिताजी ! आप अपना आसुरी भाव छोड़ दीजिये । दुनिया में कोई शत्रु नहीं है । न विष्णु शत्रु है, न मैं और न ही आप । सबसे बड़ा शत्रु तो यह मन ही है, जो गलत रास्ते पर चलता है । इस मन की शत्रुता को समझकर इसे वश मे करना ही भगवान् की सबसे बड़ी पूजा है ।

दस्यून्पुरा षण्ण विजित्य लुम्पतो मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश ।
जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां साधोः स्वमोहप्रभवाः कुतः परे ॥

(श्रीभागवतजी - ७/८/११)

मन के भीतर रहने वाले काम-क्रोधादि छः डाकू दिन-रात जीव को लूट रहे हैं । ये आपको भी लूट रहे हैं, पहले आप इन पर विजय प्राप्त करिए, फिर किसी अन्य से लड़िये । जो लोग इन काम-क्रोधादि शत्रुओं को तो जीतते नहीं और ऐसा मानते हैं कि हमने दसों दिशायें जीत ली हैं, वे मूर्ख हैं ।' प्रह्लादजी की बातें सुनकर हिरण्यकशिपु के मन में और आग लग गयी । वह बोला – 'अब तेरे मरने का समय आ गया है क्योंकि जिसका मरने का समय आ जाता है, वह यूँ ही बक-बक करने लगता है, उसकी वाणी ऐसी ही हो जाती है । मूर्ख ! मेरे अतिरिक्त जिसे तू ईश्वर मानता है तो बता तेरा वह ईश्वर कहाँ है ?' प्रह्लादजी बोले – 'पिताजी ! वह ईश्वर तो सर्वत्र है । मुझमें, आपमें, चराचर सभी जीवों मे वह है ।' हिरण्यकशिपु ने कहा – 'यदि तेरा ईश्वर सर्वत्र है तो इस खम्बे मे क्यों नहीं दिखाई देता ?' हिरण्यकशिपु ने बहुत विशाल और गरम करके एक खम्भा बनवाया था, प्रह्लादजी को उससे बाँधकर मारने के लिए । उसने उसी खम्भे से प्रह्लादजी को बाँध दिया और बोला – 'यदि तेरा ईश्वर सर्वत्र है तो उसे इस खम्भे में दिखा ।' प्रह्लादजी ने कहा – 'पिताजी ! श्रीहरि इस खम्भे मे भी हैं ।' हिरण्यकशिपु बोला – 'अच्छा, तू कहता है कि खम्भे में भी है, बढ़-बढ़कर बात बनाता है, अब मैं तेरा सिर धड़ से अलग करता हूँ और तू बहुत हरि-हरि कर रहा है तो देखूँ तेरा हरि कैसे तेरी रक्षा करता है ?' ऐसा कहकर वह क्रोध के कारण अपने सिंहासन से कूद पड़ा और बड़े जोर से उस खम्भे को एक घूँसा मारा । क्रोध में वह इतना अन्धा हो गया था कि उसे मारना चाहिए था प्रह्लादजी को किन्तु जब उन्होंने कहा कि इस खम्भे में भी मेरे

प्रभु हैं तो उसने सोचा कि पहले इस खम्भे को ही देख लूँ। हिरण्यकशिपु क्रोध से ऐसा अन्धा हो गया कि उसने सोचा कि इस खम्भे में ही इसका ईश्वर है तो पहले मैं उसी को मारूँगा और पीछे इसको मारूँगा। जब उसने क्रोध में खम्भे पर जोर से घूँसा मारा, उसी समय उस खम्भे से बहुत भयंकर शब्द हुआ। ऐसा लगा कि मानो यह ब्रह्माण्ड ही फट गया हो। ब्रह्माजी को ऐसा लगा मानो प्रलय हो रही है। इधर हिरण्यकशिपु सोचने लगा कि यह शब्द कहाँ से हो रहा है, यह भीषण आवाज कहाँ से आ रही है ? वहाँ सभा में कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। केवल खम्भे से भीषण गड़गड़ाहट की ध्वनि हो रही थी। थोड़ी देर में उसने देखा कि जैसा प्रह्लादजी ने कहा था कि भगवान् सर्वत्र हैं, सर्वव्यापी हैं। उनकी इसी वाणी को सत्य करने के लिए नृसिंह रूप में भगवान् प्रकट हुए।

बोलो नृसिंह भगवान् की जय।

सिर से कमर तक का उनका रूप सिंह का था और नीचे के दोनों पाँव मनुष्य के थे। नीचे से नर और ऊपर से सिंह। हिरण्यकशिपु नृसिंह भगवान् को आश्चर्य से देखने लगा, उसने सोचा कि यह कौन जीव है, इसका आधा रूप सिंह का और आधा भाग मनुष्य का सा है। जब हिरण्यकशिपु उनके रूप के बारे में विचार कर रहा था, उसी समय उसके ठीक सामने नृसिंह भगवान् आकर खड़े हो गये। उनके सिंह के से बड़े-बड़े बाल बिजली की तरह चमक रहे थे। उनके दाढ़-दाँत बड़े ही विकराल थे तथा छुरे की पैनी धार की तरह उनकी जीभ थी, क्रोध में उनके दोनों कान खड़े थे, मुँह पहाड़ की गुफा के समान फैला रहे थे, उनके सिंह के से बड़े-बड़े भयंकर नाख़ून थे। उन्हें देखकर हिरण्यकशिपु सोचने लगा कि ऐसा प्रतीत होता है कि यह विष्णु ही है, जो अपनी माया से ऐसा रूप बनाकर आया है किन्तु यह मेरा क्या कर

लेगा ? ऐसा सोचकर वह हाथ में गदा लेकर नृसिंह भगवान् पर टूट पड़ा और फिर उसने बड़े जोर से गदा घुमाकर नृसिंह भगवान् पर प्रहार किया किन्तु उसी समय भगवान् ने उसे गदा सहित पकड़ लिया किन्तु वह दैत्य उनके हाथ से छूट गया । देवता लोग यह घटना देख रहे थे, उन्होंने सोचा कि संध्या का समय हो गया है और यह राक्षस प्रभु के हाथ से छूट गया, यह तो गजब हो गया । वे देवता और भी डर गये । हिरण्यकशिपु ने समझा कि मेरे पराक्रम से यह नृसिंह डर गया है, तभी इसने मुझे छोड़ दिया । अब उसने हाथों में ढाल और तलवार ली और सोचा कि इसका सिर ही काट डालूँ, ऐसा विचारकर वह नृसिंह भगवान् पर टूट पड़ा । तब भगवान् नृसिंह ने बड़े जोर से भीषण गर्जना की, जिसे सुनकर हिरण्यकशिपु की आँखें बन्द हो गयीं तो भगवान् ने उसे पकड़ लिया, अब वह उनके पंजे से छूटने के लिए जोर से छटपटाने लगा जैसे सर्प चूहे को पकड़ता है तो वह छटपटाता है । भगवान् उसे पकड़कर सभा के दरवाजे पर ले गये, जहाँ देहरी थी क्योंकि हिरण्यकशिपु ने ब्रह्माजी से यह वरदान माँगा था कि मैं न भीतर मरूँ, न बाहर मरूँ । देहरी न तो भीतर होती है, न बाहर होती है । संध्या का समय आ गया । हिरण्यकशिपु ने यह वर लिया था कि न मैं दिन में मरूँ, न रात में मरूँ । उसको यह भी वरदान था कि न मैं मनुष्य से मरूँ और न ही पशु के द्वारा मरूँ; तो ये तो नृसिंह हैं, ऊपर से सिंह, नीचे से मनुष्य । हिरण्यकशिपु ने वरदान माँगते समय जितनी अक्ल लगाई थी, वह सब असफल हो गयी । भगवान् ने देहरी पर ले जाकर उसे अपनी जाँघों पर गिरा दिया और बड़े-बड़े नाखूनों से उसके शरीर को इस प्रकार चीर दिया जैसे गरुड़ किसी विषैले सर्प को पकड़कर उसे अपने पंजों से चीर देते हैं । **बोलो नृसिंह भगवान् की जय ।** हिरण्यकशिपु का वध करने के बाद भी नृसिंह भगवान् का क्रोध शान्त नहीं हुआ । क्रोध से भरी उनकी विकराल आँखों की ओर देखा नहीं जाता था । वे अपनी लपलपाती हुई जीभ से मुँह के दोनों कोने चाट रहे थे । उनके बालों में

चारों ओर खून चू रहा था। हिरण्यकशिपु को चीरकर उसकी बड़ी-बड़ी अंतड़ियों की माला उन्होंने गले में पहन ली थी। उस समय हिरण्यकशिपु के सेवक हजारों दैत्य-दानव हाथों मे शस्त्र लेकर भगवान् पर आक्रमण करने के लिए दौड़े तो उन्होंने अपने नखों से ही उन सबको समाप्त कर दिया। उस समय नृसिंह भगवान् की श्वास के वेग से समुद्र में ऊँची-ऊँची लहरें उठने लगीं। उनके भीषण सिंहनाद से भयभीत होकर दिशाओं को पकड़ने वाले दिग्गज भागने लगे, उन्होंने सोचा कि अभी तक प्रभु का क्रोध शान्त नहीं हुआ है, कहीं ऐसा न हो कि हम लोग भी मारे जाएँ। नृसिंह भगवान् के बालों से टकराकर देवताओं के विमान अस्त-व्यस्त हो गये, उनके वेग से पर्वत उखड़ने लगे। अन्त में नृसिंह भगवान् राजसभा में ऊँचे सिंहासन पर जाकर बैठ गये। उस समय उनके क्रोध भरे भयंकर चेहरे को देखकर किसी को भी उनके पास जाने का साहस नहीं हुआ। दूर आकाश में स्थित होकर ही देवता उनकी जय-जयकार कर रहे थे, उन्होंने सोचा कि इस समय भगवान् के निकट जाना ठीक नहीं है। भगवान् का क्रोध शान्त करने के लिए वे ऊपर से ही उनके ऊपर फूल बरसाने लगे। देवताओं ने अपनी स्त्रियों को आगे किया और कहा कि तुम लोग वहाँ जाकर भगवान् के ऊपर फूल बरसाओ क्योंकि स्त्रियों को कोई नहीं मारता है। देवांगनाएँ ऊपर से जय हो, जय हो कहकर नृसिंह भगवान् पर फूल बरसाने लगीं। प्रभु को प्रसन्न करने के लिए अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। देवता, ऋषि और भगवान् के सभी पार्षद भी वहाँ आये। उन सबने नृसिंह भगवान् की स्तुति की।

ब्रह्माजी ने कहा – 'हे प्रभो ! आपके कर्म पवित्र हैं और पराक्रम विचित्र है, आपको नमस्कार है।' शिवजी ने कहा – 'आपके क्रोध करने का समय तो प्रलय है। अब तो आप अपने भक्त बालक प्रह्लाद पर दया कीजिये।' इन्द्र ने कहा – 'भगवन् ! हिरण्यकशिपु ने हमारे सब यज्ञ

भाग छीन लिये थे, आपने उसे लौटाया है । जो आपके भक्त हैं, उन्हें मुक्ति की भी चाह नहीं है ।' ऋषियों ने कहा – 'इस दैत्य ने हमारे तप का नाश कर दिया था, आपने फिर से उसका अनुमोदन किया है ।' पितरों ने कहा – 'प्रभो ! हमारे पुत्र हमारे लिए जो श्राद्ध करते थे, यह दैत्य उन्हें छीनकर खा जाता था ।' सिद्धों ने कहा – 'महाराज ! इसने हमारे योग की गति छीन ली थी ।' विद्याधरों ने कहा – 'इसने हमारी विद्या को निषेध कर दिया था ।' नागों ने कहा – 'इस दुष्ट ने हमारी सुन्दर स्त्रियों को छीन लिया था ।' मनुओं ने कहा – 'इस दैत्य ने हम लोगों की धर्म मर्यादा नष्ट कर दी थी ।' प्रजापतियों ने कहा – 'इसने हमें प्रजा की सृष्टि करने से रोक दिया था ।' गन्धर्वों ने कहा – 'प्रभो ! हम तो आपके नाचने-गाने वाले हैं, इस दैत्य ने हमें अपनी सेवा में लगा दिया था ।' **'किमुत्पथस्थः कुशलाय कल्पते'** – जो गलत मार्ग पर चलेगा, उसका कुशल कैसे होगा, वह तो एक दिन अवश्य ही नष्ट होगा । चारणों ने कहा – 'भगवन् ! हमने आपके चरणकमलों का आश्रय ले रखा है ।' यक्षों ने कहा – 'भगवन् ! हम तो आपके दास हैं परन्तु हिरण्यकशिपु ने हमें अपनी पालकी ढोने वाला कहार बना लिया था ।' किम्पुरुषों ने कहा – 'यह तो पहले ही मर गया था, जब साधु लोगों ने इसे धिक्कारा था । इसके कर्म ही ऐसे थे ।' वैतालिकों ने कहा – 'हम तो आपके निर्मल यश का गान करके अपनी जीविका चलाते थे । इसने हमसे कहा कि भगवद् यश मत गाओ और इस तरह हमारी आजीविका इस दैत्य ने नष्ट कर दी थी ।' किन्नरों ने कहा – 'यह दैत्य हमसे बेगार में ही काम कराता था, कभी पानी भरवाता तो कभी बुहारी लगवाता था । इस तरह से इसने सबको परेशान किया ।' विष्णु पार्षद बोले – 'प्रभो ! आज हम लोगों ने आपका यह विचित्र नृसिंह रूप देखा है ।'

अध्याय – ९

नारदजी कहते हैं – इस प्रकार सभी ने भगवान् की स्तुति की किन्तु नृसिंह भगवान् का क्रोध शान्त नहीं हुआ । तब देवता लक्ष्मीजी के पास पहुँचे और बोले – 'माता ! अब आप ही चलकर प्रभु के क्रोध को शान्त करिए क्योंकि आप प्रेमस्वरूपिणी हैं और ये भगवान् नारायण ही तो हैं । हो सकता है कि आपकी प्रेम भरी चितवन को देखकर उनके मन में कुछ श्रृंगार रस का भाव उदय हो जाये और क्रोध चला जाये ।'

वस्तुतः श्रृंगार रस और क्रोध दोनों ही विरोधी हैं । जिस समय पति-पत्नी में कलह हो रहा हो, उस समय श्रृंगार रस काम नहीं देता, यह नियम है । देवता बड़े चतुर थे, उन्होंने सोचा कि यदि लक्ष्मीजी को देखकर भगवान् के मन में कुछ श्रृंगार रस की छटा आ जाएगी तो उनका क्रोध दूर हो जायगा । **'देवै प्रेषिता साक्षाच्छ्रीः'** – देवताओं की प्रार्थना से लक्ष्मीजी भगवान् के पास गयीं किन्तु उनका भयानक नृसिंह रूप और भीषण क्रोध देखा तो भयवश वे पीछे हो गयीं । उन्होंने भगवान् का ऐसा रूप पहले कभी नहीं देखा था । देवता लोग कहने लगे – 'माताजी ! आगे चलिए ।' किन्तु लक्ष्मीजी के मन में भगवान् के पास जाने का साहस नहीं हुआ ।

यह विचार करने योग्य बात है कि यहाँ कहा गया है कि लक्ष्मीजी ने भगवान् का नृसिंह रूप कभी नहीं देखा था किन्तु भगवान् की लीलायें तो अनादिकाल से हर कल्प में होती आई हैं, ऐसे में भगवान् के सभी अवतार कई बार हो चुके हैं और नृसिंह अवतार भी कई बार हो चुका है, ये सब नित्य लीलायें हैं । भगवद् लीलायें जितनी भी हैं, वे प्रभु ने आज नयी नहीं की हैं, ये सब नित्य हैं । जो सच्चे वैष्णव हैं, इस रहस्य को वे जानते हैं । जो वैष्णव (भक्त) नहीं हैं, वे इन बातों को नहीं समझ सकते हैं । श्रीधर स्वामी आदि सभी भागवत के टीकाकार आचार्य यह

स्वीकार करते हैं कि भगवल्लीला नित्य है । जब उनकी लीला नित्य है, फिर क्यों कहा गया कि लक्ष्मीजी ने ऐसा नृसिंह रूप पहले कभी नहीं देखा था ।

भगवान् की तीन शक्तियाँ हैं – श्रीशक्ति, भूशक्ति और लीला शक्ति । लीला शक्ति में ऐसा चमत्कार है कि हर लीला को नई करने के लिए, हर रस को नया करने के लिए वह सारी व्यवस्था ठीक तरह से तैयार कर देती है । जैसे कृष्ण लीला में यशोदाजी कन्हैया के मुख में ब्रह्माण्ड देखती हैं किन्तु फिर लीलाशक्ति उन्हें इस बात की विस्मृति करा देती है क्योंकि यदि वे उनका ऐश्वर्य देखकर भगवान् मानने लग जाएँगी तो वात्सल्य रस की लीला कैसे होगी ? इस बात को जानने से भगवान् की लीलाओं के सम्बन्ध में कोई शंका नहीं होगी । भक्त लोग यह जानते हैं कि लीला शक्ति ही सब कुछ कराती है, रस के लिए । इसे लीला शक्ति की वैचित्री कहा जाता है । लक्ष्मीजी साक्षात् नारायणी हैं, वे नारायण के रूप को न जानें, ऐसा कहीं हो सकता है । यह तो लीला है, रस पैदा करने के लिए कि देखो, नृसिंह भगवान् का कैसा भयानक रूप है । आगे इसका रहस्य खुलेगा कि लीला शक्ति ने ऐसा काम क्यों किया कि लक्ष्मीजी को भी देखकर भगवान् का क्रोध शान्त नहीं हुआ, इसमें क्या रहस्य है, यह आगे पता चलेगा । टीकाकार आचार्यगण इसका रहस्य खोलेंगे । अस्तु, लक्ष्मीजी नृसिंह भगवान् के रूप को देखकर घबराकर पीछे हो गयीं और शंकित हो गयीं कि कहीं ये मेरी ओर अपना नाख़ून न बढ़ायें क्योंकि उनको देखकर नृसिंह भगवान् ने अपने नख फैलाये तो उन्होंने सोचा कि ये नाख़ून कहीं मेरी ओर न आ जाएँ । लक्ष्मीजी डरकर लौट गयीं किन्तु प्रह्लादजी वहाँ निर्भय खड़े थे । सब देवताओं ने आपस मे सलाह की कि प्रह्लाद को भगवान् के सामने भेजना चाहिए क्योंकि यह बड़ा पक्का है, पहले भी हिरण्यकशिपु के अत्याचारों से यह नहीं डरा । छोटा-सा यह बालक है किन्तु बड़ा

पक्का है । देवताओं ने ब्रह्माजी से कहा कि आप ही इस बालक को नृसिंह भगवान् के पास ले जाइये । सारे देवता नृसिंह भगवान् के रूप और उनका क्रोध देखकर भयभीत हो रहे थे किन्तु प्रह्लादजी के हृदय में नृसिंह भगवान् को देखकर कोई भय नहीं था, प्रारम्भ से ही प्रभु को देखकर उनके अन्दर वात्सल्य रस की अनुभूति हो रही थी ।

भागवत के टीकाकार श्रीधर स्वामीजी नृसिंह रूप के ही उपासक थे, उन्हें नृसिंह देव की कृपा से ही सब कुछ प्राप्त हुआ था । उन्होंने एक बहुत अच्छी बात लिखी है । विश्वनाथ चक्रवर्तीजी के प्रश्न का उत्तर भी उन्होंने यहाँ विस्तार से दिया है । सिंह की शक्ल से ही सभी मधुर रस भाग जाते हैं, केवल वीर या भयानक रस ही रहता है । श्रृंगार रस भी सिंह से बहुत दूर भागता है । लोग ऐसा कहते हैं कि रति क्रीड़ा के लिए सिंह साल मे एक बार अथवा जीवन में एक बार ही सिंहनी के पास जाता है । दूसरी बार अगर जायेगा तो सिंहनी सिंह के शरीर को फाड़ देगी । श्रीधर स्वामीजी लिखते हैं कि जिस समय सिंह-सिंहनी एक दूसरे के प्रति क्रोध से भरकर गुर्रा रहे हों किन्तु अपने बच्चे के प्रति उस समय भी वात्सल्य भाव रखते हैं । श्रीधर स्वामी लिखते हैं –

"उग्रोऽप्यनुग्रएवायं स्वभक्तानां नृकेसरी ।
केसरीव स्वपोतानामन्येषामुग्रविग्रहः"

सिंह सबके लिए उग्र है किन्तु अपने बच्चे के लिए उग्र नहीं है । सिंह-सिंहनी एक दूसरे के प्रति भी क्रोध करके गुर्राते हैं परन्तु अपने बच्चे को देखकर दोनों के हृदय में वात्सल्य उमड़ने लगता है । वही हाल प्रह्लादजी के साथ हुआ । जिस समय सारे देवगण नृसिंह भगवान् की उग्रता का अनुभव कर रहे थे, उसी समय प्रह्लादजी को नृसिंह भगवान् के रूप में वात्सल्य की अनुभूति हो रही थी । जब प्रह्लादजी नृसिंह भगवान् के पास आये तो वे उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम करने लगे ।

उनको देखकर प्रभु पिघल गये, कृपा से भर गये और सिंहासन से कूदकर प्रह्लाद को अपने दोनों हाथों से उठा लिया एवं उनके मस्तक पर प्रेम से हाथ फेरने लगे । उनका वह करकमल, जो काल रूपी अजगर से डरे हुए लोगों को अभय देने वाला है, वही करकमल प्रभु अपने भक्त प्रह्लाद के सिर पर फिराने लगे । भगवान् के करकमलों का स्पर्श होते ही प्रह्लादजी के सभी अशुभ नष्ट हो गये, उनको दिव्य ज्ञान भी हो गया । उन्होंने प्रभु के चरणकमलों का ध्यान किया और हृदय में धारण किया । उस समय उनका सारा शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों में प्रेम व आनन्द के आँसू भर आये । वे भगवान् की स्तुति करने लगे । उनकी इस स्तुति की आचार्यों ने बहुत प्रशंसा की है, इसमें ४३ श्लोक हैं ।

प्रह्लादजी ने कहा – प्रभो ! आपकी स्तुति तो बड़े-बड़े देवता कर चुके हैं, मैं तो असुर जाति में उत्पन्न हुआ हूँ, मैं भला आपकी स्तुति क्या करूँ ?

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज -
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान्गजयूथपाय ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/९)

बहुत से लोग समझते हैं कि भगवान् धन, अच्छे कुल में जन्म, तपस्या, रूप, वेद अध्ययन, ओज, तेज अर्थात् इन्द्रिय शक्ति, मानसिक शक्ति, प्रभाव, बल, पौरुष और बुद्धि से प्रसन्न होते हैं, परन्तु ये सब बेकार हैं ।

(प्रह्लादजी इन सबका खण्डन करके अनन्य भक्ति की महिमा बता रहे हैं) – भगवान् तो केवल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं । गजराज के पास

क्या था, न धन, न बुद्धि, न रूप, वह तो तिर्यक् योनि में था किन्तु भक्ति से उसने भगवान् को पुकारा तो भगवान् उसकी रक्षा के लिए आ गये ।

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ -
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/१०)

बारह गुणों से युक्त ब्राह्मण से वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जो आपके चरणारविन्द का भक्त है । चाण्डाल अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण भगवान् के चरणों में समर्पित करने के कारण अपने कुल तक को पवित्र कर देता है और आपकी भक्ति से विमुख बारह गुणों से युक्त अभिमानी ब्राह्मण अपने को भी पवित्र नहीं कर सकता ।

भक्ति से रहित वस्तुयें मनुष्य के अहं को बढ़ाती हैं और अहं एक गाँठ है, जो भक्ति में बाधक है । यदि हम ज्यादा पढ़-लिख जायेंगे तो ऐंठ आ जाएगी । ऐसे बहुत कम विद्वान् होते हैं, जो भगवान् के नाम का कीर्तन करते हों । वे विद्वत्ता का अभिमान करते हैं ।

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानम्
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/११)

प्रह्लादजी कहते हैं – प्रभु तो निज लाभ से ही पूर्ण हैं, उन्हें किसी से पूजा ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

बहुत से लोग ऐसे होते हैं, जो मन्दिर में जाते हैं किन्तु प्रभु को साष्टांग दंडवत् करने में शर्माते हैं । संतों को भी उनके आश्रम मे तो प्रणाम कर लेते, चरण स्पर्श कर लेते हैं किन्तु यदि सड़क पर संत मिल जाएँ तो उनसे बच कर चलते हैं, प्रणाम नहीं करते क्योंकि उन्हें अपनी नाक कटने का भय रहता है । प्रह्लादजी के अनुसार ऐसे लोग नासमझ हैं । हम जब प्रभु और उनके भक्तों के लिए अपने मान को जलाते हैं अर्थात् जिस समय हम उनका मान बढ़ाते हैं तो पलटकर, करोड़ों गुना होकर उससे हमारा ही मान बढ़ता है । जैसे जब मनुष्य अपना मुख सजाता है, स्त्रियाँ श्रृंगार करके दर्पण मे अपना मुख देखती हैं तो प्रतिबिम्ब पर भी सब श्रृंगार आ जाता है किन्तु कोई अपना मुख न सजाये और फिर दर्पण देखे तो प्रतिबिम्ब में चेहरे पर कोई सजावट नहीं दिखेगी । इसी प्रकार भगवान् और उनके भक्त ही हमारा स्वरूप हैं । हमारा शरीर है छाया किन्तु हम लोग समझते हैं कि हमारा शरीर ही हमारा स्वरूप है और भगवान् व उनके जन पराये हैं अर्थात् छाया हैं जबकि यह बात विपरीत है ।

प्रह्लादजी कहते हैं – इस असुर को मारने के लिए आपने क्रोध किया था, वह मारा जा चुका है । (यहाँ प्रह्लाद जी अपने पिता को असुर कह रहे हैं, पिता नहीं कह रहे हैं) अब आप अपना क्रोध शान्त कीजिये । भयमुक्त होने के लिए भक्त आपके इस रूप का स्मरण करेंगे । प्रह्लादजी देख रहे हैं कि भगवान् के भयंकर रूप को देखकर सब लोग भयभीत हैं किन्तु वे नृसिंह भगवान् से कहते हैं –

नाहं बिभेम्यजित तेऽतिभयानकास्य -
जिह्वार्कनेत्रभ्रुकुटीरभसोग्रदंष्ट्रात् ।
आन्त्रस्रजः क्षतजकेसरशङ्ककर्णा -
न्निर्ह्रादभीतदिगिभादरिभिन्नखाग्रात् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/१५)

भगवन् ! आपका मुख बड़ा भयानक है । आपकी जीभ, नेत्र, भौंहें, बड़ी पैनी दाढ़ें हैं, गले में आँतों की माला है, रक्त से चूते हुए आपके बाल हैं, कील की तरह कान खड़े हैं, आपकी गर्जना से दिग्गज भाग गये हैं तथा आपके भयानक नाख़ून हैं किन्तु इनसे मुझे तनिक भी भय नहीं लगता है ।

त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र -
संसारचक्रकदनाद् ग्रसतां प्रणीतः ।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलम्
प्रीतोऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/१६)

मैं दुःसह संसार चक्र की चक्की में पिसने से डरता हूँ ।

प्रह्लादजी ये बात हम सबके लिए कह रहे हैं । हम लोग मृत्यु से डरते हैं कि हमारी मृत्यु न हो जाये, हमारे परिवार में किसी की मृत्यु न हो जाये, स्त्री-पुत्र आदि न मर जाएँ । यह तो मूर्ख लोगों का भय है । डरना है तो मृत्यु से मत डरो । डरना है तो संसार की चक्की से डरो । हम लोग माया की चक्की में अनादि काल से पिस रहे हैं, दिन-रात पिस रहे हैं किन्तु इस चक्की से डर नहीं रहे हैं और डर रहे हैं मृत्यु से । जबकि शरीर की मृत्यु तो स्वाभाविक है, डरने से वह हटेगी नहीं और यह माया की चक्की अब भी पीस रही है तथा मरने के बाद भी पीसेगी । इसलिए प्रह्लाद जी कह रहे हैं कि डरना है तो माया की, संसारचक्र की चक्की से डरना चाहिए, न कि मृत्यु से । हे प्रभो ! आप मुझे अपनी दासता दीजिये ।

'दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससङ्गः' (श्रीभागवतजी - ७/९/१८)

आपके भक्तों के संग से मैं सभी कठिनाइयों को पार कर जाऊँगा अर्थात् अपने भक्तों का मुझे संग दीजिये ।

बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः ।
तप्तस्य तत्प्रतिविधिर्य इहाञ्जसेष्ट -
स्तावद् विभो तनुभृतां त्वदुपेक्षितानाम् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/१९)

बच्चे की शरण माँ-बाप नहीं हो सकते । रोगी के लिए दवा शरण नहीं है, समुद्र या नदी में डूबते हुए के लिए नौका शरण नहीं है ।

थोड़ा सा भी रोग होता है तो लोग दवाई लेने के लिए दौड़ पड़ते हैं । यह सब मूर्खता है । प्राचीन काल में सभी प्रकार के रोगों की चिकित्सा आध्यात्मिक थी । तब अंग्रेजी दवाई और उनकी कम्पनियाँ नहीं थीं । प्राचीन काल में किसी की आँख में रोग होता तो आँख के देवता हैं सूर्य, लोग सूर्य देवता की उपासना करते थे । उससे आँख के रोग ठीक हो जाते थे । प्रत्येक इन्द्रिय का देवता है, उनके मन्त्र हैं । ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है कि मनुष्य के पाप ही रोग बनते हैं । मान लो, रोग होने पर हमने दवाई खाई तो दवा से केवल रोग दब जाता है, रोग की जड़ नहीं कटती है क्योंकि रोग की जड़ है पाप और पाप दवाइयों से नष्ट नहीं होता है । इसलिए प्राचीन ऋषियों का यही मत उत्तम होता था कि पहले तुम अपने रोग की जड़ काटो यानी जहाँ से पाप उत्पन्न हुआ । जड़ कटेगी तो रोग अपने आप नष्ट हो जायेगा । प्राचीन काल में इसीलिए रोग होने पर मन्त्रों के द्वारा चिकित्सा होती थी । धन्वन्तरि भगवान् के अवतार के बाद और चरक ऋषि के आयुर्वेद के बाद ही भारत में औषधियों का प्रचलन हुआ । उनसे पहले मन्त्रों के द्वारा ही रोगों का इलाज होता था । अभी भी भारत में साँप-बिच्छू के काटने पर मन्त्रों के द्वारा ही इलाज किया जाता है । भारत के गाँवों में आज भी मन्त्रों के

जानकार ऐसे लोग हैं जो मन्त्र विधि से ही रोगों का निदान करते हैं । शास्त्र के अनुसार रोगों की जड़ है पाप । अतः पाप को नष्ट करने के लिए भक्ति करना आवश्यक है । इसीलिए परिवार में सबके लिए भक्ति करना आवश्यक है क्योंकि जब रोग की जड़ पाप नष्ट होंगे तभी सब रोग समाप्त होंगे । इसीलिए प्रह्लादजी ने कहा कि रोगी के लिए दवा शरण नहीं है । यह तो दुनिया वालों की कमजोरी है । कितने ही रोग आस्था से नष्ट हो जाते हैं । भक्तमाल में इस सम्बन्ध में बहुत सी कथायें हैं । दुनिया में ऐसी कोई दवा नहीं है, जो विष को अमृत बना दे, यह दवा तो मीराबाई के पास ही थी, जिनके लिए विष अमृत बन गया ।

मीराजी का एक पद है –

अब मैं अपने राम को रिझाऊँ ।
बूटी न खाऊँ औषधि न खाऊँ ।
न कोई मैं बैद्य बुलाऊँ ।
मीरा की तो पीर मिटै जब बैद सांवरिया होय ॥

मीराजी ने कहा कि मेरा वैद्य तो सांवरिया है । अन्य कोई तो मेरा रोग जान ही नहीं सकता है ।

इसी तरह रोग के बाद प्रह्लादजी ने कहा कि समुद्र में डूबने वाले के लिए नाव शरण नहीं है । नाव भी डूब जाएगी । प्रह्लादजी कहते हैं – प्रभो ! जो लोग आपके द्वारा उपेक्षित होते हैं, वे ही इन चीजों का(बच्चा माँ-बाप का, रोगी दवा का, डूबने वाला नाव का) आश्रय लेते हैं ।

मन ही सब आफतों की जड़ है, माया संसार चक्र में डालकर मुझे ईख की तरह पेर (पीस) रही है । इसलिए मैं आपकी शरण में हूँ । मैंने देखा है, जितने भी देवता हैं, ये मेरे पिताजी से भयभीत रहते थे और उनको आपने नष्ट कर दिया । इसलिए स्वर्गलोक और इन्द्रियभोग आदि व्यर्थ की वस्तुयें हैं । इसके बाद फिर से प्रह्लादजी बोले –

कालात्मनोपनय मां निज भृत्यपार्श्वम्– (श्रीभागवतजी - ७/९/२४)

मुझे देना है तो आप अपने भक्त का सामीप्य दीजिये । बार-बार प्रह्लादजी यही कह रहे हैं । ये संसारी कामनायें तो रोगों का घर हैं – **अशेषरुजां विरोहः** । इन्हें कोई आपसे क्या माँगेगा ? आपने अपना करकमल मेरे सिर पर रखा है, जो आपने ब्रह्मा, शिव और लक्ष्मीजी के सिर पर भी नहीं रखा । आपमें कोई पक्षपात नहीं है । कल्पवृक्ष के नीचे जो भी आता है, वह उसकी कामनापूर्ति करता है । इसी प्रकार सेवा के अनुसार ही आपकी कृपा मिलती है ।

एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे
कामाभिकाममनु यः प्रपतन् प्रसङ्गात् ।
कृत्वाऽऽत्मसात् सुरर्षिणा भगवन् गृहीतः
सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/२८)

मैं इस भवसागर में सर्पों से भरे कुएँ में पड़ा हूँ । यह ऐसा भवकूप है, जिसमें बड़े-बड़े अजगर हैं । देवर्षि नारद को धन्यवाद है, उन्होंने मुझे उस समय अपनाया, जब मैं अपनी माता के गर्भ में था ।

'सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम्'

इसलिए मैं आपके भक्त की सेवा कैसे छोड़ सकता हूँ ?

लगभग हर तीसरे-चौथे श्लोक के बाद प्रह्लादजी केवल भक्तों की सेवा और भक्तों की महिमा ही गा रहे हैं । इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने सबका सार यही बात लिखी –

'राम ते अधिक राम कर दासा'

भगवान् से बड़े उनके भक्त हैं । ऐसा केवल प्रह्लादजी ने ही नहीं कहा है, वृन्दावन के रसिक भक्तों ने भी ऐसा कहा है । महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के शिष्य और अष्ट छाप के प्रसिद्ध वैष्णव कवि

कुम्भनदासजी एक बार उदास बैठे थे । उनसे श्रीनाथजी ने पूछा कि आप उदास क्यों बैठे हैं तो वे बोले – 'लाला ! सत्संग नहीं मिलता ।' श्रीनाथजी ने कहा कि मैं तो प्रतिदिन आपके पास आता हूँ । कुम्भनदासजी ने कहा कि तुम आते हो, परन्तु थोड़ी देर में चले जाते हो । तुमसे भी बड़ा है सत्संग । वही मुझे दो । तब भगवान् ने उन्हें एक भक्त पुत्र दिया, जिनका नाम था चतुर्भुज दास, उनके साथ कुम्भनदासजी कृष्ण लीला की चर्चा दिन-रात करते थे । श्रीकृष्ण ब्रज में रहते समय सुबह से वनों में गाय चराने चले जाते और संध्या को लौटते थे तो गोपियाँ आपस में बैठकर दिन भर उनके गुणों और लीलाओं की चर्चा किया करती थीं । इसी का नाम सत्संग है कि चार आदमी बैठकर कृष्ण गुणगान करें । सत्संग का मतलब यह नहीं कि किसी ने वेष बदल लिया, उस साधु के पास जाया जाए । नहीं, जहाँ कृष्ण चर्चा होती है, वही सत्संग है । घर में स्त्री-पुरुष और सन्तान बैठकर कृष्ण चर्चा करें तो वह भी सत्संग है । सत्संग का मतलब यह नहीं कि किसी वेषधारी के पास जाया जाये । वेषधारी साधु के पास गये और वहाँ यदि कृष्ण चर्चा न होकर दुनिया भर की बात होती है तो वह सत्संग नहीं है । इसीलिए प्रह्लादजी बार-बार भगवान् से कहते हैं कि मैं सत्संग को छोड़ नहीं सकता, मुझे अपने भक्तों का संग दीजिये ।

आप अपने प्रेमी भक्त सनकादि ऋषियों का वचन सत्य करने के लिए संसार में आये । एक आप ही इस संसार का पालन-पोषण कर रहे हैं । प्रलयकालीन जल के भीतर शेषशय्या पर जब आप शयन कर रहे थे, उस समय आपके नाभिकमल पर प्रकट ब्रह्माजी आपको देख नहीं सके । फिर बहुत समय तक जब उन्होंने तपस्या की तब आपने उन्हें दर्शन दिया । मधु और कैटभ नामक दो दैत्य जब वेदों को चुराकर ले गये तब आपने हयग्रीव अवतार ग्रहणकर उन दोनों का वध किया ।

'छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्'

(श्रीभागवतजी - ७/९/३८)

कलियुग में आप अपने स्वरूप को छिपा लेते हैं ।

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति -
र्बह्वयः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/४०)

हम लोगों की दशा ऐसी है, जैसे किसी आदमी की बहुत सी पत्नियाँ उसे अपनी ओर हाथ पकड़कर खींच रही हों । दसों इन्द्रियाँ जीव की पत्नियाँ हैं । जीभ हर समय कहती है – लड्डू लाओ, नमकीन लाओ, अचार लाओ, दूध-घी लाओ । यह हर समय स्वादिष्ट पदार्थों की ओर जीव को खींचती रहती है । शिश्न इन्द्रिय अलग मैथुनी भोग की ओर खींचती है, त्वग् इन्द्रिय (त्वचा) अलग अपने विषय की ओर खींचती है । पेट भोजन से कभी अघाता नहीं है । एक बार भोजन करने पर खाली हो जाता है और फिर से भोजन की ओर खींचता है । श्रवण इन्द्रिय मधुर संगीत की ओर खींचती है, घ्राण इन्द्रिय बढ़िया सुगन्ध की ओर खींचती है, नेत्र सुन्दर रूप की ओर खींचते हैं । कर्मेन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों की ओर खींचती रहती हैं । जैसे किसी पुरुष की बहुत सी पत्नियाँ उसे अपनी कामना पूर्ति के लिए अलग-अलग खींच रही हों, वही दशा जीव की है, ये इन्द्रियाँ रूपी पत्नियाँ उसे अपने-अपने विषयों की ओर हर समय खींचती रहती हैं । हम लोगों की कितनी दुर्गति हो रही है । सुबह से उठकर चाय पियो, फिर भोजन में तरह-तरह के व्यंजन बनाकर खाओ । सुबह से रात तक इन्द्रिय तृप्ति में ही सारा जीवन बीता जा रहा है ।

एवं स्वकर्मपतितं भववैतरण्यामन्योन्यजन्ममरणाशनभीतभीतम् ।
पश्यञ्जनं स्वपरविग्रहवैरमैत्रं हन्तेति पारचर पीपृहि मूढमद्य ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/४१)

इस प्रकार यह जीव अपने कर्मों के बन्धन में पड़कर संसार रूपी वैतरणी नदी में गिरा हुआ है । आप मुझे तथा अन्य जीवों को इस भव वैतरणी के पार ले चलिए । इसके बाद पुनः प्रह्लादजी भक्त-सेवा और भक्त संग की चर्चा कर रहे हैं ।

मूढेषु वै महदनुग्रह आर्तबन्धो किं तेन ते प्रियजनाननुसेवतां नः ।

(श्रीभागवतजी - ७/९/४२)

पहले तो प्रह्लादजी ने कहा कि आप मुझे भववैतरणी या भवसागर के पार उतार सकते हैं, आपको पार उतारने में कोई श्रम नहीं है किन्तु फिर अपना विचार पलटकर वे बोले – **'किं तेन'** – पार जाने से क्या मतलब है ? भवसागर के पार जाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि **'प्रियजनाननुसेवतां नः'** – आपके भक्तों की सेवा मिल जाये, भक्तों का सतत् संग मिल जाये तो फिर भवसागर के पार जाने की क्या आवश्यकता है, नासमझी है ।

इस बात को ऐसे समझो कि एक बार नारदजी अपना माथा ठोंककर रो रहे थे । रोते-रोते वे भगवान् के धाम में चले गये । वहाँ भगवान् ने उनसे पूछा कि नारदजी आप क्यों रो रहे हैं, आप तो विरक्त हैं । नारदजी ने कुछ उत्तर नहीं दिया, केवल रोते रहे । भगवान् बोले – 'मैं समझ गया, आप भवसागर में पड़े दुखी जीवों के लिए रो रहे हैं ।' नारदजी ने कहा – 'नहीं प्रभु, ऐसा नहीं है ।' भगवान् ने कहा – 'मैं तो यही समझता हूँ कि आप इसलिए रो रहे हैं कि भवसागर में पड़े जीवों का उद्धार हो जाये ।' नारदजी ने कहा –'प्रभो ! मैं उनके लिए नहीं रो

रहा हूँ, मैं तो उनके लिए रो रहा हूँ, जो मुक्त हो चुके हैं । जो जीव ब्रह्म में लीन हो गये, वे आपकी मधुर लीला से वंचित हो गये । संसार में जो जीव पड़े हैं, इन्हें कभी धक्का लगेगा, किसी भक्त का संग कभी इन्हें मिलेगा तो ये आपकी लीला में पहुँच जायेंगे किन्तु मैं तो उनके लिए रो रहा हूँ, जो ब्रह्म में लीन हो गये हैं ।' इसीलिए भक्त लोग मुक्ति नहीं चाहते हैं ।

अस बिचारि हरि भगत सयाने । मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)

भक्त लोग कहते हैं कि यह मुक्ति पिशाचिनी है, कहीं हमें खा न जाये । इस पिशाचिनी से बचते रहना । जैसे भुक्ति (भोग) पिशाचिनी है, वैसे ही मुक्ति भी पिशाचिनी है । श्रीधरस्वामीजी भी भागवत के श्लोक (१/१/१) – **'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सताम्'** की अपनी टीका में लिखते हैं । 'प्रोज्झितकैतव' का भाव वे बताते हैं कि 'मुक्ति' कैतव है भक्ति में, कापट्य (कपट) है । इसीलिए प्रह्लादजी कह रहे हैं – **'किं तेन'** अर्थात् मुक्ति से हमें क्या प्रयोजन है ? हमको तो आप भले ही इस संसार में बार-बार जन्म दे दीजिये । चाहे गधा बना दीजिये, कौआ बना दीजिये किन्तु भक्त संग अवश्य दीजिये । गधा भी बनाना तो ऐसी कृपा करना कि भक्तों के यहाँ बोझा ढोऊँ । इसीलिए वृन्दावन के एक रसिक कहते हैं – **धनि धनि वृन्दावन के गदहा प्यारे** ।

प्रह्लाद जी कहते हैं – **'प्रियजनाननुसेवतां नः'** – भक्तों की सेवा मुझे मिले । इतनी बड़ी भक्त की महिमा है । यह कोरी भावुकता नहीं है । इतनी जब श्रद्धा होती है, तब मनुष्य भक्ति करता है ।

इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण उदाहरण है । गह्वर वन में उच्च कोटि के संत पंडित हरिश्चन्द्रजी महाराज रहा करते थे । उन्होंने एक बार मुझसे (पूज्य श्रीरमेशबाबाजीमहाराज से) कहा – 'श्रीजी का एक ही नाम उनसे मिला देता है और भवसागर से पार कर देता है । दूसरे नाम की आवश्यकता नहीं है । कोई साधक यदि यह सोचे कि मैंने तो अखण्ड कीर्तन किया, दिन-रात श्रीजी का नाम जपा किन्तु मेरे साथ तो ऐसा चमत्कार नहीं हुआ, न अभी मैं भवसागर से छूटा और न ही श्रीजी मिलीं तो इसका उत्तर यही है कि यदि तुम भक्तों में अभाव न करते तब श्रीजी का नाम चमत्कार दिखाता । हम लोग जो भक्तों में अभाव करते हैं, इस कारण से नाम का वैसा फल नहीं मिलता, अन्यथा तो श्रीजी का एक ही नाम वास्तव में तार देता है ।' इसके पण्डितजी महाराज अनेक प्रमाण भी बताते थे क्योंकि वे एक प्रकाण्ड विद्वान् थे । हम लोग भक्तों में अभाव करते हैं, इसी एक सर्वप्रमुख दोष से बचते हुए यदि नाम की साधना करें तो अति शीघ्र उसका फल दिखाई देता है । कोई साधक भक्त भी है तो उसके प्रति ईश्वरीय भाव रखना चाहिए । जैसे अजामिल के प्रसंग में कहा गया है –

'स्यात् पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः'(श्रीभागवतजी - ६/३/२६)

भक्त में यदि कोई पातक भी है तो उसका भजन ही उस पातक को नष्ट कर देगा, यमराज की शक्ति नहीं है कि अपनी कचहरी में उसे ले जायें । चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि यदि भक्त में कोई दोष भी है तो जैसे गंगा जी का फेन भी ब्रह्महत्या है किन्तु गंगाजल में फेन होने के कारण उसे ब्रह्महत्या नहीं माना जाता, पवित्र माना जाता है । वही फेन किसी दूसरे जल में हो तो ब्रह्महत्या है किन्तु गंगा जी में होने पर नहीं है । फेन वही है, उसी प्रकार दोष किसी अन्य व्यक्ति में दोष है किन्तु

यदि वही दोष किसी वैष्णव में दिखाई दे तो उसे दोष मत मानो । अब किसकी है ऐसी छाती, जो भक्त के दोष को सद्भाव सहित देखे ।

जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली ।
फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥

ऐसा कहना सरल है किन्तु वस्तुतः ऐसा हृदय बन जाना कठिन है ।

इसीलिए प्रह्लादजी भगवान् से कहते हैं कि मैं केवल आपके जनों की सेवा करना चाहता हूँ ।

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ -
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/४३)

मैं इस भवसागर से नहीं घबराता हूँ क्योंकि आपके गुणगान को मैं गा रहा हूँ तो फिर भवसागर से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है । होगा काल कोई शक्ति किन्तु आनन्द से भगवन्नाम कीर्तन करते चले जाओ तो काल कुछ भी नहीं है । केवल नाम का आश्रय करते चले जाओ क्योंकि वही सत् वस्तु है, काल की मत सोचो ।

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/४४)

प्रायः बहुत से लोग साधु बनकर एकान्त में भजन करते हैं । यदि कोई उनके पास आये तो सत्संग देकर परोपकार नहीं करते हैं । प्रह्लादजी कहते हैं कि मुझे ये बात पसंद नहीं है । मैं अकेले भवसागर पार होना नहीं चाहता हूँ । प्रह्लादजी विचित्र बात कह गये । क्या वे एकान्तिक भक्तों की आलोचना कर गये ? नहीं, जो भक्त भगवद् रस में पूर्णतया डूब चुके हैं, जिन्हें देह का अनुसन्धान नहीं है, उनकी बात छोड़ो ।

'न परार्थनिष्ठाः' अर्थात् स्वार्थ निष्ठा । यह समझने की बात है । देखो, भजन की जो क्रिया है, उसके अन्दर बहुत सी सूक्ष्म भावनायें, सूक्ष्म लक्ष्य होते हैं । जैसे बहुत से लोग नियम बना लेते हैं, उनके अन्दर जो भजन की वृत्ति है तो वस्तुतः वे स्वार्थ की वृत्ति से प्रेरित होकर भजन करते हैं कि हम जल्दी से ये कर लें, जल्दी से वो कर लें, केवल अपना ही स्वार्थ देखते हैं । केवल भगवद् प्रेम जो हेतु है, वह अलग है और स्वार्थ अलग है अर्थात् कपिल भगवान् ने जो निर्गुणा भक्ति का लक्षण बताया है –

'वृत्तिः स्वाभाविकी तु या' (श्रीभागवतजी - ३/२५/३२)

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।

(श्रीभागवतजी - ३/२९/१२)

यह स्थिति अलग है । इन्द्रियों की स्वाभाविकी वृत्ति हो गयी किन्तु एक जो स्वार्थनिष्ठ होकर वृत्ति चलती है, वह ठीक नहीं है । कुछ परोपकार की भावना रखनी चाहिए । यह वैष्णवों का कर्त्तव्य है । भगवान् ने गीता में कहा है – 'हे अर्जुन ! मेरा यह गीता का सन्देश जो दूसरों को देता है, उससे अधिक मेरा प्यारा कोई नहीं है ।'

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

(श्रीगीताजी - १८/६८,६९)

हम स्वयं भक्ति में इतना अधिक डूब जाएँ, वह अलग बात है किन्तु जब तक हमें होश है, तब तक परार्थनिष्ठा, परोपकार की भावना नहीं छोड़नी चाहिए । यही बात प्रह्लादजी ने कही है । परार्थ अर्थात् परोपकार का मतलब यह नहीं है कि परार्थ करने गये और कृष्ण से बिलकुल विमुख हो गये, बहिर्मुख हो गये । परार्थ में ये भी होशियारी चाहिए । किसी ने पूछा कि कहाँ जा रहे हो तो बोले कथा कहने जा रहे हैं । प्राचीन महात्माओं ने इसीलिए ब्रज के बाहर जाने को मना किया है, ऐसा क्यों किया ?

वृन्दावन वृन्दावन वृन्दावन कहो रे ।
वृन्दावन की कुंजन की छाया में रहो रे ॥

रसिक महापुरुषों ने कहा कि वृन्दावन की कुंजों में रहना । किसी ने पूछा – 'अच्छा महाराज, वृन्दावन के बाहर जायें कि नहीं ?' तो वे बोले –

भटकै मत देश-देश, वेष क्यों लजावै ।
कुंजन के कोने पर्‌यो, जुगल क्यों न गावै ॥
राख विश्वास जिय, पालन करिहैं श्रीराधा ।
बंसी अली सत्य-सत्य, पूजिहैं सब साधा ॥

देश-देश में क्यों भटकता है ? **'भटकत फिरत गौड़ गुजरात ।'**

महापुरुषों ने स्पष्ट कहा कि ब्रज के बाहर मत घूम । क्यों मना किया, इसलिए मना किया, जिससे मनुष्य अपनी स्थिति से, अपने भजन से गिर न जाये । ऐसा न हो कि परोपकार करने के चक्कर में अपने स्वरूप

का नाश कर ले, इसलिए साधक भक्त को ब्रज के बाहर जाने को मना किया गया है । यह बड़े विवेक का काम है । जैसे एक गुरुजी ने अपने शिष्य को गीता दी, वह अनपढ़ था । गुरुजी ने कहा – 'प्रतिदिन, गीता की सेवा-पूजा किया कर ।' गुरुदेव की आज्ञा से शिष्य प्रतिदिन गीताजी की पूजा करने लगा । एक बार गीता के पन्ने चूहे काट गये तो चूहों के नाश के लिए वह बिल्ली लाया, अनन्तर, बिल्ली को दूध पिलाने के लिए गाय लाया । अब गाय की सेवा कौन करे तो एक गोबर साफ़ करने वाली स्त्री को लाया । वह उसकी कुटिया में रहने लगी, उससे प्रेम जुड़ गया तो विवाह कर लिया और फिर बच्चे पैदा हुए । कुछ दिनों बाद गुरुजी अपने इस शिष्य से मिलने आये तो देखा कि कई बच्चे खेल रहे थे । शिष्य गुरुजी को देखकर बच्चों और अपनी पत्नी से बोला – 'गुरु जी के चरण छुओ ।' गुरुजी ने पूछा – 'ये सब कौन हैं ?' शिष्य बोला – 'गुरुजी, ये आपकी गीता का परिवार है ।' गुरुजी ने पूछा कि ऐसा कैसे हुआ तो उसने पूरा हाल बता दिया । इसीलिए ब्रज के रसिकों ने साधक को ब्रज के बाहर जाने को मना किया है कि ऐसा न हो कि तुम्हारा परोपकार गीता का परिवार बन जाये । यह भी विचार करना पड़ता है किन्तु साथ-साथ परार्थ-निष्ठा भी चाहिए । इसके लिए बड़ा ही सन्तुलित दिमाग चाहिए, बड़ी समझदारी चाहिए । इस सम्बन्ध में मेरे गुरुदेव, अनन्य ब्रजनिष्ठ महापुरुष श्रीप्रियाशरणबाबा महाराज ने एक सच्ची घटना बताई थी, अब इस घटना को सौ-डेढ़ सौ वर्ष हो चुके हैं । गोवर्धन में आन्योर के पास दो विरक्त भजनानन्दी संत रहा करते थे । वे दिन-रात भजन किया करते थे । एक बार भरतपुर के राजा गिरिराजजी में दर्शन के लिए आये । वे राजा जब वहाँ आये तो उन्होंने वहाँ के ब्रजवासियों से पूछा कि यहाँ कोई विरक्त महात्मा हैं । ब्रजवासियों ने बताया कि यहाँ एक अच्छे महात्मा रहते हैं, हम आपको

उनका दर्शन कराते हैं । विरक्त संत किसी को दर्शन नहीं देते थे किन्तु संत ब्रजवासियों का दबाव मानते हैं क्योंकि उनको ईश्वर रूप समझते हैं । दो-तीन ब्रजवासी एक विरक्त संत के यहाँ राजा साहब को ले गये और उन संत की कुटिया का दरवाजा खटखटाया । संत ने दरवाजा खोला और पूछा – 'कहो भैया, कैसे आये ?' ब्रजवासी बोले – 'ये भरतपुर के राजा हैं, आपका दर्शन करने आये हैं ।' उन संत को अब चैतन्य महाप्रभु की बात याद आई कि राजा का दर्शन अशुभ होता है । अब तो वे संत उन राजा को बहुत सी ऊटपटांग बातें बकने लगे । उनकी बात सुनकर राजा दुखी होकर चले गये । राजा भक्त थे, अतः उनके प्रति किये गये इस अपराध के कारण कुछ वर्षों बाद उन संत के मन में एक वासना उत्पन्न हुई कि हमारी कुटिया के पीछे एक और कुटिया बन जाए तो उसमें कोई अन्य संत रह लेगा, कुटिया काम में आएगी । अब तक वे संत कभी ब्रज के बाहर नहीं गये थे । उन्होंने ब्रजवासियों से पूछा कि यह जमीन किसकी है तो उन्होंने बताया कि यह भरतपुर के राजा की जमीन है । अब वासना के अधीन होकर संत भरतपुर तक गये । जब भरतपुर के राजा के यहाँ पहुँचे तो वहाँ राजा का मन्त्री महल से निकल रहा था । संत ने उससे राजा के बारे में पूछा तो उसने बताया कि वे तो भोजन करने गये हैं । मन्त्री ने राजा को संत के बारे में बताया तो वे उनसे मिलने आये । उन संत को देखकर राजा पहचान गये कि ये तो आन्योर वाले महात्मा हैं । राजा ने संत से कहा – 'अरे, आप यहाँ कैसे पधारे ?' संत ने कहा – 'मैं जमीन के काम से आया हूँ ।' राजा ने कहा – 'अरे, आप किसी के द्वारा सन्देश भेज देते तो मैं वहीं आन्योर में आ जाता ।'

श्रीप्रियाशरणजी महाराज कहते थे कि इस घटना को बताने का भाव यह है कि बहुत अधिक चैतन्य महाप्रभु की नक़ल भी नहीं करनी

चाहिए, अन्यथा अधिक विरक्तपने के मद में अपराध हो जाता है और वैष्णव अपराध से मनुष्य नष्ट हो जाता है । हर प्राणी को ईश्वर रूप देखो । इतने ज्यादा भी विरक्त मत बनो, जैसा कि व्यासजी महाराज ने लिखा है कि ब्रज के प्राचीन विरक्त संत रजोगुणी लोगों को देखकर पत्थर मारते थे । इसका मतलब यह नहीं है कि तुम भी पत्थर लेकर लोगों को मारने लग जाओ । इसलिए समझ-बूझकर, विवेक के साथ चलना चाहिए । अतः यहाँ प्रह्लादजी कह रहे हैं कि जब परार्थ निष्ठा नहीं है, केवल स्वार्थ निष्ठा है तो ऐसे मुनि या बाबाजी को मैं अच्छा नहीं समझता । सब चीजें युक्त होनी चाहिए । करुणा भी चाहिए, करुणा के बिना क्या है ? इसके बाद प्रह्लाद जी ने नृसिंह भगवान् से कहा –

यन्मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छम्
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/४५)

गृहस्थ में मैथुन आदि का सुख अत्यन्त ही तुच्छ है, खुजली की तरह है जैसे किसी को खुजली का रोग हो जाये तो पहले खुजलाने में सुख मिलता है परन्तु पीछे बहुत कष्ट होता है । इसी प्रकार मैथुन-भोग में शुरू में सुख प्रतीत होता है किन्तु भोगते रहने से इसमें तृप्ति तो मिलती नहीं और आगे कष्ट ही कष्ट उठाना पड़ता है । ये अज्ञानी मनुष्य दुःख पाने पर भी भोगों से अघाते नहीं हैं ।

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म -
व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः ।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणाम्
वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/४६)

ये दस साधन हैं – मौन, व्रत, शास्त्र श्रवण, तप, स्वधर्मपालन, शास्त्रों की व्याख्या, स्वाध्याय, एकान्तवास, जप तथा समाधि । ये मोक्ष के साधन हैं किन्तु जो लोग जितेन्द्रिय नहीं हैं, वे इनके द्वारा दम्भ करते हैं और इन साधनों को व्यापार बना लेते हैं, उनके लिए ये जीविका कमाने का साधन हैं । भाव यह है कि भजन करे तो दम्भ के लिए न करे । भजन को केवल प्रभु जानें और कोई न जाने, इस उद्देश्य के साथ भजन करना चाहिए ।

अन्त में प्रह्लादजी ने षडंग (छः प्रकार की) भक्ति बताई है – नमस्कार, स्तुति, समस्त कर्मों का समर्पण, पूजा, चरणकमल की स्मृति और कथा का श्रवण । इस षडंग सेवा के बिना जीवन व्यर्थ है ।

तत्तेऽर्हत्तम नमःस्तुतिकर्मपूजाः
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम् ।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किम्
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत ॥

(श्रीभागवतजी - ७/९/५०)

नारदजी कहते हैं – इस प्रकार भक्त प्रह्लाद ने बड़े प्रेम से भगवान् की स्तुति की और उनके चरणों में प्रणाम किया । नृसिंह भगवान् प्रसन्न हो गये और प्रह्लादजी से बोले कि तू मुझसे वरदान माँग ले ।

अध्याय – १०

प्रह्लादजी ने कहा – प्रभो ! आप मुझे लुभा रहे हैं । कोई आपसे कुछ माँगता है तो वह बनिया है । बनिया ही आपसे माँगेगा । जो स्वामी अपने सेवकों को तुच्छ वस्तुयें दे, वह स्वामी नहीं है । मैं आपसे कुछ नहीं माँग सकता हूँ ।

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/१०/७)

आप जैसा कोई स्वामी नहीं है और मेरे जैसा कोई सेवक नहीं है । मैं निष्काम हूँ और आप जैसा हितैषी स्वामी कोई नहीं है, फिर मेरे और आपके बीच में यह बनियागिरी का व्यवहार नहीं होना चाहिये । माँगना बनियागिरी है और देना भी मूर्खता है ।

प्रह्लादजी की यह बात हम लोगों को शिक्षा देने के लिए है । हम लोगों में कोई बाप बनता है, कोई स्वामी बनता है । बाप से बेटा कहता है – 'पिताजी ! टेलीविजन ले आओ ।' पिताजी तुरन्त टेलीविजन ले आते हैं । अब लड़का दिन-रात फ़िल्में देखता है । भगवान् का भजन करना तो दूर, स्कूल की शिक्षा भी टेलीविजन के करण लड़का नहीं पढ़ता । इसलिए प्रह्लादजी कहते हैं कि वह स्वामी स्वामी नहीं है जो सेवक को खराब वस्तुयें दे ।

इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः ।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना ॥

(श्रीभागवतजी - ७/१०/८)

हृदय में किसी भी कामना के उत्पन्न होते ही बारह चीजें नष्ट हो जाती हैं । इन्द्रियों का तेज, मन का तेज, प्राण, शरीर,धर्म, धृति,बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य – ये सब कामना का उदय होने पर ही नष्ट हो जाते हैं, फिर कामना की पूर्ति की जाएगी तो कितना नुकसान होगा ।

यदि रासीश मे...

इसलिए यदि आप मुझे कोई वर देना चाहते हैं तो यही वर दीजिये कि मेरे मन में कामना का बीज ही न अंकुरित हो ।

प्रह्लादजी ने यही वरदान माँगा । श्रीनृसिंह भगवान् ने कहा – 'प्रह्लाद ! मेरे भक्त सांसारिक विषयों की कामना कभी नहीं करते हैं किन्तु फिर भी इस मन्वन्तर तक तुम दैत्यों के ईश्वर बने रहो और समस्त भोगों को ग्रहण करो । मेरी कथाओं को सुनते रहना, भोग के द्वारा पुण्य कर्म नष्ट करना और अच्छे कर्मों से पाप को नष्ट करना तथा इस तरह समय पर शरीर को त्यागकर तुम मुझे ही प्राप्त करोगे । तुम्हारे द्वारा की हुई इस स्तुति को जो गायेगा, वह कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जायेगा ।'

प्रह्लादजी ने कहा – भगवन् ! मेरे पिता ने आपकी बहुत निन्दा की थी और मुझसे भी द्रोह किया था, वैसे तो वे आपकी कृपा दृष्टि से ही पवित्र हो गये थे परन्तु फिर भी मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि अन्तरहित और कठिनाई से पार पाने योग्य पाप से मेरे पिता शुद्ध हो जाएँ ।

बहुत से लोग ऐसा कहते हैं कि जिसके पुत्र नहीं होता, उसका उद्धार नहीं होता है । ऐसा वे ही लोग कहते हैं, जो भक्ति की महिमा नहीं जाते हैं । जीव का उद्धार तो भगवान् की भक्ति से ही होता है । यदि बेटा-बेटी नालायक हैं तो माँ-बाप यदि अपने पुण्य से स्वर्ग जा रहे होंगे तो वे अपने पापों के कारण वहाँ से उनकी टाँग खींच लेंगे और नरक ले जायेंगे । वस्तुतः यदि मनुष्य में भक्ति है तो वह स्वयं का भी उद्धार कर लेगा और अपनी पूरी पीढ़ी का, दादी-बाबा और पिछले कई पुरखों और आने वाली पीढ़ी का उद्धार कर लेगा । इसलिए प्रयत्न यही करना चाहिए कि हमें भगवान् की भक्ति मिले ।

श्रीनृसिंह भगवान् ने प्रह्लादजी से कहा – बेटा ! तुम्हारे पिता स्वयं पवित्र हो गये, इसकी तो बात ही क्या, उनकी इक्कीस पीढ़ियाँ तक तर गयीं क्योंकि तुम्हारे जैसा कुल को पवित्र करने वाला पुत्र उन्हें प्राप्त हुआ ।

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ।
यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान्वै कुलपावनः ॥

(श्रीभागवतजी - ७/१०/१८)

जिस कुल में एक भक्त पैदा हो जाता है तो उस कुल की क्या, इक्कीस पीढ़ी तो क्या, सारा देश ही पवित्र हो जाता है । भगवान् ने प्रह्लादजी से कहा कि अब तुम अपने पिता की अन्त्येष्टि क्रिया करो । तुम्हारे जैसी सन्तान के कारण उन्हें उत्तम लोकों की प्राप्ति होगी ।

इस प्रसंग में आचार्यगण स्पष्ट लिखते हैं कि पुत्र यदि भक्त है तो माता-पिता को अपने आप ही उत्तम लोक की प्राप्ति होती है । इसलिए सभी लोगों को इस कथा से शिक्षा लेनी चाहिए क्योंकि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है कि कलियुग में हर व्यक्ति हिरण्यकशिपु हो जायेगा क्योंकि इस युग में हर माँ-बाप अपनी सन्तान को केवल पेट पालने की शिक्षा देते हैं ।

मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं । उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं ॥

माँ-बाप अपने पुत्र से यही कहते हैं कि नौकरी कर ले, धन कमा फिर तेरा विवाह हो जायेगा । गोस्वामीजी कहते हैं कि ऐसे लोग असुर हैं । माँ-बाप को पाँच वर्ष तो दूर, गोद से ही बच्चे को भक्ति सिखानी चाहिए । ऐसी-ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो बच्चे को स्तन पान कराते समय पहले उसके कान में भगवान् का नाम सुनाती हैं तब दूध पिलाती हैं ताकि बच्चे में दूध पीते समय से ही भक्ति के संस्कार जाग्रत हो जायें । इसे कहते हैं माता-पिता, अन्यथा वे असुर हैं । यदि पुत्र भक्त है तो अपने आप ही तुम्हें उत्तम लोकों की प्राप्ति होगी और यदि पुत्र नालायक है, भक्तिहीन है तो फिर अपने साथ ही तुम्हारी टाँग भी नरक में खींचेगा ।

नारदजी कहते हैं – भगवान् की आज्ञानुसार प्रह्लादजी ने अपने पिता की अन्त्येष्टि क्रिया की और श्रेष्ठ ब्राह्मणों के द्वारा उनका राज्याभिषेक किया गया ।

ब्रह्माजी भगवान् से बोले – 'प्रभो ! यह दैत्य मुझसे वरदान लेकर बहुत उद्दण्ड हो गया था । यह बड़े सौभाग्य की बात है कि आपने इसे मार डाला । आपके इस नृसिंह रूप का ध्यान महान भयों और मृत्यु से बचाने वाला है ।' श्रीनृसिंह भगवान् ने कहा – 'ब्रह्माजी ! आप दैत्यों को ऐसे वरदान न दिया करें ।'

नारदजी कहते हैं – इतना कहकर नृसिंह भगवान् अन्तर्धान हो गये । तब ब्रह्माजी ने प्रह्लादजी को समस्त दैत्य-दानवों का अधिपति बना दिया । युधिष्ठिर ! भगवान् विष्णु के दोनों पार्षद ही दैत्य बने थे । पहले जन्म में वे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए, दूसरे जन्म में वे रावण और कुम्भकर्ण हुए तथा तीसरे जन्म में वे ही शिशुपाल और दन्तवक्र के रूप में पैदा हुए थे । भगवान् के द्वारा वध किये जाने और उनके शाप की अवधि समाप्त होने के कारण वे फिर से वैकुण्ठ धाम को चले गये । भगवान् के पराक्रम से पूर्ण प्रह्लादजी के चरित्र को जो श्रद्धा से कहता और सुनता है, वह कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है ।

अन्त में नारदजी ने कहा –

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यकैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च ॥

(श्रीभागवतजी - ७/१०/४९)

इस श्लोक की वैष्णवाचार्यों ने बहुत प्रशंसा की है । इसे समझो । वेदों में ब्रह्म का वर्णन 'नेति-नेति' रूप से है । अन्वय और व्यतिरेक – दो प्रकार से वर्णन होता है । जैसे किसी स्थान पर कई बच्चे खड़े हों और एक व्यक्ति पूछता है कि इनमें माधव नाम का बालक कौन है ? बताने की एक तो सीधी प्रक्रिया है कि उस बच्चे का हाथ पकड़कर बता दिया गया कि यह माधव है – इसे अन्वय पद्धति कहते हैं और व्यतिरेक पद्धति यह है कि बच्चों के समूह में एक-एक बच्चे को संकेत करके कहा गया कि

यह माधव नहीं, यह माधव नहीं और अन्त में जो बचा वह माधव हुआ । इसी प्रकार वेदों में जो ब्रह्म का वर्णन किया गया है, वह इसी व्यतिरेक पद्धति से किया गया है कि पृथ्वी ब्रह्म नहीं है, आकाश ब्रह्म नहीं, प्रकृति ब्रह्म नहीं, नेति-नेति कहकर कि ये नहीं, ये नहीं और शेष जो बचा वह ब्रह्म है । इसी व्यतिरेक पद्धति से ब्रह्म का वर्णन वेदों ने किया है क्योंकि निर्गुण-निराकार ब्रह्म का इसी प्रकार से वर्णन हो सकता है । जिसका आकार ही नहीं है, उसको कैसे दिखाया जायेगा कि ये ब्रह्म है । किन्तु यह भक्ति महारानी की सामर्थ्य है कि जिसके प्रभाव से इस श्लोक में अन्वय पद्धति से नारद जी युधिष्ठिर को दिखा रहे हैं कि ये है ब्रह्म, ये सामने खड़ा है । **स वा अयं ब्रह्म**..... । व्यतिरेक पद्धति में तो चिल्लाते रहो कि ये नहीं, ये नहीं, ये नहीं.....। इससे ब्रह्म का क्या ज्ञान होगा किन्तु भक्ति महारानी ने सरल रूप से दिखा दिया कि ये ब्रह्म खड़ा है । नारदजी युधिष्ठिर को बताते हैं कि तुम्हारे पास जो खड़े हैं, यही तो हैं ब्रह्म श्यामसुन्दर । वे तुम्हारे प्यारे हैं, मित्र हैं, तुम्हारे मामा के पुत्र (ममेरे भाई) हैं , पूज्य, आज्ञाकारी, गुरु और आत्मा हैं । ये हम पर प्रसन्न हों ।

इन्हीं प्रभु ने प्राचीन काल में भगवान् रुद्र की प्रतिष्ठा बचाई ।

राजा युधिष्ठिर ने पूछा – भगवान् श्रीकृष्ण ने किस प्रकार रुद्र देव की प्रतिष्ठा बचायी, आप कृपा करके बताइए ।

नारदजी ने कहा – एक बार देवासुर संग्राम में असुर देवताओं से पराजित हो गये थे । उस समय सारे असुर मय दानव की शरण में गये । उसने सोने, चाँदी और लोहे के तीन पुर बनाये । उन तीन पुरों के द्वारा उनमें छिपकर वे असुर तीनों लोकों को नष्ट करने लगे । तब लोकपालों के साथ सारी प्रजा महादेवजी के पास गयी और उनसे प्रार्थना की – 'हे देव ! हमारी रक्षा कीजिये ।' उनकी प्रार्थना

सुनकर शिवजी बोले – 'डरो मत ।' तब महादेवजी ने अपने धनुष पर बाण चढ़ाकर तीनों पुरों पर छोड़ दिया । बाणों का स्पर्श होते ही उन पुरों में रहने वाले सभी असुर मृत्यु को प्राप्त होकर नीचे गिर पड़े । मय दानव ने एक अमृत का कुआँ बना रखा था, उस कुएँ में उसने उन असुरों को डाल दिया तो वे फिर से अत्यधिक शक्तिशाली होकर जी उठे । अब महादेवजी निराश हो गये कि मैं इन्हें मारूँगा तो ये फिर से जीवित हो जायेंगे । तब उन असुरों पर विजय प्राप्त करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने एक युक्ति की । वे स्वयं तो गाय बन गये और ब्रह्माजी को बछड़ा बना दिया और तीनों पुरों में गये तथा उस कुएँ में जाकर सारा अमृत पी गए । उस कुएँ के रक्षक दैत्य इन दोनों को देखते रहे किन्तु भगवान् की माया से मोहित होने के कारण उन्हें रोक नहीं सके । इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी शक्तियों के द्वारा भगवान् शंकर के युद्ध की सामग्री तैयार की । उन्होंने धर्म से रथ, ज्ञान से सारथि, वैराग्य से झंडा, ऐश्वर्य से घोड़े, तपस्या से धनुष, विद्या से कवच, क्रिया से बाण और अन्य वस्तुओं का निर्माण किया । इन सामग्रियों से सज-धजकर भगवान् शंकर रथ पर सवार हुए और बाण को धनुष पर चढ़ाकर उन तीनों पुरों को जला दिया । इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने शिवजी की प्रतिष्ठा की रक्षा की ।

अध्याय – ११

युधिष्ठिर ने कहा – भगवन् ! अब आप मुझे वर्णाश्रम धर्म के सदाचार के साथ मनुष्यों के सनातन धर्म के बारे में बताइए, जिस धर्म से मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करता है ।

नारदजी ने कहा – बदरिकाश्रम में भगवान् नारायण के मुख से मैंने सनातन धर्म के बारे में जो सुना है, वही तुम्हें बताता हूँ । युधिष्ठिर ! सत्य, दया, तपस्या आदि धर्म के तीस लक्षण शास्त्रों में बताये

गये हैं । इसमें नवधा भक्ति – श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, नमस्कार, दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण को भी लिया गया है । ये सबको करना चाहिए । इसके बाद छः कर्म ब्राह्मण के बताये हैं – अध्ययन करना, कराना, दान लेना, दान देना, यज्ञ करना व यज्ञ कराना । क्षत्रिय का कर्म है – प्रजा की रक्षा करना । वैश्य का कर्म है व्यापार करना तथा शूद्र का धर्म है सेवा करना । इसके बाद ब्राह्मण की चार प्रकार की वृत्ति बताई – वार्ता (यज्ञ-अध्ययन कराकर धन लेना), शालीन (बिना माँगे जो मिल जाये, उसी में निर्वाह करना), यायावर (नित्यप्रति धान्यादि माँग लाना), शिलोञ्छन (खेत में तथा बाजार में पड़े अन्न के दानों को बीनकर निर्वाह करना) । निम्न वर्ण का पुरुष बिना आपत्ति काल के उत्तम वर्ण की वृत्ति का अवलम्ब न करे । क्षत्रिय दान लेना छोड़कर ब्राह्मण की शेष पाँचों वृत्तियों का अवलम्ब ले सकता है । केवल क्षत्रिय को छोड़कर आपत्ति काल में सभी सबकी वृत्ति का आश्रय ले सकते हैं । ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत, सत्य और अनृत से जीवन निर्वाह करे किन्तु श्वान (कुत्ते) की वृत्ति से कभी नहीं जिए । इसके बाद चारों वृत्तियों की व्याख्या है । खेत और बाजार में पड़े दाने बीनना ऋत, बिना माँगे जो कुछ मिल जाये – वह अमृत, नित्य माँगकर खाना मृत और खेती आदि से निर्वाह करना प्रमृत कहा गया है । वाणिज्य सत्य और अनृत से मिला हुआ है । श्व वृत्ति है नीच की सेवा करना । नीच की सेवा नहीं करना चाहिए । शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवत्परायणता और सत्य – ये ब्राह्मण के लक्षण हैं । वीरता, पराक्रम, धैर्य, तेज आदि क्षत्रिय के लक्षण हैं । देवता, गुरु और भगवान् की भक्ति आदि वैश्य के लक्षण हैं । शूद्र का लक्षण है सेवा करना । इसके बाद स्त्रियों का लक्षण है पति की सेवा करना । कैसे सेवा करे ? प्रिय वाणी बोले, ऐसा नहीं कि पति ने पानी माँगा तो

कहे – 'स्वयं ही ले लो, मेरा कान क्यों खाए जा रहे हो ?' ऐसे नहीं कहना चाहिए। **'वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत् पतिम्।'** (श्रीभागवतजी - ७/११/२७) पति से सदा प्रिय बोले, पहली सेवा तो यही है। इसके साथ ही विनय, इन्द्रिय संयम, सत्य आदि से पतिदेव की सेवा करे। इसके अतिरिक्त भागवत के रास पंचाध्यायी में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि अपतित पति का भजन (सेवा) करे अर्थात् जो पतित पति है, वह भजनीय नहीं है। वर्णाश्रम धर्म में भी आगे यही कहा गया है –

'पतिं त्वपतितं भजेत्' – (श्रीभागवतजी - ७/११/२८)

अपतित पति का सेवन करे। जो विष्णुद्रोही है, महापातकी है, वह सेव्य नहीं है। केवल वैष्णव धर्म में ही यह बात नहीं है बल्कि वर्णाश्रम धर्म में भी यह बात स्पष्ट रूप से कही गयी है। कोई पुरुष विवाह करके पति बन जाये और सोचे कि अब मुझे छुट्टी मिल गयी, अब मैं खूब महापाप करूँ, भक्तद्रोह करूँ, भक्ति द्रोह करूँ और पत्नी के लिए ईश्वर बना रहूँ तो यह गलत बात है। शास्त्र इसका समर्थन नहीं करता। इसीलिए शास्त्र का ज्ञान आवश्यक होता है। श्लोक '७/११/२८' में कहा गया है –

'अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत्।'

त्वपतितं (तु + अपतितं) अर्थात् अपतित पति का ही सेवन करे। पातिव्रत धर्म है बढ़िया किन्तु कहीं-कहीं पर पातिव्रत धर्म का निषेध भी किया गया है। इसका कहाँ-कहाँ निषेध किया गया है, इसे भागवत के टीकाकार आचार्यों ने शास्त्र प्रमाण के आधार पर बताया है। इसके अतिरिक्त पति यदि पतित नहीं है तो उसकी भगवद् भाव से सेवा करे जैसे लक्ष्मीजी नारायण भगवान् की सेवा करती हैं। इसके बाद यह बताया गया है कि स्वधर्म का पालन करते हुए धीरे-धीरे निर्गुणता

को प्राप्त हो जाये । गृहस्थाश्रम इसीलिए बनाया गया है कि धीरे-धीरे मनुष्य का मन भोग से हट जाये । विवाह पद्धति इसलिए चलाई गयी, जिससे बहुत सी स्त्रियों के पीछे जो पुरुष भटक रहा है, उसको एक स्त्री तक सीमित कर दिया जाए । इसका फल है निवृत्ति । अपनी स्त्री से भोग की सीमा बाँध दे कि केवल ऋतुकाल में ही सहवास करे, एकादशी, पूर्णिमा और अन्य शुभ तिथियों पर सहवास न करे । इस तरह निवृत्ति की ओर मुड़े । बार-बार बोने से खेती की फसल समाप्त हो जाती है, खेत स्वयं ही शक्तिहीन हो जाता है । कामनाओं की अधिक पूर्ति करने से चित्त स्वयं ही ऊब जाता है और अन्त में मनुष्य उससे हट जाता है ।

अध्याय – १२

इस अध्याय में नारदजी ब्रह्मचारी का लक्षण बता रहे हैं । गुरुकुल में निवास करने वाले ब्रह्मचारी को गुरु की सेवा कैसे करनी चाहिए ? ऐसा नहीं कि केवल मुख से कह दे – 'गुरुजी दण्डवत्' - ऐसा नहीं ।

नारदजी कहते हैं – **आचरन्दासवन्नीचो गुरौ सुदृढसौहृदः ।** (श्रीभागवतजी - ७/१२/१) नीच बनकर गुरुजी की सेवा करे । ऐसा नहीं कि गुरुजी ने थोड़ा फटकार दिया तो बुरा मान गये । गुरुजी बोले – 'मैंने तुझसे दो बार जल लाने को कहा और तू जल नहीं लाया ।' शिष्य बोला – 'अच्छा महाराज, लाया ।' वह जल ले तो आया किन्तु खीझकर लाया । इसे सेवा नहीं कहते हैं । सेवा तो नीच बनकर करे । नीच बनकर जो सेवा की जाती है तो वह सेवा है और यदि थोड़ा भी बुरा मान गया तो फिर वह सेवा सेवा नहीं है । इसीलिए नारदजी ने कहा – **'आचरन्दासवन्नीचः'** – दास वह है जो नीच बनकर रहे । **'गुरौ सुदृढसौहृदः'** – गुरु कितना भी फटकारें किन्तु उनके प्रति सुदृढ़ प्रेम रखकर सेवा करे, संध्या करे, भिक्षा माँगे और गुरुजी कहें तब खाए,

ऐसा नहीं सोचे कि मैं भिक्षा माँगकर लाया तो भिक्षा मेरे बाप की है । इसके साथ ही ब्रह्मचर्य का पालन करे । ब्रह्मचारी को चाहिए कि स्त्रियों के पास न रहे । जब तक द्वैत है तब तक मनुष्य के पतन का भय है । स्त्रियों से दूर रहने का नियम केवल ब्रह्मचारी के लिए ही नहीं है, यह नियम गृहस्थ के लिए भी है । गृहस्थ बनने का मतलब यह नहीं है कि हर समय स्त्रियों के सम्पर्क में रहे । **'एतत् सर्वं गृहस्थस्य समाम्नातं यतेरपि ।'** (श्रीभागवतजी - ७/१२/११) यह नियम गृहस्थ के लिए भी है, सन्यासी के लिए भी है और ब्रह्मचारी के लिए भी है । बहुत-से लोग ऐसा समझते हैं कि अब हम गृहस्थ बन गये हैं तो हमें सदा स्त्री-सम्पर्क में रहने का लाइसेंस मिल गया है । ऐसा नहीं है । गुरुकुल में अध्ययन करने के बाद ब्रह्मचारी यदि चाहे तो गृहस्थ बने और यदि न चाहे तो सीधे विरक्त हो जाये ।

गृहं वनं वा प्रविशेत् प्रव्रजेत् तत्र वा वसेत् । (श्रीभागवतजी - ७/१२/१४)

ब्रह्मचारी की इच्छा यदि गृहस्थ में प्रवेश करने की नहीं है तो भगवद् भजन करे ।

अब वानप्रस्थ का नियम बताया गया है कि वह तप करे किन्तु ऐसा तप न करे कि बुद्धि नष्ट हो जाये ।

'बुद्धिर्न विपद्येत कृच्छ्रतः'

(श्रीभागवतजी - ७/१२/२२)

ऐसी तपस्या न करे कि अहंकार हो जाये । पहले तो नारदजी ने वानप्रस्थी के लिए तपस्या बतायी फिर अन्त में कह दिया कि ऐसी तपस्या मत करना कि बुद्धि नष्ट हो जाये । यदि तप नहीं कर सकते हो तो अध्यात्म चिन्तन में लगे रहो । अन्त में योगियों की गति से अपने शरीर को छोड़े ।

अध्याय – १३

इस अध्याय में नारदजी ने यती का धर्म बताया है ।

नारदजी कहते हैं – सन्यासी को चाहिए कि एक गाँव में एक ही रात रुके ।

न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून् ।

(श्रीभागवतजी - ७/१३/८)

बहुत शिष्य न बनाये । जो बहुत शिष्य बनाता है, वह सन्यासी नहीं है । इसीलिए प्राचीन काल में बड़े-बड़े महापुरुष शिष्य नहीं बनाते थे । बहुत अधिक ग्रन्थों को न पढ़े, केवल भक्तिपरक ग्रन्थ पढ़े ।

'न व्याख्याम्' – बहुत अधिक व्याख्यान न दे । ऐसा न हो कि प्रवचन करने इधर-उधर जा रहे हैं, यह ठीक नहीं है । इससे अपने नित्य-नियमानुसार भजन नहीं हो पाता है । सन्यासी के लिए कोई आश्रम नहीं है । वह अपने आश्रम के चिन्ह धारण करे अथवा छोड़ दे । उसे चाहिए कि अवधूत होकर घूमे, यती धर्म से आगे परमहंस गति है, अतः परमहंस हो जाये । इस विषय में नारदजी एक प्राचीन इतिहास का वर्णन करते हैं । एक बार भक्तशिरोमणि प्रह्लादजी अपने मन्त्रियों के साथ विचरण कर रहे थे । उन्होंने देखा कि कावेरी नदी के तट पर पृथ्वी पर ही दत्तात्रेयजी मस्त पड़े थे । प्रह्लादजी ने उनसे पूछा – 'महाराज ! आपका शरीर अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट (मोटा) है और ऐसा शरीर तो भोगियों का ही होता है । ये बात मेरी समझ में नहीं आ रही है । ऐसा मालूम पड़ता है कि आप खूब बढ़िया भोजन करते हैं, बिना अधिक पौष्टिक भोजन के शरीर इतना मोटा-ताजा नहीं हो सकता । आप तो धूल में पड़े हुए हैं, आपके पास भोग पदार्थ कहाँ हैं ?'

जब प्रह्लादजी ने इस प्रकार पूछा तो दत्तात्रेय भगवान् ने उत्तर दिया – 'राजन् ! तृष्णा के कारण ही मनुष्य चिन्ता करता है और इसी

के कारण मनुष्य को अनेक योनियों में भटकना पड़ता है ।' इसके बाद उन्होंने धन के बहुत से दोष बताये । उन्होंने कहा कि मेरे चौबीस गुरु हैं, जिनमें अजगर और मधुमक्खी से मैंने वैराग्य और सन्तोष सीखा है ।

जिनको कछू न चाहिए, वे शाहन के शाह ।

मनुष्य को चाहिए कि कोई कामना न करे, मस्त रहे । कोई तृष्णा नहीं रहेगी तो मनुष्य बिना खाए ही मस्त रहेगा, अपने-आप मोटा हो जायेगा । किन्तु यदि कोई खाता-पीता रहे जैसे सेठ लोग खूब खाते-पीते हैं परन्तु धन की चिन्ता से उनका शरीर सूखता जाता है । वे सदा बीमार ही बने रहते हैं । ऐसे बहुत से धनी लोग हैं, जिनको दोनों समय डॉक्टर देखने आता है ।

दत्तात्रेयजी कहते हैं – 'मुझे जैसा भी भोजन मिल जाता है, उसे खा लेता हूँ । कभी थोड़ा अन्न खाता हूँ तो कभी बहुत, कभी स्वादिष्ट तो कभी नीरस । कभी कुछ खाने को नहीं मिलता तो बहुत दिनों तक धैर्य धारण कर ऐसे ही पड़ा रहता हूँ । कभी मैं पृथ्वी, घास, पत्थर या राख के ढेर पर ही पड़ा रहता हूँ तो कभी दूसरों की इच्छा से उनके घरों में पलंग और गद्दे पर सो जाता हूँ । मैं न तो किसी की निन्दा करता हूँ और न किसी की स्तुति करता हूँ ।' मनुष्य को किसी की निन्दा-स्तुति नहीं करना चाहिए, इसमें उसका ही नुकसान होता है । यह बहुत बड़ा रोग है । मान लो कोई चोरी कर रहा है तो हमारा क्या चुरा रहा है लेकिन लोग बैठकर आपस में यही सब व्यर्थ की निन्दा करते रहते हैं । निन्दा करने की अपेक्षा किसी की प्रशंसा करो, अच्छी बात करो कि वह आदमी चार घंटे कीर्तन करता है, जप करता है, अमुक आदमी गिरिराजजी की छः परिक्रमा करता है । इस तरह निन्दा की तुलना में प्रशंसा अच्छी चीज है । इससे दूसरे के अच्छे गुण की, गिरिराज जी

की, कीर्तन आदि की भी याद आ जाती है और निन्दा में तो सिवा दोष दर्शन के और कोई बात ही नहीं है । इसलिए निन्दा आदि से बचना चहिये ।

अध्याय – १४

राजा युधिष्ठिर ने पूछा – महाराज ! अब आप मुझे गृहस्थी के धर्म बताइए । नारदजी ने कहा – गृहस्थ का धर्म यह है कि हर समय भगवान् की अवतार कथा सुने ।

वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन् ।

(श्रीभागवतजी - ७/१४/२)

अपने सभी कर्मों को भगवान् के प्रति समर्पित कर दे और महापुरुषों के पास जाये तथा उनकी उपासना करे । (महापुरुषों का अर्थ है भगवद्भक्त) । गृहस्थ को चाहिए कि अपने स्त्री-पुत्रादि का पालन-पोषण करे परन्तु उनमें आसक्ति न रखे । आसक्ति मनुष्य को कमजोर कर देती है, तेजहीन कर देती है ।

विरक्तो रक्तवत्त् तत्र नृलोके नरतां न्यसेत् ।

(श्रीभागवतजी - ७/१४/५)

मन से विरक्त रहे किन्तु ऊपर से स्त्री-पुत्र के साथ आसक्त की तरह आचरण करे । किन्तु भीतर से यह समझता रहे कि ये सब डाकू हैं । ऐसा नहीं है कि गृहस्थ हो गये तो आसक्ति का लाइसेंस मिल गया है । कितने भी प्यारे बेटा-बेटी हैं, उनके प्रति भीतर से विरक्त रहो परन्तु बाहर से आसक्त की तरह उनका पालन-पोषण भी करो । उनके लिए जीवन-निर्वाह की वस्तुओं का प्रबंध भी कर दो । गृहस्थ होने का यह भी मतलब नहीं है कि आवश्यकता से अधिक धन जोड़ते चले जाओ ।

यावद् भ्रियेत् जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।

मनुष्य का अधिकार केवल उतने ही धन पर है, जितने से उसका पेट भर जाये, इससे अधिक धन को जो अपना मानता है, वह चोर है और यमराज के यहाँ दण्ड पायेगा –

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ।

(श्रीभागवतजी - ७/१४/८)

गृहस्थ का यह भी धर्म है कि वह अतिथि की सेवा करे, यहाँ तक कि स्त्री आदि को भी अतिथि की सेवा में लगाये । अतिथि भगवान् है, ऐसा नहीं कि उसको घर के भीतर जाने से रोका जाये । मनुष्य स्त्री में मेरेपन का भाव रखता है कि यह मेरी है । स्त्री में जिसकी ममता नहीं है, उसने भगवान् को जीत लिया ।

जह्याद् यदर्थे स्वप्राणान्हन्याद् वा पितरं गुरुम् ।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद् यस्तेन ह्यजितो जितः ॥

(श्रीभागवतजी - ७/१४/१२)

मनुष्य स्त्री के लिए अपने प्राण दे डालता है, माता-पिता, गुरु आदि सबको छोड़ देता है । यह शरीर अन्त में कीड़ा, विष्ठा या राख का ढेर हो जायेगा । कहाँ तो ऐसा तुच्छ शरीर और इसके लिए जिसमें आसक्ति होती है वह स्त्री ।

गृहस्थ द्वारा पितरों को श्राद्ध भी करना चाहिए । बहुत से लोग शंका करते हैं कि श्राद्ध क्यों किया जाता है ? श्राद्ध इसलिए किया जाता है कि हमारे पितृगण जहाँ भी हैं, हमारे द्वारा अर्पित वस्तु उनको वहीं मिल जाये । जहाँ भी बाप, दादा-दादी, परदादा होंगे, वहीं उन्हें श्राद्ध में अर्पित अन्न मिल जाता है । यदि पूछा जाये कि कैसे मिल जाता है ? इसका उत्तर है कि श्राद्ध वह विधि है कि तुम्हारे पितृगण कहीं भी होंगे, मान लो वे देवलोक में हैं तो हव्य बनकर श्राद्ध में अर्पित भोजन उन्हें मिल जायेगा । पितृलोक में हैं तो वहाँ भी मिल जायेगा, यदि मरकर वे

गाय-भैंस, बैल आदि बने हैं तो हरी-हरी घास के रूप में, जल के जीव बने हैं तो जल के भोजन के रूप में, गिद्ध बने हैं तो माँस रूप में श्राद्ध में अर्पित भोजन उन्हें मिल जायेगा । जिस योनि में भी तुम्हारे पुरखे होंगे, उनको उसी योनि में तुम्हारे द्वारा श्राद्ध में अर्पित भोजन मिल जायेगा । क्यों पहुँच जायेगा ? नाम के द्वारा पहुँचेगा । जैसे पत्र में किसी व्यक्ति का नाम और पता लिख दो तो उस व्यक्ति तक वह पत्र पहुँच जाता है । वैसे ही मन्त्र शक्ति के द्वारा जिस योनि में भी पितर होते हैं वहाँ उन्हें श्राद्ध में अर्पित भोजन मिल जाता है । यह मन्त्र की शक्ति है, नाम-गुण से सारा संसार बँधा हुआ है । इसलिए गृहस्थ के लिए श्राद्ध बताया गया है । नारदजी ने श्राद्ध करने की तिथि बताई है, समय भी बताया है । इसके बाद उन्होंने बताया कि कौन से देश अच्छे हैं ?

स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते ।

(श्रीभागवतजी - ७/१४/२७)

देश वह अच्छा है, जहाँ सत्पात्र रहते हैं । जहाँ भगवद् भक्त रहते हैं, वही देश पवित्र है, जहाँ मन्दिर हो, जहाँ भगवान् की पूजा हो । वैसे गंगादि नदियाँ, तीर्थ आदि सब अच्छे माने गये हैं किन्तु सबसे बढ़िया स्थान तो वही है, जहाँ भगवान् के भक्त रहते हैं, जहाँ भगवान् का कीर्तन होता है ।

यत्र यत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसां पदम् ।

(श्रीभागवतजी - ७/१४/२९)

भागवत माहात्म्य में लिखा है –

अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु तीर्थसारस्ततो गतः ॥

(पद्म पुराणोक्त भा.मा - १/७२)

कितना भी ऊँचा तीर्थ है किन्तु यदि वहाँ नास्तिक लोग रह रहे हैं तो उस तीर्थ की महिमा नष्ट हो जाती है । अतः तीर्थ में भी जाओ तो वहाँ बैठो, जहाँ कृष्ण चर्चा हो रही हो । ऐसी जगह मत बैठना, जहाँ दूसरे की निन्दा और सांसारिक विषयों की चर्चा होती हो । इतनी सावधानी बरतनी चाहिए । यहाँ तक कि ब्रजधाम में भी कुसुम सरोवर पर उद्धवजी ने प्रकट होकर द्वारका की पटरानियों को जब श्रीमद्भागवत कथा सुनाई, कृष्ण चर्चा की तब श्रीकृष्ण प्रकट हुए । इसलिए ब्रज धाम में भी जाओ तो जैसे वृन्दावन, बरसाना, नन्दगाँव, गोवर्धन आदि में गये तो वहाँ भी ऐसी जगह मत बैठो, जहाँ इतर चर्चा होती हो, जहाँ पर केवल कृष्ण चर्चा होती हो, वहीं पर बैठो । लोग वृन्दावन की बहुत महिमा बताते हैं किन्तु वृन्दावन जाकर वहाँ कैसे रहा जाये, यह लोगों को पता नहीं है; ब्रज-वृन्दावन धाम की चर्चा अवश्य है । किन्तु वृन्दावनमहिमामृत शतक के रचयिता प्रबोधानन्दजी कहते हैं कि वृन्दावन, बरसाना आदि में जाना तो कैसे वहाँ रहना –

'न कुरु न वद् किञ्चिद्... ।'

वे कहते हैं कि धाम में जाकर किसी से बात मत करना क्योंकि बात करोगे तो व्यवहार में पड़ जाओगे । वृन्दावन में तुम गये और व्यवहार में पड़ गये तो वहाँ से अश्रद्धा लेकर लौटोगे । वृन्दावन में जाकर एकान्त में बैठकर राधा-माधव का स्मरण कर । स्मरण कैसे करें तो शतककार कहते हैं – **'बहुजन.....'** जहाँ भीड़ है, बस स्टैंड है, वृन्दावन या बरसाने का बाजार है, वहाँ से दूर चला जा क्योंकि वहाँ जाने पर तुझे व्यवहार दिखाई देगा । दुकानदार के यहाँ जाओगे, पूछोगे कि दाल का भाव क्या है, उसने कहा पचास रुपए किलो । तुमने कहा – 'नहीं, पैंतालीस रुपए किलो दो ।' महापुरुष कहते हैं कि ये सब व्यवहार

धाम में जाकर मत करो क्योंकि धाम में तुम्हें सब चीजें चिन्मय देखनी हैं। इसलिए धाम में भी जाओ तो वहीं बैठो, जहाँ श्रीकृष्ण चर्चा होती है। जहाँ कृष्ण चर्चा न होती हो, वहाँ मत बैठो। इसीलिए नारदजी ने यहाँ कहा कि वही देश सबसे पवित्र है, जहाँ भगवद् भक्त रहते हैं। देश बताने के बाद सबसे बड़े पात्र कौन हैं ? सबसे बड़े पात्र भगवान् हैं। 'श्रीनारदजी' युधिष्ठिरजी से कहते हैं –

'राजन्यदग्रपूजायाम्' – तुम्हारे इस यज्ञ में बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों के होते हुए भी अग्रपूजा के लिए भगवान् श्रीकृष्ण को ही पात्र समझा गया। मनुष्यों में सबसे बड़ा पात्र कौन है ?

तस्मात् पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते ।

(श्रीभागवतजी - ७/१४/३८)

जिसमें जितनी अधिक कृष्ण भक्ति है, वह उतना ही बड़ा पात्र है। चाहे कोई ब्राह्मण है, गोस्वामी है, साधु-महात्मा है, **'यावानात्मा यथेयते'** – जिसके अन्दर जितनी मात्रा में कृष्ण प्रकाशित हैं, वह उतना ही बड़ा पात्र है। जैसे कोई बरसाने में आया तो किसी की निष्ठा ब्रजवासी में है, किसी की गोस्वामी वंश में है। अब उनमें भी छाँटो कि किसके अन्दर राधा चरण ज्योति ज्यादा है, राधा चरण रति अधिक है। जिसके अन्दर श्रीजी के प्रति जितना अधिक प्रेम है, वह उतना ही बड़ा गोस्वामी है। पैसा मत देखो। साधुओं में भी जाओ तो देखो कि श्रीजी की भक्ति किसमें ज्यादा है। उसका नाम-गाँव नहीं देखो। जिसमें श्रीजी का जितना प्रकाश है, वह उतना ही बड़ा पात्र है।

त्रेता आदि युगों में जब ऋषियों ने देखा कि मनुष्य परस्पर एक-दूसरे का अपमान करते हैं, तब उन लोगों ने उपासना की, सिद्धि के लिए भगवान् की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। तभी से बहुत से लोग बड़ी श्रद्धा से प्रतिमा में भगवान् की पूजा करने लगे। परन्तु

ततोऽर्चायां हरि केचित् संश्रद्धाय सपर्यया ।
उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/१४/४०)

जो मनुष्य द्वेष करता है, उसके लिए मूर्ति पूजा से सिद्धि नहीं मिल सकती । हम खूब पूजा कर रहे हैं, घंटी हिला रहे है और हर व्यक्ति का निरादर कर रहे हैं – 'चल हट, मुझे छू दिया, मूर्ख कहीं का ।'

अरे, तुम जिसकी पूजा कर रहे हो वह तो फिर भी एक प्रतिमा है और नर रूप में वह भी तो मूर्ति है, जिसके हृदय में साक्षात् प्रभु विराजमान हैं और उसको तुम फटकार रहे हो तथा मूर्ति के आगे घंटी हिला रहे हो, **'नार्थदा'** – इससे तुम्हारी पूजा सफल नहीं होगी । यह निश्चय समझ लो । इसीलिए ये सब बातें सन्तों से सीखनी चाहिए । हर प्राणी का सम्मान करो, ऐसा नहीं कि प्रतिमा के सामने घंटी हिलाओ और हर व्यक्ति का तिरस्कार करो । ऐसा करके तुमने अपनी सारी पूजा को मिट्टी में मिला दिया ।

अध्याय – १५

नारदजी कहते हैं – बहुत से ब्राह्मण कर्मनिष्ठ हैं, तपनिष्ठ हैं, स्वाध्याय निष्ठ हैं किन्तु ज्ञान निष्ठ सबसे बड़ा है । गृहस्थ को चाहिए कि श्राद्ध में थोड़े व्यक्तियों को खिलावे । अत्यधिक धनी होने पर भी श्राद्ध धर्म में अधिक विस्तार नहीं करना चाहिए । श्राद्ध में माँस का अर्पण न करे और न स्वयं ही उसे खाए क्योंकि पितरों को ऋषि-मुनियों के योग्य हविष्यान्न से जैसी प्रसन्नता होती है वैसी पशु हिंसा से नहीं होती है । अधर्म की पाँच शाखाएँ हैं – विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा और छल । धर्मज्ञ पुरुष अधर्म के समान ही इनका भी त्याग कर दे ।

बहुत से लोग ऐसा कहते हैं कि जब हमारे पास धन होगा तब हम धर्म करेंगे । यदि हमको साधु-ब्राह्मणों की पंगत करनी है तो उसके लिए

पैसे की आवश्यकता होती है । किन्तु ये सब मूर्खता है । नारदजी स्पष्ट कहते हैं –

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम् ।
अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ॥

(श्रीभागवतजी - ७/१५/१५)

धर्म करने के लिए भी धन की इच्छा मत करो ।

बहुत से लोग कहते हैं कि हम अपने लिए पैसा इकट्ठा नहीं कर रहे हैं, हमें यज्ञ करना है, साधु सेवा करनी है, धर्म के कार्य करने हैं, इसलिए धन का संग्रह कर रहे हैं । किन्तु इस श्लोक के अनुसार किसी से धन की याचना करना, चंदा करना आदि धर्म के लिए भी मत करो । यह शास्त्र की आज्ञा है । आश्रम बनाना है, पंगत करना है, यज्ञ करना है, इसके लिए धन की याचना करना भगवान् के आश्रय से दूर जाना है ।

मोर दास कहाइ नर आसा । करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ॥

धर्म के लिए भी किसी से धन नहीं माँगना चाहिए । इससे ईश्वर भक्ति नष्ट हो जाती है । प्रायः आजकल लोग गुरु बनकर शिष्य बनाते हैं और फिर शिष्य से कहते हैं – 'जाओ, चेताओ, कथा कहने जाओ, पैसा कमाकर लाओ ।' ये सब विनाश का रास्ता है । नारदजी ने इस श्लोक में कहा है कि **'धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम् ।'** अपनी जीविका चलाने के लिए भी धन की इच्छा मत करो । भले ही भूखे बैठे रहो । प्रश्न हुआ तो क्या भूखे मर जायें ? अरे, भूखे नहीं मरोगे । भागवत में '७/१५/१५' यह श्लोक नहीं हीरा है –

अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ।

जब तुम नहीं माँगोगे, इच्छा भी नहीं करोगे तो जैसे अजगर को बिना कोई चेष्टा किये अपने आप ही भोजन मिलता है, वैसे ही तुम्हारे लिए आवश्यकता की सारी चीजें तुम्हारे दरवाजे पर आ जाएँगी । सूरदासजी ने भी इसी भाव को कहा है –

हरि रस तब ही तो कछु पइये ।

कृष्ण रस कब मिलेगा ?

वाद विवाद हर्ष आतुरता, इतौ दण्ड जिय सहिये ।

इसके लिए पहले तो वाद-विवाद मत करो ।

कोमल वचन दीनता सब सों, सदा आनंदित रहिये ।
ऐसी जो आवे या मन में, सो सुख कहाँ लौ कहिये ।
अष्ट सिद्धि नव निधि सूरज प्रभु, पहुँचै जो कछु चहिये ॥

माँगना तो मूर्ख लोगों का काम है । बिना माँगे ही तुम्हारे दरवाजे पर अष्ट सिद्धि और नव निधि आकर खड़ी हो जाएँगी । ये बातें सत्य हैं तभी तो सूरदासजी ने ऐसा कहा है । इसके अतिरक्त जैसा कि नारदजी ने कहा – **अनीहानीहमानस्य.....** अष्ट सिद्धि नव निधि तुम्हारे दरवाजे पर झाड़ू लगाएंगी किन्तु ऐसा बनना पड़ेगा, इसके लिए पहले अपने मन में अनीहा लाओ । कुछ मत चाहो । ये है तलवार ।

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/१५/१७)

जैसे पैरों में जूता पहनकर चलने वाले को कंकड़ और काँटों पर कोई कष्ट नहीं होता, वैसे ही जिसके मन में सन्तोष है, उसको सदा और सब कहीं सुख ही सुख है । इसलिए सदा सन्तुष्ट रहना चाहिए ।

असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।

(श्रीभागवतजी - ७/१५/२२)

नारदजी कहते हैं कि संकल्पों के त्याग से काम को तथा कामनाओं के त्याग से क्रोध को जीतना चाहिए। **'दम्भं महदुपासया'** – महापुरुषों की उपासना से दम्भ को जीते । गुरुदेव की भक्ति के द्वारा मनुष्य सभी दोषों पर सुगमता से विजय प्राप्त कर सकता है ।

एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ।

(श्रीभागवतजी - ७/१५/२५)

यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ॥

(श्रीभागवतजी - ७/१५/२६)

जो हृदय में ऐसे ज्ञान का दीपक जलाते हैं, ऐसे गुरु का मिलना ही कठिन है । जो निष्किञ्चनता सिखाते हैं, भगवद् भक्ति प्रदान करते हैं, उस गुरु के प्रति यदि कोई मनुष्य बुद्धि करता है कि हमारे गुरुजी मनुष्य हैं तो उसका सारा भजन बेकार हो जाता है जैसे हाथी स्नान करके आता है और फिर शरीर पर धूल-मिट्टी डाल लेता है । जो मनुष्य को दिव्य ज्ञान प्रदान कर निष्काम भक्ति सिखाता है, वह गुरु साक्षात् भगवान् है ।

भिक्षु को चाहिए कि वह अकेले रहे और भिक्षा माँगे । यदि भिक्षु होकर वह रुपया-पैसा, कामिनी और कीर्ति का संग्रह करता है तो वह वान्ताशी है । **'स वै वान्ताश्यपत्रपः'** (श्रीभागवतजी - ७/१५/३६) वान्ताशी कुत्ते का एक नाम है । 'वान्त' का अर्थ होता है – उलटी (वमन) । कुत्ता अपने वमन को ही खा जाता है । इसीलिए उसे वान्ताशी कहा जाता है । इसी प्रकार जो साधु बनकर छोड़े हुए विषयों का फिर से सेवन करता

है, वह भी वान्ताशी है क्योंकि वह साधु होकर कीर्ति, कामिनी और कंचन का संग्रह करता है ।

शरीर को रथ कहा गया है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथि है, शब्दादि विषय मार्ग हैं, चित्त भगवान् के द्वारा निर्मित, बाँधने की विशाल रस्सी है । दस प्राण धुरी, धर्म और अधर्म पहिये तथा अभिमानी जीव रथी है, ॐकार उसका धनुष, शुद्ध जीवात्मा बाण और परमात्मा लक्ष्य हैं । राग, द्वेष, लोभ, शोक, मोह, भय, मद, मान, अपमान, असूया, छल, हिंसा और ईर्ष्यादि जीव के शत्रु हैं । इन पर विजय प्राप्त करना चाहिए । कैसे विजय प्राप्त करें तो बताया – **'गरिष्ठचरणार्चनया'** - महापुरुषों के चरणों की उपासना के द्वारा इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे । नहीं तो प्रमाद करने पर जीव को दुष्ट इन्द्रिय रूपी घोड़े और बुद्धि रूपी सारथि उल्टे रास्ते ले जाकर विषय रूपी डाकुओं के हाथ में डाल देते हैं । वे डाकू सारथि और घोड़ों के सहित इस जीव को घोर अन्धकारमय मृत्यु से अत्यन्त भयावने संसार रूपी कुएँ में गिरा देते हैं ।

इसके बाद नारदजी ने धूम्रयान मार्ग बताया और फिर अर्चिरादि गति बतायी । तदनन्तर, उन्होंने तीन प्रकार के अद्वैत - भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैत बताये ।

इसे बताने के बाद नारदजी ने अपने पूर्व जन्म की कथा सुनाई । ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार यह कथा इस प्रकार है कि जब ब्रह्माजी से नारदजी उत्पन्न हुए तो उन्होंने उनसे विवाह करने को कहा किन्तु नारदजी ने विवाह करने से मना कर दिया तो ब्रह्माजी ने उन्हें शाप दे दिया – 'तू मर जा और अगले जन्म में तेरे पचास विवाह होंगे ।' अगले जन्म में नारदजी उपबर्हण नामक गन्धर्व बने, उनकी पचास स्त्रियाँ थीं । चित्ररथ गन्धर्व की पचास कन्याओं के साथ इनका विवाह हुआ

था । एक बार ब्रह्माजी की सभा में ये अपनी पचास स्त्रियों को लेकर लौकिक गीत गाते और नाचते हुए चले गये । उनकी इस हरकत को देखकर ब्रह्माजी नाराज हो गये और शाप दे दिया कि तू शूद्र हो जा । अगले जन्म में ये शूद्र बने और संतों का संग करने तथा उनकी जूठन खाने के प्रभाव से अगले जन्म में पुनः ब्रह्माजी के पुत्र बने । अपनी आत्मकथा सुनाने के बाद नारदजी पुनः उसी श्लोक को कहते हैं जो उन्होंने श्लोक '७/१०/४९' में कहा था । वह इस प्रकार है –

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय
आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च ॥

(श्रीभागवतजी - ७/१५/७६)

युधिष्ठिर ! मैं तुमसे बार-बार यही कह रहा हूँ कि वह ब्रह्म यही है, जो श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के रूप में तुम्हारे सामने खड़ा है । ये तुम्हारे प्रिय, हितैषी, ममेरे भाई, पूज्य, आज्ञाकारी, गुरु और आत्मा हैं ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं – परीक्षित् ! इसके बाद देवर्षि नारदजी भगवान् श्रीकृष्ण और राजा युधिष्ठिर से विदा लेकर चले गये ।

इस प्रकार यह सातवाँ स्कन्ध समाप्त हुआ ।